उत्तरार्द्ध : साहित्य खंड

पूर्वार्द्ध

*

[सिद्धान्त खंड]

प्रथम अध्याय

: पृष्ठभूमि :

वैष्णव धर्म और भक्ति का उदय

भक्ति का उद्भव

भगवद् भक्ति वैष्णव धर्म की आधार शिला है। ब्रह्म-साक्षात्कार, ईश्वर-प्राप्ति, विष्णु-सान्निध्य तथा परम-पुरुषार्थ-सिद्धि आदि विभिन्न नामों से व्यवहृत 'साध्यतत्व' का भवन वैष्णव धर्म में भक्ति की नींव पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक ऋचाओं से लेकर मध्ययुगीन भक्त महानुभावों द्वारा रचित 'वाणी ग्रन्थों' तक भक्ति के क्रमिक-विकास का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्म, ज्ञान और उपासना नाम से जिन तीन मार्गों का निर्देश वैदिक वाङ्मय में हुआ है, उनका पर्यवसान वैष्णव धर्म में भक्ति-मार्ग में हुआ। मानव जीवन के चरम लक्ष्य 'परम पुरुषार्थ-सिद्धि' के लिए उपर्युक्त तीनों मार्गों के समन्वय पर वैदिक साहित्य में पर्याप्त बल दिया गया है। यह समन्वय-बुद्धि ही बाद में भक्ति-पथ को प्रशस्त करने में सहायक हुई। पुराण तथा भक्ति सूत्रों के प्रणयन काल में तो 'परम पुरुषार्थ-सिद्धि' का तात्पर्य 'भगवत्-कृपा-प्राप्ति' ही समझा जाने लगा और इसीलिए भगवद् भक्ति को पुरुषार्थ के भीतर परिगणित किया गया। ज्ञान, कर्म और उपासना मार्ग की दुरूह एवं कष्टसाध्य साधना को त्यागकर श्रवण, कीर्तन, दैन्य, आत्मनिवेदन आदि के सुगम माध्यम से वैष्णव भक्त ने भगवान् के समीप पहुँचने का पथ खोज निकाला; फलतः भक्ति का सोपान मध्ययुग में अपेक्षाकृत अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। प्रेमलक्षणा भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में तो प्रेम को ही साध्य एवं साधन समझ लिया गया। भक्ति का यह चरम उत्कर्ष जिस क्रमिक विकास-परम्परा में हुआ उसका अनुशीलन इस तथ्य का द्योतक है कि उपासना मार्ग ही परवर्ती युग में भक्ति मार्ग बना।

भक्ति के उद्भव और विकास-क्रम के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यों में भक्ति के मूल बीज विद्यमान थे और आदिम रूप से भक्ति के विविध रूपों का आभास उन्हें वैदिक काल में ही मिल गया था। अनुराग-सूचक भक्ति-परक परवर्ती अभिव्यक्तियों से वैदिक

मान्यताओं का सामंजस्य स्वीकार न करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति को अभारतीय तत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ और ग्रियर्सन ने इसे ईसाई धर्म की देन कहा है। वेबर महोदय कृष्ण की भगवान् के रूप में कल्पना का श्रेय क्राइस्ट को देते हैं और ग्रियर्सन महाशय का मत है कि प्राचीन काल में ईसाइयों की एक बस्ती मद्रास प्रान्त में थी, उन्हीं के प्रभाव से हिन्दुओं में भक्ति-मार्ग आया और बाद में दक्षिण भारत से समस्त भारतवर्ष में फैल गया।[1] इसी प्रकार प्रो० विलसन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज कहकर यह सिद्ध करना चाहा है कि विभिन्न सम्प्रदायों के गुरुओं ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया।[2] उक्त मान्यताओं के पीछे भारतीय भक्ति-परम्परा के क्रमिक विकास को न समझना तथा स्वधर्म (ईसाई) का उत्कर्ष सिद्ध करने का आग्रह मात्र है। यह सत्य है कि वैदिक काल में अनुराग-परक भक्ति का वह रूप प्रकाश में नहीं आया था जो मध्ययुग में अथवा पौराणिक काल में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया; किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उस युग में भक्ति की कल्पना तक नहीं हुई थी। विभिन्न देवताओं की स्तुति-प्रार्थना के लिए जो मार्मिक अभिव्यक्तियाँ उस काल में प्रस्तुत की गईं उनमें भक्ति के लिए अनिवार्य राग-तत्व का अभाव नहीं कहा जा सकता।

वेबर महोदय ने तो कृष्ण जन्माष्टमी पर्व और महाभारत में वर्णित श्वेत-द्वीप वर्णन को भी ईसाई धर्म की देन ठहराया है। वे द्वीप शब्द से समुद्र पार स्थित योरोप देश समझते हैं। श्री राय चौधरी ने अपने ग्रंथ 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' में इन भ्रान्तियों का निराकरण किया है।[3] इसके सिवा बेसनगर (भेलसा) के शिलालेख द्वारा भी भक्ति का ईसा से दो शताब्दी पूर्व होना सिद्ध होता है।[४] जिन कल्पित तथ्यों के आधार पर भक्ति को

1—ग्रियर्सन महोदय का लेख—Journal of the Royal Asiatic Society, 1907—Page 311—36.
Encyclopaedia of Religions & Ethics Part II (Article on Bhakti Marg by Grierson) Page 539—551.

2—"Bhakti is an invention and apparently a modern one of the institutions of the existing sects intended like that of the mystical holiness of the Gurus, to extend their own authority."

—Prof. H.H. Wilson—Hindu Religions, Page 232.

3—In the opinion of several scholars this Bhakti Religion was of foreign origin, and was preached in India for the first time by Ramanuj. "There has been considerable misimpression—says S. Krishnaswami Aiyangar.......on the basis of misimpression theories have been built up time and again that the characteristic features of the special teachings of Ramanuj have been borrowed from Christianity."

—"Early History of the Vaishanava Sect"
Dr. H. Ray Chaudhri, Page 19.

४. ओझा निबंध संग्रह—भाग १—ले० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—पृष्ठ २२६-२३२

अभारतीय और अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया उनका परवर्ती विद्वानों ने खंडन किया है। इस निर्मूल भ्रान्त धारणा का कारण वैदिक साहित्य का एकांगी अध्ययन या अज्ञान ही कहा जा सकता है। भारतीय विद्वान् श्री बालगंगाधर तिलक तथा श्री कृष्ण स्वामी आयंगर ने उक्त मान्यता का सप्रमाण खंडन करते हुए भक्ति को वैदिक युग से ही बीज रूप में स्वीकार किया है।[1] भक्ति एवं भागवत धर्म के सम्बन्ध में इतने पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि उनकी अवहेलना करके भक्ति को अभारतीय तत्व बताने का साहस आज कोई निष्पक्ष विद्वान् नहीं करेगा। हम यहाँ इस विवाद में न उलझकर विष्णु-भक्ति के क्रमिक विकास का संकेत मात्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। विष्णु-भक्ति के विविध रूप ही वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायों के आधार हैं अतः उनके प्रारम्भिक रूप का यदि यत्किंचित् भी संधान हो सके तो परवर्ती भक्ति-पद्धति का वैज्ञानिक अनुशीलन सम्भव होगा।

वेद में भक्ति

वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग-सूचक भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ और भक्ति शब्द द्वारा साक्षात् उपासना का लक्ष्य भी नहीं कराया गया; किन्तु उस काल में भक्ति की कल्पना भी नहीं हुई थी यह मानना भक्ति-परक अभिव्यक्तियों की अवहेलना करना है। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी जिस प्रकार ज्ञान-कांड का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है वैसे ही ज्ञान के बाद भक्ति की परम्परा का भी संधान ऋचाओं के आधार पर सम्भव है। यदि वैदिक साहित्य में भक्ति-तत्त्व के बीज सन्निहित न होते तो उनके अंकुरित होकर पल्लवित और पुष्पित होने का सुयोग परवर्ती काल में कैसे सम्भव होता। भक्ति के शास्त्रीय रूप के स्थिर होने पर जिस नवधा-भक्ति की स्थापना हुई उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्मनिवेदन आदि अंगों के

---

१. "वेबर नामक पश्चिमी संस्कृत पंडित ने इस कथा (नारायणीयाख्यान) का विपर्यास करके यह दीर्घ शंका की थी कि भागवत धर्म में वर्णित भक्ति तत्व, श्वेत द्वीप से अर्थात् हिन्दुस्तान के बाहर के किसी अन्य देश से लाया गया है और भक्ति का यह तत्व इस समय ईसाई धर्म के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित नहीं था। अब पश्चिमी पण्डितों ने यह भी निश्चित किया है कि वेबर साहब की उपर्युक्त शंका निराधार है।"

—'गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र' श्री बाल गंगाधर तिलक—(हिन्दी) पृष्ठ ५४६

टिप्पणी

(श्वेत द्वीप के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि यह भारत के उत्तर में स्कैंडिया देश के ईसाई मतानुयायी श्वेतांग व्यक्तियों का उपनिवेश है, पुराणों में इसी की ओर इंगित किया गया है। किन्तु उनकी यह कल्पना सर्वथा मिथ्या और निराधार है।)

संकेत हमें वेदमंत्रों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।[१] वेद प्रतिपादित भक्ति भावना को वैष्णवीय भक्ति से किस प्रकार संयुक्त किया जाय और वेद को वैष्णवधर्म का आधार किस प्रकार माना जाय यही इस प्रसंग में विवेच्य है। हमारी यह मान्यता है कि वैदिक देवता इन्द्र के प्रति उस काल में अवश्य ही स्निग्ध और राग पूर्ण धारणा रही थी जिसके परिणाम स्वरूप इन्द्र को माता-पिता आदि के सम्बोधनों से अलंकृत करके भक्ति के मूल तत्व को वेद में स्वीकार किया गया।[२] वेदमंत्रों में भक्ति के अवयवों की खोज निकालने का जैसा प्रयत्न वर्तमान युग में हो रहा है उसे सर्वतोभावेन स्वीकार न करते हुए भी मूल रूप में श्रवण, कीर्तन आदि की भावना को हमें मंत्रों में स्वीकार करना ही होगा। शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में 'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः' (१-२-९) द्वारा वेदों की ओर स्पष्ट संकेत किया है।

"भारतीय भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मंत्रों में आदमी और देवता के बीच गाढ़े प्रेम और मित्रता की कल्पना की गई है।"[३] विविध देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा का विधान भी एक ही देवता अर्थात् ईश्वर की भक्ति का ही विधान है ऐसा आज सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। एक ही ईश्वर या सत् को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं, वही सुन्दर पंखों वाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक पदार्थ का वर्णन वे अनेक प्रकार से करते हैं इसलिए वही एकमात्र सत् (सृष्टि को आविर्भाव करने के कारण, अग्नि (संसृति एवं परिवर्तन का मूल कारण होने पर कारण) यम (अखिल विश्व का आधारभूत होने से) तथा मातरिश्वा भी कहलाता है।[४] भक्ति-भावना के

---

१. ऋग्वेद के मंत्रों में भक्ति के अवयवों का प्रतीक शैली से प्रतिपादन :—

श्रवण—'यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्।'
ऋग्वेद म० १। सू० १५६। मंत्र २।

कीर्तन—'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।'
ऋग्वेद १।१५४।१

स्मरण—प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।' ऋग्वेद १।१५४।३

विनय—'इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युरा चके। ऋग्वेद १।२५।१९

अभिलाषा—यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः।'
ऋग्वेद ८।४४।२३

२. त्वंहि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे। ऋग्वेद ८।९८।११

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।

आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ ऋग्वेद १।१५६।३

३. डा० बेनीप्रसाद रचित 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—पृष्ठ ४२।

४. 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्वेद १। १६४। ४६

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥' यजुर्वेद ३२। १।

बद्धमूल होने के लिए भक्त की एक ही ओर गति होना आवश्यक है। अनेक में भी एक को खोज लेना भक्त की स्वाभाविक विशेषता है।[1] अतः वेद में ऐसे अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें एक ही देवता में अपनी भावना को लीन करने का वर्णन किया गया है। वैदिक उपासना मार्ग में भक्ति-तत्वों का विकास हुआ था और इसीलिए भक्ति का सबसे पहला रूप संहिता भाग की उन ऋचाओं में है जिनमें ईश्वर का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक 'ध्यानयोग' के लिए विधान किया गया है। प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ पाश्चात्य विद्वान् कीथ के अनुसार भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव आर्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में अधिक गंभीरता आने पर बाद में हुआ और तभी वह प्रारम्भिक श्रद्धा या उपासना से विकसित होती हुई क्रमशः उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य या मूलतत्व में भाग लेना (भज्=भाग लेना) आदि व्यक्त करने वाले अधिक व्यापक भाव में परिणत हुई। कीथ का यह विचार केवल अनुमानाश्रित है। इसके लिए उन्होंने प्रकाट्य तर्क या प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।[2] अतः भक्ति के मूल बीज का पता हमें वेद से ही मानना चाहिए।

वैदिक काल में उपास्य देवताओं के नामों की इयत्ता नहीं है। अनेक नामों से एक ही ईश्वर की पूजा-अर्चा का विधान है ऐसा ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध मंत्र 'एकमद्विप्रा बहुधा' आदि द्वारा हमने संकेतित किया है। किन्तु वैष्णव धर्म की दृष्टि से हमें अनेक देवताओं के होने पर भी विष्णु पदवाच्य देवता पर विचार करना है। उपासना-क्षेत्र में विष्णु शब्द देवता के अर्थ में कब से प्रयुक्त होना प्रारम्भ हुआ और किस प्रकार यह वैदिक विष्णु देवता ही परवर्ती पुराण तथा भक्ति साहित्य में लीलावतारी विष्णु बन गया। वैदिक विष्णु और पौराणिक कृष्ण के शृंखलाबद्ध क्रमिक रूप का संधान कठिन है किन्तु जितनी कड़ियाँ उपलब्ध हैं हम उनका संकेत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

वेद में विष्णु

ऋग्वेद में विष्णु शब्द का प्रयोग अनेकार्थ और विपुल है किन्तु उसकी एक विशेषता यह है कि वह सर्वत्र एक दिव्य, महान् और व्यापक शक्ति का प्रतीक है।[3] यदि उसे आदित्य वाचक मानकर प्रयोग में लाया गया है तब भी वह तीन पगों में अखिल ब्रह्माड को लांघ जाता है। उसके दो पग जो पृथ्वी और अन्तरिक्ष में पड़ते हैं मनुष्य देख पाता है, शेष तीसरे पग का पराक्रम उसे भी विदित नहीं होता। तृतीय पग विष्णु का परम पद है जिसे विद्वान्

---

१. 'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति ॥'
यास्क, निरुक्त दैवत कांड (७-४ । ८, ९)

२. कीथ का लेख—कल्याण कल्पतरु अगस्त १९३६, पृष्ठ ५५४।

3—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda, Page 3.

लोग आकाश की ओर सदा ऊँची दृष्टि लगाकर देखा करते हैं।[1] इस प्रकार विष्णु को कहीं 'ऋतस्य गर्भम्' कहा है तो कहीं 'यज्ञोहवै विष्णुः' कहकर स्वयं यज्ञ ही स्थिर किया है। उपासना के प्रसंग के आये हुए वेदमन्त्रो में विष्णु को लोकरक्षक के रूप में समस्त ईश्वरीय गुणों से समन्वित कहा है। विष्णु का वर्णन वेद में इन्द्र के सहायक देवता के रूप में भी हुआ है और इन दोनों के पराक्रम का वर्णन एक साथ समान भाव से भी किया गया है। विष्णु के विविध रूपों का वर्णन जे० गोंडा नामक विद्वान् ने अपने शोध ग्रंथ 'एस्पैक्टस् ऑव अर्ली विष्णुइज्म' में विस्तारपूर्वक किया है।[2] इस ग्रंथ की मान्यताओं को यदि विष्णु विकास का आधार स्वीकार कर लिया जाय तो वैदिक विष्णु ही परवर्ती काल का देवता विष्णु सिद्ध हो सकता है।

संहिता के बाद ब्राह्मणकाल में विष्णु का वर्णन बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है और विष्णु की शक्ति का भी उत्तरोत्तर विकास ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ-निष्ठा की दृष्टि से विष्णु को अग्रणी ठहराया गया है और विष्णु के अलौकिक दिव्य शक्तिपूर्ण चमत्कारों का भी कथा के रूप में वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु की व्यापकता इस बात का निदर्शन है कि देवताओं में इन्द्र की जैसी प्रधानता ऋचाओं में थी वैसी ही प्रधानता शनैः-शनैः विष्णु को प्राप्त होना प्रारम्भ हो गई थी एक प्रकार से इन्द्र

---

१. विष्णु सम्बन्धी ऋग्वेद के कतिपय मंत्र—
   (क) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग्वेद १। २२। १७
   (ख) द्वे इन्द्रस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः। ऋग्वेद १। १५५। ५
   (ग) तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।
   ऋग्वेद १। २२। २०

२. इन्द्र और विष्णु के पारस्परिक सहयोग के वर्णन के लिए पढ़िए—
   (क) वृत्र और इन्द्र कथा—तैत्तरीय संहिता—२, ४, १२, ३। विष्णु की सहायता से इन्द्र ने वज्र उठाया और वृत्र का संहार करने की क्षमता प्राप्त की।
   (ख) ऋग्वेद १। ८५। ७, ६। २०। २ मंत्रों में इन्द्र और विष्णु को संयुक्त रूप से देवताओं का सहायक बताया गया है।
   (ग) विष्णु और इन्द्र के वर्णन के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये—

   Journal of the Royal Asiatic Society, New Haven—Page 37.
   E.W. Hopkins: The Religions of India—Page 388.
   R.N. Dandeker: Vishnu in the Vedas (Volume of Studies in Indology presented to Mr. Kane) Page 90.

   (घ) Aspects of Early Vishnuism: by J. Gonda.
   Vishnu and Indra, Page 23
   Vishnu, Indra and Vajra, Page 32
   Vishnu's relation with the gods, Page 108

का स्थान विष्णु ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। विष्णु शब्द के देवता अभिधान का यह क्रमिक विकास ही समझना चाहिए।[1] कुछ विद्वानों ने तो विष्णु के अवतारों की सूचना भी ब्राह्मण ग्रंथों में ढूंढ़ निकाली है।[2]

उपनिषद् और भक्ति

वैदिक ऋचाओं में किसी एक मार्ग की वरेण्यता न होकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों के सामंजस्य पर बल देने का स्पष्ट कारण ऋषियों की समन्वय-बुद्धि है। सांसारिक कार्य-कलाप को ध्यान में रखकर जिस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का पारस्परिक तारतम्य निर्धारित करके उनके त्याग और ग्रहण का विधान है, उसी प्रकार इन तीनों मार्गों के सापेक्षिक महत्व को हृदयंगम करके, स्वीकार करने की व्यवस्था की गई है। ब्राह्मणकाल में याज्ञिक अनुष्ठानों का प्राधान्य होने से कर्मकांड का अपेक्षाकृत अधिक विकास और विस्तार हुआ। ज्ञान और उपासना की उपेक्षा होने से उपनिषद् एवं आरण्यकों में ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और ज्ञान-मार्ग से ब्रह्म के समीप बैठने (उप+निषद्) का उपक्रम किया गया। ब्रह्म-सान्निध्य के लिए ज्ञान की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी ऋषियों को भक्ति की अनिवार्यता प्रतीत हुई और श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम देव (प्रभु) और गुरु की भक्ति का महत्व बताते हुए उन्होंने कहा—

यस्य देवे परा भक्ति यंथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशयन्ते महात्मनः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६-२३।

उपनिषद्कालीन ऋषियों को ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हुए भी यह विदित हो गया था कि मानव जीवन का उद्देश्य ऐसी ज्ञान-प्राप्ति नहीं जो केवल गहन दार्शनिक अनुभूति पर आश्रित रहकर जीवन को राग के स्पन्दन से नितान्त विहीन बना दे। उत्कट प्रेम और ज्ञान के द्वारा ही दिव्य आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। इसीलिए कदाचित् वृहदारण्यक के 'मधु-विज्ञान' प्रकरण में तथा छान्दोग्य उपनिषद् में उपासना के अंगों में भक्ति तत्व को स्थान देकर उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।[3] उपनिषदों के उपासना कांड का पर्यालोचन इस तथ्य की ओर भी इंगित करता है कि ब्रह्म के यथार्थ बोध के लिए केवल ज्ञान-

---

१. शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के पराक्रम की कथा—१४।१।१
शतपथ ब्राह्मण में विष्णु की वामन रूप में कथा—१।२।५
'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।'
ऐतरेय ब्राह्मण १।१।

२. द्रष्टव्य—भागवत सम्प्रदाय (ले० बलदेव उपाध्याय) पृष्ठ ८२।

३. 'स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरात्विज्यैः पर्यैषिषं वा अहमविस्याम्यानवृवि।'—छान्दोग्योपनिषद् प्र० अ० एकादश खंड २।

मार्ग ही पर्याप्त नहीं अपितु भगवान् की शरण में भी जाना आवश्यक है।[1] श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—"छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में यह कहा है कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्त एकाग्र होना चाहिए। और यह चिन्तन, मनन और ध्यान करने के लिए ब्रह्म चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है, और चित्त को स्थिर रखने के लिए परब्रह्म का कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रों के सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहने से चित्त की जो एकाग्रता हो जाती है उसी को आगे विशेष महत्व दिया जाने लगा और चित्त निरोध रूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया; और जब सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानव रूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का प्रारम्भ धीरे-धीरे होने लगा तब अन्त में, भक्तिमार्ग उत्पन्न हुआ। यह भक्तिमार्ग औपनिषदिक ज्ञान से अलग, बीच ही में स्वतन्त्र रीति से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है, और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्तान में किसी अन्य देश से लाई गई है।"[2] यथार्थ में, ब्रह्म की सूक्ष्म और निर्गुण कल्पना को सगुण-व्यक्त-प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में ही विष्णु, श्रीकृष्ण, वासुदेव, नारायण आदि की भक्ति या उपासना-पद्धति प्रवर्तित हुई।[3] काल-क्रम की दृष्टि से बाद में निर्मित हुई उपनिषदों में इस उपासना (भक्ति) का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है।

वैदिक वाङ्मय में विष्णु के विविध रूप

वैदिक काल में जिस रूप में भक्ति का विकास हो रहा था उसमें हृदय-पक्ष को शनैः शनैः प्रधानता मिलनी प्रारम्भ हुई और बुद्धिवादी ज्ञान-प्रधान तार्किक उपासना को गौणता मिलने लगी। हृदय-पक्ष की प्रधानता होने पर विष्णु नामक देवता की पूजा-अर्चा बढ़ी और वही प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। उपनिषद् काल में विष्णु के परमधाम को सर्वोच्च स्थान माना गया और जगत्-पालक के रूप में विष्णु की कल्पना की गई।[4] विष्णु का वर्णन जिस रूप में संहिताओं में हुआ था उसे और अधिक तेजस्वी, उर्जस्वी एवं भास्वर बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा। जो विशेषण पहले इन्द्र के लिये प्रयुक्त होते थे वे ही

---

१. 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥' श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

२. गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक, पृष्ठ ५४२।

3—"From this position in the Vedas he (Vishnu) began to rise in importance in the time of the Brahmans and Aranyakas, until in the Maitryana and Kath-Upnishads, we find the self identified with Vishnu, Shiva and Narayan.
Monograph on the Religious Sects in India—D. A. Pai, Page 25.

४. विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्॥
कठोपनिषद्—तृतीय वल्ली, श्लोक ६।

क्रमशः विष्णु की प्रशंसा में काम आने लगे। 'विष्णु के हरि केशव, वासुदेव, वृष्णी पति, वृषण, ऋषभ, वैकुंठ, वृहच्छ्रवस आदि नाम जैसे पहले इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे अथवा इन्द्र-सम्बन्धी किसी वस्तु को सूचित करते थे, धीरे-धीरे विष्णु के कई नामों एवं उपाधियों का आधार बन गये।'[1] विष्णु का यह माहात्म्य इस बात का प्रमाण है कि भक्ति की दृष्टि से अन्य देवी-देवताओं की अपेक्षा विष्णु के नाम और रूप को अधिक आकर्षक और परिपूर्ण समझा गया था। विष्णु शब्द की निरुक्ति और निर्वचन करते समय विष्णु की व्यापकता का ध्यान सतत बना रहा। यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में विष्णु शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—'अथ यद् विषितो भवति, तद्विष्णुर्भवति। विष्णु र्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।' श्री दुर्गाचार्य का निर्वचन इस प्रकार है—यदा रश्मिभिरभिव्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मि-भिरयंसर्वम्। तदा विष्णुरादित्यो भवति।'[2] यथार्थ में जो समस्त चराचर जगत् को व्याप्त करता है वही विष्णु है 'वेवेष्टि-व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः' यही व्युत्पत्ति विष्णु-माहात्म्य प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है।

वैष्णव धर्म के मूल में विष्णु की यह सर्वशक्तिमत्ता ही प्रधान है जिसका व्यापक विस्तार विविध रूपों में भक्ति क्षेत्र में हुआ। विष्णु के अधिक सान्निध्य की कामना से, उसे अधिक हृदयाकर्षक रूप में पास लाने की लालसा से विष्णु की नराकार भावना नारायण (विष्णु) के रूप में हुई। इस विषय की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'भक्ति का विकास' शीर्षक निबंध में संकेत किया है।[3]

नारायण के रूप में भी विष्णु की उपासना का विधान वैष्णव धर्म में है। नर के अयन का अन्तिम लक्ष्य नारायण है। ऋग्वेद में सृष्टि निर्माण की कथा के प्रसंग में नारायण का संकेत मिलता है।[4] मनुस्मृति में नारायण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि—

'आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत.॥'

—मनुस्मृति अ० १ श्लोक १०

महाभारत में नारायण रूप में विष्णु का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। नारायण और विष्णु दोनों का तादात्म्य रूप में वहीं नामोल्लेख हुआ है। नारायण की सलाह से ही समुद्र-मथन किया गया ऐसा भी वर्णन है।[5] विष्णु के विविध रूपों का युग,

---

१. 'भक्ति कल्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया'—बी० के० गोस्वामी—पृष्ठ १०१-१०२।
२. यास्क—निरुक्त १२।१९। निरुक्त दुर्गाचार्य—२।३।१।
३. देखिए—सूरदास (भक्ति का विकास) पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २० से ३० तक।
४. ऋग्वेद—१०।२३।५-६
5—It was Narayan, who in the great epic is often identified with the supreme Vishnu to whom Tradition ascribes the merit of having the advice to churn the ocean in order to acquire the merit contained in it. (Mahabharat I. 17. 1)
—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda, Page 15.

जाति और कर्म की दृष्टि से जो विधान महाभारत में हुआ है उसमें नारायण को क्षत्रिय तथा वैश्यों द्वारा समादृत देवता बताया गया है।[1] नारायण को पुरातन देवता के रूप में तथा सृष्टि निर्माता के रूप में भी महाभारत में कहा गया है।[2] शैव शास्त्रों में जहाँ शिव का ही प्राधान्य है विष्णु और नारायण को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में तथा (शिव-साहाय्य से) सृष्टि निर्माण कर्ता के रूप में वर्णित किया गया है।[3]

विष्णु और नारायण दो देवताओं की कल्पना में वैदिक काल में अभेद बुद्धि होते हुए भी कर्म की दृष्टि से कुछ भेद रखा गया था। भक्तियुगीन विष्णु और नारायण का जो रूप बाद में विकसित हुआ वह संहिता काल में नहीं था। वैष्णव भक्ति में परमात्मा (विष्णु) को दयालुता तथा वत्सलता का अवतार मानकर लोकरंजन और लोक-संग्रह के कल्याण पक्ष से संयुक्त करके देखा गया। केवल यज्ञादि में ही विष्णु का आराधन न होकर दैनिक जीवन के कार्यकलाप में उसकी व्यापक शक्ति का कल्याणकारी पक्ष ग्रहण किया गया। किन्तु विष्णु की कल्पना का आधार वही पुराना था। डा० देशमुख ने वैदिक कालीन विष्णु की स्थिति परवर्ती हिन्दू धर्म में स्वीकृत विष्णु से हीन मानी है।[4] यह कहना सर्वथा युक्ति-संगत नहीं है

1—"Narayan stated to be revered by Khashtriyas and Vaishyas".
—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda, Page 24.

2—"We find the idea where Narayan, who is older than the oldest ones is at the same time said to have taken his birth as the son of Dharam and to be the creator of the Universe."
—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda, Page 67.

3—In Shivaitic texts which acknowledge Shiv as their supreme God, Vishnu is also represented as a very mighty divinity. Thus Vishnu-Narayan is held to be the best amongs the Gods (Surah), and to be the creator of the Universe (though he himself owes his existence to Shiv). All the gods are pervaded by him. His world is even said to be the best goal. In accounts of the creation of the Universe Vishnu is often identified with Brahma, who in his turn is called Narayan.
—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda, Page 121-122.

4—"Among the Sun gods of the Rigveda, Vishnu occupies a subordinate position but as one who later becomes one of the two greatest gods of modern Hinduism, he is of the utmost importance. In the Rigveda he is addressed only in five or six independent hymns.

He also shares the other attributes common to Vedic gods of being a liberal and a bountiful guardian, a generous deliverer and an ordainer. The reasons why Vishnu became so important a god of Hinduism we will discuss later.
—Religions in Vedic Literature—Dr. P. S. Deshmukh Page 224—25 (Oxford University Press)

कि वैदिक कालीन विष्णु और भक्तिकालीन विष्णु की कल्पना में कोई साम्य नहीं।[1] हमारी यह निश्चित मान्यता है कि वैदिक विष्णु का ही विकसित रूप भक्तिकालीन विष्णु है जो शनैः शनैः महाभारत काल तक परम पद को प्राप्त करता गया और इन्द्र जैसे प्रमुख देवता से भी ऊपर आसीन हुआ। वैदिक विष्णु देवता से मध्ययुगीन कृष्ण या वासुदेव तक जो परिवर्तन क्रम है उसका अनुसंधान अभी तक नहीं हो सका है किन्तु यह निश्चित है कि इन दोनों रूपों में मौलिक एकता अवश्य है। ऋग्वेद में जिस विष्णु की स्थिति इन्द्र से निम्न कोटि की है, जो इन्द्र के बाद ही सर्वत्र स्थान पाता है, कैसे भक्तियुग में प्रधान बन गया यह विचारणीय है। विष्णु के शौर्य, पराक्रम, शक्ति, तेज आदि गुणों के क्रमिक विकास का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि उत्तरोत्तर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की भावनाओं की वृद्धि होती गई और उसका भाजन विष्णु ही बना। वैष्णव-भक्ति का स्वरूप और विधान वैदिक भक्ति से पर्याप्त भिन्न था अतः विष्णु के स्वरूप में भी अन्तर आना तो स्वाभाविक ही था; फिर भी दोनों में एकान्त भिन्नत्व है यह नहीं कहा जा सकता।[2]

महाभारत में विष्णु और वासुदेव

विष्णु के बाद वैष्णव धर्म में 'वासुदेव' को भक्ति में स्थान मिला। वासुदेव के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों में और भीष्म पर्व में वर्णित नारायणीयोपाख्यान में भागवत, सात्वत, नारायण या पंचरात्र धर्म का उल्लेख मिलता है। इन धर्मों में वासुदेवोपासना का वर्णन है अतः उपर्युक्त चारों वैष्णव धर्मों के संकेतों को हृदयंगम करने के बाद इनमें वासुदेव की स्थिति पर विचार करना उचित होगा। इन धर्मों का महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है :—

> 'यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद्राजा महान् वसु।'
> किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः॥[3]

1—We should also note another important fact, namely, that, there is very little inner connection between Vedic and Brahmanic Vishnu worship and the Bhakti religion, we call Vaishanavism. The idea of God of grace, the doctrine of Bhakti—these are the fundamental tenets of the religion termed Vaishanvism. But they are not very conspicuous in Vedic and Brahmnic Vishnu-worship.
—The Early History of the Vaishnava Sect—H. Ray Chaudhari. Page 18 and 19.

2—Like Keith, Ruben gave the verdict that Vishnu became a great god in Post-Vedic times because he—for this pronoun I would, for the sake of prudence, read : a deity of his character and functions —was already important in pre-Aryan—I would prefer—non-Aryan-India.
—Aspects of Early Vishnuism by J. Gonda. Page 3.

३—महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय ३३७ श्लोक १।

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुख नि:सृत

पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान्

'नारायण परं सत्यमृतं नारायणात्मकम्

नारायणपरो धर्म: पुनरावृत्ति दुर्लभ: ॥

प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक:

नारायणात्मको गंधो भूमौ श्रेष्ठतम: स्मृत: ।"

पांचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मन: ।

प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाऽग्रभोजनम् ॥"[3]

भागवत धर्म के विषय में महाभारत में कथा आती है कि इ स्वयं नारायण से ग्रहण किया था। वासुदेव शब्द का भक्ति के क्षेत्र में प्र प्रयोग बताने के लिए श्री भंडारकर, लोकमान्य तिलक, डा० राय चौधरी पाणिनि के व्याकरण सूत्रों का प्रमाण प्रस्तुत किया है और उसके आधार प शताब्दी पहले वासुदेव पूजा प्रचलित थी यह स्थिर किया है।[4] किन्तु व विकसित रूप हमें महाभारत से ही मानना चाहिये। भागवत धर्म को प्रतिपि विषय में भागवत पुराण के प्रारम्भ में एक कथा आती है जिसमें कहा ग व्यासजी ने देखा कि महाभारत और गीता में नैष्कर्म्य प्रधान भागवत धर्म का पादन किया गया है उसमें भक्ति का यथार्थ रूप नहीं निखर पाया और भक्ति के नैष्कर्म्य शोभा नहीं देता तब उन्होंने नारद को बुलाकर अपने मन का उद्वेग उसी की पूर्ति के निमित्त भक्ति-प्रधान भागवत पुराण की रचना की।[5] इस कथा ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि भागवत पुराण से पहले वैष्णव धर्म में गृहीत उपा नैष्कर्म्य प्रधान था, उसमें भक्ति-पक्ष की स्थिति सन्तोषजनक न होने से परवर्ती भक्ति-प्रधान पुराण का निर्माण किया गया। वैष्णव धर्म में समादृत नारद पंचरा भी भक्ति-मार्ग की स्थापना के लिए बाद में ही लिखा गया। पंचरात्र में गीता, महा भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त', पुराण आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख भी इस बात का प्र

१—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३५ श्लोक १६।

२—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८ श्लो० ८२-८३।

३—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३५ श्लो० २५।

4— Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar Vol. IV, Page 415.
गीता रहस्य—बाल गंगाधर तिलक, पृष्ठ ५४६-४७
The Early History of the Vaishanava Sect—H. Ray Chaudhari, Page 24.
'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।३।९८) सूत्र के आधार से वासुदेव की भक्ति करने वाला यह सिद्ध होता है।'

५—श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध १ ...

है कि उसकी रचना महाभारत और पुराणों के बाद हुई।[1] भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक नारद भक्तिसूत्र एवं शांडिल्य भक्तिसूत्र तो बाद की रचना है। यह गीता के श्लोकों से सिद्ध होता है जो उन भक्ति-सूत्रों में उदाहृत किये गये हैं।[2] अतएव भागवत धर्म का विशद उल्लेख हमें महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में ही मानना होगा। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वासुदेव-भक्ति का तात्त्विक निरूपण महाभारत काल से ही स्वीकार किया है।[3] विष्णु और वासुदेव का ऐक्य भी महाभारत के शान्ति पर्व में बड़े व्यक्त शब्दों में स्वीकार किया गया है। विष्णु को ही वासुदेव का रूप मानते हुए कहते हैं :—

'सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यं विधिमास्थितः।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते॥

महाभारत, शान्तिपर्व अ० ३४७ श्लो० ९४

पुराणों में भक्ति तत्त्व

वैष्णव धर्म का वर्तमान रूप पुराणों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित होकर ही सार्वजनीन बना है। पुराणों की रचना से पूर्व वैष्णव धर्म का सूक्ष्म रूप ही प्रकाश में आया था जिसे पौराणिक कथानक, आख्यान, अर्थवाद, विनियोग और व्याख्या द्वारा स्पष्ट और व्यापक रूप प्राप्त हुआ। महाभारत में पुराण महिमा वर्णन करते हुए एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि अष्टादश पुराणों में श्रवण से जो फल होता है वह वैष्णव को ही प्राप्त होता है।[4] यहाँ वैष्णव शब्द स्पष्ट रूप से व्यवहृत हुआ है। यह श्लोक पुराणों की रचना के पश्चात् महाभारत में बाद में जोड़ा गया समझा जाता है किन्तु वैष्णवों के लिये पुराण माहात्म्य बाद के प्रायः सभी ग्रंथों में वर्णित हुआ है। आज के पौराणिक जगत् में तो श्री मद्भागवत को वेद के समकक्ष आप्त प्रमाण समझा जाता है। पुराणों के तत्त्वार्थ पर ही विकसित होकर वैष्णव भक्ति अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुँची। महाभारत और गीता की रचना के बाद भी भगवान् की महिमा का आख्यान शेष रह गया था जिसे पुराणों द्वारा पूर्ण किया गया। देवर्षि नारद ने महाभारत के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुये यही कहा है कि धर्मादि चतुष्टय की व्याख्या हो जाने पर भी भगवद्-महिमा का निरूपण शेष रहता है। यह महिमा ही वैष्णव धर्म या भागवत धर्म का प्राण है अतः व्यासजी को नारद ने पुराण प्रणयन में प्रवृत्त किया। इस पौराणिक आख्यान का तात्पर्य पुराणों का महत्व प्रदर्शन मात्र है। मानव-धर्म के आख्यान की दृष्टि से महाभारत की महत्ता सर्वविदित है।

१—नारदपंचरात्र—श्लोक सं० २,७,२८,३२—४
२—भक्तिसूत्र नारद ७६-८३, भक्तिसूत्र शांडिल्य—अध्याय २, सूत्र ८३
३—सूरदास (भक्ति का विकास) पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २६
४—अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलंभवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवोनात्र संशयः॥ महाभारत १८।६।९७

भागवत-धर्म के प्रचार के लिये पुराण-रचना अनेक विद्वानों ने स्वीकार की है।[1] स
तिलक ने अपने गीता रहस्य में भागवत पुराण की रचना का उद्देश्य भक्ति-सिद्धान्
प्रतिपादन बताया है।[2] यथार्थ में वैष्णव-भक्ति और वैष्णव-धर्म की व्यापक व्याख्या
करना ही पुराणों का ध्येय है। ब्रह्म वैवर्त, पद्म, विष्णु और श्रीमद्भागवत पुराण तो वै
धर्म के ऐतिहासिक एवं क्रमिक विकास की जानकारी के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

पुराणों में कृष्णभक्ति

श्रीकृष्ण-चरित्र के माधुर्य-रस का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत करके पुराण साहित्य
भक्ति-क्षेत्र में कृष्णावतार को इतना अधिक व्यापक और आकर्षक बना दिया कि भारतव
के प्रत्येक भाग में जहाँ भक्ति की लहर पहुँची कृष्ण के माधुर्य परिपूर्ण चरित्र की पूजा-अर्चा
प्रारम्भ हुई। श्रीकृष्ण-लीलाओं का वर्णन भी पुराणों द्वारा ही अधिक प्रचारित हो सका।
महाभारत में वर्णित श्रीकृष्ण-चरित्र में ऐश्वर्य-रस का ही प्राधान्य था, पुराणों ने उसे माधुर्य
मंडित करके भक्तजनों के लिए आस्वाद्य बनाया। नवधा भक्ति के समस्त रूपों का सोदा-
हरण वर्णन करके भक्ति को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने में भी पुराणों का अमित
योग है। सख्य और वात्सल्य के साथ शृङ्गार को भक्ति के क्षेत्र में, पुराणों में उन्नयन
करके रखा गया। शृंगार का माधुर्य के योग से जो उन्नयन हुआ वह परवर्ती भक्ति-
सम्प्रदायों का मेरुदंड बना। भागवत पुराण में रति-भाव की प्रतिष्ठा करके तथा लौकिक
कालुष्य का परिहार करके जो रसमयी भूमिका तैयार की गई वही भक्ति-सम्प्रदायों की आधार-
भूमि मानी गई।[3] श्रीकृष्ण की विभिन्न रसमयी लीलाओं का भौतिक और आध्यात्मिक
स्वरूप भी पुराणों ने ही स्थिर किया और श्रीकृष्ण को इतना दिव्य और साथ ही साथ
लीलावतारी परमेश्वर बनाया कि लौकिक प्रेम का उसकी लीलाओं में स्वाभाविक रूप से
अन्तर्भाव हो सका।

राधा और कृष्ण के स्वरूप, लीला तथा पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में वैष्णव
सम्प्रदायों में जो मान्यताएँ प्रचलित हैं उनका आधार प्रायः ब्रह्म वैवर्त, हरिवंश तथा भागवत
पुराण हैं। राधा और कृष्ण के वैवाहिक सम्बन्ध का वर्णन ब्रह्म वैवर्त पुराण में मिलता है और

महर्षि कृष्ण द्वैपायन और भागवत धर्म, शीर्षक लेख। (कल्याण भा० १६, सं० ३ पृ०
११७६–८२)

गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक—पृष्ठ ५४०

"Bhakti in this work (Bhagwat Puran) is a surging emotion which
hocks the speech, makes the tears flow and the hair thrill with
leasurable excitement, and often leads to hysterical longing and
eeping by turns, to sudden fainting fits and to long trances of un-
nsciousness...... Thus the whole theory and practice of Bhakti in
is Puran is very different from the Bhakti of the Bhagwat Gita
d of Ramayan."

outline of the Religious Literature of India by J. N. Farquhar,

इसी पुराण में राधा शब्द की व्युत्पत्ति एवं धर्म दिया गया है। राधा के स्वरूप के विषय में हमने आगे पंचम अध्याय में विस्तार से लिखा है।[1] भागवत पुराण तो भक्ति-शास्त्र का सबसे बड़ा भंडार है जहाँ वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है। साहित्य की दृष्टि से भी भागवत पुराण की प्रतिष्ठा अत्यधिक है। भागवत पुराण का रचना-काल से ही जो सम्मान हुआ वह इस बात का प्रमाण है कि भक्ति-मार्ग का उन्मेष हो जाने पर भी वह इस पुराण के प्रकाश में ही प्रशस्त हो सका। प्रस्थान त्रयी पर भाष्य करने वाले आचार्यों में से कुछ ने भागवत पुराण पर भी टीका लिखी और भक्ति सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ का श्रुति के समान सम्मान किया। आज तो वर्तमान वैष्णव-धर्म की स्थापना का इसे आधार ही माना जाने लगा है। भागवत पुराण की टीकाओं की भी सबसे लंबी शृंखला है जो इसके महत्व को प्रदर्शित करती है।

मत्स्य कूर्म, वराह तथा वामन पुराण का तो नाम ही विष्णु के अवतारों से संयुक्त है अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि विष्णु के अवतार की भावना का सर्वांगीण विकास पुराण काल में ही हुआ और उसके अवतारी रूप में लौकिक-अलौकिक, सब प्रकार के शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा हुई।

वैष्णव धर्म के विकास और प्रसार में पुराणों का सर्वाधिक योगदान रहा है। वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्तन में जिन सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया उनमें से अधिकांश का आधार पुराण साहित्य ही है। उदाहरणार्थ चतुःसम्प्रदाय के अतिरिक्त श्रीकृष्ण चैतन्य का गौड़ीय सम्प्रदाय, श्री वल्लभाचार्य का वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग, और श्री हितहरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय मुख्यतः श्रीमद्भागवत और ब्रह्म वैवर्त पुराण में प्रतिपादित भक्ति पद्धति और राधा-कृष्ण स्वरूप को लेकर आगे बढ़े हैं। अतः वैष्णव सम्प्रदायों के विभिन्न रूपों की सीम-मर्यादा की परीक्षा के लिए भी पुराणों का अवगाहन नितान्त आवश्यक हो जाता है।

भागवत पुराण में भक्ति का प्रतिपादन करते हुए जिन आधारभूत तत्वों का उल्लेख हुआ है वे ही वैष्णव धर्म के भी आधार हैं। इस पुराण में व्यवहार पक्ष में भक्ति को ही स्वीकार किया गया है। भगवान् को सगुण और साकार सिद्ध करते हुए उसके चार रूप स्थिर किये गये हैं। पहला स्वरूप तो पुरुष नाम से व्यवहृत होता है। उसके तीन रूप विशिष्ट गुणों के धारण करने पर होते हैं जिन्हें विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र नाम से पुकारा जाता है। विष्णु का वर्णन पुराणों में विस्तार से हुआ है। इसी प्रकार भगवान् की शक्ति का वर्णन है, तथा सृष्टि वर्णन के साथ जीव और माया का स्वरूप बताया गया है। दार्शनिक दृष्टि से भागवत पुराण इतना प्रौढ़ है कि उसके आध्यात्मिक पक्ष को अद्वैतादि मतवादों की कसौटी पर भली भांति कसा जा सकता है। साधन पक्ष में पुराणों में भक्ति का प्रतिपादन है और उसे ज्ञान, कर्म, उपासना आदि से भी बढ़कर बताया गया है। भक्ति में भी प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता कही गई है और यही वैष्णव धर्म की व्यापकता का कारण है। भक्ति की

---

१. देखिए—प्रस्तुत निबन्ध, पंचम अध्याय।

उत्कृष्टता बताते हुए यहाँ तक कह दिया है कि मेरे भक्त भगवान् द्वारा प्रदत्त मुक्ति की भी भक्ति की तुलना में कामना नहीं करते क्योंकि भक्ति का आनन्द मुक्ति से कहीं बढ़कर है—

'न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥' भागवतपुराण ११।२०।३४

संक्षेप में, वैष्णव धर्म के स्वरूपाख्यान में पुराणों का अत्यधिक महत्त्व है अतः यह मानना असंगत न होगा कि वैष्णव धर्म का परवर्ती विधान पुराण साहित्य पर ही आधृत है और इसी कारण प्रस्थानत्रयी से भी अधिक पुराणों का सम्मान होता है। राधा-कृष्ण की भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में तो पुराणों में स्वीकृत लीलाधारी कृष्ण और ह्लादिनी शक्ति राधा की स्थापना है। पुराणों के भक्ति-क्षेत्र में इतने महत्त्वपूर्ण होने पर यह तात्पर्य कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पुराण काल में भक्ति का उदय और विकास हुआ। यथार्थ में भक्ति की प्राचीन परम्परा को पुराणों द्वारा व्यापक रूप मिला।

भक्तिसूत्रों में भक्ति-तत्व

मुनिवर शांडिल्य और देवर्षि नारद विरचित भक्ति-सूत्रों का वैष्णव भक्ति के स्वरूप निरूपण में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय मनीषा की अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता, गहनता और प्रौढ़ता की दृष्टि से सूत्र-पद्धति को उस समय स्थान मिला होगा जब विस्तारपूर्वक व्याख्यात्मक शैली से प्रतिपाद्य वस्तु की विवेचना हो चुकी होगी। दार्शनिक क्षेत्र में सूत्र पद्धति की उपयोगिता सर्वविदित है। गृह्य सूत्र और व्याकरण सूत्रों की महत्ता तो उनके व्यापक उपयोग से ही लक्षित होती है। भक्ति-क्षेत्र में शांडिल्य ने जब सूत्र निर्मित किये तब भक्ति का व्याख्यात्मक प्रतिपादन अवश्य हो चुका था। गीता, महाभारत और पुराण इसके प्रमाण हैं। इन ग्रन्थों के सार को सूत्रों में समाविष्ट करने के निमित्त यह सूत्र रचना हुई या स्वतन्त्र रूप से भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना के लिए नूतन शैली को स्वीकार किया गया, यह प्रश्न विचारणीय है। भक्ति सिद्धान्त की स्थापना में शांडिल्य के सूत्र परम्परानुगत मर्यादा का अनुसरण करने पर भी कुछ नवीन तत्वों की ओर भी इंगित कराते हैं। उदाहरणार्थ गीता में प्रतिपादित कर्ममार्ग की अपेक्षा तथा दार्शनिक ग्रन्थों में स्थापित ज्ञानमार्ग की अपेक्षा इन सूत्रों में भक्ति का अधिक महत्व बताया गया।[१] सबसे बड़ी बात शांडिल्य ने यह बताई कि भक्तिपथ सभी भक्तों के लिए समान रूप से प्रशस्त है। निम्न वर्ण (जाति) के साधक भी इस मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं।[२] दूसरी बात ज्ञान और कर्म मार्ग से बढ़कर यह कही कि जब तक भक्ति का उदय नहीं होता तब तक आत्मा जन्म-मरण के चक्र में घूमती रहती है, भक्ति का उदय होने के बाद पूर्णता के साथ उसमें निमज्जित होने पर ही भवचक्र का बंधन कटता

देखिए—शांडिल्य भक्ति सूत्र (गीता प्रेस, गोरखपुर)
१. भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् (अ० १, १५)
२. महापातकिनां त्वार्तौ। अ० २, ८२।

है।[1] शांडिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका वृत्ति है। शुद्ध राग के अन्तर्गत हरि स्मरण, कीर्तन आदि को नहीं गिना जाता। शांडिल्य ने भक्ति के स्पष्ट दो भेद किये हैं—प्रथम अपरा भक्ति है जो साधनावस्था में रहती है, दूसरी शुद्ध भावभूमिज पराभक्ति है।[2] जब साधक आनन्द की अन्तिम स्थिति में होता है तब वह पराभक्ति की स्थिति में पहुँचता है।[3]

नारद-भक्ति-सूत्रों में जो भक्ति उपदिष्ट की गई है वह भावुकता तथा भावोद्रेक की दृष्टि से शांडिल्य से अधिक परिपूर्ण है। नारद ने भी अन्य साधना-मार्गों की अपेक्षा भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट रूप से स्थापित की है। हार्दिक पक्ष की प्रधानता और प्रेम पर आश्रित होने से इस भक्ति को प्रेमाभक्ति संज्ञा भी दी गई है। नारद के भक्तिसूत्रों ने प्रचार की दृष्टि से अधिक सम्मान पाया और ये सूत्र भक्तजन की श्रद्धा के कारण 'सप्तम दर्शन' माने गये। चौरासी सूत्रों के लघु कलेवर में भक्ति-सागर को आबद्ध करना नारद ऋषि के लिये ही सम्भव था। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्ति-पद्धति से नारद की भक्ति में बहुत कुछ साम्य है। इसलिए कुछ विद्वानों ने भक्ति का प्राचीन उत्स दक्षिण में ही स्वीकार किया है।

नारदीय सूत्रों के अनुसार ईश्वर की परम-प्रेम-प्राप्ति ही भक्ति है।[4] जिस प्रेम को प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न (विषयभोगादि में) उत्साही होता है। जिस प्रेम रूपा भक्ति ो पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है।[5] ज्ञान, कर्म ादि अन्य मार्गों की तुलना में नारद ने उसी भक्ति की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से कही है। ाक्ति द्वारा पुरुष के मन में विनय और दैन्य की सृष्टि होती है, अन्य मार्गों के अनुसरण से ाहंकार का प्रादुर्भाव होता है। भगवान अहंकार से प्रेम नहीं करते; दैन्य-पूर्ण भक्त ही ागवत्प्रिय होता है।[6] नारद ने भगवत् कृपा प्राप्ति के सिद्धान्त को श्रेष्ठ ठहरा कर ही ागवान् के गुण श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि का विधान किया है। नारदीय सूत्रों की सबसे बड़ी विशेषता है प्रेम का व्याख्यान। भक्ति के क्षेत्र में प्रेम का स्थान परवर्ती सम्प्रदायों ं अत्यधिक महत्वपूर्ण होता गया। राधावल्लभ, गौड़ीय तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में तो प्रेम

१—संस्तुतिरेयाम भक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणसिद्धेः। अ० ३, ६८।

२—सापरानुरक्तिरीश्वरे। अ० १, २।

३—द्वेष प्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्चरागः। १, ६।

शांडिल्य भक्ति सूत्र—(गीता प्रेस गोरखपुर)

नारद भक्ति-सूत्र

४—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। सूत्र २

५—यत्प्राप्यर्नकिंचिद्वांच्छति न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति। सूत्र ५

६—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति। सूत्र ४

को ही आधार मानकर भक्ति सिद्धान्त का विस्तार हुआ।[1] प्रेम
नारद ने प्रतिपादन ही नहीं किया वरन् उसकी परिभाषा देकर उ
बना दिया।[2] भक्ति के विविध रूपों का निरूपण भी नारद ने शा
गौणी भक्ति और उसके भेदों के विवेचन में विस्तार से काम लि
भी नारद सूत्रों में निहित है जो परवर्ती भक्ति-सम्प्रदाय में स्वीकार
भक्ति के भीतर एकादश रूप भी नारद ने ही स्थिर किये और अन्त में
राधन करने का फल भी इन सूत्रों में बताया गया।[6]

संक्षेप में, इन भक्ति-सूत्रों की रचना द्वारा वैष्णव धर्म में स्वीकृ
रूप में वर्णन हुआ और उसे दर्शन के स्तर पर स्थिर करने का पहला प्रया
मार्ग को स्वीकार करने वाले भक्ति-सम्प्रदायों में नारद के सूत्रों ने आध
दिया और इन्हीं सूत्रों की पृष्ठभूमि पर प्रेम की व्याख्या प्रस्तुत करके सम्प्रदु
दाय आगे बढ़े।

वैष्णवधर्म के विविध रूप और विष्णु-भक्ति

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप ह
के रूप में भागवत धर्म के प्रतिपादक नारायणीय, सात्वत एवं पंचरात्र धर्म
में दृष्टिगत होता है। इनमें भक्ति का स्पष्ट उल्लेख होने से भक्ति मार्ग का यथा
इन्हीं से मानना उचित होगा। काल निर्धारण के लिए हम डाक्टर बूलर
स्वीकार कर सकते हैं जिसमें उन्होंने भागवत, सात्वत और पंचरात्र सम्प्रदाय को
उपासना या देवकी पुत्र कृष्ण की उपासना का सम्प्रदाय कहा है और जिसका काल
के प्रारम्भ होने से बहुत पहले ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी ठहराया है।[7] पालि साहित्य
फ्रेंच विद्वान् सेनार्ट ने भी यह मत प्रकट किया है कि विष्णु भक्ति के तत्वों तथा कथा
बौद्ध साहित्य में ग्रहण किया गया है। भागवत धर्म की स्थापना बुद्ध जन्म के बहुत पहले ह

१—नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति। सू० १९
२—लोके ऽपि भजवद् गुण श्रवण कीर्तनात्। सू० ३७
३—गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव रूपम्। सू० ५
४—गौणीत्रिधा गुणभेदार्तादिभेदा द्वा। सू०५६
५—भक्ता एकान्तिनो मुख्याः। सू० ६७
६—गुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति,
कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधा
प्येकादशधा भवति। सू० ८२
7—The Ancient Bhagavata, Satwat or Panchratra sect ...
the worship of Narayan and his deified ...
Purta dates from a period anteri...
century B. C.—Indi...

थी ।[1] विष्णु पूजा के सम्बन्ध में अंग्रेज लेखक बार्थ का अभिमत है कि यह बहुत प्राचीन है । बुद्ध के पूर्व यह विद्यमान थी किन्तु वे इसके उद्भव के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत प्रस्तुत नहीं कर सके । वृक्ष, सर्पादि पूजा से बहुत पहले विष्णु भक्ति की स्थापना हो चुकी थी, इस तथ्य को स्वीकार करने के बाद विष्णु पूजा का सीथियन मूल उद्भव स्वीकार करना सर्वथा भ्रममूलक है ।[2]

भागवत धर्म में नारायणीय सम्प्रदाय का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व में है जहाँ लम्बे कथानक की अवतारणा करके इस धर्म को दिव्य धर्म के रूप में वर्णित किया है। उसके बाद श्वेत द्वीप में नारद को भगवान् का दर्शन होता है और वे नारद को अपने 'वासुदेव-धर्म' का स्वरूप समझाते हैं । शान्ति पर्व का यह प्रकरण आध्यात्मिक दृष्टि से भी मननीय है ।[3] इसका हमने संकेत भी किया है । इस अध्याय में परमात्मा को वासुदेव, जीवन को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध बताया गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से वासुदेव स्वयं श्रीकृष्ण हैं, संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम हैं, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र हैं । वासुदेव शब्द का प्रयोग संहिता या ब्राह्मण भाग में नहीं है । हाँ, तैत्तरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में यह शब्द एक स्थल पर विष्णु के पर्यायवाची के रूप में ही आया है । किन्तु इस आरण्यक को कई विद्वानों ने बाद की रचना ठहराया है । डाक्टर कीथ के अनुसार यह आरण्यक ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में लिखा गया, तब तक विष्णु और वासुदेव की एकता स्वीकृत हो चुकी थी । वासुदेव शब्द का महाभारत में सूर्य-परक अर्थ किया गया है और "वृष्णियों में वासुदेव हूँ" ऐसा भी कहा गया है । वासुदेव शब्द बौद्ध-साहित्य के घटजातक में भी आया है और उसे मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की संतति कहा गया है ।

विष्णु और वासुदेव

वासुदेव पूजा को स्वीकार करने वाला द्वितीय सात्वत धर्म वैष्णव भावना का समर्थक और संस्थापक धर्म है। इस धर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव (कृष्ण) थे। कहते हैं वासुदेव ही इस धर्म के प्रवर्तक भी हैं। डा० भंडारकर का अनुमान है कि 'वासुदेव' भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम था और उनके प्रसंग का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि वह अन्य तीनों (संकर्षण, प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध) के साथ किसी पहले युग में भी वर्तमान रह

1—No one will claim to derive from Buddhism, Vishnuism or the Yoga. Assuredly, Buddhism is the borrower. ...To sum up, if there had not previously existed a religion made up of doctrines of Yoga, of Vishnuite legends, of devotion of Vishnu, Krishna, worshipped under the Title of Bhagavata, Buddhism would not have come to birth at all. Senart—The Indian Interpreter, Jan. 1910, Oct. 1909, Pages 177-178.

(लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य पृष्ठ ५४७ से उद्धृत)

2—Vishnuism has been traced through Buddhism upto tree and serpent-worship and has been supposed to be of Scythian origin. The Religions of India, by A. Barth, Page 290.

३—महाभारत, शान्ति पर्व—अध्याय ३३४

चुका था।[1] महाभारत के आदि पर्व में भी सात्वतों का उल्लेख हुआ है और एक अन्य स्थल पर वासुदेव को ही सात्वत कहा गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में भी सात्वत धर्मानुयायियों के अनुसार 'भगवान वासुदेव' की पूजा का वर्णन है।[2] इस सम्प्रदाय में नर के रूप में परमात्मा के अवतार का विधान हुआ और वासुदेव की उपासना नरावतार रूप में हुई। भीष्म पर्व (महाभारत) में ब्रह्म पुरुष परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए इस अवतार का रहस्योद्घाटन किया गया है और वासुदेव को अवतार माना गया है।[3] गीता में भी इस सात्वत धर्म का वर्णन मिलता है और भागवत धर्म या नारायणीय धर्म का ही इसे रूप बताया गया है। लोकमान्य तिलक ने सात्वत धर्म के प्रवर्तन का कारण सात्वत (यादव) जाति से जोड़ा है। उनकी कल्पना है कि यादव कुल में प्रसार होने से भागवत धर्म ही सात्वत धर्म नाम से व्यवहृत होने लगा। सत्वगुण भूयिष्ठ होने के कारण भी भक्तगण 'सात्वत' नाम से प्रसिद्ध हुए, ऐसी कल्पना भी की जाती है।[4] वैष्णव तंत्र ग्रंथों में 'पद्मतंत्र' ग्रंथ में 'एकान्तिक' धर्म भी भागवत धर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] इस एकान्तिक धर्म का अर्थ वासुदेव (कृष्ण) का ही एकान्तिक धर्म समझना चाहिए जो सात्वत धर्म का ही रूप है। इस एकान्तिक शब्द का प्रयोग गीता तथा महाभारत में भी हुआ है और अनन्य भाव की भक्ति ही उसका आधार माना गया है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि एकान्तिक धर्म कृष्ण-भक्ति प्रतिपादक धर्म है तो कृष्ण का स्वरूप क्या है और कृष्ण रूप में कितने व्यक्तियों की कल्पना करना उचित है।

वैष्णव धर्म में कृष्ण

भक्ति-सम्प्रदायों में कृष्ण का स्वरूप-विवेचन साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। यहाँ उसका उल्लेख न करके हम केवल भागवत धर्म में स्वीकृत कृष्ण के स्वरूप पर ही विचार करेंगे। महाभारत के शान्ति पर्व में यह कहा गया है कि सात्वत या भागवत धर्म सबसे पहले कृष्ण वासुदेव ने अर्जुन को उपदिष्ट किया।[6] यहाँ वासुदेव और कृष्ण दो पृथक् व्यक्ति न होकर एक ही हैं। किन्तु सर भांडारकर ने इन दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार

---

1. H. Ray Chaudhari : Early History of the Vaishanava Sect, Page 44.

२. 'यत् तत् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्य कल्पितम्।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः॥'
श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध ६, अ० ६, श्लोक ४६।

३. महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ६५।

४. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—शीर्षक लेख। कल्याण वर्ष १६, अंक ४।

५. 'सूरिः सुहृद भागवतः सात्वतः पंचकालविद्।
एकान्तिक स्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि॥' —पाद्मतंत्र ४।२।८८

६. महाभारत शान्ति पर्व—अ० ३४७-४८।

किया है। उनकी धारणा है कि प्रारम्भ में ये दो पृथक् अस्तित्व वाले देवता थे जो बाद में एक हो गये। इस मत को परवर्ती विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन है वह एक ही है, उसके नाम चाहे अनेक हों। श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता रहस्य में इस विषय में लिखा है—"हमारा मत यह है कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नहीं हुए वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे।" गीता रहस्य की टिप्पणी में इस विषय को तिलक जी ने और अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि डा० भांडारकर ने अपने "वैष्णव शैव आदि पंथ" सम्बन्धी अंग्रेजी ग्रन्थ में इसी मत को स्वीकार किया है (कि कृष्ण कई हैं)। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं। यह बात नहीं कि गोपियों की कथा में जो शृंगार का वर्णन है वह बाद में न आया हो, परन्तु केवल उतने ही के लिए यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न-भिन्न पुरुष हो गये और इसके लिये कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार भी नहीं है।"[1] महाभारत काल को यदि रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार स्वीकार किया जाय तो कम से कम ईसवी सन् १४०० वर्ष पूर्व महाभारत और कृष्णावतार हुआ होगा। हेमचन्द्रराय चौधरी ने अपने वैष्णव धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ में कृष्ण और वासुदेव का पार्थक्य स्वीकार नहीं किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कीथ के लेख का उद्धरण प्रस्तुत किया है।[2] वासुदेव और कृष्ण का सामंजस्य घटित करने के लिए यह भी कहा जाता है कि वासुदेव मुख्य नाम था और कृष्ण गोत्र-सूचक नाम के रूप में प्रयुक्त होता था। 'घटजातक' में वासुदेव के साथ कृष्ण या कान्ह एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु उससे भिन्न व्यक्तित्व सूचित नहीं होता।

'रिलीजंस आफ इंडिया' पुस्तक के लेखक बार्थ नामक अंग्रेज ने लिखा है कि "निस्सन्देह कृष्ण एक सर्वप्रिय परम 'देवता' के रूप में समादृत था। विष्णु की महत्ता और परम पद के साथ कृष्ण की एकता स्थापित हो गई थी।[3]" अंग्रेज विद्वान् मैक्समूलर, मैकडोनल, होपकिंस

१. श्री तिलक—'गीतारहस्य अथवा कर्मयोग' पृष्ठ ५४८ (पादटिप्पणी सहित)

2—"But it is impossible to accept the statement that Krishna whom epic tradition identifies with Vasudeo was originally an altogether different individual. On the contrary, all available evidence, Hindu, Buddhist and Greek, points to the correctness of the identity, and we agree with Keith when he says that "the separation of Vasudeva and Krishna as two entities it is impossible to justify."

—Early History of the Vaishanav Sect—H. Ray Chaudhuri, Page 36.

3—"In the epic poetry, on the contrary, in the Mahabharat, Vishnu is in full possession of this honour. But at the same time, there comes into view a hero, a man god Krishna, who is declared to *be an incarnation of his divine essence*; and this figure, which is absolutely unknown in the Veda is beyond all doubt a popular divinity. From this we think we must conclude that there is a connection between the attainment of supremacy by Vishnu and his identification with Krishna."

"The Religions of India"—A. Barth, Page 166.

आदि ने कृष्ण के भिन्न-भिन्न स्वरूप ही स्वीकार किये हैं किन्तु हमारा प्रयोजन मुख्य रू
उस कृष्ण के साथ है जो भक्ति-मार्ग में आलम्बन बना। उसे पृथक्-पृथक् रूपों में हम स्वी
नहीं कर सकते। कृष्ण-विषयक विवाद की गहराई में जाना हमारे लिये विषयान्तर हो
अतः सूत्र रूप से हम इसी सिद्धान्त को स्थिर करने के पक्ष में हैं कि विष्णु-भक्ति के वि
में विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण यह क्रमिक विकास परम्परा है जो विष्णु की
के व्यापक रूप को उद्घाटित करती हुई आगे बढ़ी है। नाम भेद से परम देवता में भेद
मानना चाहिए।

सात्वत धर्म के बाद वैष्णव धर्म में पंचरात्र धर्म का स्थान है। पांचरात्र धर्म
कृत अधिक व्यापक शास्त्रीय आधार लेकर चला है। विभिन्न तंत्रों और संहिताओं के
पर इस धर्म में सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति
आधार पर पांचरात्र धर्म के प्रचार का कारण यह समझा जाता है कि बौद्धों और
निरीश्वरवादी प्रचार की प्रतिक्रिया रूप में विधि-विधान युक्त-वैष्णव धर्म पांचरात्र का
हुआ।[1] सात्वत धर्म की सामूहिक संगठित शक्ति ही पांचरात्र धर्म में समन्वित हु
वैष्णव धर्म की शास्त्रीय मर्यादा स्थापित की गई। महाभारत के 'नारायणीयोपाख
पांचरात्र धर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन है अतः यह भी कहा जा सकता है कि पांच
का बीज महाभारत काल में ही विद्यमान था। बाद में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के
यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ संगठित होकर प्रचार को प्राप्त हुआ।

'पंचरात्र' शब्द के सम्बन्ध में महाभारत में यह बताया गया है कि इस
नारायण ने श्रीमुख से गायन किया था। चारों वेदों और सांख्य-योग के समावेश
इसे पंचरात्र नाम उपलब्ध हुआ। नारद पंचरात्र के अनुसार रात्र शब्द का अ
ज्ञान। 'रात्रं च ज्ञान वचनं, ज्ञानं पंचविधं स्मृतम्'। परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग
(संसार) इन पाँच विषयों के निरूपण से इस तंत्र का नाम पांचरात्र पड़ा है।
धर्म की व्याख्या शंकराचार्य आदि विद्वानों ने भी की किंतु उनकी दृष्टि अपने
विचार पर स्थिर रहने से वैष्णव धर्म का व्यापक दृष्टि से विषय-निरूपण नहीं
इस मत के अनुसार भगवान् शक्तिमान है और लक्ष्मी उनकी शक्ति है। वैष्णव ध
से यह भावना भक्ति के क्षेत्र में उपादेय सिद्ध हुई।

वैष्णव धर्म से संयुक्त नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र आदि धर्मों के विकास
गीता और पुराण साहित्य का सर्वाधिक योग रहा। महाभारत के अनेक प्रकरण
का वैष्णव धर्म-स्वीकृति स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। विष्णु, वासुदेव, कृष्ण आदि

---

१. "वैदिक काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सब वैदिक देवताओं
है। उस वैष्णव धर्म का मार्ग धीरे-धीरे बढ़ता गया और महाभारत काल
रात्र' नाम मिला। × × भक्तिमार्ग बहुत पुराना तो है परन्तु पांचरा
और प्राचीन है।" 'हिन्दुत्व' पृष्ठ ५९८, ले० रामदास गौड़।
—श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १०६।

महाभारत में अनेक स्थलों पर हुआ है। गीता भी महाभारत का अंग ही है किन्तु भक्ति-क्षेत्र में उसका स्वतन्त्र स्थान बन गया है। साम्प्रदायिक भक्ति मार्गों के प्रवर्त्तन से पूर्व गीता और पुराण साहित्य को ही कृष्ण भक्ति का आधार स्तम्भ समझा जाता था। गीता में भक्ति का निरूपण प्रत्यक्ष रूप से हुआ है। एकान्तिक कृष्ण भक्ति का जैसा स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता में है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जा सकता। डा० बी० एम० बरुआ ने गीता को 'विश्वास तत्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति का ग्रन्थ स्वीकार किया है।[1] गीता को कर्मयोग सिद्ध करने वाले श्री बालगंगाधर तिलक भी गीता में भक्ति तत्व की पूर्णता स्वीकार करते हैं और उनकी मान्यता है कि निष्काम कर्म की साधना के साथ भक्ति की श्रेष्ठता का ज्ञान भी गीता से ही होता है। "ऐसा कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः' इत्यादि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नहीं। परन्तु गीता का कथन है कि कर्मों को गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और नवविधा भक्ति में ही बिल्कुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है।"[2]

वैष्णव भक्ति के वैदिक स्वरूप की रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद पुराणकाल और सूत्र-काल में उसके विकास का संकेत किया गया। हमारा उद्देश्य इस अध्याय में वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का आभास मात्र देना है। इस सम्बन्ध में अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने लिखा है अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ समझकर हम इसके विस्तार में नहीं जाना चाहते।

पुराणों का निर्माण काल यद्यपि निर्विवाद रूप से अभी तक स्थिर नहीं हो सका है फिर भी ईसा के पूर्व दूसरी शती से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक इनका रचनाकाल समझा जाता है। रचना हो जाने के बाद भी तेरहवी शताब्दी तक इनमें प्रक्षिप्त अंशों का समावेश यथासमय होता रहा यह भी विद्वानों की स्वीकृत धारणा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि पौराणिक युग ईसा पूर्व दूसरी शती से छठी ईसवी तक माना जाय तो यह आठ सौ वर्ष का समय भक्ति के बाह्य रूप के विकास का युग है। इस युग के साथ-साथ ही भारत में बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यों तो पौराणिक युग और बौद्ध धर्म का उत्थान युग लगभग एक ही ठहरता है किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक भारतवर्ष में गुप्तवंशीय राजाओं का शासन रहा, जिन्होंने भागवत धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए सब प्रकार के साधन जुटाये। फलतः बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव कम हुआ। गुप्त साम्राज्य के समाप्त होते ही पुनः बौद्ध और शैव धर्म ने उत्तरी भारत में जोर पकड़ा। उत्तरीय भारत के तत्कालीन सम्राट हर्षवर्द्धन (सन् ˙ ३० ई०) के काल में भागवत धर्म की उपेक्षा रही। बौद्ध, जैन और शैव अपने सिद्धांतों और मन्तव्यों के प्रचार का मौका पाकर

1—'The Geeta must be judged mainly as a treatise on Bhakti by virtue of the prominence accorded to the element of faith.'
The Bhakti doctrine in Sandilya Sutra by Dr. B.M. Barua, Page 437.

२. लोकमान्य तिलक—गीतारहस्य—पृष्ठ ४३७।

सारे उत्तरीय भारत में फैल गये। इसी समय दक्षिण भारत में भक्ति का वैष्णव रूप उदित हुआ और आलवार भक्तों के रूप में तमिल भाषा के माध्यम से भक्ति विकासोन्मुख हुई। इन आलवार भक्तों ने विपुल संख्या में गीत लिखकर भक्ति की धारा सारे दक्षिण प्रान्त में प्रवाहित कर दी। ये आलवार भक्त ही परवर्त्ती आचार्यों द्वारा प्रवर्तित दक्षिण भारत की भक्ति के उन्नायक हैं और वैष्णव धर्म की व्यापक भावना के सच्चे प्रतीक हैं। भागवत पुराण के परिशिष्ट 'भागवत माहात्म्य' में (अध्याय ४८, श्लोक ५०) द्रविड़ देश में भक्ति के उद्भव की एक कथा है।[1] यद्यपि यह बहुत अर्वाचीन है फिर भी इससे दक्षिण देश की भक्ति का संकेत मिलता है। जनश्रुति परम्परा में प्रसिद्ध भी है—

'भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड॥'

प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य की सम्मति में वैष्णव भक्ति का यह प्रवाह दक्षिण से न आकर बंगाल में उत्पन्न हुआ। इसे उन्होंने नवीन वैष्णवधर्म के नाम से व्यवहृत किया है। ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक जो वैष्णव भावधारा देश में नवीन वेग से प्रवाहित हुई उसका कारण भी उन्होंने अहिंसा और प्रेम-भावना को ठहराया है। जैन और बौद्ध धर्म को, अहिंसा की प्रतिष्ठा होने से, जो उत्कर्ष और गौरव मिला था, उसे इस नवीन वैष्णव धर्म ने अहिंसा की स्वीकृति से प्राप्त कर लिया। फलतः हिंदुओं को जैन और बौद्ध धर्म से हटकर पुनः अपने प्राचीन विष्णु भगवान् को नवीन कृष्णावतार के रूप में पा लेने का मार्ग मिला। अहिंसा की स्वीकृति ने गौतम बुद्ध को भी विष्णु के अवतार रूप में बदल कर हिन्दुओं का उपास्य बना दिया। इस नवीन विचारधारा का सूत्रपात दक्षिण में न होकर बंगाल में हुआ था अतः वे दक्षिण को इस वैष्णव धर्म के पुनर्जागरण का केन्द्र नहीं मानते।[2] कुछ भी हो, यह तो मानना ही होगा कि

1—Then in Bhagawat Mahatmya, a late appendix to the Bhagawat Puran, there is an episode which bears on this question, but which cannot be understood unless we distinguish carefully between ordinary Bhakti and the Bhakti of the Bhagawat Puran. In this episode bhakti incarnate as a young woman, says 'I was born in Dravida'. Now to say that the Bhakti of the Shwetashwetar Upanishad, the Gita and the early Puranas was born in Dravida would be absurd, but if we realise that, in the appendix to the Bhagawat, Bhakti necessarily means the passionate and many-sided devotion of the Great Puran, there is no difficulty and it becomes clear that the work asserts that this Bhakti arose in Tamilnad.

An outline of Religious Literature of India, by Farquhar, Page 232.

2—This new Vaishnavism appeared in Bengal at this time with the same intense regard for Ahimsa as was exhibited by Jainism and Buddhism. Buddha had been changed into an avtar of Vishnu and Buddhists had generally turned into Vaishnavism...New Vaishnavism by taking up the doctrine of Ahimsa more rigidly

हिन्दुओं के विष्णु देवता को भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उस समय उपास्य देवता का स्थान उपलब्ध या और वह भक्ति-मार्ग से ही भजनीय एवं प्राप्य समझा जाता था। वे इस अभिनव वैष्णव धर्म को दक्षिण से आया हुआ तत्व न मानते हुये साथ ही इसे भागवत पुराण की देन न मानकर उससे भी प्राचीन मानते हैं। पुरातन वैष्णव भावना ही मध्ययुग में नवीन रूप से विकसित हुई थी, ऐसी उनकी मान्यता है।[1] दक्षिण से भक्ति के उद्भव की बात इतनी व्यापक रूप से प्रचलित है कि उसका खंडन करना सहज नहीं। फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि बंगाल में भी इस नवीन वैष्णव धर्म के बीज विद्यमान थे। अस्तु

इन आलवार भक्तों के उपरान्त दक्षिण में कुछ आचार्य कोटि के भक्त हुये जिन्होंने विष्णु भक्ति को तात्विक रूप देकर वैष्णव धर्म का आलवारों की रचनाओं से सम्बन्ध स्थापित करने की सफल चेष्टा की। नाथ मुनि (८२४ ई०) इनमें प्रथम आचार्य कहे जाते हैं। इनकी परम्परा में पुंडरीकाक्ष, राममिश्र तथा यामुनाचार्य का नाम आता है। श्री रामानुजाचार्य को विशिष्टाद्वैत की प्रेरणा देने वाले यामुनाचार्य ही हैं।

इन आचार्यों के उद्भव का मूल कारण भक्ति-क्षेत्र में तो भागवत धर्म या वैष्णव धर्म की प्रेरणा है जो उन्हें आलवार भक्तों से परम्परागत प्राप्त हुई थी ; किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में उनकी विचारधारा एक विशिष्ट प्रतिक्रिया का फल है। श्री शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये जिस निर्गुण ब्रह्म की कल्पना की थी वह सगुण भक्ति के क्षेत्र में क्यों कर ग्राह्य हो सकता था। फलतः उसके विरोध के लिये एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म (ईश्वर) की आवश्यकता थी जो वैष्णव-भक्ति की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुये दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एवं स्वीकार्य हो सके। शंकर के अद्वैत का उस समय कुछ ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ कि दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' के आलाप और मायावाद सम्बन्धी प्रलाप चारों ओर फैल गये। उस समय बौद्धों के निरास के लिये शंकराचार्य का सिद्धान्त वैदिक ढाल के रूप में काम में लाया गया और वह प्रचारित भी हुआ किंतु उसके कुछ ऐसे परिणाम भी सामने आये जो परम्परागत वैष्णव भक्ति के लिये घातक प्रतीत हुए। उन्हें सीमित और मर्यादित करने के लिये ही इन आचार्यों ने अपनी वाणी का स्वर मुखरित किया था। अद्वैत भावना के प्रचार से सगुणोपासना और भक्ति के प्रति पूज्य बुद्धि का अभाव हो गया था, उसे पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए इन आचार्यों ने प्रयत्न किया।

---

than before, disarmed the Jains and thus succeeded in appealing to the common people by returning to their old age Vishnu in this form of Shri Krishna and by stopping Vedic sacrifice with animal slaughter.—History of Mediaeval India, Vol. III by C. V. Vaidy, Page 413.

1—It does not appear that this new Vaishnavism came from South or was due to the teaching of the Vaishnava Bhagawat Puran.—History of Mediaeval India, Vol. III by C. V. Vaidy, Page 414.

वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य

आचार्य युग का प्रारम्भ ग्यारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक माना जाता है। यदि रामानुजाचार्य (सन् १०३७ से ११३७ ई०) से लेकर—जिन्हें अधिकांश विद्वान् प्रथम आचार्य स्वीकार करते हैं; निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य तक (सन् ११९७ से १२७६ ई०) इन चार प्रमुख आचार्यों को ही लिया जाय तो तेरहवीं शताब्दी इनका अंतिम समय ठहरेगा। किंतु श्री रामानन्द, श्री वल्लभाचार्य, श्री कृष्ण चैतन्य, श्री हितहरिवंश तथा श्री स्वामी हरिदास जी को भी आचार्य कोटि में रखने से सोलहवीं शताब्दी तक इस युग का विस्तार है।

आचार्य युग के वैष्णव सम्प्रदायों को जिन चार नामों से व्यवहृत किया जाता है तथा उनकी प्राचीनता आदि के विषय में जो गतानुगतिक धारणाएँ बन गई हैं, उस पर हमने स्वतंत्र रूप से अगले अध्याय में विचार किया है। श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि इन चार देवताओं के नाम के आश्रित रामानुज सम्प्रदाय, माध्वसम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों का व्यापक विस्तार है। हमारा सम्बन्ध केवल भक्ति-पक्ष से है अतः इनके दार्शनिक स्वरूप का विवरण देना हम यहाँ उपयुक्त नहीं समझते। हिन्दी, संस्कृत, और अंग्रेजी के अनेक ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक इनके सिद्धांतों का पर्यालोचन हो चुका है। इधर विगत दस बारह वर्षों में भक्त कवियों और भक्ति सम्प्रदायों पर जो शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं उन सब में इन सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधारा का सविस्तर वर्णन है अतः पिष्ट-पेषण बचाने के लिये केवल अपने विषय से साक्षात् संबद्ध प्रकरण का ही संक्षेप उल्लेख करना समीचीन होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय राधावल्लभ सम्प्रदाय है जो सर्वांश में 'राधाकृष्ण भक्ति पर अवस्थित है, अतः हमने रामभक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायों का या रामोपासना. जान-बूझकर उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि वैष्णव धर्म की व्यापक दृष्टि से रामोपासना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि कृष्ण या राधाकृष्ण की उपासना।

श्री रामानुजाचार्य—आचार्य रामानुज के मत से स्थूल सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म ही विषय है। ब्रह्म पुरुषोत्तम है। वह सगुण और सविशेष है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर पांच रूप धारण करता है। इन्हीं में अर्चावतार की गणना है। आपके मतानुसार भक्ति (ध्यान, उपासना) ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं, भक्ति से परमात्मा प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदान्त सूत्र 'तत्वमसि' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'उनका तू सेवक है। जीव और ईश्वर का 'शेषशेषीभाव' सम्बन्ध है। जीव शेष—दास है और भगवान् शेषी—स्वामी है। भागवत कैंकर्य पर इनका विशेष आग्रह है। इसलिए सब कुछ छोड़कर उनकी शरण में जाना ही सच्ची भक्ति मानी जाती है। दार्शनिक शब्दावली में आपका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' के नाम से विख्यात है। यह श्री सम्प्रदाय कहाता है।[1]

---

१. द्रष्टव्य—रामानुजाचार्य प्रणीत ब्रह्मसूत्रों का श्रीभाष्य।
वेदान्त सार, वेदार्थ संग्रह और वेदान्त दीप॥

श्री मध्वाचार्य—आचार्य मध्व के मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणु परिमाण है और भगवान् का दास है। प्रपंच सत्य है। पदार्थ दो प्रकार के हैं—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र। अशेष सद्गुण युक्त भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्व (पदार्थ) है, जीव और जड़-जगत् अस्वतन्त्र तत्व (पदार्थ) है। मायावाद की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि भेद सत्य है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। ध्यान के बिना ईश्वर साक्षात्कार नहीं होता। भक्ति के लिए त्याग, संयम, निर्भीकता और संसार की स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। भगवान् की भक्ति के लिए तीन प्रकार की सेवा करनी चाहिए। दस विध भजन का भी विधान किया है। दार्शनिक शब्दावली में आपका सिद्धान्त द्वैतवाद के नाम से विख्यात है। यह ब्रह्म सम्प्रदाय के अन्तर्गत है।[1]

श्री विष्णु स्वामी आचार्य—रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णु स्वामी का सम्प्रदाय है। आपके ग्रन्थों में सर्वज्ञ सूक्त नामक रचना ही इस सम्प्रदाय का कुछ आभास देती है। इस सम्प्रदाय की परम्परा आज उच्छिन्न हो चुकी है अतः सिद्धान्तों का वास्तविक रूप से निर्धारण करना कठिन है। "विष्णु स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं तथा वे अपनी ह्लादिनी संवित के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उन्हीं के अधीन रहती है। ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह रूप बतलाया गया है। कुछ लोग विष्णु स्वामी को नृसिंह तथा गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं।"[2] यथार्थ में इस सम्प्रदाय का परम्परा द्वारा कोई साहित्य और दर्शन नहीं मिलता। अतः श्री॰वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवाद को ही इस सम्प्रदाय का दार्शनिक मत स्वीकार कर लिया जाता है। हम इसी प्रसंग में वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं।

श्री वल्लभाचार्य—वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है—वह नितान्त शुद्ध है। माया से अलिप्त ब्रह्म अद्वैत है। ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं परब्रह्म, अक्षरब्रह्म, और जगद्-ब्रह्म। इन्हीं को आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवितशक्ति द्वारा चित् का और ह्लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। जीव नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जीव अणु है, जीवात्मा ज्ञाता है। जीव तीन तरह के होते हैं—शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। जड़ जगत् उत्पन्न नहीं होता, नष्ट भी नहीं होता। केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

भगवत् प्राप्ति के लिए भक्ति को साधन माना गया है। भगवान् के अनुग्रह (पोषण) को ही भक्ति का आधार मान कर भक्त को चलना चाहिए। मर्यादा मार्ग की कठिनाइयों को देखते हुए पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन कर वल्लभाचार्य ने भक्त को भगवान् की कृपा पर छोड़ने

---

१. द्रष्टव्य—मध्वाचार्य प्रणीत ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य,
दशोपनिषद्भाष्य, भागवत तात्पर्य निर्णय आदि ग्रन्थ।

२. द्रष्टव्य—भागवत सम्प्रदाय, लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ११८।

का उपदेश दिया। भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। कलियुग में ज्ञान और कर्म के प्रचार से ब्रह्म-प्राप्ति के साधन नष्ट हो गये हैं अतः अब केवल भक्ति मार्ग ही उस ध्येय तक पहुँचाने में समर्थ है।

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण की आत्मशक्ति के रूप में उनसे अभिन्न स्वीकार किया गया जो वैष्णव धर्म के सगुणोपासक कृष्ण-भक्तों को परम आनन्ददायक सिद्धान्त प्रतीत हुआ। श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों की पूजा-सेवा में राधा की सेवा-पूजा 'वागर्थाविव' सम्पृक्त मान ली गई और उनको पृथक् नहीं रखा। श्रीकृष्ण के बाल रूप को उपास्य ठहराया गया किन्तु माधुर्य भाव से राधाकृष्ण की भक्ति में अपार प्रेम प्रदर्शित किया गया। कुछ लोगों का विचार है कि माधुर्य भाव की भक्ति को मानते हुए भी बाल-रूप को स्वीकार करने का कारण लोकरंजन का भाव ही था। शृङ्गारपरक भक्ति को सिंहनी का दूध मान कर अनधिकारी पात्रों को दीक्षित करना उन्हें अभिप्रेत न लगा।

वल्लभाचार्य ने दो प्रकार की भक्ति का विधान किया। प्रथम मर्यादा-भक्ति और दूसरी पुष्टि-भक्ति। जो भक्ति साधन-सापेक्ष होती है और बाह्य साधनों से जिसकी प्राप्ति होती है वह मर्यादा-भक्ति है किन्तु साधन-निरपेक्ष भगवान् के अनुग्रह मात्र से उत्पन्न वह पुष्टि-भक्ति या रागात्मिका भक्ति कहलाती है। वल्लभ सम्प्रदाय में इस दूसरी कोटि की भक्ति को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना जाता है। भगवान् अपनी लीला के विलास के लिए इस सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इस संसार के सृजन का मात्र कारण लीला ही है। लीला विलास की इच्छा का नाम है। सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम की विविध लीलाएँ हैं उसी प्रकार भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला है। इस लीला-सिद्धान्त के प्रतिपादन से परमात्मा की सृष्टि रचना का भक्तिमार्ग में अच्छा रूप दिखाया जा सका। वैष्णव भक्ति-मार्गों में इस लीला के विविध स्वरूपों को लेकर समकालीन भक्ति-सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण-लीला का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है। प्रारम्भ में लीला शब्द दार्शनिक भित्ति पर स्थित होने के कारण गंभीर सृष्टि-तत्व से सम्बद्ध था किन्तु बाद में वह श्रीकृष्ण के क्रीड़ा-विलास के सभी रूपों में प्रयुक्त होकर इतना अधिक व्यापक हो गया कि उसके दार्शनिक रूप को प्रा[illegible] छोड़ ही देना पड़ा।[1]

श्री निम्बार्काचार्य—सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्काचार्य का सम्प्रदाय [illegible] राधाकृष्ण की भक्ति को प्रधानता देने वाला वैष्णव सम्प्रदाय है। इनके अनुसार जी[illegible] अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। भेदाभेद नाम से इस सिद्धान्त क[illegible] कुछ विद्वान् शंकराचार्य से भी प्राचीन बताते हैं। किन्तु जिस रूप में यह निम्बार्काचार्य द्वार[illegible] प्रस्तुत किया गया है वह शंकराचार्य के अद्वैतवाद के बाद का ही है। इनके मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में की गई है। वह समस्त दोषों से रहित समस्त शक्ति से उदित कल्याण गुणों का विधान है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंशी है, जीव और ब्रह्म भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीव अणु है विभु नहीं, जीव अल्पज्ञ है, मुक्तावस्था में भी वह जीव ही है, जीव

१. द्रष्टव्य—श्री वल्लभाचार्य प्रणीत 'अणुभाष्य'।

का नित्यत्व चिरस्थायी है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। ब्रह्म का सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में विचार किया जा सकता है। दश श्लोकी ग्रंथ में भगवत्स्वरूप और भक्ति का दार्शनिक विचार किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन पाँच रसों का वर्णन इस सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासाचार्य जी ने किया है। राधाकृष्ण की भक्ति में राधा को स्पष्ट रूप से स्वकीया के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म वैवर्त तथा गर्ग-संहिता के प्रमाणों द्वारा राधा का विवाहित होना तथा कृष्ण का पति के रूप में होना स्वीकार किया गया है।[1]

भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की उपासना को जिन सम्प्रदायों ने ब्रजमंडल में प्रधानता दी उनमें निम्बार्क सम्प्रदाय प्रमुख है। निम्बार्क सम्प्रदाय युगलभाव से श्रीकृष्ण के किशोर स्वरूप का उपासक है।[2]

श्रीकृष्ण चैतन्य का गौड़ीय सम्प्रदाय—चैतन्य महाप्रभु ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की उसका शास्त्रीय रूप षट् गोस्वामियों द्वारा वृन्दावन में तैयार हुआ। चैतन्य ने प्रस्थानत्रयी आदि पर भाष्य लिखना इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि श्रीमद्भागवत पुराण को ही उन्होंने वेदान्त का भाष्य माना और स्वतन्त्र भाष्य लिखने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। रूप, सनातन और जीव गोस्वामी ने भक्ति पक्ष का विशद विवेचन रस-शास्त्र की मर्यादा के भीतर प्रस्तुत करके इस सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति को सर्वाधिक पूर्ण और शास्त्र-सम्मत बना दिया। भाष्य-विषयक दार्शनिक विवेचन की कमी आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्द भाष्य' लिखकर पूर्ण की। बंगाल प्रान्त में गौड़ीय सम्प्रदाय की आधारशिला बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्द भाष्य' बना, ब्रजमंडल में रूप और सनातन गोस्वामी के भक्ति-सम्बन्धी ग्रंथ उज्ज्वल नीलमणि और हरिभक्ति रसामृत सिन्धु समादृत हुए। दार्शनिक दृष्टि से सिद्धान्तों का आभास ''चैतन्य चरितामृत' में भी मिलता है किन्तु सम्प्रदाय में बलदेव विद्याभूषण के विचार ही सिद्धान्त हैं और उन्हीं पर दार्शनिक विवेचन आधृत है।

श्री बलदेव के मत से पाँच तत्व हैं, ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। ज्ञान का विषय अचिन्त्य, अनित्य शक्ति, सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही है। जीव अणु चैतन्य है। ईश्वर की विमुखता ही उसके बंधन का कारण है। भगवत्कृपा से मुक्ति साध्य होती है। मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से पृथक् रहता है। भक्ति ही परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति और संवित् शक्ति की सारभूता है, अतएव ज्ञान-रूपिणी और आनन्ददायिनी है। भक्तिमार्ग की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। इन्द्रियों की प्रेरणा द्वारा की जाने वाली सामान्य भक्ति का नाम साधन-भक्ति है। यह जीव के हृदयस्थ प्रेम को जागृत करती है, इसी से इसे साधन-भक्ति कहते हैं। शुद्ध सत्वरूपा, प्रेम

---

१. द्रष्टव्य—श्री निम्बार्काचार्य प्रणीत—पारिजात सौरभ वृत्ति, दश श्लोकी, मंत्ररहस्य षोडशी, प्रपन्न कल्प वल्ली आदि ग्रंथ।

२. उज्ज्वल नीलमणि तथा हरिभक्ति रसामृत सिन्धु—रूप गोस्वामी प्रणीत। षट् सन्दर्भ—जीव गोस्वामी प्रणीत।

सूर्य की किरण सदृश चित्त में स्निग्धता उत्पन्न करने वाली भक्ति विशेष का नाम भाव है। भाव प्रेम की प्रथमावस्था है। यही भाव जब घनीभूत हो जाता है तब उसे प्रेम कहते हैं। प्रेम ही प्रयत्न का चरम फल है, प्रेम ही जीव का नित्य धर्म है, वही परम पुरुषार्थ है।[1]

स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय—ब्रजमंडल में रसभक्ति को स्वीकार करके राधाकृष्ण की उपासना करने वाले सम्प्रदायों में स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित हरिदासी या सखी-सम्प्रदाय का नाम उपर्युक्त सम्प्रदायों की परम्परा में उल्लेखनीय है। सामान्यतः सखी-सम्प्रदाय को निम्बार्क की शाखा के रूप में साधन-मार्ग ही समझा जाता है। स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में उसका स्थान नहीं माना जाता किन्तु साधन-पद्धति में भेद होने और निम्बार्कीय दर्शन की गहन-गूढ़ ग्रुत्थियों से रहित होने के कारण इस सम्प्रदाय को स्वतंत्र सम्प्रदाय समझा जा सकता है। स्वामी जी के शिष्यों ने टट्टी-संस्थान नाम से अपनी महन्त गद्दी भी पृथक् स्थापित कर ली थी किन्तु आज इस सम्प्रदाय के अनुयायीगण अपने को स्वतन्त्र न कहकर निम्बार्क के अन्तर्गत मानते हैं। रस-मार्गीय उपासना को स्वीकार करने से, रस को ही सब कुछ समझा जाता है। नित्य विहारी जुगल मूर्ति का ध्यान इस सम्प्रदाय की विशेषता है। रसिक बनकर ही राधा की उपासना सखी रूप में करने का विधान है। रसिक की कोटि में आने के लिए अपना अस्तित्व रसरूप राधाकृष्ण में विसर्जित करना पड़ता है। श्री भगवत रसिक ने रसिक की परिभाषा करते हुए लिखा है—

> 'जीव ईस मिलि होय, नाम रूप गुन परिहरै।
> रसिक कहावै सोय, ज्यों जल छोड़े सर्करा॥
> दिया कहै सब कोय, तेल तूल पावक मिलै।
> तमहिं नसावै सोय, वस्तु मिलै भगवत रसिक॥

स्वामी हरिदास ने केलिमाल नामक ग्रंथ में सिद्धान्त सम्बन्धी पद लिखे हैं। सिद्धान्त स्थापना में सखी भाव की प्रधानता है किन्तु दार्शनिक विवेचन का सर्वथा अभाव है। इस सम्प्रदाय का और राधावल्लभ सम्प्रदाय का बहुत घनिष्ठ ऐक्य है। यद्यपि दोनों स्वतन्त्र हैं किन्तु रस-मार्गीय उपासना या वृन्दावन रस के सम्बन्ध में बहुत कुछ ऐक्य होने से कुछ लोग स्वामी हरिदास और हितहरिवंशजी का क्रमशः शिष्य-गुरु सम्बन्ध तक सिद्ध करने की भूल कर बैठे हैं। इनमें पारस्परिक सौहार्द और मैत्रीभाव होने पर भी गुरु-शिष्य जैसा कोई सम्बन्ध नहीं था। स्वामीजी विरक्त साधु थे और श्री हितहरिवंश जी गृहस्थ कोटि के आचार्य थे। कुछ विद्वानों ने हरिदास जी को चैतन्य महाप्रभु का शिष्य भी लिखा है किन्तु हरिदासी सम्प्रदाय में इस तथ्य का संकेत कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही राधा-विषयक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर भी इन दोनों का कोई पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। श्री नाभा जी ने अपने भक्तमाल में स्वामी हरिदास जी की भावना और साधना-पद्धति का संकेत देते हुए लिखा है—

१. द्रष्टव्य—[illegible] रचित—[illegible]।
[illegible] रचित—[illegible]।

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहे केलि सखी सुख को अधिकारी ॥[1]

चैतन्य सम्प्रदाय में इस प्रकार की भावना स्वीकृत नहीं है। अतः इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना सर्वथा अप्रामाणिक और भ्रामक है।[2]

उज्ज्वल रस या प्रेमाभक्ति को स्वीकार करने वाले ब्रजमंडलीय भक्ति-सम्प्रदायों में, जिनका वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है, साक्षात् सम्बन्ध की एकसूत्रता दृष्टिगत न होने पर भी एक ऐसी परोक्ष सम्बन्ध-सूत्रता है जो भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण को लेकर चली है। वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, हरिदास, और हितहरिवंश ये पांच महानुभाव किसी न किसी रूप में भक्ति-तरु को सींचकर हरा-भरा करने में लीन रहे। इन महानुभावों में चैतन्य महाप्रभु को छोड़कर शेष चार का निवास प्रायः ब्रजमंडल में ही रहा। निम्बार्काचार्य कालक्रम की दृष्टि से प्राचीन अवश्य हैं किन्तु भावना में उनकी भी एकता है। वल्लभाचार्य, हितहरिवंश और हरिदास में समय की दृष्टि से भी बहुत भेद नहीं है। तीनों प्रायः सम-सामयिक हैं और भक्ति के रूप में भी बहुत कुछ समानता है। बालकृष्ण की उपासना स्वीकार करने पर भी वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति को स्थान है और राधाकृष्ण की रसात्मक भक्ति वर्णित है। इन पांचों सम्प्रदायों का 'चतुःसम्प्रदाय' से सम्बन्ध और इनके मन्तव्यों की समानता और असमानता पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। इस प्रबन्ध का विषय 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' है अतः उसके सिद्धान्तों की रूपरेखा यहां न देकर अगले दो अध्यायों में उसका विस्तार-पूर्वक सैद्धान्तिक विवेचन करेंगे। 'चतुःसम्प्रदाय' के भीतर समस्त सम्प्रदायों को बांधने की परिपाटी भी हमारी दृष्टि में अधिक समीचीन नहीं है अतः उसका भी अगले अध्याय में हमने सप्रमाण खंडन किया है।

मध्ययुगीन प्रेमलक्षणा भक्ति और माधुर्य भाव

पिछले पृष्ठों में हमने भागवत धर्म के प्रचारक प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तों एवं भक्ति-विषयक मान्यताओं का संक्षेप में वर्णन किया है। वैष्णव धर्म के व्याख्याता इन आचार्यों ने वेदान्त-संयुत भक्ति अथवा भक्ति-संयुत वेदान्त का अपनी-अपनी दृष्टि से जो रूप स्थिर किया था उसी को नवीन रूप देकर मध्ययुगीन वैष्णव भक्त महानुभावों ने प्रेम-लक्षणा भक्ति का विस्तार किया। इन सन्तों की दृष्टि वेदान्त के व्याख्यान पर न होकर उसके तात्त्विक ऐक्य पर केन्द्रित थी, इसलिए दर्शन की जटिलता से बचकर इनका लक्ष्य प्रेम और प्रपत्ति ही रहा। प्रेम लक्षणा भक्ति का जो रूप भागवत पुराण और भक्ति-सूत्रों में विशद रूप से वर्णित हुआ था वही इस युग की भक्ति-पद्धति का आधार बना। यदि इसका क्रमिक विकास स्थिर करना हो तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि प्रारम्भिक भागवत धर्म में जो विभूतिवाद था वही इस युग की भक्ति में प्रपत्तिवाद बना, फलतः इस काल की भक्ति साधना में प्रेम को ही प्रधानता प्राप्त हुई।

---

१. नाभाजी कृत भक्तमाल—छप्पय नं० ९१-१२३, पृष्ठ ६०१।

२. द्रष्टव्य—स्वामी हरिदास प्रणीत—केलिमाल और सिद्धान्त के पद।

भागवत पुराण में जिस कोटि की प्रासक्तिरक भक्ति का विधान हुआ है उसके कोटि की भक्ति सातवीं शताब्दी के आलवार भक्तों में प्रचलित थी। भगवान का गुण और लीला-वर्णन ठीक वैसा ही था जैसा भागवत पुराण में है। प्रोफेसर हूपर ने ए भक्तों की भक्ति-साधना को भागवत पुराण के समकक्ष ठहराया है।[1] बौद्ध सहजयान में साधना के लिए जिस काम-केलि का वर्णन था वह भी प्रेमपरक साथ अपरिष्कृत एवं अनुदात्त रूप ही था जो अपनी ऐहिकता के कारण ऐन्द्रिय वामाचार का कारण बना। सूफियों की प्रेम की पीर भी प्रेम-साधना के मार्ग में होने के कारण सहायक तत्व के रूप में गृहीत हुई थी। दक्षिण के भक्तों के लौकिक रूप की स्वीकृति के कारण नायक-नायिका की भावना भी आ गई थी। रामचन्द्र शुक्ल ने माधुर्य भक्ति के प्रारम्भ का संकेत दक्षिण के आलवार भक्तों में करते हुए लिखा है कि—"दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन जिनका जन्म सम्वत् ७७३ में हुआ था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में तिरुप्पा पुस्तक में मिलते हैं। अंदाल एक स्थल पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्रा स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य को अपना पति नहीं बना सकती।" इस उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी वादी सूफियों की उपासना भी माधुर्य भाव की थी। मुसलमानी जमाने में इन प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। माधुर्यभाव को मिला। माधुर्यभाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से मिलन' मूर्च्छा, की भी रहस्यमयी योजना हुई।[2]

प्रेम-लक्षणा माधुर्य-भक्ति के प्रचार का कारण खोजते हुए कुछ विद्वा के रूप में स्त्री-पूजा को इसका प्रेरक तत्व माना है। यद्यपि यह आदि कारण न किन्तु प्रेम सम्बन्धों के ऐहिक रूपों को भक्ति-क्षेत्र में स्थान मिलने के कारण इसका परोक्ष सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। प्राचीन देवताओं के साथ पत्नी देवताओं का वर्णन जब से प्रारम्भ हुआ तभी से दाम्पत्य-भावना भी भक्तिक्षेत्र प्रविष्ट हो गई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस विषय में लिखा है कि—"इस काल के बहुत पहले से ही भारत में शक्ति तत्व की धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी विकास की मूल प्रेरणा के रूप में, स्वीकार किया गया था। तंत्र-साहित्य में रूप भी प्रदान कर दिया गया और वही बहुदेववाद एवं अवतारवाद के लिए में आ बैठी। शिव के साथ वह पहले केवल 'शक्ति' नाम से ही दीख पड़ विष्णु के साथ वह लक्ष्मी बन गई, तथा इसी प्रकार ब्रह्मा के साथ सरस्वती, सीता एवं कृष्ण के साथ राधा नाम से प्रचलित हो चली। देव-दम्पतियों दम्पतियों में केवल इतना ही अन्तर था कि प्रथम के निवास का स्थान जहाँ

Hymns of Alvars by J. S. M. Hooper, Page 18.

— — —[illegible]—पं० रामचन्द्र शुक्ल (संशोधित संस्करण)

लोक में समझा जाता था और वे चिरस्थायी भी माने जाते थे, वहां अवतार-दम्पतियों का लीला-क्षेत्र भूमंडल भी मान लिया जाता था और उनके लिए प्रत्यक्ष मानव जीवन की कल्पना कर कभी-कभी उनकी संततियों तक का वर्णन कर देना अप्रासंगिक नहीं समझा जाता था।"[१] अवतारवाद की कल्पना में यद्यपि भगवान् का ऐश्वर्य-परक रूप ही प्रधान रहता है, माधुर्य भाव के प्रस्फुटन का उसमें अपेक्षाकृत न्यून अवकाश है किन्तु अवतार के आधार पर जिन काम्य रूपों की कल्पना करने की छूट मिलती है वे रूप ही माधुर्यभाव की भक्ति को पुष्पित और फलित करने में सहायक होते हैं। मध्ययुगीन प्रेम-लक्षणा भक्ति में राम और कृष्ण का पौराणिक रूप ही प्रधानतः स्वीकृत हुआ है किन्तु उसके वर्णन में भक्तों ने अपनी लौकिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को इस तरह घुला-मिला दिया है कि उस अवतार को हम अपनी दैनिक अनुभूति और आनन्द का विषय सहज ही में बना सकते हैं।

मध्ययुगीन प्रेम-लक्षणा माधुर्यभक्ति के प्रचार का अन्यतम कारण यह भी है कि शंकराचार्य तथा उनके परवर्ती अन्य आचार्यों की दार्शनिक ऊहापोह एवं गंभीर चिन्ता-धारा से मुक्ति पाने के लिए एक ऐसे सर्वजन सुलभ मार्ग की आवश्यकता भक्तों को प्रतीत हुई जो मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियों के निकट हो और जिसे स्वीकार करने पर साधना की किसी जटिल एवं दुर्बोध प्रक्रिया में न फँसना पड़े। इस मार्ग में ज्ञान-मार्ग की दुरूहता से तथा कर्मकांड की आडम्बरपूर्ण जटिलता से बचने का आग्रह प्रारम्भ से था अतः इसका विस्तार भी दर्शन के माध्यम से न होकर साहित्य के माध्यम से हुआ। इष्टदेव के प्रति पूज्य बुद्धि या श्रद्धाभाव को अक्षुण्ण रखकर हृदय की प्रीति, प्रेम, स्नेह, सौहार्द आदि भावनाओं द्वारा उसके अनुग्रह की कामना की गई। मोक्ष या मुक्ति का इस प्रेमलक्षणा भक्ति में कोई स्थान नहीं है, भगवद्-प्रेम या कृपा-प्राप्ति ही इस मार्ग का साध्य और साधन है।

प्रेमलक्षणा भक्ति में जिस प्रेम की स्वीकृति है वह न तो यौन-सम्बन्ध से उद्भूत कामेच्छा-परक प्रेम माना जाता है और न इस प्रेम को सामाजिक सम्बन्ध का आधार ही ठहराया गया है। यह प्रेम ईश्वरोन्मुख होता है जो अपने आराध्य के प्रति निष्काम भावना से व्यक्त किया जाता है। इस प्रेम में किसी प्रकार के विनिमय की आकांक्षा नहीं होती। शांडिल्य और नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में इस प्रेम को अनिर्वचनीय और विषय-सुख से भिन्न बताया है।[२] उनमें यह स्पष्ट कहा है कि वासना-जन्य प्रेम में स्व-सुख की कामना का प्राधान्य होता है, उसमें प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।[३] किन्तु ईश्वरोन्मुख प्रेम स्व-सुख-विवर्जित तत्सुखभाव से किया जाता है। श्री चैतन्य और श्री हितहरिवंश ने

---

१. 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' से० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १७४।

२. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। नारद भक्तिसूत्र ५१।

३. नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्। नारद भक्तिसूत्र २४।

इसी प्रेम को अपने भक्ति-सम्प्रदायों में स्थान दिया है। चैतन्य मत में इस प्रेम को प्राप्त करने वाली गोपियाँ हैं, राधावल्लभीय मत में निज रूप में स्थित सहचरी इस दिव्य प्रेम की अधिकारिणी बनती है। प्रेमलक्षणा भक्ति में स्वीकृत प्रेम का स्वरूप बताते हुए नारद कहते हैं—'गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्धमान, विच्छेद-रहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और केवल अनुभवैकगम्य सांसारिक प्रेम से पृथक् कोटि का यह प्रेम है।'[1] इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[2]

मध्ययुगीन प्रेमलक्षणा भक्ति में उपर्युक्त कोटि के प्रेम की स्थापना होते हुए भी उसका निर्वाह उतनी पवित्रता के साथ नहीं हो सका। इस भक्ति में परकीया प्रेम को स्थान देकर मध्ययुगीन अनेक भक्त महानुभावों ने सैद्धान्तिक रूप से भले ही इसको उदात्त भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया हो किन्तु इसका व्यावहारिक रूप सर्वतोभावेन शुद्ध और अनाविल नहीं रह सका। इसका मुख्य कारण लौकिक शृङ्गार भावना का समावेश ही कहा जायगा। लौकिक प्रेम का स्वरूप शुद्ध या अनाविल नहीं होता। लौकिक प्रीति होने पर प्रेम में जड़त्व आ जाता है। चिन्मुख होने पर यही प्रेम (भगवद्भक्ति-परक होने के कारण) पावन बनकर 'उज्ज्वल-रस' नाम से व्यवहृत होता है। मध्ययुगीन सन्तों ने यथार्थ में इसी उज्ज्वल रस को भक्ति का पोषक माना था, लौकिक शृङ्गार रस को नहीं। रूप गोस्वामी के भक्ति-सम्बन्धी ग्रंथों में इसी उज्ज्वल रसपूर्ण प्रेम का प्रतिपादन हुआ है। लौकिक प्रीति को भगवद् प्रेम में पर्यवसित करके उन्नयन करने का मार्ग ही इस भक्ति-क्षेत्र में गृहीत होता है। जो इसके मर्म को हृदयंगम नहीं कर सकता वह बाह्य शृङ्गार में निमज्जित होकर प्रेमलक्षणा भक्ति का उपहासमात्र करता है, उसे प्राप्त करने का अधिकारी नहीं रहता।

माधुर्यभाव की भक्ति को प्रमुख स्थान देते समय परम्परा से चली आती हुई लौकिक मान्यताओं में तत्कालीन भक्तों ने आमूल परिवर्तन किये। लोक में मधुर रस अर्थात् शृङ्गार भाव जो दाम्पत्य भाव का पोषक है सब से निम्नकोटि का माना जाता है, उससे ऊपर वात्सल्यभाव का स्थान है, फिर सख्य, फिर दास्य और सब से ऊपर निर्वेद का परिपोषक शान्त रस है। किन्तु यह क्रम माधुर्य भक्ति में एकदम परिवर्तित होकर दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य क्रम से स्थिर हुआ। इनके स्थान भी ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक और सर्वश्रेष्ठ मधुर रस का अधिष्ठान वृन्दावन माना गया। सोलहवीं शताब्दी में ब्रज-मंडल में माधुर्य भक्ति के जो सम्प्रदाय उत्पन्न हुये उन सब में वृन्दावन को माधुर्य-मंडित ठहराया गया और उसका अमित माहात्म्य वर्णित हुआ। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने

---

१. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवम्। नारद भक्ति सूत्र ५४।

२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। नारदभक्ति सूत्र ५५।

'वृन्दावन शतक' ग्रंथ में इसी वृन्दावन का 'प्रेम-स्थान' के रूप में बड़ा ही सरस और विशद वर्णन किया है।

माधुर्यभाव की भक्ति को स्वीकार करने वाले मध्ययुगीन सम्प्रदायों में व्रजमंडल के चार प्रमुख सम्प्रदाय थे जो प्रायः समकालीन हैं। किन्तु उन सबकी माधुर्य भावना में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तन के समय माधुर्य भाव के वात्सल्य पक्ष को सर्वश्रेष्ठ मानकर अंगीकार किया था किन्तु शनैः-शनैः उसमें परिवर्तन आया और वह माधुर्य के कान्ताभाव की ओर झुकता गया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो कान्ताभाव को पूरी तरह अपनाया और उनकी इस स्वीकृति का प्रभाव अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर पड़ा। उन्होंने स्वयं भी 'शृङ्गार मडनम्' लिखकर दाम्पत्य भाव-पोषक भक्ति को श्रेष्ठतर मान लिया था। यद्यपि गुसाईंजी इस पद्धति को अति गोप्य या केवल रसिक जनों के लिए ही ग्राह्य मानते थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि जो भक्तजन रसमार्ग से अनभिज्ञ हैं वे इस ग्रन्थ का अवलोकन न करें।[1] डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ में युगल स्वरूप (दाम्पत्यभाव) की उपासना विधि का संकेत देते हुए लिखा है—'वल्लभाचार्य जी ने पहले माहात्म्य ज्ञान पूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तर जीवन काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथ जी ने किशोर-कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।'[2] सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्ददास की रचनाओं में इस कोटि के माधुर्य भाव-परक पदों का समावेश भी उत्तरकाल में ही हुआ। उस समय भक्ति-क्षेत्र में व्रज प्रदेश पूर्ण रूप से कान्ता-भाव की भक्ति का समर्थक हो गया था।

इसी समय बंगाल में चैतन्य ने माधुर्यभाव से कृष्णोपासना प्रारंभ की किन्तु उस उपासना का चरम उत्कर्ष व्रज में ही दृष्टिगत हुआ। चैतन्य प्रतिपादित कीर्तन और नाम-स्मरण की प्रणाली को माधुर्य के उज्ज्वल पक्ष से संयुक्त करके दाम्पत्यभाव की सुदृढ़ भूमि पर स्थित करने का श्रेय रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी को है। इन महानुभावों ने वृन्दावन को अपनी साधना स्थली बनाया और उज्ज्वल रस को शास्त्रीय रूप देने के निमित्त संस्कृत भाषा में शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया। यथार्थ में कान्ताभाव को भक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप देने का श्रेय इन्हीं महानुभावों को है। यह ठीक है कि इनकी भावना में परकीया को प्रधानता मिली और परकीया के रूप में दाम्पत्य का एक मोहक रूप इन्होंने अपने ग्रंथों में प्रस्तुत किया। किन्तु जिस परकीया भाव को प्रारंभ में सर्वश्रेष्ठ ठहराया गया वही कालान्तर

---

१ प्रार्थये रसिका स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञः मात्रासीदपि वैष्णवः॥
श्री विट्ठलनाथ जी कृत, शृङ्गारमंडन।

२. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—डा० दीनदयालु गुप्त—पृष्ठ ५२७।

में नायक-नायिका भेद का एक सामान्य रूप मात्र रह गया और शृंगार की लौकिक नाओं का उन्नयन करने की क्षमता उसमें से लुप्त हो गयी। फिर भी इस सम्प्र गोस्वामियों की देन शास्त्रीय विधान में सर्वोपरि है। ब्रजभाषा पर अधिकार न हों काल में किसी बंगाली वैष्णव ने अपनी माधुर्य भावना को ब्रजभाषा के माध्यम से किया फलतः इस संप्रदाय का मुख्य प्रसार-क्षेत्र बंगाल ही रहा।

ब्रज प्रदेश में वल्लभाचार्य के बाद गोस्वामी हितहरिवंश का व्यक्तित्व उल्लेख श्री हितहरिवंश जी ने अपनी भक्ति-पद्धति का मेरुदण्ड प्रेम ही स्थिर किया। प्रे रूपों का विधान करते हुए आपने उस प्रेम को सर्वश्रेष्ठ माना जो तत्सुखित्व की राधार्पण या राधानिष्ठ होकर किया जाता है। इस संप्रदाय की मान्यता में राधा स्थान मिलने के साथ प्रेम-मार्ग को ही एकमात्र मार्ग स्वीकार किया गया। इसीलिए भक्ति को व्यापक एवं व्यवहार्य रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय हितहरिवंश जी को है। प्रेम-लक्षणा-भक्ति को अपनाने के बाद विधि-निषेध के बाह्य बन्धनों से किस प्र मिल जाती है, यह भी राधावल्लभ संप्रदाय में बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया लौकिक काम-वासनाओं के उन्नयन की दिशा में चैतन्य तथा वल्लभाचार्य की तरह अपनी शैली से विलक्षण कार्य किया, अर्थात् प्रिया-प्रियतम के काम-केलि-प्रसंगों सांग वर्णन करके सहचरी रूप जीव को उस मार्ग में प्रवृत्त किया जिसके द्वारा काम-प्रसंगों को मिथ्या और केवल राधाकृष्ण की दिव्य काम-क्रीड़ा को ही यथा उनके दर्शन की कामना करे। इस संप्रदाय के भक्तों ने ब्रजभाषा को ही अपनी का माध्यम बनाया फलतः हिंदी-साहित्य को समृद्ध बनाने में इस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण योग है।

निम्बार्क संप्रदाय के तत्कालीन भक्तों में श्री भट्ट तथा श्री हरिव्यास देवा माधुर्य-भक्ति के प्रचारकों में उल्लेखनीय है। श्री भट्ट जी का युगल-शतक और चार्य के महावाणी ग्रंथों में कान्ताभाव की भक्ति है जिसमें स्वकीयाभाव को र गया है। स्वामी हरिदास जी तथा उनके शिष्यों में विहारिनदेव, वीठलविपुल, आदि टट्टी संस्थान के अष्टाचार्यों का नाम माधुर्य-भक्ति के उन्नायकों में अत्यधि है। सखीभाव द्वारा उपासना का जैसा सुन्दर रूप इन भक्तों ने प्रस्तुत किया व भक्ति के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इनकी वाणियाँ प्रकाश में आई है, यदि इन्हें व्यापक रूप से प्रकाश में लाया जाय तो अष्टछाप तथा राधा के समान इनका भी स्थान भक्ति तथा काव्य दोनों क्षेत्रों में स्पृहणीय सिद्ध हो

प्रेम-लक्षणा-भक्ति या माधुर्य-भक्ति की सबसे बड़ी देन राधाकृष्ण उपासना को व्यापक और मोहक रूप देना है। राधाकृष्ण का काव्यात्मक तो बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था; जयदेव के 'गीत गोविन्द' और चं के बाद विद्यापति की 'पदावली' में भी राधाकृष्ण का प्रेम वर्णित हुआ था स्तर पर उसे इतना विराट् रूप देना इन्हीं मध्ययुगीन आचार्यों का काम था।

• — के नाम से परवर्ती काल में अश्लील शृंगार-पूर्ण कामचेष्टाओं व

स्थान मिलने लगा किंतु प्रारंभ में इसका उद्भव वासना-स्रोत से नहीं हुआ था। प्रेमलक्षणा-भक्ति प्रारंभ में परम पवित्र और आत्मोत्सर्ग प्रधान भक्ति मानी जाती थी जिसमें काम-वासना की गंध भी न थी किंतु शनैः-शनैः उसकी पावनता, उसका गांभीर्य और उसकी उदात्त भावना का ह्रास होता गया और कालान्तर में अनधिकारियों के हाथों में पड़कर वह केवल काम-लीला का ही लौकिक रूप मात्र रह गयी। यह भी ठीक ही है कि यदि इस मार्ग का रहस्य भलीभाँति हृदयंगम न करके केवल लौकिक सामान्य शृंगार-परक शैली से इसे ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उज्ज्वल रस काम-केलि के कर्दम में पंकिल होकर यौन-संबन्धों की तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। तब न तो शृंगार का ही उन्नयन संभव है और न साधक की आत्मा का अभ्युदय ही।

द्वितीय अध्याय

: क-भाग :

चतुःसम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय

विभिन्न वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों को वर्तमान युग में 'चतुःसम्प्रदाय' के अन्तर्गत परिगणित करने की परिपाटी इतनी अधिक प्रचलित है कि प्रत्येक संप्रदाय के आचार्य या उनके अनुयायी अपने नवीन दार्शनिक सिद्धांत, मन्तव्य तथा अभिनव साधन मार्ग होने पर भी चतुः संप्रदायों में कहीं न कहीं अपना स्थान निश्चित करने के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। यदि कोई आचार्य अपने संप्रदाय को स्वतंत्र मानकर उसके पार्थक्य पर बल देता है तो उसे चतु: संप्रदाय वाले वैष्णव स्वीकार करना नहीं चाहते। फलतः विवश होकर सर्वथा नवीन होने पर भी उसे पुरातन सीमाओं में अपना स्थान बनाने को बाध्य होना पड़ता है। अनेक वैष्णव भक्त आचार्यों के समक्ष चतुःसम्प्रदाय की यह संकीर्ण चार दीवारी आ खड़ी हुई है और अधिकांश ने इच्छा या अनिच्छा से इसे स्वीकार करके अपने को वैष्णव समाज में शामिल किया है। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि विद्वानों ने 'चतुःसम्प्रदाय' की प्राचीनता और वैष्णव कहलाने की अनिवार्यता पर आज तक गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हितहरिवंश जी के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने निर्भयतापूर्वक अपने सम्प्रदाय को सर्वथा स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय कहा। चतुःसम्प्रदाय के भीतर कहीं भी अन्तर्भाव करने का मोह उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। चतुःसम्प्रदाय के अन्तर्गत होकर वैष्णव सम्प्रदाय कहलाने की अनिवार्य शर्तों पर भी ध्यान नहीं दिया और विधि निषेध से अतीत विधान (प्रीतिरीति) प्रस्तुत कर अपना स्वतंत्र सम्प्रदाय स्थापित किया जो विगत सवा चार सौ वर्षों से निरन्तर धार्मिक समाज में सब प्रकार स्वीकृत और समादृत वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित है।

यथार्थ में चतुःसम्प्रदाय की भावना जिस कल्पित आधार पर अवस्थित है उसे भली-भाँति हृदयंगम न करने के कारण ही विशाल और व्यापक वैष्णव धर्म को चतुःसम्प्रदाय की संकीर्ण सीमा में आबद्ध करने की भ्रम परम्परा चली आ रही है। दक्षिण और बंगाल

के उन सम्प्रदायों को भी इस सीमा में बांधा गया है जो भक्तिभावना और निष्ठा में शुद्ध वैष्णव होते हुए भी किसी आचार्य के शिष्य, अनुवर्ती या अनुयायी नहीं रहे और जिन्होंने कभी चतुःसम्प्रदाय की परंपरा से प्रत्यक्ष या परोक्ष में कोई संबंध नहीं जोड़ा। उत्तरीय भारत के अनेक वैष्णव-सन्तों को चतु.सम्प्रदाय का कठघरा स्वीकार न हुआ तो वैष्णव-समाज ने उनका परित्याग करके उन्हें मत, पंथ या समाज का नाम देकर अपने से पृथक् रख कर अपने दंभ की रक्षा की। किंतु ज्यों-ज्यों इस विषय में भ्रम और अज्ञान दूर होता जा रहा है, अनेक सम्प्रदाय अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का आग्रह करने लगे हैं। नीचे की पंक्तियों में हम चतु.सम्प्रदाय और वैष्णव धर्म के संबन्ध में इसी आधार पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

'चतुःसम्प्रदाय' शब्द का संकेत

वैष्णव धर्म के इतिहास में भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय पद्धति से व्यापक रूप प्रदान करने वाले चतुःसम्प्रदाय के आद्याचार्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। कालक्रम की दृष्टि से इन आचार्यों का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। यदि इन आचार्यों को ही 'चतु सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाय तो यह शब्द बारहवी शताब्दी से पुराना नहीं हो सकता किन्तु वैष्णव भक्तों की मान्यता के आधार पर यह शब्द सनातन है और अनादि काल से चला आ रहा है। आधुनिक युग में जो चार सम्प्रदाय प्रचलित हैं उनके प्रवर्तक श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि चार देवता माने जाते हैं। ये चारों देवता सम्प्रदाय संस्थापन के निमित्त कभी धराधाम पर अवतीर्ण हुए और उन्होंने अपने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अपने नाम से सम्प्रदाय प्रवर्तित किया ऐसा कोई प्रमाण न होने पर भी धार्मिक विश्वास में परम्परानुमोदित यह बात चली आ रही है, अतः इसे प्रमाणकोटि में स्थान मिलने लगा है। इन चारों देवताओं के नाम वैदिक साहित्य तथा परवर्ती पुराणादि साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनके नाम से किसी विशेष मत, सिद्धान्त या सम्प्रदाय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। देवताओं के नामों को सम्प्रदायों के साथ किस युग में जोड़ा गया इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है। अतएव 'चतु.सम्प्रदाय' का सनातन होना केवल कल्पनामात्र है, ऐतिहासिक या साहित्यिक आधार पर निर्भर सिद्धान्त नहीं है।

'चतुःसम्प्रदाय' के साथ चार देवताओं के नाम जोड़ने का सबसे पहला प्रयास 'पद्म पुराण' के दो श्लोकों के द्वारा हुआ। 'पद्म पुराण' के कुछ संस्करणों में दो श्लोक इस आशय के ढूंढ निकाले गये जो कलियुग में चार वैष्णव सम्प्रदायों के होने का संकेत देते है।[1] किन्तु हमें पद्मपुराण में कहीं ये श्लोक उपलब्ध नहीं हुए। इन श्लोकों की प्रामाणिकता

---

१. सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्री ब्रह्म रुद्र सनक वैष्णवाः क्षिति पावनाः।
चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय प्रवर्तकाः॥ —'पद्म पुराण' (?)

में प्राय : सभी तत्त्वदर्शी विद्वानों को सन्देह है । इसके
भी तेरहवीं शताब्दी बताया जाता है ।[1]

यदि पद्म पुराण का रचना काल तेरहवीं शताब्दी
चतु सम्प्रदाय के सनातन होने की बात सिद्ध नहीं होती । हमें
ग्रंथ में चतु सम्प्रदाय शब्द का उल्लेख नहीं मिला । पद्म पुराण
में भी इतना अधिक पाठ-भेद है कि यह निर्णय नहीं किया जा
चतुर्मुख ब्रह्मा का संकेत है या अखिल विश्व में व्याप्त ब्रह्म का ।
जाय तो अन्य देवताओं के द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्तन की आवश्यकता
यदि ब्रह्म का अर्थ चतुर्मुख ब्रह्मा देवता है तो 'ब्रह्म' शब्द का प्रय
ठहरता । नपुंसक लिंग 'ब्रह्म' शब्द और पुलिंग ब्रह्म दोनों में
नपुंसक लिंग ब्रह्म शब्द का अर्थ परब्रह्म है, चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं । यदि
विग्रह द्वारा ब्रह्म को ब्रह्मा के अर्थ में ग्रहण किया जाय तो देवता के स
जाने पर भी मूल शंका का निराकरण नहीं होता । अस्तु–

यदि चतुःसम्प्रदाय शब्द और चार सम्प्रदायों की परम्परा पुरात
रही होती तो निश्चय ही भक्तिपरक साहित्य में तथा वैष्णव धर्म के प्रति
पुराणादि ग्रन्थों में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख होता । महाभारत काल
सात्वत आदि धर्मों का प्रचार होते ही उनका वर्णन तत्कालीन ग्रंथों में प्रचुर
उनके विशिष्ट सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया । किन्तु कहीं
का संकेत नहीं किया गया । फिर भी इसे अनादिकाल से प्रचलित
मान लेना केवल धार्मिक अन्धविश्वास का ही फल कहा जा सकता है, इस म
किसी अकाट्य तर्क, युक्ति या प्रमाण का बल नहीं है । श्री, ब्रह्म, रुद्र और सन
के नाम केवल श्रद्धापूर्ण पूज्य बुद्धि के कारण इन सम्प्रदायों से जोड़े गये हैं ।
साक्षात् कोई सम्बन्ध इन चार सम्प्रदायों से नहीं है । ऐतिहासिक तथ्य यह है कि
के प्रभाव से आठवीं शताब्दी में अद्वैतवादी विचारधारा का देश के एक कोने से दूस
प्रचार हो गया । भागवत धर्म सम्मत वैष्णव भक्ति (सगुणोपासना) का परम्परागत
होने लगा और मायावाद के प्रभाव में निर्गुण ब्रह्म की ओर साधकों का रुझान प्रारम्भ
शांडिल्य और नारद के भक्तिसूत्रों की प्रेमलक्षणा भक्ति के स्थान पर अव्यक्त, अगो
का ज्ञान मार्ग से चिन्तन प्रारम्भ हुआ । पुराणों के लीलावतारी कृष्ण के स्थान प
और ब्रह्म का अद्वैत स्वीकार करके "सर्वं खल्विदंब्रह्म नेहनास्तीतिकिंचन' का उ
सुनाई पड़ने लगा । भक्ति का क्षेत्र धूमिल हुआ और ज्ञानमार्ग का पथ प्रशस्त होने से दे
वैराग्यवाद का प्रभाव बढ़ा, फलतः गृहस्थ भक्तों की अपेक्षा विरक्त साधुओं की संख्या
आशातीत वृद्धि हुई । ऐसे समय में भक्ति को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए

2—An Outline of the
Page, 232.

सगुण-भक्ति का आन्दोलन राम और कृष्ण की सगुणोपासना के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक चार आचार्य हुए और इन्हीं के द्वारा चार सम्प्रदायों की स्थापना हुई।[1] इन चार आचार्यों में क्रमश रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैतवाद', मध्वाचार्य ने 'द्वैतवाद', विष्णु स्वामी ने 'विशुद्धाद्वैतवाद' और निम्बार्क ने 'द्वैताद्वैतवाद' नाम से अपना-अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया। इन चारों वैष्णव सम्प्रदायों का विस्तृत इतिहास है, दर्शन है, साधना-पद्धति है, और अनुयायियों की विशाल परम्परा है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन चारो सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधारा और साधना-पद्धति का विवरण देना अप्रासंगिक विस्तार होगा अतः हमने संक्षेप में इन सम्प्रदायों की रूपरेखा पिछले अध्याय में दी है।

इस प्रकरण में हमें यही सिद्ध करना अभीष्ट है कि ऐतिहासिक आधार पर यदि चतुःसम्प्रदाय शब्द की छानबीन की जाय तो उक्त चार आचार्यों के उद्भव से पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं था। शंकराचार्य के बाद ही भक्ति के पुनर्जागरण के प्रयत्नों के फलस्वरूप इन चार सम्प्रदायों की स्थापना हुई। हिन्दी साहित्य में सबसे पहले सत्रहवीं शताब्दी में नाभा जी ने अपने भक्तमाल में चतु सम्प्रदाय का वर्णन किया है।[2] उस समय चतुःसम्प्रदाय की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो चुकी थी और वैष्णव सम्प्रदाय के नाम पर इन्हीं का ग्रहण होता था। 'प्रमेय रत्नावली' के लेखक श्री बलदेव विद्याभूषण (१८वीं शताब्दी) ने भी चतुःसम्प्रदाय के आचार्यों के नामों का निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। किन्तु यह रचना बहुत बाद की है अतः

1—This must have led to a vigorous revival of Vaishanvism in the subsequent centuries; and about the 12th Century A. D. we have four Sampradayas or Schools of thought, into which the Vaishanava movement divided itself. These are the wellknown, Sri, Brahma, Rudra and Sanakadi Sampradayas associated respectively with the name of Ramanuj, Madhva, Vishnuswami, and Nimbark. × × × As against the purely monistic teaching of non duelity (Advait Vada) of Shanker, these schools expounded respectively what are conveniently known as theories of qualified Non-duelity (Vishishtadvit Vada) Duelity (Dwait Vada) Pure non-duelity (Shudhadvait Vada) and Duelistic non-duelity (Dvait-advait Vada).

"Vaishanava Faith & Movement in Bengal"—Dr. S. K. De, Page 2-3.

२—श्री रामानुज उदार, सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
विष्णु स्वामि बोहित्थ सिन्धु सागर पार कर॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया॥
जनम-करम भागवत धरम, सम्प्रदाय थापी
चौबीस प्रथम हरि बपु धरे, त्यों
नाभा को कृम । टीका।

इसका प्रमाण या साक्षीरूप में प्रस्तुत करना शब्द के पुरातन होने में योग नहीं देता। श्री दुर्गाशंकर केवलराम ने 'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास' (गुजराती) में भी चारों सम्प्रदायों का संकेत भविष्य पुराण के श्लोकों के आधार पर किया है।[1] किन्तु ये श्लोक भी आधुनिक-युग की रचना प्रतीत होते हैं। लेखक ने भी इनके प्राचीन होने का कोई प्रमाण नहीं दिया। किन्तु इन श्लोकों में एक विशेषता ध्यान देने योग्य है; वह है इन आचार्यों के उद्भव के कालक्रम का निर्देश। इन्होंने विष्णु स्वामी को प्रथम, निम्बार्क को द्वितीय, मध्वाचार्य को तृतीय और रामानुजाचार्य को चतुर्थ बताया है। यह कालक्रम आधुनिक-युग की शोध के सर्वथा प्रतिकूल है। आधुनिक युग में रामानुजाचार्य को कालक्रम की दृष्टि से सब से प्रथम ठहराया जाता है। कुछ विद्वान् निम्बार्काचार्य को प्रथम कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ 'भागवत सम्प्रदाय' में लिखा है कि—"हमारी दृष्टि में यह सम्प्रदाय (निम्बार्क) वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम प्रतीत होता है। + + +। इस सम्प्रदाय की प्राचीनता के विषय में भविष्य पुराण का एक पद्य भी उद्धृत किया जाता है जिसमें एकादशी के निर्णय के अवसर पर निम्बार्क का मत उद्धृत किया गया है और अतिशय आदर प्रदर्शन के लिए वे भगवान् शब्द द्वारा अभिहित किये गये हैं।"[2] फलतः चतुःसम्प्रदाय को प्राचीन और सृष्टि के आदि से प्रवर्तित मानना केवल श्रद्धा-भावना के कारण ही है, उसके पीछे ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रमाण नहीं है। अतः इस बात को भूलना न चाहिए कि व्यापक वैष्णव धर्म को चतुःसम्प्रदाय की संकीर्ण सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न केवल शंकराचार्य के मायावाद को बहिष्कृत करने के लिए किया गया था। तत्कालीन आचार्यों की यह चेष्टा बहुत कुछ सफल भी हुई क्योंकि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में उद्भूत अनेक वैष्णव सम्प्रदाय चतुःसम्प्रदाय में सम्मिलित होकर ही अपने को धन्य समझते रहे। किन्तु इसी युग में ऐसे भी आचार्य और महात्मा हुए जिन्होंने इस सीमा को स्वीकार नहीं किया और अपना स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित किया। उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएं समाज द्वारा समादृत हुईं और वैष्णव धर्म के इतिहास में उनका स्वतन्त्र स्थान स्वीकार किया गया।

प्रस्थानत्रयी पर भाष्य

चतुःसम्प्रदाय की पुष्टि में एक आग्रहपूर्ण तर्क उपस्थित किया जाता है कि वैष्णव सम्प्रदाय बनने के लिए प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भाष्य रचना अनिवार्य शर्त है। जब तक इन तीन ग्रन्थों पर अपना अभिमत

१—भागवत् सिद्धान्त कर्तारश्चत्वारो वैष्णवा द्विजाः ।
ऐतर्ये पृथिवीमध्ये भाति मार्गो हरीहनः ॥
विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः ।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः ॥
—'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ २१५ से उद्धृत।

२—भागवत सम्प्रदाय ले० श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३१६

व्यक्त न किया जाय तब तक कोई भी आचार्य वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना नहीं कर सकता। यह शर्त कब और कैसे स्वीकृत हुई यह जान लेना भी आवश्यक है। यथार्थ में यह भाष्य रचना श्री स्वामी शंकराचार्य की ही देन है। शंकराचार्य ने इन तीनों ग्रन्थों पर अपने अद्वैतपरक विस्तृत भाष्य लिखे थे जो पंडितों द्वारा अत्यधिक समादृत हुए। उनका प्रचार यहाँ तक हुआ कि भक्तिपरक गीता भी ज्ञान का ही ग्रंथ माना जाने लगा। मायावाद की भावना जनसाधारण तक फैलने लगी और ज्ञान-पिपासु जनता अद्वैत के चक्कर में पड़कर वैष्णव भावना की भक्ति को भूलने लगी। उस समय सबसे प्रथम रामानुजाचार्य ने इन तीनों ग्रंथों पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। इनके बाद फिर यह परम्परा प्रवर्तित हो गई और अपनी साम्प्रदायिक भावना की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखना आवश्यक समझा जाने लगा। किन्तु स्मरण रहे कि इस परम्परा का चारों आचार्यों ने पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं किया। प्रायः सबका ध्यान ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की ओर ही अधिक रहा। निम्बार्काचार्य ने उपनिषदों पर कोई भाष्य नहीं लिखा। ब्रह्मसूत्र पर 'पारिजात सौरभ' नामक वृत्ति भी स्वल्पकाय है, उसे भाष्य नहीं कहा जा सकता। 'गीता वाक्यार्थ' रचना संदिग्ध है। विष्णु स्वामी की रचनाओं के विषय में अभी तक पर्याप्त विवाद है। विष्णु स्वामी के नाम से जिन रचनाओं का सामान्य जनता में प्रचार है वे यथार्थ में उन विष्णु स्वामी की नहीं हैं जो रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'सर्वज्ञसूक्त' नाम की एक ही रचना को विद्वानों ने प्रमाण कोटि में ठहराया है। कुछ लोग श्रीधर स्वामी को विष्णु स्वामी का शिष्य बताकर उनकी रचनाओं को ही साम्प्रदायिक गौरव की बात सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु इसमें पहला विवाद तो विष्णु स्वामी के समय और स्वरूप का है। यदि विष्णु स्वामी का काल निर्धारित हो जाय तब फिर श्रीधर स्वामी के शिष्यत्व आदि पर विचार करना समीचीन होगा। अतः यह निर्विवाद है कि रुद्र सम्प्रदाय में भी भाष्यों की सम्पूर्ण परम्परा नहीं मिलती, फिर भी वह वैष्णव सम्प्रदाय है। हाँ, वल्लभाचार्य का अणुभाष्य अवश्य उल्लेख्य है, जिसके द्वारा शुद्धाद्वैत सिद्धांत की स्थापना होती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य प्रश्न है कि क्या वल्लभाचार्य स्वतन्त्र सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं या विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के सर्वतोभावेन अनुयायी हैं। इस प्रश्न पर हम इसी अध्याय में आगे विस्तार से विचार करेंगे।

उपर्युक्त कथन से यह परिणाम सहज ही में निकाला जा सकता है कि 'प्रस्थान-त्रयी' पर भाष्य लिखने की परम्परा का पूरी तरह आचार्यों ने ही निर्वाह नहीं किया अतः चतुःसम्प्रदाय को भाष्य पर सर्वांशतः आधृत नहीं कहना चाहिए। अब एक प्रश्न यह उठता है कि क्या चतुःसम्प्रदाय की स्थापना के बाद कोई वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न ही नहीं हुआ और यदि हुआ तो वह निश्चित रूप से इन चारों में से किसी न किसी का अनुगामी था। इस प्रश्न के हमारी दृष्टि में दो उत्तर हैं—एक तो यह कि इन चारों सम्प्रदायों के बाद भी अनेक वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और देश के विशाल भू-भाग में फैले। उनके सिद्धान्त और मन्तव्य चारों प्राचीन सम्प्रदायों से भिन्न होने के कारण हम उन्हें स्वतन्त्र मानते हैं। दूसरा उत्तर यह है कि परवर्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायों का मूल इन्हीं चार सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित है अतः परवर्ती सम्प्रदायों को इनके ही भीतर स्वीकार करना चाहिए। दोनों

पक्षों की सिद्धि के लिए तर्क और प्रमाण दिये जाते हैं। किन्तु विचारशील पाठक को यथार्थ की पैठ करने के लिए निष्पक्ष रूप से इस स्थिति पर विचार करना चाहिए। हमारा मत पहले उत्तर के साथ है। हम यह मानते हैं कि इन चार सम्प्रदायों के प्रवर्तित होने के बाद भी अनेक वैष्णव सम्प्रदायों का उत्तर भारत तथा दक्षिण (महाराष्ट्र) में उद्भव और विकास हुआ। उनका साधना-पद्धति, अर्चा-पूजा, तिलक-त्रिपुण्ड, आराध्य-देवता आदि सभी विषयों में पुरातन चार सम्प्रदायों से नवीनता या विलक्षणता बनी रही अतः हम उन्हें स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही कहना अधिक समीचीन समझते हैं। अपने इस कथन की पुष्टि में हम रामानन्दी सम्प्रदाय, श्रीकृष्ण चैतन्य का गौड़ीय सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग), सखी सम्प्रदाय, सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय, तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि का प्रमाणपूर्वक निर्देश कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-बड़े वैष्णव सम्प्रदाय हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने में कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

रामानुज सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय

रामानन्दी सम्प्रदाय को प्रायः रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। जहाँ तक 'श्री सम्प्रदाय' का संबंध है, यह मानने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि 'रामोपासना' को मानने वाले सभी सम्प्रदाय 'श्री सम्प्रदाय' के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'श्री सम्प्रदाय' का कोई स्वरूप सिद्धांत, दर्शन, देवता, मन्त्र, साधना-पद्धति शास्त्रीय रूप में नहीं मिलती। जो कुछ मिलता है वह सब ही रामानुजाचार्य का है और उसी को श्री सम्प्रदाय कह दिया गया है। यथार्थ रूप में तो 'श्री भाष्य' द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत सिद्धांत तथा अष्टाक्षर मन्त्र या द्वादशाक्षर मन्त्र ही 'श्री सम्प्रदाय' का मूल कारण है जिसके स्थान पर 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' ग्रन्थ में स्वामी रामानन्द ने रामषडक्षर मन्त्र को अपने रामावत सम्प्रदाय के लिए अभीष्ट मन्त्र बताया है। दोनों सम्प्रदायों के रहस्य मन्त्र में भी बहुत बड़ा भेद है। रामानन्दी मत में ध्यान के निमित्त सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र जी का ध्यान करने का आदेश है जो रामानुजाचार्य की पद्धति से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है। भक्ति को मुक्ति का साधन बताते हुए उसके जनक जो सात उपाय बताये गये हैं वे भी रामानुजाचार्य से पृथक् ही हैं। वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत ही परम धाम माना गया है। बाह्य चिह्नों में तिलक और कण्ठी में भी भेद है। रामानुज सम्प्रदाय में दो प्रकार के तिलक प्रचलित हैं। पहले 'तिलंग' नामक एक ही प्रकार का तिलक था बाद में श्री वेदान्तदेशिक ने 'बड़गल' तिलक का प्रचार किया। रामानन्दी सम्प्रदाय में बीस-बाईस प्रकार के विभिन्न तिलकों का प्रचार है। कुछ तिलकों के बीच में 'राम' शब्द लिखने की प्रणाली है जो रामानुजाचार्य के तिलक में नहीं थी। कण्ठी के स्वरूप में भी भेद है। रामानुज सम्प्रदाय में भगवत्सेवा एवं मंत्र जपादि काल में तुलसी या कमलाक्ष की माला धारण करने की प्रथा है। किन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय में कंठी, कँठा, हीरा एक लड़ी, दुलड़ी, पदिक,

रामनामी आदि भेद से सर्वदा तुलसी धारण करने का विधान है।[1] पूजा-अर्चा पद्धति में भी बहुत बड़ा भेद परिलक्षित होता है। फलतः बाह्याचार तथा कर्म-कांड के साथ आभ्यन्तर साधना पद्धति के भेद के कारण हम इन दोनों में स्पष्ट ही पार्थक्य देखते हैं। हमारा अभिप्राय यहाँ केवल दोनों सम्प्रदायों के पार्थक्य का आभास देना मात्र है अतः भेद विषयक संकेत ही प्रस्तुत किये हैं। इस पार्थक्य को देखकर विद्वान् पाठक स्वय निर्णय कर सकते हैं।

माध्व सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय

गौड़ीय या चैतन्य सम्प्रदाय पर भी इसी दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। क्या चैतन्य को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानना सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वथा ग्राह्य है? यद्यपि सर्वसाधारण की यही धारणा बनी हुई है किन्तु तात्विक दृष्टि-निक्षेप से इस भ्रम का सहज ही में उच्छेद हो जाता है।

श्री मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं। उनका मत द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने अपनी मान्यताओं को बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर भ्रम का कोई अवकाश नहीं छोड़ा है। एक प्रसिद्ध पद्य में उनके मत का सारांश इस प्रकार आ जाता है—

> श्री मन्मध्वमते हरिःपरतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
> मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्चतत्साधनं।
> ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥

इसमें हरि (विष्णु) को सर्वोच्च तत्व स्वीकार किया गया है। जगत् सत्य है। भेद वास्तविक है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं, जीवों में नीच और ऊँच का तारतम्य है। अपने वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है अमला भक्ति ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण ज्ञान के साधक हैं। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है। ये नौ सिद्धांत मध्वाचार्य के अभीष्ट हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण चैतन्य (गौरांग महाप्रभु) ने प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नहीं लिखा। उनके मतानुयायी श्री बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्द भाष्य' की रचना करके सिद्धांत को शास्त्रीय रूप दिया। 'अचिन्त्य भेदाभेद' इनका दार्शनिक सिद्धांत है। श्रीकृष्ण इनके उपास्य हैं। श्रीकृष्ण अंशी है, सगुण एवं निर्गुण हैं, अद्वयज्ञान तत्व है, आश्रय तत्व है, नराकृति है, लीलामय है, लीला पुरुषोत्तम हैं, उनका ऐश्वर्य भी माधुर्य-मंडित है। उनके नर विग्रह में भी विभुत्व है। भक्ति का स्वरूप, जीव की शक्ति, सृष्टि-तत्व-रहस्य, गोपी-प्रेम, राधाभक्ति आदि सभी विषय मध्वाचार्य से बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। इन विषयों पर माध्व सम्प्रदाय में कोई विचार नहीं हुआ। अतः दार्शनिक सिद्धान्तों तथा साधन-पद्धति की दृष्टि से माध्व और गौड़ीय सम्प्रदाय में किसी प्रकार

---

१. 'श्री रामसार संग्रह', लेखक—पं० रामटहलदास, प्रयाग, पृष्ठ ५–६

की समानता नहीं है। आश्चर्य है कि फिर भी इस सम्प्रदाय को माध्व के अन्तर्गत परिगणि किया जाता है। इस सम्बन्ध में डा० सुशील कुमार डे ने अपने 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इ बंगाल' नामक ग्रंथ में बड़ी निष्पक्ष दृष्टि से तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी धारणा है कि चैतन्य स्वयं और उनके अनुयायी ही इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। किसी अन्य सम्प्रदाय के गुरु का इस सम्प्रदाय पर कोई प्रभाव नहीं है। प्रबोधानन्द रचित चैतन्य चरितामृत की टीका लिखते हुए 'आनन्दिन' ने भी लिखा है :—

"श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुः स्वयं भगवान् सम्प्रदाय प्रवर्त्तका।
तत्पार्श्वदाएव साम्प्रदायिका गुरवो नान्ये।"[1]

डा० सुशील कुमार डे माध्व सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय में दार्शनिक धरातल पर कोई एकता नहीं मानते। माध्व मत में श्रीमद्भागवत पुराण की रास पंचाध्यायी को मान्यता प्राप्त नही है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय में इसका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। माध्व मत में राधा का कोई विशिष्ट स्थान नही और कृष्ण की वृन्दावन लीला का भी वर्णन नही है जबकि चैतन्य मत इसी भित्ति पर प्रतिष्ठित है। चैतन्य मत के प्रारम्भिक ग्रन्थों में माध्व मत के ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध व्याख्याता गोस्वामी सनातन ने अपनी 'वैष्णव तोषिणी' नामक भागवत की टीका में भी दो-एक स्थल को छोड़ कर कहीं माध्व मत का उल्लेख नहीं किया। वे दो-एक स्थल भी सम्भव है जीव गोस्वामी ने टीका को संक्षिप्त करते समय उसमें रख दिये हों। रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थो में कहीं-कहीं मध्वाचार्य के भाष्य का संकेत दिया है किन्तु कहीं भी उन्हें अपने आदिगुरु के रूप में नही लिखा। सबसे पहले बलदेव विद्याभूषण ने माध्व मत के साथ चैतन्य सम्प्रदाय का दार्शनिक सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने का यही कारण प्रतीत होता है कि बंगाल के चैतन्य मत और वृन्दावन के चैतन्य मत में पारस्परिक मतभेद होने पर यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि चैतन्य मत का मूल सम्बन्ध चार सम्प्रदायों में से किसी एक के साथ जोड़ा जाय ताकि उसे धार्मिक जगत् में पूरी मान्यता प्राप्त हो सके। बंगाल के चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवों ने अपने को माध्व से संयुक्त करना ही उचित समझा। जयपुर के गलता नामक स्थान में वैष्णवों की सभा में बलदेव विद्याभूषण ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की और इस प्रकार चैतन्य मत और माध्व मत में ऐक्य स्थापित हो गया।[2] बलदेव विद्याभूषण के प्रयत्नों से पहले बंगाल के वैष्णवों ने कभी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर साम्प्रदायिक होने का उपक्रम नहीं किया था। जब एक बार माध्व सम्प्रदाय में शामिल हुए तो यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि परम्परानुमोदित प्रस्थान-

---

1—"Anadin in his Commentary on Pravodhananda's 'Chaitanya Chandramrita' claims that Chaitanya himself and his followers were the founders of the Bengal Sampradaya and owed nothing to the Gurus of any other Sampradaya."
—Dr. S. K. De—Vaishnav Faith and Movement in Bengal, Page 12.

२. देखिए—'हिन्दुत्व' ले० रामदास गौड़, पृष्ठ ६८१।

त्रयी पर भाष्य लिखा जाय। यह काम बलदेव विद्याभूषण ने ही सम्पन्न किया। बंगाल के वैष्णवजन तो श्रीमद्भागवत पुराण को प्रस्थानत्रयी से भाष्य रूप में ही पूज्य मानते थे। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्र रूप से भाष्य लिखना अनिवार्य न था।[1]

इन दोनों सम्प्रदायों में गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह धारणा अत्यधिक घर कर गई है कि माधवेन्द्र के शिष्य ईश्वर और केशवभारती से चैतन्य ने दीक्षा ली थी। माधवेन्द्र माध्व थे अतः उनके शिष्य भी माध्व हुए। किन्तु माधवेन्द्र के विचार-दर्शन का अध्ययन यह बताता है कि उन्होंने जिस रहस्यपूर्ण भावुकतामय भक्ति का बंगाल में प्रचार किया उसका माध्व सम्प्रदाय से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। माधवेन्द्र ने भक्ति के माध्यम से भावना-संयुक्त रस-मार्ग का प्रसार किया।[2] कृष्ण चैतन्य चरित्र में भी कृष्णदास विराज ने माध्व सम्प्रदाय के प्रति कोई ऐसी अभिव्यक्ति नहीं की है जो दोनों का साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करे, ऐसी दशा में एक को दूसरे का अनुवर्ती या अनुयायी, शाखा या प्रशाखा मानना कहाँ तक संगत है! हमारी निश्चित धारणा है कि शाखा या अनुयायी मानने का यह क्रम चतुः सम्प्रदाय के साथ थी, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि देवताओं का नाम जुड़ा होने से ही है। समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि इन्हीं चार देवताओं के नाम पर सम्प्रदाय चल सकता है अतः देवताओं के बाद आचार्यों के साथ भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा जो ऐतिहासिक और धार्मिक साक्ष्य के आधार पर सिद्ध नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य सम्प्रदाय का माध्व सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है और बलदेव विद्याभूषण से पहले बंगाल में यह एक स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय समझा जाता था। फिर आज हम इस सम्प्रदाय को स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय क्यों न स्वीकार करें। यह तो निर्विवाद है कि यदि माध्व मत के साथ इसका सम्बन्ध स्वीकार न भी किया जाय तब भी यह एक विशिष्ट वैष्णव भक्ति का सम्प्रदाय रहेगा ही। अतः

1—"It must also be pointed out that in doctrinal matters, Bengal Vaishnvism as set forth by Chaitnya's Navdwipa devotees or by the Six Goswamis, hardly shows any resemblance to Madhvaism. Madhvaism is more speculative than emotional, and displays a distinct metaphysical leaning towards the views of the Naiyayikas and Samkhyas.

It is only when we come to Baldeva Vidyabhushan that Madhva-affiliation is distinctly and authoritatively claimed......

The Bengal Vaishnavas for some reason or other thought it convenient to acknowledge themselves as Madhvas.

—Dr. S. K. De-Vaishanava Faith and Movement in Bengal, Page 16-17.

2—"But the mystic emotionalism which Madhavendra made current in Bengal could not have been Madhavism. Unlike a Madhva ascetic, Madhavandra appears to have been a devotee of great emotional capacity, who must have sombre and forbidding aspects of asceticism and who probably cared more for actual devotional fervour than for the teaching of dry doctrines.

—Dr. S.K.De—Vaishanava Faith and Movement in Bengal, Page 18-19.

अनु सम्प्रदाय के प्रलोभन में पड़कर किसी के साथ संयुक्त होना नितान्त अनिवार्य शर्त न[हीं] है। इस सम्प्रदाय में गौरांगमहाप्रभु नाम से चैतन्य को ईश्वर के अवतार के रूप में ही मा[ना] जाता है। अवतारी पुरुष किसी सामान्य व्यक्ति का अनुयायी नहीं होता अतः चैतन्य महाप्र[भु] का सम्प्रदाय स्वतन्त्र ही माना जाना चाहिए।

विष्णु स्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय

रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णुस्वामी सम्प्रदाय पर भी इसी दृष्टि से विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। विष्णुस्वामी के उद्भव-काल का अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों की सम्मति में उनका जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ और कुछ विद्वान् नाभा जी के भक्तमाल के छप्पय के आधार पर तेरहवीं शताब्दी से पहले का बताते हैं। नाभा जी का छप्पय किसी ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधृत न होने से जन्म संवत् आदि की दृष्टि से प्रमाण रूप में गृहीत नहीं हो सकता। केवल श्रद्धाभाव से ही उसमें कतिपय अनुभूतियों को लेकर ज्ञानदेव को विष्णुस्वामी का शिष्य कहा गया है। मराठी 'सन्तलीलामृत' पुस्तक में ज्ञानदेव को निवृत्तिनाथ का शिष्य कहा गया है। कुछ सायणाचार्य या विद्यासंकर को ही विष्णुस्वामी ठहराते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में श्रीधरस्वामी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुगत थे और उन्होंने अपनी टीका में विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का आभास दिया है। किन्तु यह सब कल्पनामात्र है, इसका कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता। इतिहास में अब तक तीन व्यक्ति विष्णुस्वामी नाम से विख्यात हैं: (१) देवतनु विष्णुस्वामी, (२) रामगोपाल विष्णुस्वामी और (३) वल्लभाचार्य के गुरु विष्णुस्वामी। फलतः यह निर्णय करना कठिन है कि किस विष्णुस्वामी ने सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। वर्तमान युग में विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या अति न्यून है और साम्प्रदायिक दृष्टि से साहित्यिक सामग्री का भी पूर्णतः अभाव है। जो कुछ ग्रंथ उपलब्ध होते हैं वे भी असंदिग्ध रूप से विष्णुस्वामी रचित प्रतीत नहीं होते।

विष्णुस्वामी कब, किस स्थान पर रहे और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए मठ-मन्दिर स्थापित किये इसका भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। फर्कुहर ने विष्णुस्वामी के दो मठों की चर्चा की है जिनमें से एक कांकरौली में और दूसरा कामवन में है।[1] कामवन के मठ का विष्णुस्वामी से अभी तक सीधा सम्बन्ध नहीं माना जाता है।[2] वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों से तथा किम्वदन्तियों से यह पता चलता है कि श्री वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे और उन्होंने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को निर्धारित किया। यह भी जनश्रुति है कि महाराष्ट्र सन्त श्री ज्ञानदेव, नामदेव, त्रैदेव,

---

1—Farquher, An Outline of the Religious Literature of India, Page 304.

2—Vaishanism, Shavism, and other religious systems of India, Dr. R. G. Bhandarkar, Page 21-28.

त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णुस्वामी मतावलम्बी थे। महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाला भागवत धर्म जो पीछे वारकरी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव, नामदेव आदि प्रसिद्ध भक्त हुए, विष्णुस्वामी मत का ही रूपान्तर है।[1] यह निर्णय डा० गुप्त ने केवल जनश्रुति के आधार पर ही निकाला है। इसका कोई ऐतिहासिक आधार प्रतीत नहीं होता; उन्होंने स्वयं यही स्वीकार किया है।

विष्णुस्वामी के नाम से अनेक रचनाएँ विख्यात हैं किन्तु 'सर्वज्ञसूक्त' नामक ग्रंथ को ही प्रमाणकोटि में रखा जाता है। उनका प्रस्थानत्रयी पर भाष्य नहीं मिलता। यदि प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखना सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन की अनिवार्य शर्त है तो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय पर वह पूरी तरह चरितार्थ नहीं होती, फिर भी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय को चतु:सम्प्रदाय में आचार्य कोटि के सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण एवं गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अब इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध कहे जाने वाले वल्लभ सम्प्रदाय पर विचार करके यह निर्णय करना कठिन नहीं कि वल्लभाचार्य जिस सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे, परम्परा रूप में उन्हें उस सम्प्रदाय की विशिष्ट दार्शनिक परम्परा या साधनात्मक सिद्धांतों की धरोहर नहीं मिली थी। एक तरह से उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और मेधा के द्वारा ही वल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था। श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धांत दार्शनिक जगत में एकदम नया और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को आध्यात्मिक स्वरूप में नवीन दृष्टिकोण से उपन्यस्त करने वाला है। इस पर न तो विष्णुस्वामी का कोई प्रभाव है और न किसी अन्य आचार्य का। श्री वल्लभाचार्य ने छोटे-बड़े लगभग तीस ग्रन्थों की रचना की जिनमें अणुभाष्य, भागवत टीका, पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्त्व दीप निबंध, सुबोधिनी और षोडश ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। साधन पक्ष की विस्तृत व्याख्या षोडश ग्रन्थ में संकलित छोटे-छोटे प्रकीर्णक ग्रंथों में हुई है। वल्लभाचार्य रचित ग्रथों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकालना कि उनकी भक्ति पद्धति, सेवा पद्धति और दार्शनिक विचारधारा, किसी परम्परागत सम्प्रदाय के आधार पर प्रवाहित हुई, पुष्ट प्रमाणों पर आधृत प्रतीत नहीं होती। यथार्थ में वल्लभाचार्य स्वतंत्र चिंतक के रूप में—आचार्य के रूप में—आये और अपना नवीन सम्प्रदाय स्थापित कर गये। वल्लभाचार्य के चरित लेखक गोपालदास ने कहीं इस बात की चर्चा नहीं की है कि विष्णुस्वामी के शिष्य के रूप में वल्लभाचार्य जी कभी रहे। इन दोनों के समय में कम से कम तीन सौ वर्ष का अन्तर माना जाता है अतः साक्षात् शिष्यत्व की बात तो बनती ही नहीं। हां, साम्प्रदायिक अनुयायी होने की क्लिष्ट कल्पना के लिए कुछ अवकाश है किंतु इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में यह भी एक कल्पना है कि उनके पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी मत के अनुयायी थे अतः पुत्र अपनी पूर्वावस्था में उनका अनुयायी हो गया किंतु पीछे उसने अपना स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया।[2]

---

१. "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४२।

२. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)—लेखक, दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री। पृष्ठ २४०-२४२।

प्रस्तुत प्रसंग में हमें यही दिखाना है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की आज कोई सैद्धान्तिक रूपरेखा नहीं मिलती। उनके अनुयायियों की संख्या भी विरल ही है। वल्लभाचार्य को उनके अनुयायी मानने में तथा चतुःसम्प्रदाय के अनुगत होने में न तो कोई प्रमाण है और दार्शनिक आधार ही। फिर भी यदि दोनों सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के अभिन्न अंग समझे जाते हैं तो वैष्णव होने के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य या गुरु-परम्परा की शर्त का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रह जाता।

बड़ौदा विश्वविद्यालय के प्रो० जी० एच० भट्ट ने मैसूर में हुई ओरियंटल कान्फ्रेंस में अपना जो निबन्ध पढ़ा था उसमें यह सिद्ध किया है कि ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ये दोनों स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय हैं।[1] वल्लभाचार्य ने अपने मत को पुष्टिमार्ग का नाम देकर वैसे भी नवीन कलेवर दे दिया है जो विष्णुस्वामी की परम्परा में न तो दार्शनिक दृष्टि से जोड़ा जा सकता है और न कोई ऐतिहासिक आधार ही उसे एक धरातल पर खड़ा करता है। सम्भव है परम्परानुगत धारणा के विपरीत यह मन्तव्य कुछ विस्मयकारक लगे किन्तु सत्य को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए। वल्लभाचार्य की भक्ति-पद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णुस्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। सारतः यह स्वीकार करना ठीक ही है कि वैष्णव सम्प्रदायों के स्वतंत्र रूप से प्रवर्तित होने की बात परम्परा से ही चली आ रही है इसलिए चतुःसम्प्रदायान्तर्गत होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है।

निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध सखी सम्प्रदाय—हरिदास स्वामी द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय पर भी इस दृष्टि से विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। हम यह पहले लिख चुके हैं कि निम्बार्क मत प्राचीनता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कतिपय विद्वानों ने तो निम्बार्काचार्य को सबसे प्राचीन माना है और उनके दार्शनिक विचारों में गम्भीर विवेचन देखकर उन्हें भक्ति सम्प्रदायों का अग्रणी मननशील आचार्य ठहराया है। नवीन अनुसंधान के परिणामों के अनुसार इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त या तेरहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। निम्बार्क कृत 'वेदान्तपारिजातसौरभ' ब्रह्मसूत्र भाष्य अति संक्षिप्त होने पर भी मौलिकता की दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जाता है। निम्बार्काचार्य के प्रमुख पाँच ग्रंथों में (पारिजात

1-"The connection between Vishnuswami and Vallabhacharya, cannot, therefore, be accepted as historically and philosophically correct."
—Prof. G. H. Bhatt, 8th Oriental Conference, Mysore.

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में [illegible] लिखित 'सम्प्रदाय प्रदीप' में विचार-विमर्श किया गया है। जिसका सारांश 'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास' में २२ वें प्रकरण में संक्षेप में प्रस्तुत किया है। देखिये—पृष्ठ २१२-२४२।

सौरभ, दश श्लोकी, मंत्र रहस्य षोडशी, प्रपन्न कल्पवली (और श्रीकृष्णस्तवराज) इस सम्प्रदाय के सिद्धांतों का भलीभांति प्रतिपादन हुआ है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत द्वैताद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। भेदाभेद का सिद्धांत कुछ मनीषियों के अनुसार अति प्राचीन है। इसी आधार पर निम्बार्क की प्राचीनता भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धांत और भक्ति-पद्धति को हृदयंगम करने के लिए 'दश श्लोकी' का अनुशीलन करना पर्याप्त है। इस सम्प्रदाय में कृष्ण ही उपास्य, भजनीय, सेव्य और पूज्य है। कृष्ण की भक्ति छोड़ किसी और की सेवा-पूजा करना व्यर्थ है। 'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्' ही इस सम्प्रदाय का आराध्य कहा गया है। किन्तु कृष्ण के साथ राधा को भी इष्टदेवी के रूप में स्वीकार किया गया—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्। (दश श्लोकी, श्लोक सं० ५)

राधा को स्वकीया के रूप में स्वीकार करके उनकी समस्त लीलाओं में स्वकीयात्व का आरोप किया जाता है। श्री हरिव्यासाचार्य ने इस सम्प्रदाय में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य इन पांच रसों का समर्थन किया और माधुर्य को उत्कृष्टता प्रदान की। प्रेमलक्षणा, अनुरागात्मिका पराभक्ति ही इस सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

इस सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क ने उपनिषद् या गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा। 'गीता वाक्यार्थ' नामक एक ग्रंथ की सूचना मिलती है किन्तु ग्रंथ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। फलतः 'पारिजात सौरभ' ही भाष्य कोटि का एकमात्र ग्रंथ है। हां, परवर्ती आचार्यों में श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, लक्ष्मण भट्ट, पुरुषोत्तमाचार्य, केशव काश्मीरी आदि ने अनेक ग्रंथों की रचना कर सम्प्रदाय को उच्च दार्शनिक स्तर पर पहुँचाया। हिंदी साहित्य में इस सम्प्रदाय के महात्माओं ने अपनी वाणियाँ लिखी और माधुर्य भक्ति को परिपुष्ट बनाने में योग दिया। इन वाणियों का रस भक्ति के विकास में विशिष्ट स्थान है।

कहा जाता है कि इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करके श्री स्वामी हरिदास जी ने अपना सम्प्रदाय चलाया। किन्तु सखी सम्प्रदाय की साधन-पद्धति में बड़ा मौलिक भेद है। स्वामी हरिदास जी के अनुसार सखीभाव से उपासना करने का विधान है जो निम्बार्क सम्प्रदाय में गृहीत नहीं होता। सखी सम्प्रदाय भेदाभेद सिद्धान्त का भी प्रत्यक्ष रूप से कहीं मंडन नहीं करता। स्वामी जी की परम्परा के शिष्य भगवत रसिक ने 'नहिं द्विविध्याद्वैत हरि, नहि हरि द्वैताद्वैत, बंधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छा द्वैत' लिखकर अपनी मान्यता स्पष्ट कर दी है। टट्टी संस्थान (वृन्दावन) में इस सम्प्रदाय की जो शिष्य-परम्परा और साहित्य उपलब्ध होता है वह भी निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। युगल सरकार को आराध्य मानने पर भी सखी रूप से उनकी आराधना का विधान इस सम्प्रदाय में है जो निम्बार्क में नहीं है। यथार्थ में हरिदास जी ने रसोपासना को प्रधानता देकर उस

पद्धति को स्वीकार किया जो दार्शनिक द्रष्टा से सर्वथा प
दार्शनिक कोटि का सम्प्रदाय है किन्तु सखी सम्प्रदाय एक
की प्रधानता न होकर हार्दिक पक्ष की—रस की—प्रधानता
करने का कारण हमारी दृष्टि में यही है जो अन्य समस्त सम्प्र
जोड़ने में रहा है। टट्टी संस्थान की नवीन गुरु-परम्परा सहचरि
जो सखी सम्प्रदाय के भक्त थी भगवत रसिक से सर्वथा भिन्न
हमने इस विवेचन में उत्तरीय भारत के प्रमुख सम्प्रदायों
दक्षिण, महाराष्ट्र, आसाम और बंगाल में भी अनेक वैष्णव सम्प्र
परोक्ष रूप से चतुःसम्प्रदायों से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु वे गुरु
के अनुगामी वैष्णव सम्प्रदाय है और धार्मिक दृष्टि से उनका वैसा ही
चार सम्प्रदायों से सम्बद्ध उपर्युक्त सम्प्रदायों का है। महाराष्ट्र का
ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम जैसे वैष्णव महात्मा हुए, क
कहा जा सकता है। इसी प्रकार नारायणी सम्प्रदाय और महानुभाव
भक्ति पद्धति का ही अनुगमन करते हैं। रामानुजाचार्य के साथ रामानन्दी
के साथ चैतन्य सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी के साथ वल्लभाचार्य और निम्बार्क
हरिदास के सखी सम्प्रदाय का पर्याप्त मतभेद होने पर भी इन्हें चतुःसम्प्र
ही गिना जाना हमारी दृष्टि से अधिक समीचीन और तर्क-सम्मत नहीं ठ
सम्प्रदाय को स्वतन्त्र मानने के पक्ष में है। हमारी मान्यता है कि इस दे
विचारधारा और भक्ति-साधना प्रारम्भ से अनेकता में विश्वास करके ही पनपी
कि इस अनेकता में भी एकता अनुस्यूत रहती है किन्तु अनेकता को अवहेलना नह
क्योंकि यह अनेकता अपनी विचारसरणि का संकेत देकर व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा
रूप है। मौलिक एकता के लिए अनेकता की स्वीकृति भारतीय चिन्ताधारा
विशेषता है जो वैदिक काल से लेकर आज तक ज्यों की त्यों चली आ रही है
ईश्वर में विश्वास रखते हुए भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और आगे
रहेंगे। साथ ही इन अनेक देवी-देवताओं के नाम पर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि
धारण करते हैं किन्तु इस नाम-भेद से हम अपना आस्तिक भाव नहीं खोते।

राधावल्लभ सम्प्रदाय और वैष्णव धर्म

वैष्णव सम्प्रदायों का इतिवृत्त इतना व्यापक है कि उसे न तो चतु.सम्प्रदाय के
सीमित किया जा सकता है और न किसी काल या देश की सीमा-मर्यादा में आबद्ध
देखा जा सकता है। विष्णु की कल्पना और उसके विभिन्न अवतारों की पूजा पुरातन
से चली आ रही है। वैदिक वाङ्मय से लेकर मध्ययुगीन पुराण ग्रंथो तक विष्णु के वि
रूपों का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि विष्णु के नारायण
की उपासना-आराधना वैष्णव भक्ति से
सम्प्रदाय को वैष्णव

जो विष्णु की उपासना-आराधना, सेवा-अर्चा करता है वही वैष्णव है। वैष्णवता भक्ति के उस रूप पर आश्रित है जो विष्णु के विविध रूपों में से किसी को भी स्वीकार कर विकसित होती है। विष्णु के अर्चावतार या व्यूहावतार की कल्पना भी विष्णु भक्ति को मांसल रूप देने के उद्देश्य से की गई है। अतः कोई भी भक्त इन रूपों में से यथारुचि किसी को भी ग्रहण करके अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करने का अधिकारी है और वह सच्चे अर्थों में वैष्णव जन ही समझा जायगा।

संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़ियों में विश्वास रखने वाले कतिपय आधुनिक कट्टरपंथियों ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में यह आरोप लगाया है कि यह सम्प्रदाय यथार्थ वैष्णव सम्प्रदाय नहीं है। जब तक चतुःसम्प्रदायों के साथ यह अपना साक्षात् सम्बन्ध स्थापित न करे हम इसे वैष्णव मानने को उद्यत नहीं। इस आरोप को ध्यान में रखकर ही हमने चतुःसम्प्रदाय शब्द की आधुनिकता, उसका सीमा-विस्तार तथा अनेक वैष्णव सम्प्रदायों के स्वतन्त्र अस्तित्व का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय को विशुद्ध वैष्णव सिद्ध करने के साथ हम यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सम्प्रदाय अपनी साधना-पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी अन्य सम्प्रदाय का अनुगत नहीं है। गोस्वामी हितहरिवंशजी ने विभिन्न सम्प्रदायों की पद्धतियों का मनन करने के उपरान्त अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। विधि-निषेध के बाह्याचार को तो उन्होंने एकदम मिथ्याडम्बर मानकर उपेक्षणीय तक कह डाला था। जिसे देखकर अपने वैष्णव होने का दम्भ करने वाले कितने ही कट्टरपंथियों को उनके इस साहस पर आश्चर्य और क्रोध तक हुआ। किन्तु सच्चा वैष्णव कृष्ण की भक्ति के परमतत्व पर दृष्टि रखता है, बाह्याचार के आडम्बर पर नहीं।

विगत सवा चार सौ वर्ष के इतिहास ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि उत्तरीय भारत में जिन भक्तों ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचार-धारा को स्थान दिया उनमें श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी प्रमुख हैं। माधुर्य भाव की प्रेमलक्षणा भक्ति का जैसा स्वरूप आपने अपनी वाणी से व्यक्त किया वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। बंगाल के वैष्णव भक्तों ने निस्सन्देह माधुर्य के धरातल पर विप्रलम्भ को भक्ति में प्रतिष्ठित कर उसे इतनी उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि वियोग-शृंगार ही माधुर्य भक्ति का प्राण समझा जाने लगा था। बंगाल के भक्त अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन कर रहे थे और 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' जैसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना से भक्ति के क्षेत्र में विरह भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विरह-भावना के साथ राधा के परकीया भाव पर भी इन विद्वानों ने बल दिया था। राधा के परकीयात्व की कल्पना इतनी व्यापक हो गई थी कि धार्मिक क्षेत्र के बाहर साहित्य में भी राधा-वर्णन इसी कल्पना के आधार पर होने लगा था। श्रीमद्भागवत पुराण में भी परकीया भाव की छान-बीन करने का प्रयत्न किया गया किन्तु राधा के अस्तित्व के अभाव में इसे प्रामाणिक रूप न दिया जा सका। गोस्वामी हितहरिवंश ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद प्रस्तुत किया और अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा रखते हुए राधा को परकीया भाव से दूर

रखा। स्वकीया भाव के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता विलक्षण है। उनके मत में राधा स्वयं सर्वतंत्र स्वतंत्र अधिष्ठातृ देवी हैं। उनकी सत्ता स्वकीया-परकीया के रूप में न होकर स्वतन्त्र रूप में है। हाँ, लौकिक दृष्टि से विचार करने के लिए स्वकीया भाव में ही राधा को स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए राधा की शक्ति, स्वरूप और व्यापकता का वर्णन उन्होंने सर्वथा नूतन शैली से किया। 'राधासुधानिधि' (संस्कृत काव्य) में उन्होंने राधा को जो व्यापक रूप प्रदान किया वह पहले किसी भक्त द्वारा नहीं मिला था। कहना न होगा कि परवर्ती भक्तों द्वारा राधा का यही रूप सर्वाधिक मान्य और गृहीत हुआ। 'राधाकृष्ण' का संयुक्त स्वरूप आराधना के क्षेत्र में बहुत पहले से प्रचलित था किन्तु राधा को इष्टदेवी, आराध्या देवी या उपास्य बनाने में हितहरिवंश जी का सर्वाधिक योग है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा ही उपास्य है कृष्ण तो राधा के अनुषंग से, राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ बनाते हैं। भक्त की भावना में राधा ही पूज्य रहती है, वही कृष्ण का भी अपने द्वारा पूजन करवाने में समर्थ है। राधा विषयक यह मान्यता राधावल्लभ सम्प्रदाय की अपनी देन है जो परवर्ती भक्तों द्वारा इतनी अधिक समादृत हुई कि निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी आदि सभी सम्प्रदायों के भक्तों ने इसे स्वीकार कर लिया। राधा के इस स्वरूप की उपासना को 'रसोपासना' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा और वृन्दावन के सभी भक्ति सम्प्रदाय रसोपासना को किसी न किसी रूप में स्वीकार करने लगे।

माध्व या गौड़ीय सम्प्रदाय से राधावल्लभ सम्प्रदाय की पृथक्ता

प्रारम्भ में राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति के अनुशीलन के अभाव में अनेक विद्वानों ने इस सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिख दिया था। किन्तु ज्यों-ज्यों इस सम्प्रदाय की पद्धति प्रकाश में आती गई यह भ्रम दूर होता गया। कुछ विद्वानों ने यह भी लिखा है कि 'गोस्वामी हितहरिवंश पहले माध्व सम्प्रदायानुयायी थे, बाद में इन्होंने अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय प्रवर्तित किया।' इस किम्वदन्ती के प्रचार का कारण है 'प्रेमविलास' नामक बंगला ग्रंथ जिसकी अप्रामाणिकता अनेक विद्वानों ने सिद्ध कर दी है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी हितहरिवंश जी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक बार श्री गोपाल भट्ट (माध्व) ने अपने प्रिय शिष्य हितहरिवंश का शास्त्र और सदाचार का अतिक्रमण करने के अपराध में परित्याग कर दिया।[1] इसी अप्रामाणिक ग्रन्थ के लेख के आधार पर हितहरिवंश जी को माध्वमतानुयायी समझा जाता रहा। इस ग्रंथ के विषय में श्री विमान विहारी मजूमदार ने 'चैतन्य चरितेर उपादान' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "यह प्रेमविलास ग्रंथ अनेक रूपों और संस्करणों में आता रहता है। जिस तरह नन्द के आलय में कृष्ण दिन-दिन बढ़ते हैं वैसे ही वैष्णव के घर में यह प्रेमविलास ग्रंथ भी बढ़ता रहता है।"[2] 'चैतन्य भागवत' ग्रंथ की भूमिका में नित्यानन्द-वंश-सम्भूत गोस्वामी

---

१. द्रष्टव्य—प्रेमविलास ग्रन्थ तथा बंगला भक्तमाल।

२. चैतन्यचरितेरउपादान—लेखक विमानविहारी मजूमदार, पृष्ठ १०७, कलकत्ता।

मतुल कृष्ण भी प्रेमविलास ग्रन्थ को प्रक्षिप्तांश पूर्ण ग्रन्थ मानते हैं और उनका कहना है कि यह ग्रंथ विश्वास योग्य नहीं है। डा० एस० के० डे भी इस ग्रन्थ को विश्वसनीय नहीं मानते।[1]

इस विषय पर हमने गोस्वामी हितहरिवंश जी के चरित्र में विस्तार से विचार किया है। यहाँ केवल प्रेमविलास ग्रंथ की भ्रांतिपूर्ण वार्तों का संकेतमात्र देने के लिए इतना उल्लेख किया। माध्व सम्प्रदाय की दार्शनिक विचारधारा और साधना-पद्धति पर दृष्टिपात करने से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय और माध्व या गौड़ीय सम्प्रदाय में कोई समानता नहीं। इष्टदेव के प्रति दोनों सम्प्रदायों में विभिन्न दृष्टि है। उपास्य तत्त्व भी एक नहीं है। सेवा-पूजा विधि में पर्याप्त भेद है। विधि-निषेध सम्बन्धी मान्यताओं में राधावल्लभीय दृष्टि एकदम स्वतन्त्र और शास्त्र निरपेक्ष है। एकादशी व्रत, तुलसी पूजन, व्रत-पालन आदि को किसी अंश में स्वीकार नहीं किया जाता। इन दोनों सम्प्रदायों में मौलिक भेद होने के साथ विगत वर्षों में पारस्परिक कलह इतना अधिक बढ़ गया है कि लेखक को व्यक्तिगत रूप से यह अनुभव हुआ कि दोषारोपण की प्रवृत्ति दोनों सम्प्रदाय के लोगों में बढ़ रही है फलतः निराधार बातें प्रचार पा रही हैं। तत्त्व निर्णय से दूर हटकर एक दूसरे को हेय सिद्ध करने में ही शक्ति का अपव्यय हो रहा है।

निम्बार्क सम्प्रदाय से राधावल्लभ सम्प्रदाय की पृथक्ता

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि कुछ विद्वानों के मत में निम्बार्काचार्य का समय चारों आचार्यों में पुराना है। निम्बार्क सम्प्रदाय को दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए निम्बार्काचार्य द्वारा 'वेदांतपारिजात सौरभ' नामक भाष्य लिखा गया जिसमें द्वैताद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। निम्बार्काचार्य के अनुसार ब्रह्म जीव और जड़ अर्थात् चेतन और अचेतन से अत्यन्त पृथक् और अपृथक् है। इस पृथक्त्व और अपृथक्त्व के ऊपर ही उनका समस्त दर्शन निर्भर करता है। ब्रह्म को ही वे जिज्ञासा का विषय मानते हैं।

"सर्वभिन्नो भिन्नो भगवान् वासुदेवो
विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयः।"

अपने द्वैताद्वैत की स्थापना करते समय निम्बार्काचार्य का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रहा होगा; किन्तु परवर्ती उपासकों ने इस सिद्धांत को व्यवहार्य बनाने के लिए राधा-कृष्ण की उपासना तथा किशोर कृष्ण की अवतारणा करके उसे नया रूप दिया। दार्शनिक दृष्टि से जो सिद्धांत निम्बार्क मत में स्वीकृत होते हैं उनका कोई रूप राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकृत नहीं होता। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी राधा ही इष्ट उपास्य (एकमात्र) है। निम्बार्क में ब्रह्म उपास्य है तथा ब्रह्म के अन्य रूपों का वर्णन है। यहाँ कृष्ण के किसी भी अन्य रूप की स्वीकृति नहीं है। अतः इन दोनों का

1. "Vaishnava Faith and Movement in Bengal"—Dr. S. K. De Page 19.

पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं किया जा सकता। विस्तार भय से केवल मूलभूत सिद्धांत की ओर ही हमने संकेत किया है। यदि उपासना पद्धति, सेवा-पूजा विधि आदि के विवरण पर ध्यान दिया जाय तो कहीं-कहीं ऐक्य होने पर भी आधारभूत मान्यताओं में विराट अन्तर दृष्टिगत होगा जो दोनों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के रसानुवर्ती होने पर राधा की अर्चना वहाँ भी प्रारम्भ हुई किन्तु उसे विशुद्ध स्वकीया ही माना गया और स्वकीयात्व के रूप में ही उसके चित्र अंकित किये गये। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप प्रारम्भ से नितान्त भिन्न रहा है। अतः इस भ्रम में पड़ने का कोई अवकाश नहीं रहता कि राधावल्लभ सम्प्रदाय अपनी दार्शनिक विचारधारा में या बाह्य सेवाचार पद्धति में निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुगत या शाखा सम्प्रदाय है। राधा विषयक वर्णन में जो समानता दोनों सम्प्रदायों में दृष्टिगत होती है वह परवर्ती काल में आई है। 'महावाणी' और 'युगलशतक' का रचनाकाल निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी तो चौदहवीं शताब्दी के आसपास ठहराते हैं किन्तु दोनों कृतियों का अनुशीलन स्पष्ट बताता है कि ये सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना किसी प्रकार नहीं हो सकतीं। खैर, कुछ भी हो हमें यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा उपासना का जो रूप वर्तमानकाल में दृष्टिगत होता है वह प्रारम्भ से नहीं था। हित-हरिवंश जी के राधा विषयक नूतन दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही अनेक भक्तों ने राधा-कृष्ण विषयक अपनी दृष्टि में परिवर्तन किया था। इस स्थिति में मौलिक सिद्धांतों के अनुशीलन करने पर, राधावल्लभ सम्प्रदाय को किसी आधार पर निम्बार्क का शाखा या अनुगत सम्प्रदाय कहने का साहस कोई विद्वान् और निष्पक्ष व्यक्ति नहीं करेगा।

ख : भाग

धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख

उपलब्ध सामग्री का विवेचन

राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा उसके प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंशजी का उल्लेख विविध रूपों में 'भक्तमाल', 'वार्त्ताग्रन्थ', 'रसिकवाणी' आदि में हुआ है। उन समस्त उल्लेखों को उद्धृत न करके केवल उन्हीं ग्रन्थों का हम यहाँ संकेत करेंगे जिनमें सम्प्रदाय की किसी विशेषता या संस्थापक की किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। भक्तमाल, भक्तनामावली, भक्त-परिचयावली या रसिकमाल आदि नामों से जो ग्रंथ प्रकाशित या हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध होने पर भी उनका ऐतिह्य में उपयोग होता आ रहा है। हमने स्वयं कुछ ऐसे हस्तलिखित ग्रंथ देखे हैं जिनका रचनाकाल और लिपिकाल तीन सौ वर्ष से ऊपर है और उनमें ऐसे तथ्य अंकित हैं जो भक्त महानुभावों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश

डालते हैं। नाभा जी का 'भक्तमाल', श्री भगवत् मुदित का 'रसिक अनन्यमाल', तथा उत्तमदास रचित 'रसिकमाल' के समान ही, उनमें भी निष्पक्ष भाव से भक्तों का यशोगान हुआ है। श्री अति-वल्लभ जी की वाणी और चाचा वृन्दावनदास का 'हरिवंश सहस्रनाम' इसी कोटि की सुन्दर कृतियाँ हैं। किन्तु भावनापरक साम्प्रदायिक वाणियों को अधिक महत्त्व न देकर इस अध्याय में हम अन्य लेखकों की रचना को ही स्थान देंगे।

सबसे प्रथम हम नाभाजी के भक्तमाल में वर्णित श्री हितहरिवंश चरित्र की भावना पर विचार करना उपयुक्त समझते हैं। नाभा जी स्वतन्त्र चिंतक थे। सभी वर्गों के भक्तों का पूज्य बुद्धि के साथ स्मरण कर उन्होंने जिस विशाल-हृदयता का परिचय दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्री हितहरिवंशजी के चरित्र की विशेषता का नाभाजी ने एक छप्पय में वर्णन किया है किन्तु वह छप्पय इतना गूढ़ाभिप्राय व्यंजक है कि उसके प्रत्येक पद को ग्रहण करके भाष्य और टीका लिखी जा सकती है। सुन्दरदास जी ने इस छप्पय के प्रति शब्द को लेकर एक-एक कवित्त लिखा है। प्रियादास जी ने भी अपनी टीका में इस छप्पय का अच्छा भाष्य किया है। छप्पय की विशेषता यह है कि वह राधावल्लभ सम्प्रदाय की नवीनता, स्वतंत्रता, और विलक्षणता का पूरी तरह परिचायक है। हरिवंशजी के गुरु-शिष्य विषयक विवाद को भी वह हल करता है। छप्पय इस प्रकार है :—

"राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी,
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी,
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
व्यास सुवन पथ अनुसरै, सोई भलैं पहिचानि हैं।
हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोई जानि हैं।"[1]

इस छप्पय में 'राधाचरण प्रधान' शब्द सम्प्रदाय की इष्टदेवी तथा आराध्या का द्योतक है। नित्य विहार (निकुंज लीला) में सखीभाव से आस्था रखना भी इस सम्प्रदाय की विशेष देन है। महाप्रसाद के लिए एकादशी आदि व्रतोपवास को न मानना भी साम्प्रदायिक विशेषता है। विधि-निषेध से ऊपर रहकर हरिवंशजी ने अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया था यह भी इस छप्पय में व्यक्त किया गया है। 'सकृत कोई जानि हैं' शब्द सचमुच ही बड़ा गूढ़ है। बिना रसमार्ग का अनुगमन किये इस सम्प्रदाय की उपासना को समझना दुष्कर है। प्रियादास जी अपनी टीका में कहते हैं—

हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै
राधा ही प्रधान मानैं पाछें कृष्ण ध्याइये।
निपट विकट भाव, होत न सुभाव ऐसो,
उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्योंहूं पाइये॥

---

1. भक्तमाल—नाभा जी कृत छप्पय ४६१—पृष्ठ ६१८।

विधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये,
जिये निज दास निसि दिन यहै गाइये ।
सुखद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके,
जानत प्रसिद्ध कहा कहिकै सुनाइयें ।।[1]

टीका-परक दो और कवित्त प्रियदासजी ने लिखे हैं जिनमें हरिवंशजी के जीवन की घटनाओं का वर्णन है। उनको हमने हित जी के चरित्र-विषयक अध्याय में उद्धृत किया है। श्री भोरी अलि के शिष्य सुन्दरदास ने नाभाजी के छप्पय पर चौदह कवित्त लिखे हैं उनमें नाभा जी के छप्पय की शब्दानुसार व्याख्या की गई है। उनमें से दो कवित्त पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दे रहे हैं।[2]

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में कृष्णदास अधिकारी की वार्ता के अन्तर्गत हरिवंश जी का उल्लेख आता है। ये हरिवंश जी कौन से हैं यह अभी तक निर्णय नहीं हुआ है। घटना में मीराबाई के घर मेड़ता में हरिवंश जी की उपस्थिति का संकेत है। सारी घटना

---

१. भक्तमाल नाभा जी कृत—प्रियादास जी की टीका कवित्त ३८६-३९९।
२. सुन्दरदास जी कृत टीका कवित्त—

श्री राधाचरण प्रधान

श्री राधा पदारविन्द हृदै में विराजमान
या ही तो प्रसिद्ध और दूजो नाहि आंको है।
आदर्योन धर्म और हियें दवे स्याम गौर
प्रेमभक्ति छाकें पर्यो रंच कौन झांको है।
गौर तेज आगे जबै पावे प्रह्लाद स्याम
उज्ज्वल उपासना में कैसे लगै टांको है।
वेद औ पुरान की सिक्षानि है जु धर्म महा
कहा सोई उर धार्योजु अनन्य व्रत बांको है।

सुदृढ़ उपासी

इष्ट ही के रंग राचें इष्ट ही की कृपा जाचें
इष्ट बिना और नाहि जाके हियें बासना।
इष्ट ही को गावें जस भाव इष्ट ही को रस
इष्ट बिना काहू को जु राखें मन आस ना।
इष्ट ही तें पावें मान इष्ट बल बलवान
इष्ट बिना काहू मन काहू की निकासना।
रमवरी इष्ट धाम तारी में प्रदमजात
या ही को सुर्यान कहैं सुदृढ़ उपासना ।।

(श्री बाबा बंशीदासजी की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि यह कृष्णदास का गौरव प्रदर्शित करने के लिए कल्पित वार्ता है जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। यदि हरिवंश और व्यास नाम से राधा-वल्लभीय दोनों महानुभावों का ही ग्रहण अभीष्ट है तो निस्सन्देह यह कल्पित प्रसंग है क्योंकि हरिवंश जी के वृन्दावन आने के बाद ब्रजमंडल से बाहर जाने का कोई उल्लेख किसी वाणी में नहीं मिलता। यदि यह घटना सम्वत् १५६१ से पहले की है तो हरिवंश जी की इतनी ख्याति नहीं हुई थी और न व्यास जी ही सम्वत् १५६१ से पहले वृन्दावन में आकर हरिवंश जी के शिष्य हुए थे।[1]

स्वामी प्रतापसिंह सन्त विरचित 'भक्तमाल' में हरिवंशजी की कथा विस्तार से दी गई है। इसका आधार नाभाजी का भक्तमाल ही है किन्तु अर्वाचीन होने के कारण साम्प्र-दायिक किम्वदन्तियों को इसमें स्थान मिला है। इस भक्तमाल का साधु-सन्तों में अत्यधिक प्रचार है और इसके वर्णन को प्रामाणिक मानने से भ्रम फैलने का अवकाश है अतः हम इसकी चर्चा करना आवश्यक समझते हैं। सन्तजी लिखते हैं :—

"हितहरिवंशजी गोसाईंजी के भजन और भाव को ऐसा कौन है जो वर्णन कर सके कि जिनने राधिका महारानी की प्रधानता करके मन के दृढ़ विश्वास से लगाया और प्रिया प्रियतम के नित्य विहार और कुंज महल में मानसी ध्यान करके प्राप्त होकर सखीभाव से टहल व सेवा शृङ्गार आदि करी। † † †। कोई-कोई माध्व सम्प्रदाय वाले पूर्व कुछ सेवक होने से माध्व सम्प्रदाय का गोस्वामीजी को कहते हैं, परन्तु कुछ बात नहीं, व हरिवंशजी राधिकाजी की कृपा करके स्वयं सिद्ध भये इसमें कुछ सन्देह नहीं। व रीति भजन की नई रसभक्ति प्रेममय निकाली व निम्बार्क सम्प्रदाय व माध्व सम्प्रदाय से सिद्धांत उपासना चुन करिके अद्भुत रसभजन की रीति पुष्ट करी।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में हरिवंशजी को एक ओर स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा गया है तो दूसरी ओर माध्व सम्प्रदाय का भी संकेत है। साथ ही 'नई रसभक्ति प्रेम-मय निकाली' कहकर 'निम्बार्क और माध्व सम्प्रदाय से सिद्धांत उपासना चुनि करके' भी लिखा है। यह पारस्परिक विरोध 'वदतो व्याघात' दोष के कारण निष्पक्ष पाठक को द्विविधा में डाल देता है। यथार्थ में लेखक ने स्वतन्त्र रीति से राधावल्लभ सम्प्रदाय को नहीं समझा है केवल भक्तमाल आदि से पढ़कर तथा इधर-उधर से सुनकर निष्कर्ष निकाल लिया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की रसोपासना इतनी विलक्षण है कि उसका सर्वतोभावेन किसी

१—'सो वे कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारिका गए हुते। सो श्री रणछोरजी के दर्शन करिके तहाँ ते चले। सो आपन मीराबाई के गाँव आयौ। सो वे कृष्णदास मीराबाई के घर गये। तहाँ हरिवंश व्यास आदि के विशेष सह वैष्णव हुते। सो काहू कौ आठ दिन, काहू को आये दश, काहू को आये पन्द्रह दिन भये हुते।'

चौरासी वैष्णवन की वार्ता (बम्बई संस्करण) पृष्ठ ३४२

२—भक्तमाल, लेखक स्वामी प्रतापसिंह सन्त—नवम संस्करण—पृष्ठ ४६

दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय में अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता। अतः इस सम्प्रदाय को किसी अन्य के अन्तर्गत रखना मौलिक भूल है।

श्री भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' में राधावल्लभीय भक्तों के चरित्र विस्तार से लिखे हैं। इस ग्रन्थ की हमने तीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं। सबसे प्राचीन प्रति सम्वत् १७८९ की है जिसमें हरिवंशजी का चरित्र नहीं है। मयाशंकर याज्ञिक के पुस्तकालय की प्रति जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है उसमें हरिवंश चरित्र है। एक हस्तलिखित भगवत मुदित कृत श्री रसिकमाल नामक ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में भी है। इसका लिपिकाल संवत् १८३७ है। इसमें भी हित-चरित्र दिया हुआ है।

श्री याज्ञिकजी वाली हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल संवत् १८१७ है। इस प्रति के अन्त में लिपिकाल इस प्रकार दिया है।

"संवत् १८१७ वर्ष मासानां आश्विन मासेषु मल्लसा पक्षे पुन्यतिथौ द्वितीयारट गुरावे लिप्यतेति इदं स्वामीजी बालकदास समीपे श्री गुरु प्रसादात् डूंगरसी लिपायते।"

वृन्दावन में जो हमारे देखने में आई उसमें हरिवंश चरित्र नहीं है। आश्चर्य का विषय है कि आचार्य का चरित्र न होकर केवल शिष्य-परम्परा का ही चरित्र लेखक ने क्यों लिखा। उत्तमदास रचित जो 'रसिकमाल' नाम ग्रंथ मिलता है उसमें 'हरिवंश चरित्र' है। यह चरित्र उस चरित्र से अक्षरशः मिलता है जो याज्ञिकजी के पुस्तकालय की हस्तलिखित भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' में दिया हुआ है। यदि इसको भगवत मुदित का लिखा माना जाय तो उत्तमदास की रचना अधूरी रह जाती है। सम्भव है भगवत मुदित लिखित चरित्र ही उत्तमदास की वाणियों में चला गया हो और जिस प्रति से भगवत मुदित की वाणी की नकल की गई थी उसमें से हरिवंशजी का चरित्र किसी कारण-वश छिन्न हो गया हो। फलतः बाद की प्रतियों में उसका लिपिकारों ने समावेश नहीं किया। कुछ भी हो यह चरित्र विस्तृत है और हितजी के उदात्त चरित एवं व्यापक प्रभाव का द्योतक है। हितजी के चरित्र लिखने में हमने इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक महानुभावों ने भी अपने सम्प्रदाय के तथा हरिवंशजी के विषय में लिखा है किन्तु हम उसको यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक समझते हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि तो सदा पूज्य एवं श्रद्धाभावना से ओत-प्रोत होती ही है, भावना के अतिरेक के कारण शुद्ध ऐतिह्य की उसमें उपेक्षा होना स्वाभाविक है।

अंग्रेज लेखकों का अभिमत

राधावल्लभ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कतिपय अंग्रेज विद्वानों के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उनका आधार गंभीर अध्ययन या प्रामाणिक जानकारी पर आधृत नहीं है फिर भी जो कुछ उन्होंने व्यक्त किया है उसे सर्वथा त्याज्य समझकर छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि उसी के आधार पर परवर्ती हिन्दी साहित्य में इस सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है।

प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने अपनी 'हिन्दू रिलीजंस' नामक पुस्तक में लिखा है कि धावल्लभ सम्प्रदाय में और बंगाली गोस्वामियों में राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित रके आराध्या देवी के रूप में वर्णन हुआ है उसमें कोई विशेष भेद परिलक्षित नहीं होता। वल यही भेद है कि दोनों अपना गुरु पृथक्-पृथक् मानते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के स्थापक हरिवंश थे जिन्होंने अपना मठ वृन्दावन में स्थापित किया। विलसन के मतानुसार धा-विषयक मान्यता में भी कोई नवीनता नहीं है। उन्होंने राधा के विषय में हरिवंश राण के श्लोकों का अंग्रेजी अनुवाद मात्र दिया है। कोई सैद्धान्तिक विवेचन या विशिष्ट चना नहीं दी है। राधावल्लभीय मन्दिर के विषय में उनका मत निर्माण सम्वत् की दृष्टि उल्लेख्य है। उन्होंने लिखा है इस मन्दिर के द्वार के ऊपर जो सम्वत् लिखा है वह १६४१ सन् १५८५) है। यदि यह सम्वत् ठीक माना जाय तो यह मन्दिर वृन्दावन का प्राचीनतम मन्दिर होगा। किन्तु बहुत खोज और प्रयत्न करने पर भी हमें कहीं इस सम्वत् का पत्थर मन्दिर में उपलब्ध नहीं हुआ। राधा सुधानिधि के विषय में विलसन ने स्पष्ट लिखा है कि यह श्री हरिवंश जी की कृति है। उनके हिन्दी ग्रंथों का भी विलसन ने उल्लेख किया है। 'सेवा सखी की वाणी' का नाम लिखकर बताया है कि इसमें साम्प्रदायिक विचार संकलित हैं। यह वाणी आजकल कहीं प्राप्त नहीं है। विलसन ने स्वयं वृन्दावन आकर सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त की थी, ऐसा उनके वर्णन से स्पष्ट होता है।[1]

'मथुरा मेमायर्स' के लेखक ग्राउस महोदय ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से लिखा है। उनकी जानकारी का आधार वृन्दावन के वैष्णव समाज में प्रचलित परम्परागत जनश्रुतियाँ तथा तत्कालीन उपलब्ध साहित्य है। ग्राउस महोदय लम्बे अर्से तक मथुरा में कलक्टर रहे और उन्होंने बड़े परिश्रम से मथुरा का सांस्कृतिक इतिहास लिखा। यद्यपि अपनी रचना को उन्होंने इतिहास नाम नहीं दिया किन्तु उसमें पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री संकलित है। ग्राउस महोदय पहले विदेशी सज्जन हैं जिन्होंने राधावल्लभीय सिद्धान्तों को यथाशक्ति समझने की चेष्टा की और श्री हरिवंशजी रचित ग्रंथों के कुछ अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया। ग्राउस महोदय ने विपुल विस्तार से इस सम्प्रदाय के बारे में जो लिखा है उसका सारांश हम नीचे देते हैं।

वे लिखते हैं—'चार प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त वृन्दावन में दो और प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय हैं जिनमें एक गौड़ीय है जिसका प्रारम्भ बंगाल में हुआ और दूसरा राधावल्लभ

1—In what respect the Radha Vallabhis differ from those followers of the Bengali Gosains, who teach the worship of this goddess in conjunction with Krishna, does not appear, and perhaps there is little other difference than that of their acknowledging separate teachers. Instead of adhereing to any of the hereditary Gosains, the members of this sect consider a teacher named Hari Vansh as their founder. This person settled at Brindaban and established a Matha there, which in 1822 A.D. comprised between 40 and 50 resident ascetics.

—Hindu Religions by Prof. H.H. Wilson, Page 116.

कई गुने अधिक थे। इस गजेटियर में भी श्री हरिवंशजी का जीवन-वृत्त तथा सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है। जन्म सन् .१५६ ही लिखा है जो सम्वत् के स्थान पर लिखा चला आ रहा प्रतीत होता है। राधावल्लभ जी के मन्दिर निर्माण का, इसमें भी ग्राउस के आधार पर उल्लेख हुआ है। दोनों सन् के गजेटियर्स का आधार प्रायः ग्राउस महोदय की कृति 'मथुरा मेमायर्स' ही है अतः इसमें विवेच्य विषय अधिक नहीं है।[1]

सुप्रसिद्ध विद्वान् ग्रियर्सन ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए उसे उत्तरीय भारत का वैष्णव सम्प्रदाय बताया है। उनके मतानुसार इसके संस्थापक श्री हरिवंश सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्क की पाँच शाखाओं में से चौथी शाखा के तीसरे गुरु थे। साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि कुछ लोग उन्हें माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी मानते हैं। ग्राउस के मत को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि हरिवंश जी ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में कुछ बातें निम्बार्क से और कुछ माध्व से ग्रहण की थीं। हरिवंश जी का जन्मकाल सन् १५०२ (सम्वत् १५५६) ही माना है। किन्तु उनकी आयु मृत्यु के समय पैंसठ वर्ष के लगभग लिखी है जो सम्प्रदाय में स्वीकृत मृत्यु सम्वत् से मेल नहीं खाती। राधासुधानिधि और चौरासी पद नामक दो रचनाओं का भी आपने उल्लेख किया है।[2]

ग्रियर्सन महोदय ने अपने एक दूसरे लेख में हरिवंश जी को निम्बार्क मतावलम्बी स्वीकार किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का विस्तार और विकास ही राधावल्लभ सम्प्रदाय में हुआ। कदाचित् परस्पर विरोधी बातें लिखने की यह भूल 'राधाकृष्ण' की उपासना के सूक्ष्म भेदों को अवगत न करने के कारण हुई। ग्रियर्सन भारतीय भाषाओं के अच्छे जानकार थे। व्रजभाषा के लालित्य का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इसी आधार पर उन्होंने हरिवंश जी के व्रजभाषा काव्य की सराहना की है।[3]

1—A Gazetteer of Muttra, 1911 A.D. Edited by D L. Darka Brockman I.C.S, Page 104—5.

2—The Radha Vallabhis are a Vaishnava Sect of Northern India numbering about 25,000 adherents. and founded in the early part of the 16th century by one Hari Vansh the son of a Gaur Brahman living in the Saharanpur district. Hari Vansh's name appears in the list of teachers of the Sankadi Sampradaya of the Bhagwat Faith founded by Nimbark. This Sampradaya was divided into five Sakhas or branches by a teacher named Hari Vyas and Hari Vansh's name is entered in the list as that of the third teacher of the fourth branch. Other authorities state that he belonged to the Madhva Sampradaya and his teachings as Growse points out was professedly derived partly from the one and partly from the other of these branches.
(George A. Grierson)—Encyclopaedia of Religion and Ethics, Edited by James Hastings, Vol. X, Page 559.

3—The Radhavallabhis, another sect which worships Krishna and Radha are also akin to the Vallabhacharya, but they are counted as belonging to the next or Sankadi Sampradaya ... It was founded by one Hari Vansh surnamed Hit, who was born in 1559

जे० एन० फर्कुंहर ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए इसे नवीन वैष्णव सम्प्रदाय माना है और इसका प्रवर्त्तन काल सन् १५८५ के समीप ठहराया है। आपके मतानुसार श्री हरिवंश जी अपने नवीन सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के लिए माध्व और निम्बार्क के ऋणी हैं। वस्तुतः इन्हीं सम्प्रदायों की भक्ति से राधावल्लभ नामक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना हुई। फर्कुंहर महोदय स्वयं सन् १९१७ में वृन्दावन गये थे और वहाँ आपने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का स्वरूप जानने-समझने का प्रयत्न किया था। राधा-पूजा को आपने शक्ति-पूजा समझकर इस सम्प्रदाय के भक्तों को शाक्त संज्ञा दे डाली है। कदाचित् राधा को वामा मानकर शक्ति-पूजा के भ्रम में पड़कर यह भूल हुई है। राधा के स्वरूप की छानबीन आपने अपने ग्रंथ में की है किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उसका क्या स्वरूप है यह निश्चय नहीं कर सके। श्री हरिवंश रचित ग्रंथों में आपने तीन ग्रंथों का नाम लिखा है। प्रथम 'राधासुधानिधि' संस्कृत काव्य जिसमें २७० श्लोक हैं, दूसरा चौरासी पद और तीसरा स्फुट पद। इस सम्प्रदाय के विषय में लिखने वाले पाश्चात्य लेखकों में आप सबसे अन्तिम हैं किन्तु ग्राउस महोदय के ग्रंथ को ही आपने भी आधार बनाया है। जन्म् सम्वत् आपने एकदम नया लिखा है जिसका कोई आधार नहीं मिलता।[1] बार्थ नामक अंग्रेज विद्वान् ने अपनी 'हिन्दू रिलीजंस आफ इंडिया' नामक पुस्तक में राधाकृष्ण-भक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायों के वर्णन-प्रसंग में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए इसे सखी भाव से कृष्ण और राधा की उपासना करने वाला 'वैष्णव शाक्त' सम्प्रदाय कहा है। बार्थ के उल्लेख में शाक्त होने की जो ध्वनि है उसी को फर्कुंहर ने भी पकड़ा है और उसी रूप में इस सम्प्रदाय का वर्णन किया है।[2]

---

and was a Nimbavat. His teaching was little in accordance with that of his church being nothing but a development of the tenets of Vallabhacharya.
(Under Bhakti Marg—G. A. Grierson (Encyclopaedia of Religions and Ethics, Vol. II, Page, 539-551.

1—Hari Vansh, also called Hit ji, was much indebted to both the Madhvas and the Nimbarkas, but he founded a new sect in Brindaban about 1585, the Radha-Vallabhis... The founder left three works, the first Radha Sudhanidhi, 270 couplets in Sanskrit, the other Chaurasi Padas and Sphut Padas both in Hindi. Many works were written by his followers. They are Shakts placing Radha above Krishna.

—The Religious Quest of India, J. N. Farquhar, Page 318.

2—Such moreover are the Radhavallabhis who date from the end of the sixteenth century and worship Krishna so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify themselves with the friend (Fem), that is to say, with Radha who have adopted the costume, manners and occupations of woman. These last two Sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even entire communities of the Chaitanyas, the Vallabhacharyas and the Ramanandis.

—The Hindu Religions of India, A. Barth, Page 236

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय

विगत पचास वर्षों में हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रंथों में प्रायः भक्त कवि के रूप में कतिपय राधावल्लभीय भक्तों का वर्णन हुआ है । श्री हितहरिवंशजी को छोड़कर अन्य किसी भक्त कवि के विवरण में राधावल्लभ सम्प्रदाय की किसी सैद्धान्तिक या धार्मिक भावना पर कुछ भी नहीं लिखा गया। व्यास तथा ध्रुवदास जैसे प्रौढ़ भक्त कवियों के काव्य को भी केवल सरसरी दृष्टि से उल्लेख करके छोड़ दिया है। इस उपेक्षा का मूल कारण साम्प्रदायिक वाणियों की अनुपलब्धि तथा सिद्धान्तों का अज्ञान ही है। अभी तक इस सम्प्रदाय की भक्ति और उपासना पद्धति को समझने-समझाने का कोई प्रयास नहीं हुआ फलतः इसके प्रतिभाशाली, भावुक एवं भक्त कवियों की उपेक्षा होती रही। जो कुछ लिखा गया वह प्रायः अंग्रेज लेखक विलसन, ग्राउस और ग्रियर्सन के लेखों के आधार पर ही है। भक्ति-पद्धति के स्वरूप को समझने के लिए नाभाजी का भक्तमाल वाला छप्पय ही पर्याप्त समझा जाता रहा। आश्चर्य है कि कवियों की इतनी विपुल संख्या और काव्य-सौन्दर्य का इतना अधिक प्राचुर्य भी आलोचकों और सहृदयों को आकृष्ट न कर सका। यह ठीक है कि हस्तलिखित वाणी ग्रंथों के सुलभ न होने से इस प्रकार की उपेक्षा रही किन्तु जिज्ञासु के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता।

नीचे की पंक्तियों में हम कतिपय विशिष्ट ग्रंथो में वर्णित तथ्यों पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। विवेचन में हमारा उद्देश्य भ्रमनिवारण तथा तथ्य उद्घाटित करना मात्र है, किसी प्रकार के खंडन-मंडन में पड़कर निन्दा-स्तुति का मार्ग ग्रहण करना हमें अभीष्ट नहीं । तथ्य-निर्णय के लिए जहाँ खंडनात्मक शैली स्वीकार की गई है उसे अन्यथा नहीं समझना चाहिए।

हमने जिन ग्रंथों का आगे वर्णन किया है वे हिन्दी साहित्य के विशिष्ट ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त और भी पाँच-सात ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन है किन्तु वह इन्हीं में से किसी न किसी का रूपान्तर मात्र है अतः सबको स्थान नहीं दिया गया। डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल और प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के इतिहास ग्रंथ प्रसिद्ध होने पर भी कोई नवीन सूचना प्रस्तुत नहीं करते अतः हमने उन्हें छोड़ दिया है।

१—शिवसिंह सरोज—ले० श्री शिवसिंह सेंगर

इस ग्रंथ में दो स्थलों पर गो० हितहरिवंशजी का नामोल्लेख है। प्रथम स्थल पर केवल उनका एक पद दिया है और दूसरे स्थल पर इस प्रकार गद्य में परिचय है।

"हितहरिवंश स्वामी गुसाईं वृन्दावन निवासी। व्यास स्वामी के पुत्र सम्वत् १५५९ में उत्पन्न। इनके पिता व्यास जी ने राधावल्लभी सम्प्रदाय चलाया। यह देववन के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे। हितहरिवंश जी महान कवि थे। संस्कृत में राधासुधानिधि ग्रंथ और भाषा में 'हितचौरासी' नामक ग्रंथ बनाया।"[1]

---

1. 'शिवसिंह सरोज' (सप्तम संस्करण) पृष्ठ ३६९ तथा ५०७।

विवेचन : श्री शिवसिंह सेंगर ने व्यास जी को राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तक लिखा है किन्तु अद्यावधि प्राप्त किसी ग्रंथ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिला कि श्री व्यास मिश्र ने कभी कोई साम्प्रदायिक सिद्धान्त, मत, ग्रंथ आदि कुछ भी कहा या लिखा हो। दूसरी त्रुटि इसमें 'स्वामी' शब्द का व्यवहार है। गोस्वामी या गुसाईं शब्द के साथ स्वामी का प्रयोग वैसे भी अव्यवहार्य है। विरक्त साधुओं के लिए प्रायः स्वामी का प्रयोग होता है। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले आचार्य गोस्वामी कहलाते हैं। यद्यपि यह नियम नहीं है किन्तु साधारण परिपाटी यही है। किसी भी ग्रंथ में व्यास मिश्र या हरिवंश जी को स्वामी नहीं लिखा गया। अतः सेंगर महोदय ने ये दोनों बातें बिना किसी आधार के लिख दी है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष तो स्पष्ट ही निकलता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का स्वतन्त्र रूप से प्रवर्त्तन लेखक महोदय स्वीकार करते हैं।

२—मिश्रबन्धु विनोद

मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रंथ में तीन स्थलों पर राधावल्लभ सम्प्रदाय और उसके प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंशजी का उल्लेख किया है। उनका सारांश इस प्रकार है :

(क) 'स्वामी हितहरिवंशजी माध्व सम्प्रदाय वाले गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पर पीछे से राधा जी ने इन्हें स्वप्न में मंत्र दिया तब से ये अपने को उन्हीं का शिष्य मानने लगे। हित जी ने एक पृथक् सम्प्रदाय चलाया। जिसे हित सम्प्रदाय कहते हैं। यह अनन्य सम्प्रदाय, हित अनन्य सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय भी कहलाता है। इसमें कुछ-कुछ राधा जी की प्रधानता है। इसमें स्वयं हरिवंशजी एक परमोत्तम कवि थे और कितने ही अन्य उत्कृष्ट कवि हुए हैं जिनमें हित ध्रुव जी एवं चाचा वृन्दावनदास जी प्रधान थे। गणना में इस सम्प्रदाय एवं वल्लभीय सम्प्रदाय के कवि प्रायः बराबर थे और उत्तमता में दोनों सम्प्रदायों के कवि समान कहे जा सकते हैं क्योंकि वल्लभीय सम्प्रदाय में सूरदास जी अद्वितीय थे, तथापि हित सम्प्रदाय में भी स्वयं हित जी तथा चाचा जी परमोत्तम कवि थे और कुल मिलाकर ये दोनों सम्प्रदाय काव्य प्रौढ़ता में समान ही ठहरेंगे।'[1]

(ख) 'संवत् १५८२ से सुप्रसिद्ध महात्मा और कवि श्री स्वामी हितहरिवंशजी का कविता काल प्रारम्भ होता है। इनके केवल चौरासी पद मिले हैं जो सौर कविता का पूरा सामना करते हैं। यदि इनकी अधिक वाणी मिल जावे तो सम्भव है कि कविता में इनकी गणना सूरदास जी के बराबर हो। सुना जाता है कि इनके बहुत से भजन छिपे पड़े हैं।'[2]

(ग) 'ये महाशय देवबन्द (अथवा देवनगर) सहारनपुर के निवासी गौड़ ब्राह्मण व्यास स्वामी के पुत्र थे। इनके पिता का उपनाम हरिराम शुक्ल तथा माता का नाम तारावती था। वृन्दावन में कार्तिक शुक्ला तेरस सम्वत् १५८२ को इन्होंने राधारमण जी की मूर्ति स्थापित की। हित जी प्रथम भट्ट गोपाल के शिष्य थे। पर पीछे इन्होंने स्वप्न में राधा जी

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, भा० १, पृष्ठ २६८, प्रथम संस्करण।
२. वही भा० १, पृष्ठ ११८, "

से मंत्र पाया और सब से आप उन्हीं के शिष्य हो गये। ये महाशय (राधावल्लभीय) सम्प्रदाय के संस्थापक थे। कितने ही बड़े-बड़े भक्त इनके शिष्य थे। इनके वंशधरों की एक भारी गद्दी है और वल्लभ सन्तानों की भाँति वे भी पूजे जाते हैं। इनके पुत्र सेवक जू अच्छे कवि थे।'[1]

विवेचन:—मिश्रबंधुओं के उपर्युक्त (क) भाग में इन्होंने हितहरिवंश जी को राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानकर इस सम्प्रदाय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। किंतु दो बातों में भारी भ्रम है। प्रथम तो भट्ट गोपाल (माध्व) को इनका गुरु ठहराया है। जो किसी आधारभूत प्रमाण पर आश्रित मत नहीं है। भट्ट गोपाल के गुरु होने की बात का प्रचार बंगला भक्तमाल तथा प्रेम-विलासके आधार पर हुआ है जो स्वयं पक्षपातपूर्ण जाली ग्रंथ है। बँगला भक्तमाल के सिवा और किसी ग्रंथ में श्री हितहरिवंशजी के शिष्यत्व का उल्लेख नहीं है। नाभाजी ने भी अपने भक्तमाल में राधा जी को इनका गुरु कहा है। इस विषय का विशद विवेचन हमने तृतीय अध्याय में किया है और गुरु शिष्य संबंधी सारी बातें सप्रमाण लिखी हैं। दूसरी बात मिश्रबंधुओं ने यह कही है कि इस सम्प्रदाय में 'राधा जी की कुछ-कुछ प्रधानता है'—कुछ-कुछ से जो भाव व्यक्त होता है वह इस सम्प्रदाय की निष्ठा, भावना, साधन-पद्धति और सैद्धान्तिक मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है। राधा ही इस सम्प्रदाय में 'सब कुछ' है। राधा के बिना तो माधव भी यहाँ व्यर्थ है। उस माधव की अर्चा-पूजा होती है जो राधा के पदारविन्दों में पड़ा हुआ उसे प्रसन्न करने में लीन रहता है। मिश्रबंधु महोदयों ने इस सम्प्रदाय की वाणियों के अध्ययन के आधार पर यदि इस विषय में कुछ लिखा होता तो निश्चय ही राधा ही सब कुछ हैं—सबसे अधिक है—यही कहना पड़ता।

(ख) भाग में केवल सम्वत् का उल्लेख अशुद्ध है। अन्य कोई विवेच्य बात नहीं।

(ग) भाग में पिता का उपनाम अशुद्ध लिखा है। व्यास मिश्र होना चाहिए हरिराम शुक्ल नहीं। समस्त वाणी ग्रंथों में व्यास मिश्र का ही वर्णन है, कहीं भी हरिराम शुक्ल नाम नहीं मिलता। मालूम नहीं मिश्रबंधुओं ने कैसे यह नाम लिख दिया। सम्भवतः हरिराम शुक्ल व्यास के नाम से प्रसिद्ध थे उन्हीं को इन्होंने इनका पिता समझने की भूल की है। यह भूल अंग्रेज लेखक ग्रियर्सन से भी हुई है। गुरु विषयक बात का इस भाग में पुनः अशुद्ध उल्लेख है जिसका समाधान हम पहले कर चुके हैं। स्वतंत्र सम्प्रदाय की बात इस भाग में भी स्वीकार की गई है जो इस प्रकरण में ध्यान देने योग्य है। राधारमण जी की मूर्ति स्थापित करने की बात भी गलत है। इस सम्प्रदाय में श्री जी का विग्रह राधावल्लभ नाम से व्यवहृत होता है राधारमण नहीं। राधारमण शब्द गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रयुक्त होता है। सेवक जी को मिश्रबन्धुओं ने हितहरिवंश जी का पुत्र लिखा है, वह भी अशुद्ध है। सेवक जी गोंडवना (मध्यप्रदेश) के रहने वाले थे। हरिवंश जी की मृत्यु के उपरांत वृन्दावन आये थे और तभी उन्होंने इस सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा ग्रहण की थी। सेवक चरित्र तथा वाव्य पर हमने षष्ठ अध्याय में विस्तार से लिखा है। वहीं इस विषय का प्रमाण पुरस्सर विवेचन है।

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, भा० १, पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

'राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश जी का जन्म संवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास जी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र था।

कहते हैं कि हितहरिवंश जी पहले मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना सम्प्रदाय चलाया। अतः हित सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत मान सकते हैं।'[1]

विवेचन :—आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त लेख में दो त्रुटियाँ दृष्टिगत होती हैं। प्रथम तो हितहरिवंश जी के पिता का नाम व्यास मिश्र न लिखकर केशवदास मिश्र लिखा है जो उपलब्ध वाणी ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता। इस त्रुटि का कारण गोपालप्रसाद रचित हित-चरित्र पुस्तक प्रतीत होती है। दूसरी त्रुटि बँगला भक्तमाल पर आधृत है जिसका परिहार हमने मिश्रबंधुओं के प्रकरण में किया है। हित सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अंतर्गत तो किसी भी प्रकार नही माना जा सकता क्योंकि उपास्य देव और साधन-पद्धति में एकदम वैपरीत्य है। माध्व गौडीय सम्प्रदाय में राधा को परकीया भाव से स्वीकार करके उसकी उपासना की जाती है किंतु राधावल्लभ सम्प्रदाय में लौकिक रूप में राधा स्वकीया होने पर भी राधाकृष्ण के नित्य विहार स्थिति में स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष मानी जाती है। परकीया भाव तो वहाँ एक पल को भी गृहीत नही होता। वैष्णव सम्प्रदाय की विधि-निषेध प्रणाली में राधावल्लभ सम्प्रदाय स्वतंत्र और बंधनहीन है। दार्शनिक दृष्टि से माध्व सम्प्रदाय अचिन्त्य भेदाभेद या द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है। माध्व मत में 'हरिपरतरः' माना गया है तो राधावल्लभ में राधा ही सब कुछ है। 'आम्नायवेद्यो हरिः' माध्व मत में बताया गया है तो राधावल्लभ में राधाचरणारविंद की भक्ति ही एकमात्र साधन है। माध्व मत और राधा-वल्लभ मत की बाह्य साधन-पद्धति, तिलक, छाप, कंठी आदि किसी भी बात में समानता नहीं है। हरिराम व्यास के शिष्य होने का संवत् भी अशुद्ध है। व्यास जी संवत् १५९१ में शिष्य हुए थे। संवत् १६२२ के तो बहुत पहिले हितहरिवंश जी निकुंजवास कर चुके थे।

४—ब्रजमाधुरी सार : श्री वियोगी हरि

"अनन्य राधावल्लभीय सिद्धान्त के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंशजी महाराज का जन्म बाद ग्राम जिला मथुरा में हुआ था। इनका जन्म सम्वत् किसी के मत से १५५९ और किसी के मत से १५३० है। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र उपनाम

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २०२ संशोधित संस्करण।

व्यास जी, माता का नाम तारावती था। व्यास जी देवबन्द जिला सहारनपुर में रहते थे......।

'कहते हैं कि श्री हरिवंशजी ने स्वप्न में श्री राधिकाजी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया......। भक्ति पक्ष में हरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार माने जाते हैं। हित उनका उपनाम था। आप श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम के साक्षात् मूर्ति थे। परात्पर भगवत्प्रेम की प्राप्ति कर लेने पर आपने विधि-निषेध के झगड़े, नाम-शोधन का मोह और हरिविमुख धर्मों को तृणवत् तोड़ दिया था। तभी तो आपके सम्बन्ध में नाभाजी ने अपने भक्तमाल में लिखा है कि 'श्रीहरिवंश गुसाईं' भजन की रीति सकृत कोई जानि है।'

'श्री हितजी ने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्री राधाकृष्ण का विशुद्ध वर्णन किया है। इनके वर्णित रास विहार के रूप को प्रकृति-पुरुष का दिव्य रहस्य कह सकते हैं।'[1]

विवेचन—श्री वियोगी हरि ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय में अधिक न लिखकर इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय में ही लिखा है और दो-तीन भ्रान्तियों का सप्रमाण निराकरण करके हिन्दी साहित्य का उपकार किया है। पिता का नाम उल्लेख करने में आपसे भी भूल हुई। इस भूल का मूल कारण श्री गोपालप्रसाद राधावल्लभीय रचित 'हितचरित्र' है। प्रारम्भ में उन्हीं ने जन्म तिथि तथा पितृनाम का अशुद्ध उल्लेख कर दिया था। इसका खंडन साम्प्रदायिक वाणी ग्रंथों में मिलता है। 'हितचरित्र' लिखने में हमने इसका खंडन किया है। श्री हरिवंशजी के जन्म के विषय में जो भ्रांत धारणाएँ 'मिश्रबन्धु विनोद' आदि में प्रस्तुत की गई हैं उनका खंडन युक्तिप्रमाण पुरस्सर इस ग्रन्थ में हुआ है। हितहरिवंश जी की उपासना पद्धति को आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मानने वालों में भी श्री वियोगी हरि जी का प्रथम स्थान है। श्री वियोगी हरि ने अपने इस ग्रन्थ में राधावल्लभ सम्प्रदाय को एक स्वतंत्र सम्प्रदाय ही माना है, निम्बार्क या माध्व के अन्तर्गत नहीं। भक्त कवि व्यास जी (ओरछा) को आपने इस सम्प्रदाय का शिष्य स्वीकार किया है जो सर्वथा उचित, तर्कपूर्ण और प्रमाणाश्रित है। श्री वियोगी हरि ने इस सम्प्रदाय के मर्म को समझने में सबसे पहले उदारता दिखाई है।

५—हिन्दी साहित्य : डा० श्यामसुन्दरदास

'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रन्थ में गोस्वामी हितहरिवंश का परिचय देते हुए आपने लिखा है—

"अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करने वालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन सम्प्रदायों के स्रष्टा हुए। हितहरिवंश जी माध्व और निम्बार्क दोनों मतों से प्रभावित

---

१. ब्रज माधुरी सार : श्री वियोगी हरि पृष्ठ ६५-६६ अष्टम संस्करण।

थे। पर उन्होंने राधा की उपासना को ग्रहण कर राधावल्लभ सम्प्रदाय का सृजन किया। इनके मतानुसार राधा रानी है, कृष्ण उनके दास है। राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद मिल सकता है। 'हित चौरासी' के सभी पद अत्यन्त कोमल और सरस भावापन्न है। इनके शिष्यों में हरिदास और व्यास जी प्रधान हुए है। जिनकी रचनाओं से हिन्दी की पर्याप्त श्री-वृद्धि हुई।'[1]

विवेचन :—डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ में न तो कोई नई सूचना दी है और न इस सम्प्रदाय के विषय में कोई अभिमत ही व्यक्त किया। माध्व और निम्बार्क के प्रभाव की बात परम्परा से चली आने के कारण लिखी है जिसका समाधान हम पहले कर चुके है। हाँ, राधावल्लभी सम्प्रदाय को नया और पृथक् सम्प्रदाय आप भी स्वीकार करते है। व्यासजी को आपने भी राधावल्लभी स्वीकार किया है जो युक्तियुक्त है।

६—हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा॰ रामकुमार वर्मा

'भक्तिकाल में हितहरिवंश का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार इनके पदों में सरसता पाई जाती है उसी प्रकार इनके सिद्धांतों में मौलिकता भी। इन्होंने राधावल्लभी नामक एक नये सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। ये पहले मध्वाचार्य के द्वैत सम्प्रदाय के समर्थक थे। बाद में इन्होंने अपना स्वतन्त्र हित सम्प्रदाय चलाया। कहते है स्वप्न में इन्हें राधिकाजी ने दर्शन देकर मंत्र दिया था। तभी से इन्होंने राधा की उपासना प्रधान मानी।'[2]

विवेचन :—डा० वर्मा ने इस सम्प्रदाय को स्वतन्त्र और नया सम्प्रदाय माना है जो साम्प्रदायिक उपासना पद्धति और उपलब्ध साहित्य को देखते हुये सर्वथा युक्तियुक्त और उचित है। मध्वाचार्य के द्वैतवाद के समर्थक होने की बात का खंडन हम पहले कर चुके हैं। राधिकाजी को मंत्रदात्री मानने की बात इतनी प्राचीन है कि उसे प्रायः सभी लेखकों ने स्वीकार किया है। अतः किसी और गुरु की बात समर्थित ही नहीं होती। डा० वर्मा ने अष्टछाप के प्रकरण में जिन चतुर्भुजदास को 'हित जू को मंगल' का लेखक बताया है वह अशुद्ध है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इस सम्बन्ध में शोधपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है। हमने भी श्री चतुर्भुजदास के सम्बन्ध में अपने विचार स्वतन्त्र रूप से लिखे हैं, वहाँ यह बात स्पष्ट की गई है। यथार्थ में चतुर्भुजदास नामक दो भक्त कवि पृथक्-पृथक् हुये हैं। 'द्वादश यश' और 'हित जू को मंगल' लिखने वाले राधावल्लभी है, वल्लभ सम्प्रदाय वाले चतुर्भुज दास दूसरे व्यक्ति हैं। हमने इस बात का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक समझा कि यह प्रश्न राधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है।

१—हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ २३०

२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८४७ द्वितीय संस्करण

७—हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्री द्विवेदी जी ने अपने दो ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आपने इस सम्प्रदाय को सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिखा है। वे लिखते हैं :

(क) 'निम्बार्काचार्य का यह सम्प्रदाय अब उतना अधिक प्रचलित नहीं है। उत्तर भारत में अब भी यत्र-तत्र इस सम्प्रदाय के भक्त पाये जाते हैं। इस सम्प्रदाय का एक नाममात्र का शाखा सम्प्रदाय राधावल्लभ है, जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधिका के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान के पास निवेदित करता है। एक उपसम्प्रदाय सखी सम्प्रदाय वालों का है जो इसी सम्प्रदाय का अंग समझा जाता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हितजी ऊँचे दर्जे के कवि और महात्मा थे। वे संस्कृत के उत्तम कवि थे। 'राधासुधानिधि' नाम का संस्कृत काव्य ग्रन्थ इन्हीं का लिखा बताया जाता है।' + + + जो हो इस विषय में सन्देह नहीं कि गोस्वामी हितहरिवंश हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और शास्त्र-ज्ञान में दक्ष थे।[1]

'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रंथ में द्विवेदी जी लिखते हैं :

(ख) 'राधावल्लभी सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म गौड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। इस सम्प्रदाय के भक्त पं० गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म संवत् १५३० (सन् १४७३ ई०) में माना है। परन्तु ओरछा नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ने संवत् १६२२ (अर्थात् १५६५ ई०) के आसपास इनसे दीक्षा ली थी। इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म इसके पश्चात् होना उचित समझा है। शुक्लजी के अनुसार यह समय संवत् १५५९ (सन् १५०२ ई०) होना चाहिए + + +। गौड़ीय सम्प्रदाय के महात्मा श्री भगवत मुदित जी ने अपने 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रंथ में बताया है—

> 'जे आए हरिवंश पथ, सिद्ध भए जु अनन्य।
> भगवत तिनकी परिचयी बरणों होंहि सुधन्य॥'
> 'श्री हरिवंश सुधर्म दृढ़ भगत् किया ते एँड़।
> श्री राधावल्लभ इष्ट भजि, तोरी प्राकृत मेंड़॥'

इससे भी सिद्ध होता है कि श्री हितहरिवंशजी का सम्प्रदाय स्वतंत्र है। उनके इष्ट राधावल्लभ हैं और वे प्राकृत विधि निषेध की व्याख्या को नहीं मानते।[2]

इसके आगे श्री द्विवेदी जी ने निम्बार्क सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय में मौलिक सिद्धान्त-भेद का वर्णन श्री किशोरीशरण अलि के कथन के आधार पर किया है।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४।
२. हिन्दी साहित्य ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १६५-१६६ तक।

विवेचन :—(क) भाग में द्विवेदी जी ने जो लिखा है उसका खंडन स्वयं अपनी दूसरी पुस्तक में (जिसका प्रकाशन सं० २००६ में हुआ) कर दिया है। सनकादि सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधावल्लभ को उन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखा था जो भ्रामक था और इस भूल को उन्होंने दूसरी पुस्तक में स्वीकार कर लिया। जन्म सम्वत् आदि के विषय में भी उन्होंने आचार्य शुक्ल की तिथि की ओर ही अपना झुकाव रखा है। निम्बार्क सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धान्तों में भेद सिद्ध करने के लिए उन्होंने लिखा है कि 'इसलिए राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश को इस सम्प्रदाय (निम्बार्क) से सम्बद्ध समझना इतिहास-विरुद्ध भी है।'

८—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त

'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक शोध ग्रंथ में डाक्टर गुप्त ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का विस्तार से वर्णन किया है। इस ग्रंथ में सबसे पहले पृष्ठ ४० पर ब्रजमंडल के कृष्णभक्ति के सम्प्रदायों का उन्होंने नामोल्लेख मात्र किया है जिसमें राधावल्लभ को एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में परिगणित किया गया है।[1]

'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' शीर्षक से इस ग्रंथ में डा० गुप्त जी ने जो ज्ञातव्य बातें लिखी हैं वे संक्षेप में इस प्रकार है :

'अष्टछाप कवियों के समकालीन ब्रज में कृष्णपूजा का एक सम्प्रदाय राधावल्लभीय भी प्रचार पा रहा था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री स्वामी हितहरिवंश जी थे। राधावल्लभ की पूजा-विधि चलाने से पहले श्री हितजी का नाम हरिवंश था। ये सहारनपुर जिले के देववन गांव के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्री व्यास था। इनके वंशज आजकल देववन और वृन्दावन दोनों स्थानों पर रहते हैं। इनका जन्म संवत १५५९ वि० में हुआ था। ये पहले माध्व सम्प्रदायी थे बाद को ये निम्बार्क स्वामी की श्रीकृष्ण भक्ति-पद्धति का अनुसरण करने लगे।...... संवत् १५९१ वि० में इस मन्दिर का प्रथम 'पट-महोत्सव' हुआ और कुछ समय बाद इन्होंने अपनी चलाई हुई कृष्णभक्ति पद्धति का प्रचार करना आरम्भ किया। इन्होंने कर्म और ज्ञान के साधनों का खंडन कर प्रेमभक्ति-मार्ग का प्रचार किया और राधा और कृष्ण दोनों की युगल उपासना का उपदेश दिया।[2]

"जैसा कि पीछे कहा गया है, यह सम्प्रदाय केवल एक साधन मार्ग था, तात्त्विक सिद्धान्त की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत आने वाला कोई वाद नहीं था। इसके अनुयायियों ने भी बहुत काल तक इस सम्प्रदाय के तात्त्विक सिद्धान्तों की ओर ध्यान नहीं दिया।[3]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय। डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४०।
२. " " " " पृष्ठ ६४।
३. " " " " पृष्ठ ६५

"इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने प्रेम-शृङ्गार की केवल संयोग लीलाओं का ही वलम्बन किया है, वियोग भावना इस सम्प्रदाय में नहीं है। राधाकृष्ण की कुजलीला भवन के आनन्द को इस सम्प्रदाय में 'परम रस-माधुरी भाव' कहा गया है। इस सम्प्रदाय भक्त कवियों ने इस माधुरी भाव का चित्रण ब्रजभाषा पदों में बहुत किया है। अष्टछाप भक्तों ने भी इस प्रकार का वर्णन किया है। संभव है, हितजी के शृङ्गारिक पदों का भाव अष्टछाप पर भी पड़ा हो।"[1]

विवेचन : डा० गुप्त के उल्लेख से पहली बात तो यह सिद्ध है कि चतु.सम्प्रदाय के बाद 'जो पृथक् सम्प्रदाय ईसा की १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं तक बने' उनमें राधावल्लभ सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है। डा० गुप्त इस सम्प्रदाय को एक स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

दूसरी बात उन्होंने लिखी है कि 'हितजी पहले माध्व सम्प्रदायी थे बाद में निम्बार्क स्वामी की कृष्णभक्ति पद्धति का अनुसरण करने लगे।' इस स्थापना का कोई प्रमाण लेखक महोदय ने नहीं दिया। माध्व सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय की सेवा-पूजा विधि, इष्टदेव सम्बन्धी मान्यताएँ, राधा-विषयक विचार-सरणि पर यदि लेखक ने विचार किया तो निश्चय ही वे राधावल्लभ सम्प्रदाय को उन दोनों से किसी प्रकार भी सम्बन्धित न पाते। स्पष्ट है कि परम्परा से जो किंवदन्तियाँ प्रचार पा गई हैं उन्हीं को विद्वान् लेखक ने भी स्वीकार कर लिया है। यथार्थ में इन दोनों सम्प्रदायों का राधावल्लभ सम्प्रदाय के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने इन दोनों सम्प्रदायों की विचारधारा का कई स्थल पर वर्णन करके राधावल्लभ सम्प्रदाय को स्वतंत्र सम्प्रदाय सिद्ध किया है। पुनरावृत्ति को बचाने के लिए उन तर्कों और प्रमाणों का यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक है।

डा० गुप्त इस सम्प्रदाय को 'साधनमार्ग' स्वीकार करते हैं। यथार्थ में तात्त्विक दृष्टि से किसी दार्शनिक वाद का खंडन-मंडन इस सम्प्रदाय में नहीं हुआ अतः 'साधनमार्ग' शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुचित नहीं है। किन्तु साधना की कठोरता भी इस मार्ग में स्वीकार नहीं की जाती। राधा के चरणों में अनन्य भाव से स्वार्पण ही इस मार्ग की साधना कही जा सकती है जो निर्गुण या हठयोग मार्गियों से सर्वथा भिन्न है। यह ठीक ही है द्वैत या अद्वैत की जैसी मीमांसा और व्याख्या चतु.सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई वैसी कोई व्याख्या इस सम्प्रदाय में नहीं है और इसी कारण यह अपना स्वतंत्र स्थान भी बना पाया है। डा० गुप्त हितजी के शृङ्गारिक पदों का प्रभाव अष्टछाप के कवियों पर मानते हैं। निस्सन्देह माधुर्यभाव की शृङ्गारपरक व्यंजना में राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का सर्वाधिक प्रभाव रहा होगा और समसामयिक ब्रजभाषा कवियों पर उनकी माधुर्यमयी अभिव्यक्ति की छाप पड़ी होगी। हिन्दी के इतिहासग्रंथों में सबसे अधिक प्रामाणिक, वैज्ञानिक और व्यापक रूप से डा० गुप्त ने ही इस सम्प्रदाय पर लिखा है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६६।

९—हिंदी साहित्य एक अध्ययन : डा० रामरतन भटनागर

'हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन' नामक इतिहास ग्रंथ में चतुःसम्प्रदायों का वर्णन करते हुए सनकादि सम्प्रदाय (निम्बार्क) के अन्तर्गत श्री हितहरिवंशजी का डा० भटनागर ने उल्लेख किया है। वे लिखते हैं :

'हाँ, हितहरिवंश अवश्य निम्बार्क मतावलम्बी कहे जाते हैं। सम्प्रदाय की उपासना धारा से थोड़ा मतभेद देखकर १५२५ (?) के लगभग हितहरिवंश ने अपने राधावल्लभी सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय (?) की वृन्दावन में स्थापना की। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र वृन्दावन में राधावल्लभ का मन्दिर है। हितहरिवंश के मत में राधारानी महाशक्ति हैं और स्वामिनी हैं। भगवान् कृष्ण उनके आज्ञानुवर्त्ती हैं। भगवान् कृष्ण राधारानी की आज्ञा से ही विश्व की सृष्टि, भरण और हरण करते हैं। हितहरिवंश जी की तीन पोथियाँ राधासुधानिधि (संस्कृत), ८४ पद (व्रज) और स्फुट पद इस सम्प्रदाय के आधार ग्रंथ हैं।'[1]

विवेचन : डा० भटनागर के उपर्युक्त वर्णन में कई भ्रान्तियाँ हैं। पहली त्रुटि अंग्रेजी की पुस्तकों तथा भ्रान्त किंवदन्तियों पर आश्रित है। किस आधार पर लेखक ने हितजी को निम्बार्क कहा है? १५२५ (ईस्वी सन् है या विक्रम सम्वत् ?) के लगभग तो हरिवंश जी का जन्म भी नहीं हुआ था। फिर उन्होंने इस सन् या सम्वत् में अपना स्वतंत्र मत कैसे स्थापित कर लिया। जन्म सम्वत् १५५९ है। सम्भवतः लेखक ने ईस्वी का ही ध्यान रखकर १५२५ लिखा है। ईस्वी सन् की दृष्टि से हितजी का जन्म १५०२ में हुआ था। वे वृन्दावन में ईस्वी सन् १५३३ में पधारे। इससे पूर्व उन्होंने राधावल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना कब और कहाँ की—लेखक की इस स्थापना का भी कोई प्रमाण नहीं है। इतिहास लेखकों को कम से कम सन्-सम्वत् की मोटी-मोटी बातें तो ध्यान में रखनी चाहिएँ। वृन्दावन आने से पूर्व सम्प्रदाय की चर्चा ही नहीं आती फिर यह सब किस आधार पर लिखा गया। यदि ईस्वी सन् १५२५ न मानकर विक्रम सं० १५२५ मानें तो हितहरिवंशजी का जन्म भी उस समय नहीं हुआ था। इतना ही नहीं, लेखक ने एक और भयंकर भूल इस प्रसंग में की है। वे हितहरिवंश जी को सखी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक भी कहते हैं। कदाचित् लेखक को सखी सम्प्रदाय के विषय में भारी भ्रम है। स्वामी हरिदास जी के सखी सम्प्रदाय को ही शायद हरिवंशजी नाम से लिख दिया गया है। तीसरी बात किसी सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र उसका मन्दिर नहीं होता अपितु स्थान विशेष होता है। गुजरात और व्रजमंडल राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र कहे जा सकते हैं। वैसे छत्तीसगढ़, विन्ध्यप्रदेश, तथा मध्यप्रदेश के सागर, जबलपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं। जिस ढंग से लेखक ने हितहरिवंश जी तथा उनके सम्प्रदाय का परिचय दिया है वह इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप में इस सम्प्रदाय के साहित्य और इतिहास से परिचय नहीं किया।

---

१. हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन—लेखक डा० रामरतन भटनागर, पृष्ठ ८४-८५।

१०—हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास : श्री चतुरसेन शास्त्री

श्री चतुरसेन शास्त्री ने एक सात सौ पृष्ठ का विशालकाय 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' लिखा है। इस ग्रंथ में लेखक ने 'हितहरिवंश' शीर्षक से सामान्य परिचय रूप में सात-आठ पंक्तियों में जो लिखा है वह सम्प्रदाय की साधना पर घातक प्रहार होने के कारण ध्यान देने योग्य है—

'हितहरिवंश, ई० सन् १५०३। ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। इस सम्प्रदाय में वाममार्ग का प्राचुर्य था। अष्टछाप के कवियों के उपरांत भक्ति क्षेत्र में इनका ही स्थान है। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे और ब्रज भाषा में बड़ी सरस और सुन्दर रचनाएँ करते थे। इनकी रचना में मौलिकता भी खूब है। इनके पदों का संग्रह 'हित चौरासी' नाम से विख्यात है। अपनी रचना की मधुरता के कारण ये कृष्ण की वंसी के अवतार कहे जाते हैं। इन्होंने कृष्ण भगवान् की रासलीला और माधुरी मूर्ति का सुन्दर चित्रण किया है।'[1]

विवेचन : श्री चतुरसेन शास्त्री के मत का उल्लेख हमने यहाँ एक विशेष प्रयोजन से किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में इनकी रचना का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है फिर भी किसी भक्ति सम्प्रदाय के विषय में भ्रांति उत्पन्न करने में इस प्रकार की रचनाओं से योग मिलता है। शास्त्री जी को 'इस सम्प्रदाय में वाममार्ग का प्राचुर्य' कहाँ और किस आधार पर लक्षित हुआ—उन्होंने लिखा नहीं। शृंगारपरक भक्ति मार्गों में रति-स्थायी के द्वारा सांसारिक भोग-विलास की भावनाओं के वर्णन को उन्नयन का मार्ग स्वीकार किया जाता है। भक्त की भावना आराध्यदेव में पूज्य बुद्धि से निर्भर रहती है। किसी लौकिक काम-वासना की तृप्ति के लिए प्रेम और शृंगार लीलाओं का वर्णन नहीं किया जाता। इस प्रकार के आरोपात्मक निष्कर्ष निकालने से जो भ्रांतियाँ जनसाधारण में प्रचलित होती हैं उसका निराकरण करने में कई गुनी शक्ति और समय लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्री जी ने वामाचार और प्रेम-शृंगार को एक ही मानकर इस सम्प्रदाय को वाममार्गी कहने का साहस किया है। माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में प्रेम, काम और शृंगार की स्थिति लौकिक वामाचार से सर्वथा पृथक् परिष्कृत भाव भूमि पर स्थिर होती है जब तक इस तथ्य को हृदयंगम नहीं किया जायगा, तब तक माधुर्य भक्ति के विषय में इस प्रकार के निराधार प्रतिवाद फैलते रहेंगे।

११—सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंशलाल शर्मा

'सूर और उनका साहित्य' शोध ग्रन्थ में 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' का वर्णन करते हुए डा० शर्मा लिखते हैं—

'युगल उपासना का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय राधावल्लभी सम्प्रदाय कहा जा सकता

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, पृष्ठ १६८।

है जिसके प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश थे। इस सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्तिभावना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतंत्र है। इस सम्प्रदाय का प्रधान रासभाव, कुंज केलि, दम्पति की मनवारी, अर्थात् रासविहार, नित्य निकुंज का ध्यान तथा राधिका जी को इष्टदेवी के रूप में मानना ही विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण इस सम्प्रदाय के इष्टदेव नहीं। केवल राधिका के अनुराग के कारण उपास्य हैं। स्वयं उनके लिए राधा की सखियाँ और दासियाँ भी अनुनय विनय के पात्र हैं। इस सम्प्रदाय में स्वकीया अथवा परकीया को कोई स्थान नहीं मिला है।'[1]

विवेचन—डा० शर्मा ने एक विशिष्ट तथ्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि 'इस सम्प्रदाय की भक्ति भावना वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतंत्र है। यथार्थ में यही तथ्य इस सम्प्रदाय का स्वतंत्र अस्तित्व घोषित करने के लिये पर्याप्त है। डा० शर्मा ने राधाकृष्ण की स्थिति पर भी संक्षेप में किन्तु समुचित प्रकाश डाला है। समस्त संदर्भ को पढ़ने से यही विदित होता है कि लेखक महोदय इस सम्प्रदाय को स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

१२—हिंदी विश्वकोष

हित हरिवंश शब्द के अन्तर्गत—'हित हरिवंश गोस्वामी—एक विख्यात हिन्दी कवि। ये हरिराम शुक्ल बनाम व्यास स्वामी के पुत्र तथा नरवाहन आदि कितने ही हिन्दी कवियों के गुरु थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में 'राधासुधानिधि' और हिन्दी में 'हित चौरासी धाम' की रचना की। १६वीं सदी के मध्य भाग में ये विद्यमान थे। इनके साधु चरित्र के लिए सभी इनकी बड़ी श्रद्धाभक्ति करते थे।'[2]

हिन्दी साहित्य शब्द के अन्तर्गत श्री हित हरिवंश जी का वर्णन—"अष्टछाप के बाहर रहकर भक्तिकाव्य की रचना करने वालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं। क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन सम्प्रदायों के स्रष्टा हुए। हित हरिवंश जी माध्व और निम्बार्क मतों से प्रभावित थे पर उन्होंने राधा की उपासना ग्रहण कर राधावल्लभी सम्प्रदाय की सृष्टि की। इनके राधासुधानिधि और हित चौरासी नामक ग्रन्थ के सभी पद अत्यन्त कोमल और सरस भावापन्न हैं इनके शिष्यों में ध्रुवदास जी और व्यास जी प्रधान हैं जिनकी रचना से हिन्दी साहित्य की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।[3]

वैष्णव शब्द के अन्तर्गत राधावल्लभी शब्द—

हरिवंश गोस्वामी इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं। इन्होंने वृन्दावन में १६४१ सम्वत में राधावल्लभ मठ खोला। इस सम्प्रदाय में श्रीमती राधिका ही प्रधान उपास्य है। श्री

१. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ १५४–१५६।

२. हिन्दी विश्वकोष (कलकत्ता) अक्षर ह, पृष्ठ ३३०।

३. हिन्दी विश्वकोष (कलकत्ता) अक्षर ध, पृष्ठ २७१।

ावन में इस सम्प्रदाय का मठ है। इनके आचरण वैष्णव विह्लादि भी वैष्णवों जैसे । 'सेवा सखी वाणी' नामक ग्रन्थ में इसकी उपासना और क्रिया-कलापादि का विशेष वरण लिपिबद्ध है। इस सम्प्रदाय की और भी अनेक शाखाएँ हैं। व्रज भाषा में इसके अनेक थ हैं।"

विवेचन—हिन्दी विश्व कोष के सम्पादकों ने कोई नवीन सूचना नहीं दी है। यह क ही है कि इनकी दृष्टि में भी राधावल्लभ वैष्णव धर्म का एक नवीन सम्प्रदाय है। न्तु राधावल्लभ मठ स्थापित करने का सम्वत् अशुद्ध है। सम्वत् १५९१ में पाटोत्सव ग्रा था तभी मन्दिर की स्थापना हुई। 'सेवा सखी वाणी' ग्रन्थ हमारे देखने में नही ाया। इसका उल्लेख अंग्रेज लेखकों ने भी किया है। इस सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ किस ाधार पर लिखी गई हैं? अभी तक किसी शाखा का पता नहीं चला है। वृन्दावन में जो न्य रसमार्गी भक्त हैं वे अपने को स्वतन्त्र ही मानते हैं। कदाचित् हरिदासी (टट्टी ंस्थान) आदि को इन्होंने भ्रमवश शाखा कह दिया है किन्तु स्वामी जी का सम्प्रदाय सर्वथा वतंत्र ही है।

१३—मध्यकालीन प्रेमसाधना : श्री परशुराम चतुर्वेदी

'गोस्वामी हित हरिवंश राधावल्लभीय सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य थे। वे अपनी रचनाओं के माधुर्य के कारण श्रीकृष्णचन्द्र की वंशी के अवतार भी माने जाते हैं। उनका पूर्व नाम केवल हरिवंश था और उनका जन्म सम्वत् १५५९ चैत्र वदी एकादशी के दिन मथुरा से चार मील दक्षिण की ओर वाद ग्राम नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता का नाम व्यास मिश्र था। वे गौड़ वशीय ब्राह्मण थे और उनकी माता का नाम तारावती था। बाल्यावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त उनका प्रायः सम्पूर्ण जीवनकाल ब्रजमंडल के ही अन्तर्गत व्यतीत हुआ था। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे सहारनपुर जिले के देववन गाँव में भी रहे थे और उनके वंशज आजकल देववन एवं वृन्दावन में रहा करते हैं। कहते हैं कि पहले ये किसी माध्व सम्प्रदायानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे और फिर निम्बार्क मतानुवर्ती हो गये थे। परन्तु श्री राधिका द्वारा स्वप्नकाल में मंत्र ग्रहण कर लेने के कारण आगे चलकर इन्होंने अपना एक नवीन सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय की स्थापना के उपलक्ष्य में इन्होंने अपने इष्टदेव श्री राधावल्लभ की मूर्ति सं० १५८२ में पधरायी और सम्वत् १५९१ में इन्होंने उसका सर्वप्रथम पाटोत्सव किया। तब से ये निरन्तर वृन्दावन में ही विरक्त होकर निवास करने लगे तथा वहीं से कुछ दिनों के अनन्तर इन्होंने अपने मत का प्रचार भी आरम्भ कर दिया।"[१]

विवेचन : श्री चतुर्वेदी जी की पुस्तक सन् १९५२ में प्रकाशित हुई है। अतः इसमें अधिक व्यापक और प्रामाणिक विवरण का होना स्वाभाविक है। तेरह पृष्ठों में लेखक ने हरिवंशजी के काव्य-सौष्ठव पर प्रकाश डाला है। जीवन-वृत्त आदि प्रायः पूर्ववत् ही लिखा है।

---

१. मध्यकालीन प्रेमसाधना—लेखक श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ११३

गुरु शिष्य वाली बात को आपने भी दुहराया है। उस पर अपना अभिमत नहीं लिखा। हरिवंशजी के विरक्त होने की बात का आधार कदाचित् भक्ति-भाव ही है, अन्यथा हित-हरिवंश जी आजीवन सच्चे गृहस्थ ही बने रहे। विरक्त रूप में उन्होंने कोई साधना भी प्रचलित नहीं की। अपनी ५१ वर्ष की आयु में वे केवल १६ वर्ष वृन्दावन में रहे थे, शेष जीवन तो देवबन्द (सहारनपुर) में कटा था। पाटोत्सव आदि की तिथि ठीक लिखी है। चतुर्वेदी जी ने ही सबसे पहली बार हितजी के काव्य पक्ष पर लेख लिखा है।

१४—भागवत सम्प्रदाय : श्री बलदेव उपाध्याय

"राधावल्लभीय सम्प्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृन्दावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत की, परन्तु वस्तुतः यह एक स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय है जो ठेठ व्रजमंडल में ही उत्पन्न हुआ और यहीं खूब फूला-फला। इसके अनुयायियों का प्रधान अखाड़ा आज भी व्रजमंडल में ही है। सम्प्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है। नाभादासजी ने भी इस पंथ की सेवा-पद्धति या रसचर्या को साधारण मानवों के लिए नितान्त दुष्कर तथा कठिन बतलाया है।

इस सम्प्रदाय को जन्म देने वाले महात्मा श्री हित हरिवंशजी थे जो वैष्णव मतानुसार श्री कृष्णचन्द्र की मुरली के अवतार माने जाते हैं। उनकी कविता इतनी सरस तथा स्निग्ध है कि आश्चर्य नहीं भक्तों के कर्ण-कुहरों में वह वंशी निनाद के समान ही सुधारस बरसाती है। इन महापुरुष के जन्म स्थान तथा आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में अभी तक ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग इन्हें सहारनपुर जिले के देवबन्द नामक स्थान का निवासी मानते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। इनके पिता देवबन्द में रहते जरूर थे किन्तु इनका जन्म हुआ था व्रजमंडल, मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित बाद नामक ग्राम में, क्योंकि गोसाईं के अनन्य शिष्य सेवकजी इसके प्रमाण हैं।"[1]

उपर्युक्त विवरण के बाद जन्मतिथि का उल्लेख है जिसमें भगवत मुदित की वाणी को प्रमाण मानकर १५५९ सम्वत् को ही स्वीकार किया गया है। इस ग्रंथ में सबसे पहली बार राधावल्लभ सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों पर विवेचनात्मक दृष्टि से लिखा गया है। यह ग्रंथ पर्याप्त जानकारी और साधना-पद्धति की विशिष्ट भावनाओं के आधार पर लिखा गया है। श्री व्यास जी, ध्रुवदासजी आदि पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। गुरु-शिष्य परम्परा भी सबसे पहली बार इसी ग्रंथ में पर्याप्त पूर्णता के साथ दी गई है। श्री गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'हित चरित्र' में भी हित हरिवंशजी के बाद की परम्परा नहीं है, किन्तु इस ग्रंथ में अद्यतन परम्परा तक का उल्लेख है।

सिद्धान्त विवेचन में 'प्रेम साधना में जीव का भावमय स्वरूप' लिखकर जीव के साधन देह और सिद्ध देह का वर्णन शास्त्रीय शैली से तथा प्रेम सिद्धान्त का अवगाहन साम्प्रदायिक ग्रंथों से लेखक ने किया है। "निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्री हित हरिवंशजी

---

1. भागवत सम्प्रदाय, लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४२१-२२

ृदावन रस के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितान्त गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है ौर इसीलिए यहाँ न तो नन्द, यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है ौर न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है।' इस प्रकार निकुंज रस पर भी विचार व्यक्त किये ये हैं। निस्सन्देह इस ग्रंथ के लेखक को सैद्धान्तिक विवेचन का प्रथम श्रेय प्राप्त होता है।[1]

विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उल्लेख

बंगला—हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त बंगला और गुजराती के धार्मिक ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है। बंगला भक्तमाल की चर्चा हम 'हित हरिवंश चरित्र' प्रकरण में विस्तार से करेंगे। बंगला की एक और प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' है। इसके लेखक अक्षयकुमारदत्त हैं। इस पुस्तक के प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) में राधावल्लभी सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'राधाकृष्ण की उपासना करने वाले राधावल्लभी सम्प्रदाय में युगल मूर्ति की उपासना का विधान है। राधा की उपासना अत्यन्त आधुनिक है इसमें कोई सन्देह नहीं। बंगाल की राधाकृष्ण उपासना और राधावल्लभी सम्प्रदाय की राधाकृष्ण की उपासना में कोई भेद है या नहीं यह निर्णय करना कठिन है। साधारणत. दोनों के प्रवर्त्तक आचार्यों का भेद ही इनका भेद प्रतीत होता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में हरिवंश को गुरु माना जाता है; उन्हीं ने वृन्दावन में अपना मठ स्थापित किया और एक मन्दिर भी निर्माण कराया। इस मन्दिर के द्वार पर लिखा है कि संवत् १६४१ में यह मन्दिर बनवा कर राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित की। राधिका के माहात्म्य वर्णन करने के लिए हरिवंशजी ने राधासुधानिधि नामक ग्रंथ भी लिखा। ब्रजभाषा 'सेवा-सखी वाणी' ग्रंथ में इस सम्प्रदाय की उपासना पद्धति तथा अन्य क्रियाकलाप का विस्तार से वर्णन हुआ है।[2]

१—भागवत सम्प्रदाय—लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ६५४-६५५

२—राधाकृष्ण उपासक राधावल्लभी दिगेर धर्मतत्व आर एक प्रकार जुगल मूर्तो (उपासना) राधार आराधना अत्यन्त आधुनिक तहार सन्देह नाइ। बंगला देशीय राधाकृष्ण उपासक दिगेर सहित राधावल्लभी दिगेर किछू विशेष आकांक्षिना निर्वाचना करा सुकठिन। बोध होय आोइ उभयेर परस्पर विभिन्नता केवल उहादेर स्वतंत्र गुरु स्वीकार मात्रेयो पर्याप्त होय। राधावल्लभीय वैष्णवरा वंशपरम्परागत सुप्रसिद्ध गोस्वामि दिनके गुरु रूपे अंगीकार न करिया हरिवंश नामक एक व्यक्ति के तहाँ देर प्रवर्त्तन बोलिया स्वीकार करेन। तिनि वृन्दावने अवस्थित होइया तथा एक मठ स्थापित और एक मन्दिर प्रस्तुत करेन ओइ द्वारा परि लिखिताछे 'हरिवंश १६४१ संवते एइ मन्दिर प्रस्तुत कोरिया तहा ते श्री राधावल्लभोर प्रतिमूर्ति प्रतिष्ठित करेन। राधिकार माहात्म्य विषयक 'राधासुधा निधि' नामे जे एक खनि क्षुद्रसंस्कृतग्रन्थ दृष्टि होइया थाके। तहानु हरिवंशेरकृत बोलिया प्रसिद्ध आछे। ब्रजभाषा लिखित 'सेवासखीवानी' नामक एक ग्रन्थ'ये सम्प्रदायेर उपासना क्रियाकलापादि उपाख्यानादोर सविस्तरसन्निवेशित आछे।'

—भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय (बंगला प्र० भाग)। लेखक अक्षयकुमार दत्त।
पृष्ठ २२३-२२६।

वस्तुतः यह वर्णन विलसन की अंग्रेजी पुस्तक का रूपान्तर मात्र है। श्री दत्त महोद ने अपनी जानकारी के आधार पर कुछ नहीं लिखा है। यदि अपनी जानकारी का प्रयो किया होता तो बंगाल के चैतन्य मत की परकीया राधा और राधावल्लभीय सम्प्रदाय के राधा विषयक मान्यता में अन्तर देख लेना कठिन नहीं था। राधाकृष्ण की जुगल उपासन का जैसा विधान बंगाल के चैतन्य मत में है राधावल्लभ सम्प्रदाय में वैसा कोई रूप नहीं है। राधा के विषय में विस्तार से दो पृष्ठों में और जो कुछ लिखा है वह भी प्रोफेसर विलसन के आधार पर ही ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के श्लोकों का संक्षिप्त अनुवाद मात्र है। अंग्रेजों की पुस्तकों को प्रमाण मानकर लिखने से जो हानि-लाभ सम्भव है वे सब इसमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास : श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री

गुजराती

गुजराती का यह ग्रंथ अपेक्षाकृत अधिक सूचनाएं प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह भी अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर ही लिखा गया प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' शीर्षक के अन्तर्गत जो कुछ लिखा है उसका सारांश इस प्रकार है :

'राधावल्लभी सम्प्रदाय के स्थापक आचार्य का नाम हितहरिवंश जी है। वे श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार माने जाते हैं। साधु सम्प्रदायों में हित जी को निम्बार्क मत का अनुयायी समझा जाता है क्योंकि इनकी राधाकृष्ण-विषयक मान्यता में साम्य है। हितहरिवंशजी का जन्म सम्वत् १५५९ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ, यह सम्प्रदाय की सुप्रसिद्ध मान्यता है। मथुरा से चार मील दक्षिण में स्थित वाद गाँव में आपका जन्म हुआ। इनके पिता व्यास जी (केशवदास मिश्र) गौड़ ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम तारावती था। आपके जीवन का अधिकांश समय व्रजमंडल में ही व्यतीत हुआ। वे पहले माध्व मतानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। परन्तु ऐसा कहा जाता है कि स्वप्न में राधा जी से नवीन मंत्र लेकर आपने अपना नया सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। + + गोस्वामी हितहरिवंशजी ने 'राधासुधानिधि' नामक एक ग्रंथ संस्कृत में १७० श्लोकों में लिखा। पुनः 'हित चौरासी' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक व्रजभाषा (हिन्दी) में लिखी। इस ग्रंथ में सिद्धान्त विषयक बातें कम हैं। राधाकृष्ण के प्रेम का वर्णन अधिक हुआ है। गोस्वामी हितहरिवंश राधा को स्वकीया मानते हैं। इस सम्प्रदाय मन्दिर उत्तरी भारत में अधिक हैं, मुख्य धाम वृन्दावन में है।''[१]

उपर्युक्त मन्तव्य में कोई नवीन सूचना न होने पर भी पूर्ववर्ती लेखकों के आधार पर लेखक ने सारमात्र दिया है। जो कुछ इसमें कहा है उसका खंडन-मंडन हम पहले किसी न किसी रूप में कर चुके हैं, अतः इस प्रसंग में विवेचन अनावश्यक विस्तार ही होगा।

---

१. वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)। लेखक श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, पृष्ठ ३१४-१५।

तृतीय अध्याय

सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश

जन्मकालीन परिस्थितियाँ

श्री हितहरिवंशजी का उद्भव-काल भारतीय इतिहास में मध्ययुग के नाम से विख्यात है। हिन्दू-राज्य-सत्ता के पतन के बाद विभिन्न वंशों के मुस्लिम आक्रान्ताओं ने उत्तरीय भारत पर आक्रमण किये और दिल्ली को अपनी राजधानी बनाकर इस देश पर शासन किया। ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्री हितहरिवंशजी का जन्म हुआ। उस समय दिल्ली की गद्दी पर पठान वंश का शासक सिकन्दर लोदी विराजमान था। राजनैतिक परिस्थिति पर विचार करने के लिये सिकन्दर लोदी के शासन काल की परिस्थितियाँ ही सबसे पहले हमारे सामने आती हैं। सिकन्दर लोदी के विषय में प्रसिद्ध है कि उसका शासनकाल हिंदू जनता के लिये कष्ट, यातना और अत्याचार का काल था। हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया जाता था और उनके शोषण एवं उत्पीड़न के लिये उन पर जजिया कर लगाया गया था। हिन्दू जनता शांतिपूर्वक अपने धार्मिक उत्सव-समारोह सम्पन्न नहीं कर सकती थी; उसे पूजा-आराधना की भी स्वतंत्रता नहीं थी। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों का खंडन एक सामान्य बात थी। सिकंदर लोदी स्वयं कठोर और क्रूरमना व्यक्ति था अतः हिन्दू जनता के प्रति उसके मन में किसी प्रकार का स्नेह या सद्भाव न था। फलत. राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत की हिंदू जनता में शांति, संतोष और सुख का अभाव निरन्तर वर्तमान था। तुगलक, सैयद, लोदी तथा मुगल खानदान के अधिकांश शासकों की नीति क्रूरता, धर्मांधता और पक्षपातपूर्ण थी। शेरशाह सूरी और फिरोज तुगलक ने अपने समय में इस नीति में अवश्य कुछ परिवर्तन किया था जिसका हिन्दू जनता पर स्वस्थ प्रभाव पड़ा। धार्मिक दृष्टि से तो ये भी उदार न थे किन्तु सामाजिक दृष्टि से जनकल्याण के कार्यों के प्रति रुचि होने से हिन्दू जनता भी इनके सार्वजनिक हित के कार्यों से लाभान्वित होती ही थी। शेरशाह सूरी से पहले बाबर और हुमायूँ ने राजनैतिक दृष्टि से कोई ऐसा कार्य नहीं किया था जो हिन्दुओं में विश्वास, निर्भीकता और सद्भाव उत्पन्न करता अतः

इन दोनों मुगल शासकों का राज्यकाल भी अधिक शान्ति और सन्तोष की सृष्टि न कर सका।[1]

यदि श्री हितहरिवंशजी के जीवनकाल पर ही दृष्टि रखकर तत्कालीन राजनैतिक चेतना का आकलन किया जाय तो अर्द्ध शताब्दी के इस अन्तराल में आठ शासक दिल्ली की गद्दी पर बैठे और प्रायः सभी के शासनकाल में युद्ध और संघर्ष का क्रम सतत चलता रहा। युद्ध और संघर्ष का वातावरण धार्मिक अभ्युत्थान के लिये स्वभावतः घातक होता है और ऐसे काल में उच्चकोटि का मनन-चिन्तन साधारणतः सम्भव नहीं होता, किन्तु आश्चर्य का विषय है कि मध्ययुगीन भक्ति-काव्य के उत्कर्ष पर पहुँचने का यही काल है। इस विपर्यय का कारण स्पष्ट रूप से यही है कि राजनीति के विषाक्त वातावरण से ऊब कर उस काल के साधुवृत्ति-मनस्वी चिन्तकों ने बाह्य संघर्ष से मुख फेर कर भगवान् की आराधना में ही अपना कल्याण समझा। एक ओर देश के शासन की बागडोर एक हाथ से दूसरे हाथ में आ-जा रही थी तो दूसरी ओर सन्तों की वाणी से भगवान् की उपासना-आराधना के विभिन्न मार्ग और रूप निखार पा रहे थे। इस काल के महात्माओं ने राजनीति से प्रायः दूर रहने में ही अपना हित समझा था अतः उनके ग्रन्थों में राजनीति का वर्णन नहीं के बराबर है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में मुसलमानों के आक्रमण का संकेत किया है। उन्होंने सम्पूर्ण देश को पीड़ित समझकर भगवान् कृष्ण की शरण जाने की प्रार्थना की है।[2] श्री हरिवंशजी ने तो अपने काव्य में राजनीतिपरक कोई अभिव्यक्ति किसी भी रूप में नहीं की है। हाँ, उनके समसामयिक तथा उनके सच्चे अनुयायी श्री सेवकजी ने मुस्लिम आतंक और अत्याचार का आभास अपनी वाणी में दिया है।[3] श्री व्यासजी और ध्रुवदासजी की वाणी में भी मुस्लिम शासकों के अन्याय-अत्याचार का संकेत

1—History of Mediæval India—Dr. Ishwari Prasad, Page 466-470.

२. 'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
गंगादि तीर्थ वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधि देवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

कृष्णाश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक नं० २, ३
'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ३० से उद्धृत।

३—उदवस विश्व भयो सब देस, धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बढ़े।
सब जन करहि आधुनिक धर्म, वेद विहित जाने नहि कर्म।
मर्म भक्ति को क्यों लहैं॥
धर्म रहित जानी सब दुनी, म्लेच्छ भार दु:खित मेदिनी।
धनी और दूजो नहीं॥
—सेवक वाणी, श्री हितयश विलास प्रकरण:, पद ४-५।

मिलता है ।[1] इन वर्णनों से स्पष्ट है कि राजनैतिक दृष्टि से यह काल उत्कर्ष और अभ्युत्थान का न होकर हिन्दू-संस्कृति और धर्म के लिये पतन तथा विनाश का काल था । ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी तत्कालीन सन्तों ने अध्यात्म, धर्म और संस्कृति की ओर अग्रसर करने वाले भक्ति-पथ को नूतन आलोक से प्रशस्त किया यह भारतीय चिन्ताधारा की विशेषता ही समझनी चाहिये । प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विचलित न होने वाले साधु-सन्त ही धर्म की रक्षा में समर्थ होते हैं यह इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है । सम्राट् अकबर के शासन काल में मुस्लिम नीति में कुछ परिवर्तन हुआ था । किन्तु अकबर का शासन काल श्री हरिवंशजी के निधन के बाद प्रारम्भ होता है ।

सामाजिक परिस्थिति पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दू समाज की रीति-नीति तथा वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का प्रश्न सबसे पहले आता है । पठान वंश के शासन काल में जो अव्यवस्था और अराजकता देश में फैल गई थी उसने हिंदू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था पर गहरा आघात किया । मुस्लिम शासकों के बल-प्रयोग द्वारा बरबस धर्म परिवर्तन के लिये विवश किये गये हिंदुओं में वर्णसंकरता आना स्वाभाविक था । एक ओर बल प्रयोग तथा प्रलोभन से हिंदू जनता अपना धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म में दीक्षित हो रही थी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता भी बढ़ती जा रही थी । साम्प्रदायिकता के कारण धर्मान्धता और हठधर्मिता का जोर था । रूढ़ि-प्रियता और रूढ़ि-त्याग दोनों भावों का उस काल में हिंदू समाज में समान रूप से आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था । समर्थ और मेधावी व्यक्ति अपने-अपने नवीन सम्प्रदायों का झण्डा लेकर इस युग में आगे आ रहे थे । कुछ वैरागी साधुओं ने गृहस्थ धर्म की निंदा करके उसके प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा किया हुआ था । गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा से तत्कालीन हिन्दू समाज पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत कुछ अकर्मण्य और निष्क्रिय जनसमुदाय साधु के रूप में समाज पर छा गया । सामाजिक मर्यादाओं के पालन में भी शिथिलता आ गई थी जिसके फलस्वरूप चारित्रिक दुर्बलताएँ भी दृष्टिगत होने लगी थी । यदि सामाजिक दृष्टि से इस काल की परिस्थिति का पूरी तरह विवेचन किया जाय तो यही कहा जायगा कि यह काल सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना का न होकर उन्मूलन का युग था जिसमें कुछ मनस्वी सन्तों ने अपनी उर्जस्वी वाणी द्वारा

१—धर्म दुर्यो कलि दई दिखाई ।
कौनौ प्रकट प्रताप आपनौ, सब विपरीत चलाई,
धन भयौ मीत, धर्म भयौ वैरी, पतितन सौं हितवाई ।
जोगी, जपी, तपी, संन्यासी, व्रत छाड़ियौ अकुलाई ।
वर्णाश्रम को कौन चलावै, संतनि हू में आई ।
+ + +
उपदेसन को गुर गुसांई, आचरनै अधमाई ।
व्यासदास के सुकृत सांकरे, श्री हरिवंश सहाई ।

व्यास वाणी— पद संख्या १२६

सामाजिक मान्यताओं की रक्षा का प्रयत्न किया। श्री हरिवंशजी ने सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना के लिए किसी परम्परा का समर्थन नहीं किया वरन् अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर बताते हुये गृहस्थाश्रम में ही भक्ति-पथ के अनुगमन का उपदेश दिया। वैराग्य के प्रति आपने किसी प्रकार की रुचि प्रदर्शित नहीं की। समाज की मर्यादा-स्थिति आप गृहस्थ धर्म के पालन करने में ही मानते रहे अतः बाह्य वैराग्य और कठोर तपस्या के मार्ग से आपने जनता को हटाया। वैराग्यवाद के उस युग में गृहस्थ-धर्म का उपदेश सचमुच बड़ा साहसिक कार्य था किन्तु गोस्वामी हितहरिवंशजी ने इस कार्य को बड़ी सफलता से निबाहा। यदि उस समय गृहस्थ-धर्म का विधिवत् उपदेश देकर जनता का पथ प्रदर्शन न किया जाता तो अकर्मण्यता, कुंठा और निष्क्रिय-भाग्यवादिता से देश और अधिक पतन की ओर चला जाता।

साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से श्री हरिवंशजी का उद्भवकाल विशेष महत्व रखता है। उस काल में धार्मिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ प्रवर्तित हुईं उनके लिये साहित्य को माध्यम बनाया गया और धर्म तथा साहित्य का सैद्धान्तिक धरातल पर ऐसा मणि-कांचन योग हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यों तो हमेशा ही धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से होती रही है किन्तु इस काल में वाणी की सरसता उस कोटि तक पहुँची जिसे रससिद्ध साहित्य की संज्ञा प्राप्त होती है। धर्म और साहित्य दो पृथक् वस्तु न रहकर इतने अधिक समीप आ गये कि इनमें पार्थक्य या भेद-बुद्धि का आरोप सम्भव ही नहीं रहा। उत्तर भारत में उस समय रामानन्द और वल्लभाचार्य की धार्मिक विचारधारा और शिष्य-परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। रामानंद के उपदेशों का काव्यरूप रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास के द्वारा उपलब्ध हुआ था तो वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का अष्टछाप के कुछ कृष्ण-भक्त कवियों ने, काव्यात्मक विवेचन, प्रस्तुत किया था। श्री हरिवंश के जन्म से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व वल्लभाचार्य उत्पन्न हुये थे। कहते हैं सूरदास का जन्म भी उसी दिन हुआ था। अतः वल्लभाचार्य और सूरदास की भक्ति-पद्धति ने कृष्ण-काव्य को नवीन रूप में प्रस्तुत करके श्री हरिवंशजी के लिए अपने भक्ति-मार्ग के प्रवर्तन की प्रेरणा का स्रोत उन्मुक्त कर दिया था। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का जन्म भी श्री हरिवंशजी से लगभग बीस वर्ष पहले हुआ था और उनके प्रमुख शिष्य श्री रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी वृन्दावन में अपने भक्ति ग्रंथों के प्रणयन के निमित्त श्री हरिवंशजी से लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व आ चुके थे। इन गोस्वामियों की ग्रंथ-रचना का आधार माधुर्य-भक्ति था जो अपने सैद्धान्तिक विवेचन में इतना परिपूर्ण, पुष्ट और सुन्दर था कि परवर्ती किसी भी लेखक ने अद्यावधि उससे अच्छा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। माधुर्य भक्ति को साहित्य शास्त्र की रसवादी परिपाटी से संयुक्त करके नवरसों का भक्ति में पर्यवसान इन गोस्वामियों की विलक्षण प्रतिभा का दिव्य वरदान ही समझना चाहिये। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति के विविध रूपों का जैसा मनोवैज्ञानिक विशद विवेचन हुआ है वैसा न तो पहले कभी हुआ था और न उसके बाद अब तक हुआ। कहना न होगा कि चैतन्य सम्प्रदाय के इन आचार्यों की विलक्षण प्रतिभा ने वस्तुतः भक्ति का पुनरुत्थान करके उसे माधुर्य के क्षेत्र में सर्वथा नवीन कलेवर प्रदान किया। श्री

हरिवंशजी जब वृन्दावन पधारे तब उन्हें अवश्य ही यह भाव-सामग्री उपलब्ध हुई होगी और माधुर्य भक्ति के समझने-समझाने में इन ग्रंथों से उन्होंने अवश्य ही लाभ उठाया होगा। श्री हरिवंशजी की भक्ति-भावना पर माधुर्य की गहरी छाप इस तथ्य का प्रमाण है कि 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' के तात्त्विक विश्लेषण का उन्हें पूरा-पूरा बोध था और राधा-कृष्ण के प्रणय-व्यापार के वर्णन में उनके अन्तर्मन पर इन ग्रंथों का प्रभाव रहा होगा। यह ठीक है कि उन्होंने अपने स्वतंत्र मार्ग की स्थापना में अनेक मौलिक सिद्धान्त स्थापित किये और चैतन्य या वल्लभाचार्य से अपना पार्थक्य रखा किन्तु इनके प्रभावों का वे सर्वथा परिहार नहीं कर सके थे। ब्रजभाषा की साहित्यिक चेतना भी उन्हें पूर्ववर्ती भक्त-कवियों से अवश्य उपलब्ध हुई होगी। उनकी मातृभाषा तो ब्रज नहीं थी; उनका शैशव भी ब्रज में व्यतीत नहीं हुआ था, अतः ब्रज आगमन के बाद उन्होंने ब्रजभाषा को स्वीकार किया और इसमें अद्भुत क्षमता प्राप्त कर चमत्कार कर दिखाया।

धार्मिक दृष्टि से श्री हरिवंशजी ने निर्गुण और सगुण मार्ग को भलीभांति हृदयंगम कर निर्गुण का सर्वथा त्याग और सगुण का प्रेममय रूप ग्रहण करने में अपनी एक विशेषता का परिचय दिया है। सगुण मार्ग में राम और कृष्ण के जो रूप उस काल में स्वीकृत हुए थे उन पर अवतारवाद का गहरा प्रभाव था। श्री हरिवंशजी ने अवतारवाद के सिद्धान्त के आधार पर अपना सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया और इसीलिए कृष्ण की अपेक्षा राधा का महत्त्व भी साभिप्राय अधिक ठहराया। इन नूतन स्थापनाओं का विशेष अभिप्राय था जिसका वर्णन हमने सिद्धान्त-प्रतिपादन वाले अध्याय में विस्तार से किया है।

श्री हरिवंशजी का काल साहित्यिक दृष्टि से इसलिए भी महत्त्व का है कि इसी काल में ब्रजभाषा के साहित्य को सौंदर्य के चरम उत्कर्ष पर पहुँचने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सूर और तुलसी के अतिरिक्त अष्टछाप के कवि तथा निम्बार्क और राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कवियों की वाणी लोकभाषा (ब्रज) के द्वारा भक्ति-क्षेत्र में गूँजने लगी।

इसी काल में ब्रजभूमि को नवजीवन प्राप्त हुआ था। श्री वल्लभाचार्य के ब्रज आगमन के बाद ब्रज में भक्ति का नवीन सूत्रपात समझना चाहिये। ब्रजभूमि के तीर्थस्थान होने के कारण मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल, नन्दगाँव और बरसाना आदि नगरों का माहात्म्य तो पुराणों में वर्णित था ही किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले के ब्रज का कोई प्रामाणिक भौगोलिक विवरण उपलब्ध नहीं होता। यथार्थ में ईसा की १६ वीं शताब्दी से ही ब्रजमंडल का भाग्योदय समझना चाहिये। इसी शताब्दी में श्री वल्लभाचार्यजी का आगमन हुआ, इसी समय बंगाली गोस्वामियों का पदार्पण हुआ और इसी शती के द्वितीय चरण में श्री हरिवंशजी वृन्दावन पधारे। ब्रजमंडल के प्रसिद्ध स्थान वृन्दावन का भौगोलिक अस्तित्व होते हुये भी पुराण साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीन ग्रंथ में १६ वीं शती से पूर्व के वृन्दावन के विशद वर्णन का अभाव है। यत्र-तत्र जो फुटकर संकेत मिलते हैं उनके द्वारा तीर्थस्थल के भावना-परक माहात्म्य का बोध भले ही हो किन्तु उसकी सीमा, जनता, महापुरुषों के निवासस्थान आदि का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। यथार्थ में सोलहवीं शताब्दी ब्रजमंडल के भी पुनरुत्थान और अभ्युदय की सदी है जिसमें वल्लभाचार्य और

विट्ठलनाथ की शिष्य-मंडली में अष्टछाप के कवि, चैतन्य की शिष्य-मंडली में बंगाल के षट् गोस्वामी, हरिवंशजी के शिष्य परिकर में व्यास और सेवकजी जैसे महात्मा, स्वामी हरिदासजी के शिष्यों में बीठलविपुल और बिहारिनदास जैसे रसिक भक्त तथा निम्बार्क मतानुयायी श्री भट्टजी, हरिव्यास देवाचार्यजी आदि जैसे संतों ने ब्रजमंडल में निवास कर अपने को धन्य किया तथा ब्रजभूमि का अपनी रससिद्ध वाणी में वर्णन करके भक्तजनों के लिये उसे उपास्य बनाया। ब्रजभूमि का जैसा वर्णन इस शताब्दी के भक्त महानुभावों ने अपने ग्रंथों में किया है उसे पढ़कर यही विदित होता है कि भक्त की भावना श्रद्धा की जिस उच्च भूमि पर अवस्थित होकर भौतिक स्थल को दिव्य बना सकती है, वैसा इन भक्तों ने यथार्थ में कर दिखाया है। भौतिक वृन्दावन दिव्य वृन्दावन बन गया और भावना चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर पार्थिव एवं अपार्थिव के भेद को विस्मृत कर बैठी। श्री प्रबोधानंद सरस्वती ने इसी समय 'वृन्दावन शतक' लिखकर इस भूमि का ऐसा महत्व स्थापित किया कि वह भक्त, कवि, श्रद्धालु, रसिक सभी के लिये दिव्य उपास्य भाव का अंग माना जाने लगा। नित्य विहार में भी इसी वृन्दावन को स्थान प्राप्त हुआ। यह सब इस युग की महिमा का ही प्रभाव समझना चाहिये। संक्षेप में, राजनैतिक संघर्ष, सामाजिक अपकर्ष, धार्मिक विमर्श और साहित्यिक उत्कर्ष के संक्रांति काल में श्री हरिवंशजी का जन्म हुआ।

श्री हरिवंशजी की वंश-परम्परा और पूर्वज

वर्तमान उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देववन्द (प्राचीन देववन) नामक कस्बे में यजुर्वेदीय माध्यंदिनी शाखावर्त्ती कश्यप श्रोत्रिय एक सम्भ्रांत गौड़ ब्राह्मण परिवार चिरकाल से निवास करता था। इस परिवार में श्री व्यास मिश्र नाम के महानुभाव का धन-धान्य एवं वैभव-सम्पन्न होने का वर्णन तथा तत्कालीन राज-दरबार में सम्मानपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख परवर्त्ती साम्प्रदायिक वाणी-ग्रंथों में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है, किंतु कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता जिसे इस परिवार की वंश-परम्परा तथा ख्याति का प्रामाणिक आधार माना जाय। देववन्द में व्यास मिश्र के वंशधरों के पास जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार भी कोई प्रामाणिक वंशावली उपस्थित नहीं की जा सकती। अतः गुणानुवाद-परक भक्त अनुयायियों की वाणी को ही वंश-परम्परा की जानकारी के लिये प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया जाता है। यदि इस परिवार के व्यक्ति किसी ऐसे उच्च पद पर आसीन होते जो राजनैतिक महत्व की दृष्टि से उल्लेख्य होता तो तत्कालीन किसी इतिहास ग्रंथ में, किसी न किसी महानुभाव का वर्णन होता, किन्तु ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। 'श्री हरिवंशजी ने ही यथार्थ में इस कुल को विख्यात किया है। इस सम्प्रदाय में वंशावली के रूप में प्रसिद्ध दो-तीन विभिन्न प्रकार की वंशावलियाँ हमारे देखने में आई हैं। 'श्री हित चरित्र' लेखक ;गोपालप्रसाद शर्मा, रैंसलपुर ने अपनी पुस्तक में जो वंशावली दी है उसे हम यहां अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं किन्तु

प्राचीन वाणियों की परम्परा से इसमें बहुत भेद है।[1] हमने श्री प्रतिवल्लभजी रचित 'श्री मंत्रध्यान हित पद्धति भाषा' नामक वाणी ग्रंथ में प्रस्तुत वंश-परंपरा को प्राचीनतम होने के कारण अपेक्षाकृत प्रामाणिक माना है और उसी को वंशावली के रूप में स्वीकार किया है। यह वंशावली 'आदि पुरुष श्री नित्य विहारी राधावल्लभ जी' से प्रारंभ होकर श्री हित-हरिवंशजी तक की अविच्छिन्न परंपरा का सम्पूर्ण विवरण देती है। ऐतिहासिक आधार न होने पर भी साम्प्रदायिक निष्ठा के कारण इसका महत्व है अतः इसे भी हम यहाँ वाणी-ग्रन्थ की उपलब्ध हस्तलिखित प्रति से पूर्वापर का संबन्ध निर्णय करके, संपूर्ण उद्धरण सहित दे रहे हैं।[2] श्री गोपालप्रसाद शर्मा ने श्री केसोदास को श्री हरिवंशजी का पिता लिखा है जो किसी भी वाणी में स्वीकृत नहीं हुआ। इसी प्रकार और भी कई व्यतिक्रम उसमें हैं। श्री बलदेव उपाध्याय लिखित 'भागवत सम्प्रदाय' ग्रन्थ में जो वंश परंपरा दी गई है उसके आधार का उल्लेख विद्वान् लेखक ने नहीं किया है किंतु हमने उसे प्रतिवल्लभजी की वाणी की परम्परा से मिलाया तो समान पाया। अतः इसका आधार भी वही ठहरता है

---

१. देखिए—परिशिष्ट, सं० १

२—वंश-परम्परा का प्रमाण : "श्री प्रतिवल्लभजी की वाणी श्री मंत्रध्यानहित पद्धतिभाषा"

> अवतारी अंसन को अंसी, रस माधुर्य वलित प्रसंसी।
> नव किशोर नागर वंशीवर, वेद रिचनको दियो धर्मवर।
> तव उपासना परकट भई, श्रीनारायण विधि को दई।
> श्रीधाता नारद स्यों कही, श्री नारद व्यास प्रति सही।
> श्री व्यास श्री शुकदेव प्रति, श्री शुक प्रकट करी सन्तन हित।
> श्री शुक के कश्यप ऋषि शिष्य, धरम अनन्य दियो लखि मुख्य।
> और गुरु भ्राता बहुताता, गौड़पाद आदिक विख्याता॥

दोहा—काश्यप नाम ऋषी भये, कश्यप की सन्तान।
> योग धारणा करि तिनहिं, बहु दिन राखे प्रान।
> हरि आराधन अति कियो, तप बल मन कों जीति।
> ब्याह करो आज्ञा भई, संतति हितनिज रीति।
> ऋषि बोले, प्रभु विषयते, मन न रहेगो हाथ।
> भक्ति जायगी छूटिकें हों प्रभुनाथनि नाथ॥

चौपाई—तब श्री हरि की आज्ञा भई, तुव कुल भक्ति अचल हम दई।
> तिनके अचलेश्वर रिषि भये, अचल भक्ति करि ते निरभये।
> राधाकृष्ण उपासन जिनके, युगल मंत्र जप साधन जिनके।
> अच्युतेश्वर तिन सुत जानें, तिनके श्रीधर-श्रीधर मानो।
> तिनके हलधर अति बड़ ज्ञाता, धारणिधर तिनके विख्याता।
> गंगाधर रिषि गंगाधर सम, विजय भट्ट भारत वेदागम।

जो हमारा है। वंश-परंपरा का निर्णय करने के लिये इसी वाणी को सम्प्रदाय में भी प्रामाणिक माना जाता है। एक वंशावली अहमदाबाद में भी बताई जाती है परन्तु हमें उपलब्ध नहीं हुई।

श्री प्रतिवल्लभजी की वाणी के अतिरिक्त श्री उत्तमदासजी की वाणी तथा श्री हितहरिवंशजी के समसामयिक भक्त कवि हरिराम व्यास, सेवकजी तथा चतुर्भुजदासजी आदि के पदों में भी हरिवंशजी के पिताजी का नामोल्लेख हुआ है। श्री भगवत मुदित गौड़ीय तथा परवर्ती अनेक वैष्णव भक्तों ने हरिवंशजी के पिता व्यास मिश्र का संकेत दिया है। व्यास मिश्र के वैभव आदि के वर्णन को यदि काल्पनिक भी माना जाय तो इतना तो निश्चित ही है कि वे जिस परिवार में उत्पन्न हुए थे वह अपनी वंशानुगत विद्वत्ता, श्री-सम्पन्नता आदि के कारण समाज में समादृत था। श्री व्यास मिश्र का नाम केशवदास और हरिराम शुक्ल भी कहीं-कहीं लिखा मिलता है।[1] ये दोनों नाम भ्रमवश लिखे गये हैं। प्रारम्भ में इस भूल के प्रवर्त्तक श्री हित-चरित्र लेखक श्री गोपालप्रसाद शर्मा और मिश्रबन्धुगण हैं।[2] आश्चर्य है कि श्री गोपालप्रसाद शर्मा ने पुस्तक के इतिवृत्त में तो व्यास मिश्र नाम लिखा है किन्तु वंशावली में 'केसोदास' माना है।

श्री उत्तमदासजी ने अपनी वाणी में विस्तारपूर्वक व्यास मिश्र की श्री सम्पन्नता और वैभव का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक बार किसी पातशाह ने (?) व्यास मिश्र की ज्योतिष

भट्ट कुलाजित् तिनके पुत्र, जिनके विद्याधर सुपवित्र।
तिनके जालप मिश्र गरिष्ठ, सेवें राधावल्लभ इष्ट।
समय जानकैं राज प्रद भोग, अर्पण करत सकल प्रभु जोग।
सेवा में अति हो मन दीनौ, भाव भावना में लय कीनौ।
तिनकैं मिश्र प्रभाकर अति पडू, मिश्र उमाकर उच्चरित बहु जडू।
जीवद मिश्र भये जग पावन, तिनकैं हिमकर तपत नसावन।
तिनकैं सुतनव, नव जोगेश्वर, तिनमति व्यास व्यास अखिलेश्वर।
तिनकैं सुत भये श्री हरि आप, वंत रचहि जस मति अमित प्रताप॥

—श्री प्रतिवल्लभजी कृत वाणी से उद्धृ

वाणी—रचनाकाल सम्वत् १७८० के लगभग। लिपिकाल—सम्वत् १८६४।
(आसाढ़ वदी एकं सोमवासरे लिखितं हरिदासेन श्री वृन्दावन धामे श्री जमुना तटे।)

१. 'श्री हित चरित्र' गोपालप्रसाद शर्मा कृत वंशावली (संलग्न परिशिष्ट सं० २)
२. 'इनके पिता का उपनाम हरिराम शुक्ल तथा माता का नाम तारावती था।
'मिश्रबन्धु विनोद' प्रथम भाग—प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८४।'
'इनके पिता का उपनाम हरिराम तथा माता का नाम तारावती था।'
'मिश्रबन्धु विनोद' प्रथम भाग—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २४०।

शास्त्र विषयक प्रतिभा की ख्याति सुनकर सादर उन्हें अपने दरबार में निमंत्रित किया। व्यास मिश्र चार नारियल लेकर राजा से भेंट करने गये। चार नारियल चार विद्याओं के प्रतीक थे। राजा से व्यास मिश्र का वार्तालाप हुआ और राजा उनकी विद्वता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें अपने दरबार में 'चार हजारी मनसबदार' की निधि प्रदान की।[1] कुछ काल तक सम्मानपूर्वक राजदरबार में रहने के बाद श्री व्यास मिश्र पुनः देवबन्द वापस लौट आए। राधावल्लभ भक्तमाल में भी इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।[2] 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजंस एण्ड एथिक्स' में भी ग्रियर्सन ने व्यास मिश्र का सम्राट् के यहाँ उच्च पदाधिकारी होने का सकेत किया है। किन्तु ग्रियर्सन अथवा

---

१. देवबन नगर प्रसिद्ध बिराजे, व्यास मिश्र द्विज कुल मधि राजे।
गौड़ सुविद्यावान सुभ भाँति, यजुर्वेद तिनकी विख्यात।
माध्यंदिनी प्रवर है शाखा, कश्यप गोत्र सुनो अभिलाषा।
पंडित गुन अपार न प्रमाण, द्रुम, गय सम्पत्ति नृपति समान।
देस-देस मधि सुयश अपारो, पृथ्वीपति सों जाय प्रकासो।
बहु आदर सों बोलि पठाये, नृप को मिलन मिश्रजी आये।
मिले नारियल लैके चारि, एक-एक गुन प्रतिज्ञ विचारि।
ज्योतिष आगम वैदिक वेद, सुस्मृति पुरानन हूँ के भेद।
सब नरिन्द पूछी सब बात, सबरह गुननि मानि हरषात।
तब सब गुननि परीक्षा लीनी, चार हजारी की निधि दीनी।
बड़ी समृद्धि भई इन ठौरी, पातसाह संग रहे निसि भोरी।
बहुरि बिराहूं के घर आए, गज तुरंग बहु सम्पत्ति लाये।'
(श्री उत्तमदासजी कृत रसिकमाल हस्तलिखित प्रति के श्री हरिवंश चरित-प्रकरण से उद्धृत।)

टिप्पणी—इतिहास के आधार पर यह काल लोदी वंश के शासन का है। बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी का राज्यकाल सन् १४५१ से १५१७ ई० तक है। इसी समय व्यास मिश्र जीवित थे, सम्भव हो सकता है कि सहारनपुर से कभी दिल्ली गये हों और उन्हें यह सम्मान मिला हो, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में यह सर्वथा प्रामाणिक तथ्य नहीं माना जा सकता।

२. 'श्री हित राधावल्लभ भक्तमाल में श्री हरिवंश चरित्र में यह घटना इस प्रकार लिखी है -
'एक समय सोरिवंश के नामी विजयबहादुर जो कि हुमायूँ बादशाह के दरबार में एक प्रतिष्ठित पुरुष गिने जाते थे और सूरवंशों में भी सरदार थे जिन्होंने बिजनौर नगर अपने नाम से बसाया और राजधानी कायम की जो कि इसी सहारनपुर जिले (?) में है। उनने भी व्यासजी की कीर्ति गुण सुना बड़े सम्मान से राखे और स्वयं शिष्य का उपदेश व गुरुदीक्षा ली उसके सम्मान में हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी इत्यादि स्वपदानुकूल प्राप्त हुए। और उनने इनकी सवारी हेतु के पुरस्कार प्रदान किये

आधार पर किया जा सकता है।[1] ब्रजभूमि की व्यापक सीमा में यह स्थान गोकुल और मथुरा के निकट होने के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह केवल आकस्मिक घटना ही नहीं थी कि व्यास-दम्पति इस स्थान पर आये और ठहर गये वरन् स्थान की शोभा और आन्तरिक प्रेरणा का भी इसमें बड़ा हाथ रहा होगा। ब्रजभूमि में जन्म लेने का माहात्म्य निश्चय ही इन लोगों की अन्तश्चेतना में विद्यमान था अतः इस स्थल को प्रसव के लिए चुना। श्री हरिवंश के पिता-पितामह सहारनपुर के निवासी थे। ब्रजभूमि से उनका कोई सम्बन्ध न था किन्तु व्यास मिश्र किसी दिव्य प्रेरणा से यहाँ आये और एक दिव्य पुत्र प्राप्त करके वापस गये। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इस आकस्मिक घटना का विशेष महत्व है और श्री हरिवंशजी के परवर्ती जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। आश्चर्य का विषय है बाद ग्राम में जन्म लेने की घटना के पोषक असंख्य प्रमाण होने पर भी मिश्र-बन्धुओं ने हरिवंशजी का जन्म देवबन्द ही लिखा है। कदाचित् उन्होंने ब्रजभूमि के जन्म को विशेष महत्वपूर्ण बात नहीं समझा अतः पूर्वजों के वासस्थान को ही इनका भी जन्मस्थान लिख दिया है। श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रज माधुरी सार' ग्रंथ में इस त्रुटि की ओर संकेत किया है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए बाद गांव को ही इनकी जन्मभूमि ठहराया है।[2]

जन्म सम्वत्

ब्रजमडल के इसी बाद ग्राम में श्रीहरिवंशजी का जन्म विक्रम सम्वद १५५९ में वैशाख शुक्ला एकादशी, सोमवार को प्रातः सूर्योदयकाल में हुआ।[3] आपके जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में प्राचीन वाणियों में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बीच में कुछ

१—मथुरा मंडल भूमि आपनी। जहाँ बाद प्रकटे जगधनी॥
मनो अवनि घर आप सुख। शुभवासर शुभ ऋक विचार॥
माधव-मास व्यास उजियार। नारिने मंगल गाइये॥
—श्री हितजसविलास प्रकरण 'श्री सेवक वाणी," पद नं० ६

२—"यही नहीं, हितहरिवंशजी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी भारी भूल की गई है। बाद ग्राम को, जहाँ प्रतिवर्ष गोसाईंजी की जयन्ती मनाई जाती है, जन्मस्थान न मानकर देवबन्द (देववन) को न जाने किस आधार पर जन्मभूमि मान लिया है। गोसाईंजी के पिता देवबन्द में रहते अवश्य थे, वहाँ इनका जन्म नहीं हुआ था। बाद गांव मथुरा से ४ मील दक्षिण है।"—ब्रज माधुरी सार (वियोगी हरि), पृष्ठ ६४।

३—प्रकटे श्री हरिवंस दिनेस, द्विजेस श्री व्यास मिश्र गृह।
सेस, महेश, सुरेस, सारदा, नारद यक्ष रस भावन।
बलि-बलि पन्दरह सौ सवंस्तर, रितु बसन्त माधव मास।
व्यास उजियारी सुप्रसन्न श्री राधावल्लभ जू'''।
आयेहो सहज भरि प्रीति प्रतीति रसरीत इद्रावन॥ "वाणी श्री मधुरानन्द" पृष्ठ ३।

विद्वानों ने सम्वत् १५३० को इनका जन्म सम्वत् ठहराने का प्रयत्न किया।[1] सम्प्रदायानुवर्ती सज्जनों में भी इस सम्वत् के समर्थक पैदा हुए और फलतः जन्म सम्वत् विवाद का प्रश्न बन गया। 'मिश्रबन्धु-विनोद'[2] के प्रथम संस्करण में श्री हितहरिवंशजी के संबन्ध में जो कुछ लिखा गया वह सर्वथा प्रामाणिक न होने पर भी जन्म-संवत् की दृष्टि से अवश्य ठीक था। किंतु बाद के संस्करणों में जहाँ अन्य त्रुटियों का परिहार किया गया वहाँ जन्म-सम्वत् को बदलकर अशुद्ध कर दिया गया।[3] इस परिवर्तन का मुख्य कारण राधावल्लभीय लेखक गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'श्री हित चरित्र' पुस्तक है जिसमें जन्म सम्वत् १५३० ठहराया गया था।[4] स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में तथा श्री वियोगी हरि ने 'व्रज माधुरी सार' में संवत् १५५९ को ही प्रामाणिक माना है।[5] इस

१—शुभ पन्द्रह सौ तीस, बैसाखी सुदिग्यास कों।
प्रकटे रसिकन धीस, बाद ग्राम सुहावने॥
—श्री हितायन, पृष्ठ १७, ले० हित ललित शरण। द्रष्टव्य—'श्री राधावल्लभ-भक्तमाल'—पृष्ठ २९, ले० हितप्रियादास शुक्ल।

२—"हरिवंशजी का जन्म मिती बैशाख बदी ११ सम्वत् १५५९ का था। इनके रुक्मिणी नाम्नी स्त्री से दो पुत्र और एक कन्या हुई। फिर ये महाशय वृन्दावन पहुँचे और वहाँ कार्तिक शुक्ला तेरस सम्वत् १५८२ को इन्होंने श्री राधारमणजी की मूर्ति स्थापित की।
—मिश्रबन्धु विनोद, प्र० भा०, प्रथम संस्करण—पृष्ठ २८४।

३—'हरिवंशजी का जन्म मिती बैशाख बदी ११ संवत् १५३० का था। इनके रुक्मिणी नाम्नी स्त्री से तीन पुत्र और एक कन्या हुई। फिर ये महाशय वृन्दावन पहुँचे और वहाँ कार्तिक शुक्ला तेरस संवत् १५६४ को इन्होंने श्री राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित की। —मिश्रबंधु विनोद—प्र० भा०, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २४०।

४—श्री गोपालप्रसाद शर्मा रसैलपुर लिखित 'श्री हित चरित्र' (सम्वत् १९७६ में गोस्वामी बदर्स कलकत्ता से प्रकाशित), पृष्ठ ५-६।

५—"राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंशजी का जन्म संवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बाद गाँव में हुआ। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपाल प्रसाद शर्मा ने जन्म सम्वत् १५३० माना है जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता।'
—हिंदी साहित्य का इतिहास, ले० रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ २०२।

'इनका जन्म सम्वत् किसी के मत से १५५९ और किसी के मत से १५३० है। + + सम्वत् १५३० को जन्म सम्वत् मानने से आपके गोलोकवास का संवत् अनुमानतः १६१० होता है। ‌ ‌ ‌। इससे तो श्री हितजी का लीला-संवरण संवत् १६५० के लगभग माना चाहिये और जन्म संवत् भी इस हिसाब से १५३० का नहीं बैठता।'
—व्रज माधुरी सार (वियोगी हरि), पृष्ठ ९२-९४।

विषय में हम प्राचीन वाणी-ग्रंथों को ही प्रमाण मानकर अपने पक्ष की स्थापना करना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। श्री वियोगी हरि ने 'ब्रज माधुरी सार' में सम्वत् १५३० के विरोध में जो युक्ति प्रस्तुत की है उसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है और सम्वत् १५५९ को ही प्रामाणिक जन्म-सम्वत् ठहराया है। साम्प्रदायिक वाणियों में सर्व श्री ध्रुवदासजी, व्यासजी, उत्तमदासजी आदि की प्रामाणिकता में किसी को संदेह नहीं है और इन सभी वाणियों में सम्वत् १५५९ का ही उल्लेख है।[1] इन वाणियों के पुष्ट प्रमाणों के अतिरिक्त गणित ज्योतिष के आधार पर गणना करने से यही निर्णय होता है कि वैशाख सुदी एकादशी—सोमवार, पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत् में ही है, पन्द्रह सौ तीस में शनिवार आता है, सोमवार नहीं। राधावल्लभीय मन्दिरों में 'हितोत्सव' सम्बन्धी जो बधाइयाँ गाई जाती हैं उनमें भी इन्हीं तिथियों का संकेत है।[2] प्रमाण, युक्ति और तर्क के आधार पर जन्म सम्वत् का निर्णय करते समय समसामयिक तथा परवर्ती महात्माओं और भक्तों के काल से भी श्री हरिवंशजी के काल की तुलना-समता अनिवार्य हो जाती है। श्री हरिराम व्यास तथा स्वामी हरिदास के जन्मकाल का निर्णय भी हमें हरिवंशजी के संवत् १५५९ के प्राकट्य का संकेत देता है।

श्री हितहरिवंशजी के जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में श्री भगवत मुदित लिखित रसिक-माल का उल्लेख हमने कई स्थलों पर पढ़ा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा

१—पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत् को, माधव मास ग्यास जग हित को।
प्रकट भये श्री हित हरिवंश, परिकर जुत अंसन के अंस॥
(श्री ध्रुवदासजी की वाणी—पृ० ६४-६५)

—संवत् समय सहज ह्वै आई। पन्द्रह सै उनसठ सुखदाई।
रितु बसन्त पुजई अभिलाख, परम प्रतीति मास वैशाख॥
सुकुल पक्ष की ग्यास सुहाई, चन्द्रवार कल कीरति गाई॥
(श्री व्यासजी की वाणी—पद सं० ५-६)

—पंद्रह से उनसठ संवत्सर, वैसाखी सुदि ग्यास सोमवर।
तहाँ प्रकट हरिवंस हित, रसिक मुकट महिलाल॥ ५४॥
कर्म ज्ञान खडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥ ५५॥
देखनि व्यास निज पुत्र को, बाढ़ी परमानन्द।
कर्यो महा मंगल जहाँ, भर्यो प्रेम सुख कन्द॥ ५६॥
* * *
संवत पंद्रह सौ अधिक, उनसठ को वैसाख।
सुदि एकादसि प्रकटहित, पुजई रस अभिलाख॥
(उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' से)

२—संलग्न—गणित ज्योतिष पत्रक—देखिये, परिशिष्ट सं०—१

पुस्तकालय में रसिकमाल की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक सभा के पुस्तकालय की निजी प्रति है जिसका लिपिकाल संवत् १८३७ है।[1] दूसरी प्रति श्री मयाशंकर याज्ञिक के संग्रह की है। इसका लिपिकाल १८१७ संवत् है।[2] इन दोनों प्रतियों में 'हितचरित्र' लिखा मिलता है। सभा की अपनी प्रति में पृष्ठ २ से ३३ तक हितचरित्र है। इस चरित्र में जन्म सम्वत् का दो स्थलों पर उल्लेख है। पृष्ठ ४ पर जन्म सम्वत् इस प्रकार लिखा है—

> "पन्द्रह सै उनसठि संवतसर, बैसाखी सुदि ग्यास सोमवर।
> तहाँ प्रगटे हरिवंस हित, रसिक मुकुट मनिमाल।
> कर्म, ज्ञान, खंडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल।।"

उपर्युक्त उल्लेख को जो बड़े स्पष्ट अक्षरों में है किसी महानुभाव ने हलकी-सी हरताल और काली स्याही लगाकर मिटाने का प्रयत्न किया है और उसके स्थान पर १५३० संवत् बनाने की चेष्टा की है। 'सै उनसठि' शब्द को काटकर 'तीस संवत्सर' ऐसा बनाना चाहा है, जो प्रयत्न करने पर भी बना नहीं है। इतना ही नहीं, हस्तलिखित प्रति के ऊपर के हाशिए में हाथ से यह लिखकर मनस्तुष्टि की है—'श्री हित जी को प्रादुर्भाव को संवत् १५३० पन्द्रह सै तीस है। यामें प्रमाण आचार्य पुत्र कृष्णदास जी को श्लोक—'वियद्गुणेषु शुभांशु साके संवत्सरे शुभे इति।' इतनी विकृति और परिवृत्ति करने के बाद भी जो उनका अभिप्राय था वह पूर्ण नहीं हो सका। कदाचित् हस्तलिखित प्रति को भ्रष्ट करने वाले सज्जन ने पोथी के अगले पन्ने नहीं पलटे। इसी वाणी के २६ वें पृष्ठ पर पुनः श्री हितहरिवंशजी के जन्म संवत् का उल्लेख इस प्रकार है :—

> 'श्री जी को जन्मोत्सव वरनन।
> दोहा—संवत् पन्द्रह सै अधिक उनसठि को बैसाख।
> सुदि एकादसि प्रकट हित पुजई रस अभिलाख।[3]

उपर्युक्त वर्णन पर दृष्टि न जाने से इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया फलतः पहला परिवर्तन भी व्यर्थ ही रहा।

---

१. 'इति श्री रसिक माल भगवत मुदित कृत समाप्तं, सम्पूर्णम्। अनन्य पुस्तकमिलितं। श्री वृन्दावन धामे। श्री जमुना तटे संवत् १८३७ मिती चैत्र सुदी २, मंगलवार। श्री हस्ताक्षर प्रियादास पठनार्थ नवनीतलाल। श्री : ।।"
(हस्तलेख) काशीनागरी प्रचारिणी सभा, पुस्तकालय की प्रति से उद्धृत।

२. 'संवत् १८१७ वर्षे मासानां आश्विनमासेषु मङ्गलसरसे पुनर्तिथौ द्वितीयायास्यगुवासे लिख्यतेति इदं स्वामी बालकदास समीपे श्री गुरु प्रसाद डूँगरसी लिख्यपते।"
श्री मयाशंकर याज्ञिक की प्रति से उद्धृत (सभा पुस्तकालय में सुरक्षित)।

३. श्री भगवत मुदित कृत रसिकमाल के हितचरित्र प्रकरण से उद्धृत।
(हस्तलेख काशीनागरी प्रचारिणी सभा, पुस्तकालय।)

श्री मयाशंकर याज्ञिक की प्रति में भी हितचरित्र वर्णित है। उसमें श्री हरिवंश जी की वन्दना के बाद जन्मस्थान, जन्म संवत् आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन है। जन्म-संवत् के प्रकरण में लिखते हैं—

"पन्द्रह सै उनसठि सम्वतसर, बैसाखी सुदि ग्यास सोमवार।
तहाँ प्रगटे हरिवंस हित, रसिक मुकुट मनिमाल।
कर्म, ज्ञान, खंडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥"

इस प्रति में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई है। यदि इन दोनों प्रतियों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाय तो १५५९ संवत् को ही जन्म-संवत् मानना होगा। हाँ, एक प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि भगवत मुदित कृत रसिकमाल में हितहरिवंश चरित्र सम्मिलित है भी या नहीं। श्री उत्तमदासकृत रसिक अनन्यमाल वाले चरित्र से इसमें अन्तर न होने से अधिकांश विद्वान् इसे उत्तमदास रचित मानते आ रहे हैं। किन्तु किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हुआ कि कौन इसका यथार्थ लेखक है। कुछ भी हो इस प्रकरण में तो हमें प्राचीन साक्ष्य की प्राप्ति के आधार पर १५५९ को ही जन्म संवत् मानना होगा।

शैशव में अलौकिक चमत्कार

व्रज-मडल में छह मास तक निवास करने के उपरान्त श्री व्यास मिश्र अपनी पत्नी और नवजात शिशु सहित देववन वापस गये। व्रजयात्रा के समय श्री हरिवंशजी अबोध शिशु

टिप्पणी—

श्री हरिवंश जी के जन्म सम्वत् को १५३० ठहराने का एक बाह्य कारण हमें अपनी छानबीन से यह विदित हुआ कि कतिपय बंगाली पत्र-पत्रिकाओं में श्री हितहरिवंश रचित ग्रन्थों को दूसरे महानुभावों द्वारा लिखित सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। वृन्दावन के एक चैतन्य सम्प्रदायानुयायी गोस्वामी ने 'हित चौरासी' के तीन-चार पदों को सूरदास लिखित बताया, यद्यपि उनका सूरदास की अभिव्यंजना शैली, भाषा तथा विषयवस्तु से साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। इस चेष्टा से विचलित होकर राधावल्लभीय लेखकों की ओर से यह प्रयत्न हुआ कि हितहरिवंशजी को सूरदास से पहले उत्पन्न होना सिद्ध किया जाय। सूरदास तथा वल्लभाचार्य से पहले सिद्ध करने की भावना के कारण ही कदाचित् जन्म सम्वत् को १५५९ के स्थान पर १३५० लिखा गया। इस तथ्य की पुष्टि में हमें कई सज्जनों ने मौलिक रूप से उस समय की विचारधारा तथा साम्प्रदायिक खींचा-तानी का वर्णन सुनाया है।"

श्री गोपालप्रसाद लिखित 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका में इस विषय का विस्तार-पूर्वक वर्णन है किन्तु उन्होंने १५३० सम्वत् को स्वीकार किये जाने का यह कारण नहीं माना, वे तो १५३० सम्वत् को प्रामाणिक मानते थे।

द्रष्टव्य 'भ्रमोच्छेदन'—पृष्ठ १२-१५।

ही थे किन्तु ऐसी किम्वदन्ती है कि उसी अल्पायु में आपके श्रीमुख से संस्कृत भाषा में श्री राधासुधानिधि का प्रादुर्भाव हुआ। कहते हैं श्री नृसिंहाश्रम जी उस समय उपस्थित थे और उन्होंने इस ग्रंथ का लेखन-कार्य सम्पादित किया। इस चमत्कार पूर्ण घटना का उल्लेख बाद के सभी महात्माओं ने भी बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ किया है। हम देखते हैं कि संसार के सभी धर्म-प्रवर्त्तकों के सम्बन्ध में ऐसी विलक्षण और अद्भुत घटनाएं श्रद्धालुजनों द्वारा वर्णित की जाती हैं। उसी भावना और शैली से यह किम्वदन्ती भी अनुश्रुति-परम्परा से इस सम्प्रदाय में प्रवर्तित चली आ रही है। मीठा भाई कृत अष्टक में इस चमत्कार का सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

बाद गांव से विदा होकर व्यास-दम्पति सकुशल देववन पहुँचे। पुत्रोत्पत्ति के बाद व्यास मिश्र के जीवन में परिवर्तन हुआ और वे सांसारिक वैभव से विमुख होकर भगवद्-भक्ति और सेवा-पूजा में ही लीन रहने लगे। सेवा-पूजा के बाद यदि कभी उनका मन कहीं अनुरक्त होता तो पुत्र की बाल-क्रीड़ाओं में ही होता। पुत्र की बाल-सुलभ चपलता से उनके मन में वात्सल्य की एक ऐसी प्रमोदमयी उमंग उठती कि वे सब कुछ भूलकर उसी शिशु में ईश्वर की दिव्य शक्ति की छटा निहारने लगते। बालक हरिवंश जी की क्रीड़ाओं में भगवद्-भक्ति के सिवा और कोई खेल न होता था—वे सदा अपने बाल-सखाओं को एकत्र कर राधा-माधव की लीलाओं को ही क्रीड़ा के बहाने प्रकट करते। कहते हैं बालक आनू और छबीलदास उनके शैशव के अनन्य सखा थे जिन्हें उन्होंने बचपन में ही 'वृन्दाविपिन विहार' का व्यक्त दर्शन कराया था। चाचा वृन्दावनदास ने 'श्री हितहरिवंश सहस्रनाम' में हरिवंशजी के शैशव का सुन्दर वर्णन करते हुए उनके बाल-सखाओं का भी उल्लेख किया है।[2]

---

१. राधा रस सुधा निधि षट मास में बखान्यौ।
बीठल सुजान्यौ जान्यौ हियो सुख सार है।
आनू और छबीलदास आस करि आये पास,
दियो दरसाय वृन्दाविपिन विहार है।
व्यास महल आंगन में अलिबेलि भांति डोलें,
डोलें संग माधुरी की उझल अपार है।
अधि कंज मंजु पुंज रसन अमन्द सार,
हित मकरन्द मिष्ट दृष्टि को अपार है॥
(मीठा भाई कृत अष्टक के बधाई छन्द—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२. पांच वर्ष के भये जबहि श्री व्यास दुलारे।
तब उपवन चलि जाय खेल नाना विस्तारे।
पिता बाग मधि कूप तहां श्री विग्रह जान्यौ।
धाइ परे जल कूद आपुसो भुज भरि आन्यौ।
प्रभु श्री रंगीलाल स्वामिनी गावी थोपी।
रीझि लड़ैतो कुंवरि आपनी पद्धति ओपी॥ १०७ से ११२ तक।
—चाचा वृन्दावनदास कृत 'श्री हित हरिवंश सहस्रनाम' पृष्ठ ११ (प्रकाशित)।

चमत्कारपूर्ण घटनाओं में तीसरी उल्लेखनीय घटना है श्री रंगीलालजी का प्राकट्य। कहा जाता है कि पांच वर्ष की अल्पायु में ही अपने मन की पवित्रता और दिव्य शक्ति के प्रभाव के कारण आपको अलौकिक ज्ञान-चक्षु प्राप्त हो गये थे। इन ज्ञान-चक्षुओं के बल से आपको जगत् के बाह्य एवं आभ्यंतर रहस्यों का स्वत: ही उद्घाटन होने लगा था। उसी समय एक रात्रि को स्वप्नदशा में आपको श्रीप्रिया जी की ओर से प्रेरणा हुई कि 'देववन के घर के निकट बाग में एक कूप में श्री रंगीलालजी का विग्रह विराजमान है, उसे प्रकट करके जगत् के समक्ष प्रस्तुत करो।' फलतः बालक हरिवंश ने उस कूप से श्री रंगीलालजी के विग्रह को बाहर निकाला। इसी विग्रह को इन्होंने अपने घर के मन्दिर में श्रद्धापूर्वक प्रतिष्ठित किया जो अद्यावधि वहीं स्थापित और पूजित है। यह घटना श्रद्धालुजनों के मन में हरिवंश जी की दिव्य शक्ति की क्षमता का संकेत देती है। किन्तु आज के बुद्धिवादी, वैज्ञानिक और तर्क परायण युग में यह केवल काल्पनिक चमत्कार मात्र ही समझी जायगी।[1]

चौथी एक और चमत्कारपूर्ण बात इनके गुरुमंत्र प्राप्ति के विषय में प्रसिद्ध है। कहते हैं इसी छोटी अवस्था में इन्हें अपनी इष्टदेवी राधा से 'निज मंत्र' (साम्प्रदायिक द्वादशाक्षर दीक्षा मंत्र) की प्राप्ति हुई। इनके अन्तरमन में श्री राधा ने प्रेरणा की कि घर के बाहर पीपल के वृक्ष के अरुण वर्ण के पत्ते पर एक मंत्र अंकित है, तुम उस मंत्र को अपना गुरुमंत्र या दीक्षामंत्र मानो और वृक्ष पर चढ़कर उसे ग्रहण करो। इस प्रेरणा द्वारा उत्प्रेरित हो वे पीपल के वृक्ष पर चढ़े और वहां से इन मंत्र को दीक्षामंत्र के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार की और भी अनेक किम्वदन्तियाँ इनके विषय में प्रसिद्ध हैं किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार न होने से हम सभी चमत्कारों का वर्णन अनावश्यक समझते हैं।[2]

---

१. मिस्र बाग में कूप निहारौ, तामें द्विभुज स्वरूप हमारौ।
सुन्दर श्याम बांसुरी लिए, मम गादी सेवहु मन दिये॥
(रसिकमाल, उत्तमदास कृत—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)।

२. एक दिवस सोवत सुख लह्यौ, श्री राधे सुपने में कह्यौ।
द्वार तिहारे पीपर जो है, ऊंची डार सघन में सो है।
तामें अरुन पत्र इक न्यारौ, जामें जुगल मंत्र है मारौ।
लेहु मंत्र तुम करहु प्रकास, रसिक जनन की पुजिवहु आस॥
(रसिकमाल, उत्तमदास जी कृत)।

द्रष्टव्य—श्री हरिवंश सहस्रनाम—बाबा वृन्दावनदास कृत—(प्रकाशित) पृष्ठ ६-१०-११।

टिप्पणी—अलौकिक चमत्कार वर्णन करने वाली अनेक किम्वदन्तियां सम्प्रदाय के वाणी-ग्रंथों में भरी पड़ी हैं। हमने केवल तीन-चार का ही यहां संक्षेप में उल्लेख किया है। यद्यपि इनके पीछे भावना और श्रद्धा का महान् बल है किन्तु इनको तर्क और प्रमाण की कसौटी पर खरा सिद्ध करना हमारे लिए सम्भव नहीं अतः हम विस्तार से सभी घटनाओं का वर्णन अनावश्यक समझते हैं। ये चारों घटनाएं हमने इस कारण लिखी हैं कि इनका सम्बन्ध श्री हितहरिवंशजी के आगे के जीवन से है और इनके

इष्टदेवी और गुरु

श्री हरिवंशजी के गुरु रूप में श्री राधाजी को ही स्वीकार किया जाता है। उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण घटना में भी पीपल के पत्ते पर अंकित दीक्षा-मंत्र का संकेत उन्हें श्री राधा से ही मिला था। साम्प्रदायिक सभी ग्रंथों और प्राचीन वाणियों में श्री राधा का ही नाम इस प्रसंग में लिखा मिलता है। श्री नागरीदास ने अपने 'अष्टक' में श्री राधा को ही हरिवंशजी का गुरु बताया है।[1] श्री जतनलाल जी ने अपने 'रसिक अनन्य सार' में गुरु-प्रसंग वर्णन में राधा का नाम लिखा है।[2] श्री चाचा वृन्दावनदासजी ने 'श्री हितहरिवंश सहस्रनाम' में लिखा है कि श्री राधा ने प्रसन्न होकर इन्हें माहिलौ (अंतरंग) बनाया और अपनी दीक्षा दी।[3] इसके अतिरिक्त सेवकजी, ध्रुवदासजी तथा व्यासजी ने भी राधा को ही हरिवंशजी का गुरु माना है। यदि कोई अन्य व्यक्ति गुरु होता तो उसका उल्लेख कहीं न कहीं अवश्य होता।

श्री हितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में गुरु-स्तुति के प्रसंग में किसी गुरु का न तो स्तवन किया है और न किसी प्रकार से राधा के अतिरिक्त किसी और का नाम ही लिया है। प्रत्येक ग्रंथ के प्रारम्भ में अपनी आराध्या इष्टदेवी के रूप में श्री राधा की ही वन्दना की है। श्री राधासुधानिधि नामक ग्रंथ में उन्होंने लिखा है कि रसिक वर्ग किसी परम्परायुक्त रूढ़ियों की शृंखला में न बंधकर स्वतंत्र रूप से रसलीन रहते हैं। कोई-कोई विरला ही गुरु-कृपा से ऐसा सच्चा रसिक हो सकता है। 'गुरु-कृपा' में जिस गुरु की ओर संकेत है वह

पीछे उनके दिव्य चरित्र की झांकी मिलती है। विस्तार के लिए देखिये श्री गोपालप्रसाद शर्मा लिखित श्री हितचरित्र तथा राधावल्लभ भक्तमाल।

१. रसिक श्री हरिवंश सर्वस श्री राधिका।
राधिका सर्वस हरिवंश वंशी॥
हरिवंश गुरु, शिष्य हरिवंश प्रेमावली, हरिवंश धन धर्म, राधा प्रशंसी॥
(नागरीदास कृत अष्टक, पृष्ठ ११७)

श्री व्यासनन्दन व्यासनन्दन व्यासनन्दन गाइये।
जिनको हित नाम लेत दम्पति हित पाइये।
तिनको पियनाम सहित मंत्र दियो श्री राधे।
सत् चित् आनन्द रूप निगम आगम साधे॥
(गो० रूपलालजी की वाणी—सम्वत् १७३८-१८०१)

२. कृपा करि श्री राधा प्रकट होय दर्शन दियो।
अपने हित को जानिकै हित सों मंत्र सुनाय दियो॥
(रसिक अनन्य सार, जतनलाल कृत—हस्तलिखित)

३. मंत्र राज रसनिकर, माहिलौ सम्पति दीनो।
कर धर भाल विशाल कृपा अति विनमित कीनो॥
—चाचा वृन्दावनदास कृत, श्री हरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित) पद ११४।

'श्री राधा' ही है अन्य कोई नहीं। राधा को गुरु मानने की बात इसलिए भी समझ में आती है कि श्री हरिवंश ने सभी प्रकार की रूढ़ि एवं अन्य परम्पराओं को व्यर्थ कह कर अपने सम्प्रदाय की नींव रखी थी। विधि-निषेध के भँवर-जाल में न फँसकर उन्होंने एक ऐसे गुरु की शरण पकड़ी थी जो इस संसार से ऊपर था। कोई भी सांसारिक गुरु उन्हें विधि-निषेध के चक्र से बाहर निकल कर न जाने देता।[1]

श्री नाभाजी कृत भक्तमाल में हरिवंश चरित्र प्रस्तुत करने वाला जो छप्पय उपलब्ध होता है वह भी इस सम्बन्ध में मौन है। नाभाजी ने प्रायः सभी चरित्रों में गुरु-परम्परा का संकेत दिया है किन्तु हरिवंशजी के किसी सांसारिक गुरु का नाम जगत्-विदित न था अतः नाभाजी ने भी गुरु का संकेत नहीं दिया। भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास (गौड़ीय) ने भी इस सम्बन्ध में कोई टीका-टिप्पणी नहीं की। गौड़ीय सम्प्रदाय के कोई आचार्य इनके गुरु होते तो उनकी प्रसिद्धि अपने सम्प्रदाय में तो अवश्य होती और प्रियादास जी अपनी जानकारी के आधार पर इस विषय में अवश्य कुछ प्रकाश डालते।[2] श्री भगवत् मुदित (गौड़ीय) ने अपने 'रसिक अनन्य माल' में श्री हरिवंश चरित्र लिखा है किन्तु उसमें भी गुरु का नामोल्लेख नहीं किया। गुरु का उल्लेख गोपनीय न होकर जगत्-प्रसिद्ध होता है। कोई भी शिष्य अपने गुरु का नाम छिपाता नहीं। प्रत्येक शुभ कार्य में गुरु का स्मरण करता धर्म

---

१. लिखन्तु भुजमूलतो न खलु शंखचक्रादिकं
   विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्तिभालस्थले,
   लसत्तुलसिमालिकां दधति कंठ पीठेन वा
   गुरोर्भजन विक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः ।।

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८१।

२. राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
   कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी ।।

नाभाजी कृत छप्पय नं० १२४, भक्तमाल, पृष्ठ ५६८।
टीका कवित्त—३८७

राधिका वल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई
    सेवा में प्रकास औ विलास कुंज धाम को।

(प्रियादास) भक्तमाल ३६६।

वार्तिक तिलक—

"श्री राधिका वल्लभलाल ने रसाल आज्ञा दी जिससे सेवा की रीति का और कुञ्ज तथा धाम के विलास का प्रकाश हुआ। सोई मुखसार का विस्तार पूर्वक श्रीकृपा से आँखों से दर्शन पाया और रसिकों को बताया, इन भाग्यभाजनों में श्री प्रियाजी को प्रधानता मान ली और आपका पक्ष लिया।"

—रूपकला टीका—'भक्तमाल', पृष्ठ ६०१।

है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रंथ प्रणयन करते समय तो सबसे पहले ही गुरु-स्तवन आवश्यक समझा जाता है।[1]

श्री हरिवंश जी के जीवनवृत्त के आभ्यन्तर पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले उनके दो निजी पत्र उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र उन्होंने अपने शिष्य बीठलदास के नाम लिखे थे। दूसरे पत्र में वे बीठलदास को सम्प्रदाय के विषय में समझाते हुए अविश्वास से दूर रहने का आदेश देते हैं। सम्प्रदाय की बात कहने से पूर्व वे सम्प्रदाय के गुरु का संकेत देते हुए श्री राधा का ही नाम लेते हैं। अर्थात् हमारे सम्प्रदाय में श्री राधा ही गुरु है और वही आराध्या है।[2]

संक्षेप में, कहने का तात्पर्य यही है कि श्री हितहरिवंशजी ने किसी महात्मा, साधु या आचार्य से दीक्षा न लेकर स्वप्न में श्री राधा को ही अपना दीक्षा-गुरु बनाया था और स्वप्न-दशा में ही गुरु मन्त्र भी जाना था। अतः किसी अन्य सम्प्रदाय के आचार्य को उनका गुरु नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि उस युग में गुरु का सम्मान, पद और मर्यादा इतनी ऊँची थी कि किसी रूप में गुरु की अवहेलना या उपेक्षा सम्भव नहीं थी। अतः किसी भी स्थान पर किसी भी रूप में गुरु का नाम न आना इस बात का प्रबल पोषक है कि श्री राधा के अतिरिक्त उनका अन्य कोई दीक्षा-गुरु नहीं था।

गुरु-विषयक इतने प्रमाणों के उपस्थित होते हुए भी कुछ विद्वानों ने श्रीगोपाल भट्ट (गौड़ीय) को आपका दीक्षा-गुरु कहा है।[3] ऐसा विदित होता है कि गोपाल भट्ट जी की साम्प्रदायिक भावना, धार्मिक निष्ठा, भक्ति-पद्धति, ब्रजभूमि आगमन काल, जीवनकाल, आदि धार्मिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं पर बिना विचार किये ही यह सब निराधार लिख दिया है। साम्प्रदायिक विद्वेष और ईर्ष्या भावना का भी इसमें योग अवश्य है। इस प्रवाद के प्रचार का

---

१. टिप्पणी—भगवत मुदित कृत रसिक माल की जो प्रति वृन्दावन में प्राप्त है उसमें श्री हरिवंश जी का चरित्र नहीं है किन्तु मयाशंकर याज्ञिक के पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति में चरित्र है। वह उत्तमदास लिखित चरित्र से शब्दशः साम्य रखता है।

२. "जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसी ही सत्य है तो ब्रज नव तरुणि कदम्ब चूणामणि श्री राधे तिहारे स्यापे गुरु मार्ग विर्षे अविश्वास अज्ञानी को होत है। ताते यह मर्यादा राखनी।"

—श्री हित हरिवंश जी द्वारा बीठलदास को लिखित पत्र का अंश।

३. 'जगते स्थापित हय परम पवित्र।
श्रीमन् गोपाल भट्टजीर शिष्यते हो॥"

—लालदास कृत भक्तमाल (बंगला) बीसवीं माला।

—"श्री हरिवंश राधारमन सेवा न पाइला तो श्री राधावल्लभ मूर्ति प्रकाश करीला।"

"श्री भक्तमाल ग्रंथ (बंगला) पृष्ठ ३१६—लालदास बाबाजी विरचित।

प्रकाशक—श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, कालिकायन्त्रे, कलकत्ता।

मूल स्रोत स्वयं इतना अप्रामाणिक और मिथ्या है कि उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'श्री भक्तमाल ग्रन्थ' (बंगला) में, जिसके लेखक श्री लालदास बाबाजी हैं, सर्वप्रथम यह बात लिखी गई। इस ग्रंथ में हरिवंश चरित्र लिखते हुए केवल एक घटना का ही उल्लेख किया गया है। जन्मस्थान, जाति, वंश, शिक्षा, गोस्वामी आदि का कोई संकेत न देकर एक साथ ही लिखा है कि—'एक दिन हरिवंशजी ने एकादशी के दिन पान खा लिया, जिस पर श्री गोपाल भट्ट जी क्रुद्ध हो गये और उन्हें जाति बहिष्कृत कर दिया। बहिष्कृत होने पर हरिवंश जी ने अपना स्वतंत्र नया सम्प्रदाय प्रवर्तित किया।'[1] श्री हरिवंश चरित लिखने वाले और किसी महानुभाव ने इस घटना का या इसी प्रकार की किसी अन्य घटना का उल्लेख तो क्या संकेत भी नहीं किया। जिस ढंग से यह घटना इस बंगला भक्तमाल में वर्णित है उस पर कोई भी बुद्धिवादी व्यक्ति कदापि विश्वास नहीं कर सकता। जाति बहिष्कृत होने की बात तो वैसे भी सर्वथा मिथ्या है। गोपाल भट्ट तो तैलंग ब्राह्मण थे, उनकी जाति का तो कोई सम्बन्ध ही न था। फिर जाति बहिष्कृत होने की बात कैसे उठती है। आज भी वृन्दावन के राधा-वल्लभीय गोस्वामियों और गौड़ीय गोस्वामियों में विवाह-सम्बन्ध तथा भोजन आदि का संबंध स्थापित है। साम्प्रदायिक मतभेद होने पर भी ब्राह्मण तथा वैष्णव के नाते दोनों एक हैं। इस प्रसंग में इतना उल्लेख करना यहाँ और आवश्यक है कि मधुसूदन शोध ग्रंथों में इस बंगला भक्तमाल ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर सन्देह ही नहीं प्रकट किया गया वरन् इसे अप्रामाणिक, जाली और झूठा बताया गया है। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक लिखा है कि मैंने विगत बीस वर्षों में ग्रंथ के तीन संस्करण देखे हैं और प्रत्येक संस्करण में सर्वथा अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन होता जा रहा है। कहीं लेखक के रूप में लालदास बाबा जी का नाम है कहीं कृष्णदास; और कहीं वह भी लुप्त है।[2]

---

१. श्री मधुसूदन अधिकारी अपनी श्री राधासुधानिधि (प्रथम संस्करण) द्वितीय खंड की भूमिका में लिखते हैं :

"एक समय श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी महोदय स्वीय प्रिय शिष्य हितहरिवंश के शास्त्र सदाचार अतिक्रम करार निमित परित्याग करने इहार विस्तारित विवरण 'भक्तमाल' ग्रन्थे वर्णित आछे। याहाहऊक भट्ट गोस्वीर एइ शासने समग्र गौड़ीय वैष्णवगण ताहार सहित संस्रव त्याग करेगा किन्तु सरस्वती महाशय भट्ट गोस्वामीर शासने सम्वरता हायोयाय वैष्णव मंडली ताहर सहितो सम्बन्ध छिन्न करिता एइकारणे एहि सकल अमूल्य ग्रन्थराजि गौड़ीयां वैष्णव सम्प्रदाये ताहश प्रचारित ओ समाहत हइते पारेनाया।' —मधुसूदन अधिकारी—(बंगाब्द १३२० में प्रकाशित)

२. "एइ सब उचित पढ़िया मने हय ग्रन्थ खानि खूब प्रामाण्य। किन्तु ये मन सन्देह ; आलय कृष्ण दिन दिन बाडिन तेमनि वैष्णव देर आलय 'प्रेमविलास' दिन दिन बाड़िलेन।"

—चैतन्य चरितेरपादान—लेखक विमान विहारी मजूमदार कलकत्ता यूनिवर्सिटी १६३६, पृष्ठ ५०७।

श्री गोपाल भट्ट के गुरु होने की कल्पना पर यदि साम्प्रदायिक मन्तव्यों एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार किया जाय तब भी यह सर्वथा असंगत और असमीचीन ठहरती है। श्री हरिवंशजी के मतानुसार इष्ट एवं आराध्या देवी राधा हैं किन्तु श्री गोपाल भट्टजी के मत में व्रजेश तनय श्रीकृष्ण की प्रधानता है।[1] गौड़ीय मत में राधा को परकीया स्वीकार किया जाता है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा की स्थिति परकीया न होकर स्वकीया है अथवा इन दोनों भावों से परे है।[2] श्री हरिवंशजी के मत में गोपीभाव की प्रधानता न होकर सहचरीभाव की प्रधानता है। शृंगार में नित्य संयोग की स्थिति है, विप्रलम्भ शृंगार तो राधावल्लभ सम्प्रदाय में क्षण भर को भी स्वीकार नहीं किया जाता। नित्य विहार में विश्वास और अटूट आस्था रखने वाले श्री हरिवंशजी क्या कभी विप्रलम्भ शृङ्गार-भावना के उपासक भट्टजी के शिष्य होना स्वीकार कर सकते थे? बाह्याचार, पूजासेवाविधि, एकादशीव्रत आदि वैष्णवीय साधना में भी पर्याप्त अन्तर है।[3] गौड़ीय सम्प्रदाय की कट्टरता को राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्थान नहीं है। केवल साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण इस प्रकार के तर्क, प्रमाणशून्य प्रवाद प्रचारित होते रहते हैं। अनुसंधान की आंच में तपने पर ही इनकी कलई खुलती है और यथार्थ तथ्य प्रकाश में आता है।

श्री गोपाल भट्ट को गुरु सिद्ध करने का जो प्रयत्न 'बंगला भक्तमाल' में हुआ उसकी असलियत को जानने के लिए उक्त भक्तमाल की भूमिका पठनीय है। श्री गोपाल प्रसाद शर्मा ने अपनी भ्रमोच्छेद नामक पुस्तक में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। 'सम्पादकेर निवेदन' में श्री दुर्गादास लाहिड़ी अपनी भूल को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि—'भक्त माल ग्रंथ के पृष्ठ २४३ पर श्री हितहरिवंशजी गोस्वामी महोदय को श्री गोपाल भट्ट जी का शिष्य लिखा गया है और लिखा है कि इन्होंने एकादशी के दिन पान खाने का

---

१. 'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।'

(माध्व सिद्धान्त)

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।' (चैतन्य सिद्धान्त)

—रूपगोस्वामी रचित 'भक्ति रसामृत सिन्धु' १—१—११

२. रागेणोल्लंघयन्धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीयप्रेमवसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः।
अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।

—उज्ज्वल नीलमणि—पृष्ठ १२-१४

३. राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधिकाजी का विग्रह न होकर 'गद्दीसेवा' है किन्तु माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय के मन्दिर में श्रीकृष्ण के एक ओर राधा और दूसरी ओर चन्द्रावली की प्रतिमा भी रहती है।

आरोप किया। यह सब भ्रममूलक सिद्धान्त है। उक्त गोस्वामी महोदय श्रीमन् गोपाल भट्ट जी के शिष्य नहीं थे। ताम्बूल भक्षण के आरोप का भी कोई प्रमाण नहीं है।[1]

वृन्दावन में भी यही प्रचार फैला। श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने अपने ग्रन्थ 'श्री चैतन्य चरित सार' में गोपाल भट्ट जी को हितहरिवंशजी का शिष्य लिख दिया था। राधावल्लभियों की ओर से आपत्ति उठाने पर उन्होंने अपनी त्रुटि मान कर क्षमा-याचना कर ली। इस घटना का भी पूरा विवरण गोपाल प्रसाद शर्मा ने अपनी की भ्रमोच्छेद पुस्तक में लिखा है।

"सबसे पहले इस झगड़े की जड़ नवीनता की भूमि में परलोकवासी गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने स्थापित की थी। आपने 'श्री चैतन्य चरित सार' ग्रन्थ में बिना किसी आधार के यह लिख दिया कि 'श्री हरिवंश जी श्री गोपाल भट्ट जी के शिष्य थे।' किन्तु जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो राधावल्लभियों को यह मिथ्या कथन सहन नहीं हुआ। उन्होंने प्रमाण के साथ आंदोलन आरम्भ किया। गोस्वामी जी पक्षपात रहित व्यक्ति थे। जब अपने अनुमानी लेख का उन्होंने बुरा परिणाम देखा तो ता० ५ अक्तूबर सन् १८८८ को १) रु० दण्ड देकर सब-इन्सपेक्टर लाला परसादीलाल साहब पुलिस स्टेशन वृन्दावन के सामने माफी मांग ली और पंचों में यह स्पष्ट कह दिया कि मैंने जो कुछ भी श्री हरिवंश जी के विषय में लिखा था वह निराधार और मिथ्या है। इस बात के छपे हुए विज्ञापन सर्वत्र बांटे गये थे।"[2]

पं० गोपालप्रसाद शर्मा ने अपनी 'भ्रमोच्छेद' पुस्तक में इन तथ्यों का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया कि आज से सत्तर वर्ष पूर्व विद्वज्जन अपनी भूल स्वीकार करने में संकोच नहीं करते थे। यदि किसी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के कारण कोई भूल हो भी जाय तो सत्य के उद्घाटन के लिए उसे मानकर अपनी विशाल-हृदयता का परिचय देते थे। श्री राधाचरण गोस्वामी जी के जिस नोटिस का वर्णन ऊपर हुआ है वह अभी तक राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों के पास सुरक्षित है। आज की साम्प्रदायिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक दुराग्रहपूर्ण

---

१. "श्री भक्तमाल ग्रन्थेर २४१ पृष्ठाय तहाँ सन्निविष्ट आछे। इहाते श्रीमन् श्री हित हरि-वंश जी गोस्वामी महोदय के श्री गोपाल भट्टजीर शिष्य बलिया कथित हई आछे एवं एकादशी तिथिते ताम्बूल भक्षण हेतु तहा के अपराधी करा हई आछे। किन्तु इहा सम्पूर्ण भ्रममूलक सिद्धांत। उक्त गोस्वामी जी महोदय श्रीमन् गोपाल भट्टजीर शिष्य नहेन। एवं तिनिये एकादशी दिने ताम्बूल भक्षणे अपराधी हयाछिलेन, तहार किञ्चमात्र प्रमाण नाई। (इसके आगे नाभाजी का मूल और प्रियादास जी की टीका एक पृष्ठ में देकर फिर आगे लिखा है) १७६१ सम्वत् प्रायः १६४ वर्ष पूर्व रचित एवं १७८२ सम्वतेर [illegible] पूंथी हइते उक्त पाठ उद्धृत हइल।"

—पं० गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'भ्रमोच्छेद', पृष्ठ ४७-४८ से उद्धृत।

२. [illegible] शर्मा लिखित 'भ्रमोच्छेद', पृष्ठ ४६ से उद्धृत।

और हठधर्मिता पर आरूढ़ होती जा रही है। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को दूसरों का गुरु सिद्ध करने के मिथ्या प्रयत्न में लीन देखे जाते हैं। पारस्परिक मैत्री, सौहार्द और सद्भाव से एक साथ रहने वाले साधु-संतों को एक-दूसरे का गुरु-शिष्य सिद्ध करने का आग्रह इतना प्रबल हो गया है कि यदि इसे शोध द्वारा दूर न किया जाय तो यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन किस सम्प्रदाय का शिष्य या गुरु था।

उपनयन संस्कार, विद्याध्ययन और विवाह

आठ वर्ष की आयु में आपका उपनयन संस्कार हुआ। इस आयु में आपकी बुद्धि सामान्य बालकों से कहीं अधिक तीव्र और धारणाशक्ति चमत्कारी थी। आपने अपने स्नेह और सौजन्य से शैशव में ही अपने चारों ओर अच्छा-खासा सखा-मंडल स्थापित कर लिया था। इन बाल-सखाओं के साथ आपकी क्रीड़ाएं असाधारण होती थीं। प्राय: भगवद्भक्ति के आश्रित ही कोई न कोई खेल आप खेलते थे।[1] ठाकुर जी की सेवा-पूजा करने की ओर भी आपकी नैसर्गिक रुचि थी और आपने महाप्रसाद का माहात्म्य शैशव में ही अपने बाल-सखाओं के समक्ष वर्णन किया था। एकादशी व्रत के प्रति आपका विलक्षण भाव इसी आयु में व्यक्त हो गया था। शनैः-शनैः अपनी अनन्य भावना और सेवा-पूजा के कारण आपकी ख्याति समीपवर्ती प्रदेश में हुई और आपके पास रसपिपासुओं का आगमन होना प्रारम्भ हुआ। इस आयु में आपने जो चमत्कार किए उनका वर्णन साम्प्रदायिक वाणी-ग्रंथों में भरा पड़ा है किन्तु उसे भावनापरक मानकर हमने इस प्रसंग में उद्धृत करना आवश्यक नहीं समझा। अलौकिक चमत्कारों का वर्णन पूज्य बुद्धि का फल है या यथार्थ का प्रतिफलन यह निर्धारण करना सरल कार्य नहीं।

सोलह वर्ष की आयु में आपका विवाह रुक्मिनी देवी के साथ सम्पन्न हुआ।[2] गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने पर भी आपने अपनी धार्मिक निष्ठा में परिवर्तन नहीं किया। गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुये आप सच्चे रूप में भक्त और सन्त बने रहे। इस जीवन के प्रति आपके मन में न तो वैराग्य भावना थी और न इसके प्रति किसी प्रकार का हीन भाव ही आप रखते थे। आपका दाम्पत्य-जीवन सुखी-सम्पन्न और आदर्श था। सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं भोगविलास की सामग्री आपके पास थी किन्तु आपकी भावना में उसके लिये किसी प्रकार की आसक्ति न होने से उसको लेकर आप कभी व्यग्र, विचलित या लिप्त न होते थे। तत्कालीन महात्माओं में वैराग्य की लहर जिस रूप में फैल

---

१. श्री जतनलालजी कृत 'अनन्य सार', पृष्ठ १४-१५ (हस्तलिखित)
द्रष्टव्य—श्री चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हरिवंश सहस्रनाम की भूमिका', पृष्ठ १-८ तक (प्रकाशित)

२—'परम्पराइ वास श्री देवन, रानी जग जानी श्री रुक्मिनि।'
(जयकृष्णजी की वाणी)
द्रष्टव्य—चाचा वृन्दावनदासजी का हरिवंश सहस्रनाम। (प्रकाशित)

रही थी और दाम्पत्य जीवन के प्रति जो तिरस्कार-भावना पैदा की जा रही थी, श्री हित-हरिवंशजी ने स्वयं गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर तथाकथित वैराग्य भाव को चुनौती दी। श्रीमती रुक्मिनी देवी से आपके एक पुत्री और तीन पुत्र उत्पन्न हुए।[1] सन्तति का जन्म सम्वत् प्राचीन वाणियों में इस प्रकार उपलब्ध होता है। ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचंद्रजी सं० १५८५, द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचंद्रजी संवत् १५८७, तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथजी संवत् १५८८ तथा पुत्री साहिब दे सम्वत् १५८६ में उत्पन्न हुईं। श्री हरिवंशजी की माता तारारानी का १५८६ में तथा पिता श्री व्यास मिश्र का निकुंजगमन १५६० सम्वत् में हुआ। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त श्री हरिवंशजी के मन में यह भाव आया कि किसी प्रकार भगवान् की लीलास्थली में जाकर वहाँ की रसमयी भक्ति-पद्धति में लीन होकर जीवन सफल करें।[2] उसी समय आपकी ख्याति से प्रभावित होकर तत्कालीन राजा ने (?) आपको अपने दरबार में बुलाने के लिये सादर निमंत्रण भेजा किन्तु आपने अपने अन्तर्मन में भगवान् की लीलाभूमि का निमंत्रण स्वीकार कर लिया था इसलिये राजा के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। और एक श्लोक में यह उत्तर भिजवा दिया कि सृष्टि के आदि से नरेन्द्र-सुरेन्द्र, ब्रह्मा आदि कालग्रसित होते आये हैं अतः हरिचरण में लीन होकर उनका ही ध्यान करना अभीष्ट है।[3] उस समय आपकी आयु ३२ वर्ष की थी।

संवत् १५६० में अपने माता-पिता के निकुंजगमन के बाद किसी आभ्यन्तर प्रेरणा से आपने जब ब्रजभूमि आने का निश्चय किया तब सहर्ष अपनी पत्नी रुक्मिनी को भी साथ

१—जिनकी संतति सब कोउ जानैं, बेटी साहिब दे सु बखानैं।
सुता एक सुत तीन सुधाम, तिनके जन्म द्यौस पुनि नाम।
पंद्रह सै पनचासिया अन्त, छहौ रितु में रितुराज बसन्त।
चैत्रवदी छठ मंगल गायौ, श्री वनचंद्र जनम जस छायौ।
पंद्रह से सतासिया जानौ, द्वै अरु बीस मास लघु मानौ।
माघ मास नवमी उजियारी, कृष्णचंद्र जन्म सुखकारी।
पंद्रह सै अठासिया आयौ, तेरह मास उरहजस छायौ।
फागुन मास सगतकी पूनौ, गोपीनाथ जनम सुख दूनौ।
(श्री जयकृष्णजी की वाणी—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२—यह सम्पति श्री वेवन भई, सब श्री श्यामा आज्ञा दई।
वृन्दावन कौं वेगि पधारौ, निज रस रीति अवनि विस्तारौ।
श्रवण सुनत उठि चले धाम को, सोवन हित श्री प्रिया श्याम को।
बरसि बयस वय क्रम जानो, प्रकट वास वन को मन मान्यौ।
(जयकृष्ण जी की वाणी—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

३—एवं नरेन्द्र दिग्विजयीन्द्र सुरेन्द्र ब्रह्मा, नागेन्द्र शम्भु निशिजेन्द्र दिवेन्द्र मुख्या।
सर्वे समान वयसा खलु कालग्रस्ता, तस्मात् भजध्व हरिपाद सरोज गंधम्॥'
(श्री हितचरित्र—गोपालप्रसाद शर्मा कृत, पृष्ठ २८ से उद्धृत)

चलने के लिये कहा किंतु छोटे-छोटे बच्चों का साथ होने के कारण आपकी पत्नी ने यात्रा में साथ देना उचित नहीं समझा अतः आप अकेले ही ब्रजभूमि के लिये चल पड़े। देवबन से प्रस्थान के बाद मार्ग में आपको राधा के स्वप्न में दर्शन हुये और उन्होंने आपसे कहा कि "आगे एक चिरथावल नाम का गाँव तुम्हारे मार्ग में पड़ेगा, उस गाँव में यदि कोई ब्राह्मण अपनी दो कन्याओं का तुम से विवाह करना चाहे तो तुम उसे स्वीकार कर लेना। यह विवाह तुम्हारे भक्ति-पथ में किसी प्रकार का अन्तराय उत्पन्न करने वाला न होगा। इस विवाह के द्वारा तुम दाम्पत्य जीवन का आदर्श प्रतिष्ठित करके यह दिखा सकोगे कि विवाहित जीवन में भी भगवान् की असीम अनुकम्पा प्राप्त हो सकती है। साथ ही यह भी उस स्वप्न में उन्हें राधाजी ने कहा कि मेरा एक विग्रह (राधावल्लभजी के रूप में) तुम्हें मिलेगा जिसे तुम वृन्दावन में ले जाकर मंदिर में विधिवत् स्थापित करना।"[1] ऐसा ही स्वप्न आत्मदेव नामक ब्राह्मण को भी होगा जो उसी चिरथावल गाँव का रहने वाला है। इस स्वप्न के बाद वे अपने यात्रा-पथ में अग्रसर हुये और उस गाँव में (चिरथावल) पहुँचे जिसमें आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके दो नवयुवती कन्याएँ थी और पूर्व-दृष्ट स्वप्न के आधार पर वह श्री हरिवंशजी के आगमन की सतत प्रतीक्षा कर रहा था। उनके आते ही उसने अपनी दोनों कन्याओं का पाणिग्रहण करने के लिये हरिवंशजी से प्रार्थना की जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इन कन्याओं के नाम कृष्णदासी और मनोहरीदासी थे। चिरथावल गाँव में कुछ समय तक ठहर कर फिर आपने अपनी यात्रा प्रारम्भ की और सम्वत् १५९० की फाल्गुन की एकादशी को वृन्दावन पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर मदनटेर नामक स्थान पर विश्राम के लिये डेरा डाला। यह स्थान आज भी वृन्दावन में प्रसिद्ध है। इनके दिव्य स्वरूप पर मुग्ध होकर ब्रजवासी दर्शनार्थ आने लगे और शीघ्र ही समीपवर्त्ती गाँवों में आपके आगमन का समाचार फैल गया। किम्वदंती है कि नरवाहन ने आपसे प्रार्थना की कि आप धनुष लेकर बाण चलाइये। आपका बाण जिस जगह तक पहुँचेगा वहाँ तक का प्रदेश हम आपको भेंट कर देंगे। कहते हैं कि हरिवंशजी ने ब्रजवासियों के अनुरोध पर बाण छोड़ा और वह बाण 'चीर घाट' नामक स्थान तक गया। फलतः मदनटेर से चीर

१—लै प्रसाद पौढ़े सुखदाई श्री श्यामा सुपने में आई।
चिरथावल में द्विज सम्पन्न, प्रेमभक्ति जुत महा अनन्य।
द्वै कन्या सौ तुमको देहै, अपनो भाग्य मानि वह लैहै।
तिनको पानि ग्रहण तुम कीजो, भक्ति सहायक ही गनि लीजो,
तिहो ठौव एक और मम रूप, द्विज लै मिलहू परम अनूप,
ताको लै वृन्दावन जैहै, सेवन करि सबको सुख दैहै॥
(श्री रसिकमाल उत्तमदासजी कृत, हस्तलिखित वाणी से उद्धृत)

घाट तक की भूमि श्री हरिवंशजी को उपहार स्वरूप प्रदान कर दी गई।[1] इस घटना का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता; केवल वाणी ग्रंथों में भावना-परक शैली से वर्णन है।

वृन्दावन आगमन और शिष्य-दीक्षा

स्थायी रूप से वृन्दावन वास करने का निश्चय करने के बाद श्री हरिवंशजी ने कदाचित् वैष्णव धर्म में प्रचलित समस्त साधना-पद्धतियों का अनुशीलन किया होगा और इस मनन-अध्ययन के बाद अपनी नूतन साधना-पद्धति प्रवर्तित की होगी। परम्परा से जो साधना-पद्धतियाँ वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित थीं उनमें विधि-निषेध के साथ कर्मकांड का प्रभाव बढ़ गया था और बाह्याचार की अनेक परिपाटियाँ प्रचलित हो गई थीं। उन्हें स्वीकार न करके श्री हरिवंशजी ने स्वकीय नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और अनेक बातों में सर्वथा अभिनव शैली स्वीकार की। इस मार्ग में विधि-निषेध की न्यूनता के साथ भक्ति में प्रेम-भाव की प्रबल साधना थी। प्रेम को रस के रूप में अपनाकर इस मार्ग को रसमार्ग कहा गया अतः जनसाधारण को इसमें अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ। भक्ति और प्रेम के मार्ग से श्रीजी की सेवा-उपासना का सुयोग पाकर श्रद्धालु जनता एक साथ गोस्वामी हरिवंशजी द्वारा प्रवर्तित मार्ग पर चल पड़ी और दूर-दूर तक आपकी साधना-पद्धति का प्रचार हो गया। इसी समय आपने कई श्रद्धालु भक्तों को अपना शिष्य बनाया। इन शिष्यों में भँगांव के अधिपति नरवाहन तथा रेवाड़ी के श्री नवलदास और पूरनदास का नाम उल्लेखनीय है।[2] श्री हरिवंशजी के सुन्दर रूप, गुण, शील पर मुग्ध होकर ब्रजवासियों ने आपको कृष्ण की वंशी का साक्षात् अवतार माना और आपकी सरस वाणी को वंशी-ध्वनि के अनुरूप गोपियों को मोहने वाली समझा। वंशी के अवतार रूप में आपका परवर्ती वाणियों में अत्यधिक वर्णन हुआ है। प्रियादासजी ने अपने भाष्य में हरिवंशजी को वंशी का अवतार न लिखकर हनुमानजी का अवतार कहा है किन्तु सम्प्रदाय में तथा ब्रज-भक्ति साहित्य में आप वंशी के अवतार ही माने जाते हैं।

नरवाहन नाम के शिष्य का सम्प्रदाय में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। नरवाहन

१—मदनटेर—वृन्दावन की परिक्रमा के मार्ग में बाराह घाट के समीप यमुनातट पर स्थित है। यहां पर एक विशालवट-वृक्ष है। श्री हितहरिवंशजी ने इसी वृक्ष के नीचे सर्वप्रथम वृन्दावन में विश्राम किया था। यहीं पर नरवाहन से प्रथम भेंट हुई थी।
चीरघाट—यह घाट आज भी वृन्दावन में गोविन्दघाट और केशीघाट के बीच में स्थित इस घाट के समीप ही सबसे पहला रास-मंडल संवत् १५६१ में श्री हितजी ने स्था[पित] किया था। यह रासमंडल आज भी वर्तमान है और वृन्दावन का प्राचीनतम रास मं[डल] माना जाता है।

२—श्री नवलदास और पूरनदास के शिष्य बनने का वर्णन श्री भगवत मुदित कृत रसिक[अनन्यमाल] में विस्तार से मिलता है।

द्रष्टव्य—रसिक अनन्य माल प्रकरण—७ तथा १०

भैगांव निवासी एक जमीदार था जो अपने आतंक के कारण व्रज प्रान्त में प्रसिद्ध था। व्रजभूमि में उसकी जमीदारी थी और वह यमुना नदी द्वारा व्यापार करने वाले लोगों से कर भी वसूल करता था। कर न देने पर वह लूट-पाट करने से भी बाज न आता। एक बार श्री हरिवंशजी तथा श्री नवलदासजी को धर्म-चर्चा करते उसने सुना तो उसके भावों में परिवर्तन आया और वह श्री हरिवंशजी के चरणों में आकर भक्तिपूर्वक शिष्य बन गया। इसकी गुरु-निष्ठा के सम्बन्ध में नाभाजी ने अपने भक्तमाल में एक और कथा का संकेत किया है। कुछ हो इतना स्पष्ट है कि श्री हरिवंशजी के सम्पर्क में आने के बाद नरवाहन ने अपना धन-धान्य सब श्रीजी की सेवा में अर्पित किया और भक्तजनों में अपनी साधना के बल पर स्थान पाया। श्री हरिवंशजी अपने इस भक्त पर इतने रीझे कि उन्होंने अपने दो पदों में नरवाहन छाप देकर उन्हें नरवाहन को ही भेंट कर दिया[1]। पदभेंट करने के और भी प्रमाण अन्य

१—नरवाहन की कथा का वर्णन भक्तमाल पृष्ठ६६३ कवित्त ६१६ में निम्न प्रकार मिलता है:—

रहे भैगांव, नरवाहन साधुसेवी,
लूटि लई नाव जाकी बन्दीखाने दियो है।
लौंडी आये देन कछू खायबे को, आई दया
अति अकुलाय लै उपाय यह कियो है।
बोलौ 'राधावल्लभ' और लैबौ हरिवंश नाम,
पूछे शिष्य नाम कह्यो, पूछिनाम लियो है।
दई मंगवाय वस्तु राखि यों दुराय बात,
आप दास भयो कही रीझि पद दियो है।"

इस पद की टीका में लिखा है—'श्री नरवाहन जी श्री हरिवंशजी के शिष्य परम संतसेवी भैगांव में रहते थे। व्रज के एक जमीदार और लुटेरे थे + + +। आपकी गुरु-भक्ति पर रीझकर इन्हीं की छाप देकर दो पद बनाकर आपने अपने चौरासी ग्रंथ में रख दिये। पृष्ठ ६६३-६६४। हित चौरासी के ये दो पद संख्या ११ और १२ हैं।

टिप्पणी—'नरवाहन के सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८ अंक ३, संवत् २०१० में श्री किशोरीलाल गुप्त ने 'हित चौरासी और नरवाहन' शीर्षक लेख में नरवाहन जी के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क उठाते हुए अपनी उपस्थापना में नरवाहन को भोंगांव जि० मैनपुरी का जमीदार ठहराया है। वह भ्रम भैगांव को भोगांव समझने के कारण हुआ है। नाभाजी ने भी भोंगांव ही लिखा है। यथार्थ में वृन्दावन से तीन मील दूर यमुना के दूसरे किनारे पर भैगांव नामक गांव है उसी के नरवाहन निवासी थे। यह ठीक ही है कि नरवाहन जी की प्रसिद्धि उनकी गुरुनिष्ठा और सन्तसेवा के कारण है, कवि होने के कारण नहीं। हितहरिवंशजी ने गुरुभक्ति पर मुग्ध होकर दो पद नरवाहन छाप से लिखे थे। यह काव्य-दान की पुरातन प्रणाली है। नरवाहनजी कवि नहीं थे, यह सिद्ध है। यदि कवि होते तो उनकी और रचना भी उपलब्ध होती। जिन दो पदों में नरवाहन छाप है वे स्पष्टतः अपनी भाषा, शैली, विषयवस्तु आदि की दृष्टि से हरिवंशजी के हैं तथा चौरासी में संकलित हैं।

कवि तथा राजाओं के जीवन-चरित्रों में उपलब्ध होते हैं। अत. नरवाहन को ही इनका प्रणेता समझ बैठना भूल है।

चार सिद्धकेलिस्थलों का प्राकट्य

वृन्दावन में निवास करते हुए श्री हरिवंशजी ने साधना के निमित्त चार 'सिद्ध-केलि-स्थलों' का प्राकट्य किया। मानसरोवर, सेवाकुंज, रासमंडल और वंशीवट नाम से आज भी ये चार स्थान वृन्दावन में विख्यात हैं। इनमें से प्रथम तीन आज भी राधावल्लभीय सम्प्रदाय के स्थल हैं। वंशीवट के विषय में अनुश्रुति है कि इस स्थल को किसी साधु ने निम्बार्कीय किसी साधु के पास गिरवी रख दिया था अतः वह स्थान सम्प्रति निम्बार्क सम्प्रदाय के पास है। इन स्थलों पर वर्ष में यथा समय साम्प्रदायिक उत्सव आदि होते रहते हैं।[1]

सेवा कुंज नामक स्थान का इसलिए और भी अधिक माहात्म्य है कि वहां श्री हरिवंश जी ने राधावल्लभजी के विग्रह की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा की थी। सम्वत् १५९१ में प्रथम पाटो-

---

१. मानसरोवर, वंशीवट, सेवाकुंज और रासमंडल।

मानसरोवर :—

यह स्थल वृन्दावन से दो मील यमुना के उस पार है। यहां एक सरोवर है तथा श्रीजी की नाम सेवा और रास मंडल है। श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक भी यहीं स्थापित कर दी गई है।

वंशीवट :—

यह स्थान वृन्दावन का पवित्र स्थल माना जाता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में यह स्थल श्री हितहरिवंशजी द्वारा प्रकट किया गया समझा जाता है। आजकल इस पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का अधिकार नहीं है। कृष्ण वंशी बजाकर गोपियों को यहां बुलाते थे ऐसा प्रसिद्ध है।

सेवाकुंज :—

वृन्दावन के मध्य में लाल पत्थर के कोट से परिवेष्टित विशाल वन है जिसमें लता, गुल्म, तृण वीरुध की बहुलता है। इसमें एक ललिताकुंड तथा श्रीजी का मन्दिर है। श्री हितहरिवंशजी ने इस स्थान पर अपना निवास-स्थान बनाया था। यहां प्रथम पाटोत्सव १५९१ में हुआ। यह आजकल भी वृन्दावन का प्रमुख तीर्थ एवं दर्शनीय स्थल माना जाता है। भक्तों की मान्यता है कि यहां आज भी नित्य-प्रति रात्रि को दिव्य रासविहार होता है और श्रीजी के कृपापात्र भक्त उसके दर्शन के अधिकारी हैं। इस कुंज को वृन्दावन का प्राचीनतम स्थल माना जाता है। यहां नामसेवा विराजमान हैं।

रासमंडल :—

यह स्थान चीरघाट या वर्तमान समय में प्रसिद्ध गोविन्द घाट के समीप स्थित है। यहां नाद वंश के विरक्त राधावल्लभीय नागाओं का अधिकार है। 'नाम सेवा' स्थापित है। ऊंचे गोल चबूतरे पर सिंहासन बना है। यहां रासलीला प्रारम्भ से होती आ रही है।

सव इसी सेवाकुंज में सम्पन्न हुआ। इस पाटोत्सव का उल्लेख सभी पुरातन वाणियों में
विस्तारपूर्वक मिलता है। यह पाटोत्सव ऐतिहासिक दृष्टि से इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसके आधार पर अन्य साम्प्रदायिक तिथियों का निर्णय किया जाता है। इस कुंज के विषय में आज भी यह किम्वदन्ती है कि यहां प्रतिदिन निशीथ के समय श्रीकृष्ण राधा तथा अन्य सखियों के सहित रास लीला करते हैं। लगभग आधी शताब्दी तक सेवाकुंज में ही श्री राधावल्लभजी का विग्रह प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १६४१ में अब्दुर्रहीम खानखाना के साथी दीवान (?) या खजांची सुन्दरदास भटनागर (कायस्थ) दिल्ली वाले ने लाल पत्थर का नया मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के निर्माण में सुन्दरदास ने प्रचुर धन लगाया क्योंकि उसे रहीम खानखाना ने विशेष रूप से आदेश दिया था कि मन्दिर निर्माण में किसी प्रकार की कोई कृपणता न की जाय। रहीम के इस उदारतापूर्ण आदेश का उल्लेख श्री भगवत् मुदित ने अपने रसिकमाल ग्रंथ में किया है।[1] लाल पत्थर का यह प्राचीन मन्दिर आज भी वृन्दावन में स्थित है किन्तु इसमें प्राचीन विग्रह प्रतिष्ठित नहीं है। इस समय यह मन्दिर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है। मन्दिर की दशा बहुत अच्छी नहीं है। इस मन्दिर में श्री राधावल्लभ जी का विग्रह सम्वत् १७२६ तक विराजमान रहा। किन्तु जब व्रज प्रदेश (वृन्दावन) पर औरंगजेब के दुर्दान्त आक्रमण हुए और हिन्दू मन्दिरों का ध्वंस प्रारम्भ हुआ तब यह मन्दिर भी उसके कोप से बच न सका।[2] मन्दिर के पार्श्व भाग को उसने तुड़वा डाला। किन्तु सौभाग्य से श्रद्धालु भक्तगण पहले ही मूर्ति को उठाकर कामवन (भरतपुर स्टेट में) ले गये थे और इस प्रकार मूर्ति को नष्ट होने से बचा लिया गया। कामवन में श्रीजी का विग्रह ११५ वर्ष तक रहा। ब्रिटिश राज्य के सुदृढ़ हो जाने पर पुनः सम्वत् १८४२ में श्रीजी का पदार्पण श्रीवन में हुआ। एक नवीन मन्दिर प्रतिष्ठा के लिए निर्माण कराया गया जिसमें अद्यावधि श्री राधावल्लभजी की मूर्ति विराजमान है।[3]

राधावल्लभजी का मन्दिर

जैसा कि पिछली पंक्तियों में हमने लिखा है कि राधावल्लभ जी के दो मन्दिर सम्प्रति वृन्दावन में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त गोस्वामी वर्ग के निजी मन्दिर भी हैं किन्तु प्रकृत प्रसंग में हमें सार्वजनिक एवं साम्प्रदायिक मन्दिरों की ही चर्चा करना अभीष्ट

---

१. द्रष्टव्य—भगवत् मुदित कृत रसिकमाल प्रकरण १४ वां—सुन्दरदास का चरित्र।

२. वृदावन के मन्दिरों के ध्वंस के लिए औरंगजेब के आक्रमण का वर्णन ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है। देखिए—ग्राउस साहब की पुस्तक 'मथुरा मेमायर्स, तथा व्रज का इतिहास —ले० कृष्णदत्त वाजपेयी—पृष्ठ १६२।

—चाचा वृन्दावनदास लिखित 'हरिकलावेलि' में सविस्तर इस आक्रमण का वर्णन मिलता है।

३. वर्तमान मन्दिर भड़ौंच के किसी स्वर्णकार ने बनवाया था—'मथुरा मेमायर्स' में इसका उल्लेख मिलता है। ग्राउस—'मथुरा मेमायर्स', पृष्ठ १२०-२१

है। लाल पत्थर का प्राचीन मन्दिर वृन्दावन के पुराने मन्दिरों में उल्लेखनीय समझा ज
है। इसके निर्माण काल के विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं। प्रथम मत
अनुसार इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् १६४१ ईस्वी सन् १५८५ में हुआ। यदि इस ि
को प्रामाणिक माना जाय तो यह मन्दिर वृन्दावन का प्राचीनतम मन्दिर ठहरता
प्रो० विलसन ने सबसे पहले इस सम्वत् का संकेत अपनी पुस्तक 'हिन्दू रिलीजंस' में ि
है।[1] इस मत की पुष्टि में और कोई प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ। 'म
मैमायर्स' के लेखक ग्राउस महोदय ने इसका निर्माण काल तो स्थिर नहीं किया कि
मन्दिर के एक प्रस्तर-अभिलेख का उल्लेख करते हुए इसे सम्वत् १६८४ ईस्वी सन् १६२७
बताया है।[2] इन दोनों विद्वानों के लेखों के आधार पर मथुरा जिले के सन् १८८४
सरकारी हिस्टोरिकल एकाउंट में तथा मथुरा जिले के सन् १९११ के गजेटियर में राधावल्
जी के मन्दिर का वर्णन किया गया है। दोनों वर्णनों का मुख्य आधार ग्राउस महो
का ग्रन्थ है अतः नवीनता नहीं है। हाँ, भगवत् मुदित के वृत्तान्त के आधार पर ल
मन्दिर के निर्माणकर्ता का नामोल्लेख इनमें अवश्य किया गया है। कृष्णचन्द्र जी द्वा
निर्मित एक स्वकीय मन्दिर का भी इसमें उल्लेख है।[3] सन् १९११ के 'मथुरा गजेटिय
में राधावल्लभ जी के मन्दिर का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। इस वर्णन क
आधार यद्यपि ग्राउस और विलसन के उपर्युक्त मत ही हैं किन्तु कला की दृष्टि से भी मन्दि
का वर्णन गजेटियर प्रस्तुत करने वाले सम्पादकों ने किया है। पहले वर्णन में मन्दिर क
निर्माता सुन्दरलाल कायस्थ का उल्लेख है और सम्वत् १६८३ में निर्माण काल लिख
है। गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी द्वारा निर्मित 'राधामोहन' के मन्दिर का भी इसी प्रसंग मे

---

1. He also erected a temple there that still exists, and indicates by an inscription over the door, that it was dedicated to Shri Radha Vallabha by Hari Vansh in Samvat 1641 or A. D. 1585.
   —Hindu Religions, H. H. Wilson, Page 116.

2. The Radha Vallabha have a temple at Brindaban dedicated to Krishna under the title Shri Radha Vallabha which is said to have been built in the year 1585, by Hari Vansh the founder of the Sect, a native of Devban in the district of Saharanpur. There are several inscriptions rudely scrawled on the walls, but the oldest at present visible bears the date of *Samvat* 1684 (1627- A. D.).
   —*Mathura—A District Memoir : Growse*, Part I, Page 120-121.

3. By these two wives he had two sons, *Braj Chand and Krishna* Chand of whom the latter built a *temple to* Radha Mohan, which *is still in the possession of his descendents*. The former was the *ancestor of the present* Gosains of the temple of Radha Vallabha *the chief Shrine of the Sect*. One of the pillors of the temple is an inscription that gives the date 1683 Samvat (1626 A D.).
   —*Statistical*, Descriptive and Historical Accounts of the North Western Provinces of India, Muttra, Part I, 1884 A. D., Page 103-104.

वर्णन है।[1] दूसरे वर्णन में विस्तार से मन्दिर की रूपरेखा तथा कलागत सौन्दर्य पर दृष्टि-निक्षेप किया गया है। इसी वर्णन में औरंगजेब द्वारा मन्दिर का भग्न किया जाना भी लिखा है।[2] श्री भगवत मुदित ने लाल पत्थर वाले मन्दिर के निर्माणकर्ता सुन्दरदास (लाल) कायस्थ की कथा रसिक अनन्यमाल में लिखी है। उन्होंने सुन्दरदास को खानखाना का दीवान लिखा है। मन्दिर की कहानी लिखते हुए कहते हैं कि ठाकुर गोपालसिंह जादव नामक एक जमींदार पहले इस मन्दिर के निर्माण के लिए उत्सुक था किन्तु उसे श्री वनचन्द्र गोस्वामी ने जब यह बताया कि मन्दिर में ठाकुर जी की प्रतिष्ठा के साथ ही मन्दिर-निर्माता की देह छूट जायेगी तब यह सुनकर वह निराश हो गया। तदनन्तर राजा मानसिंह ने भी मन्दिर बनवाने में रुचि दिखाई किन्तु वह भी इस अप्रिय भविष्यवाणी से हताश होकर चला गया। तब सुन्दरलाल कायस्थ ने वनचन्द्र जी से सानुरोध मन्दिर निर्माणार्थ प्रार्थना की और इसी प्रकार निधन में उसने अपने जीवन की कृतार्थता मानी। फलतः यह मन्दिर निर्मित हुआ। और सुन्दरलाल का निधन भी विग्रह प्रतिष्ठा के साथ ही हुआ।[3]

---

1. "This image was set up in a temple of the same name at Vrindaban which was built up by a Kayasth disciple called Sunder Lal in Sambat 1683 and is still owned by descendents of the founder. His second son Krishna Chandra built a temple to Radha Mohan at the same place."

   —A Gazetteer—Muttra District, 1911 A, D., Page 105.

2. "The temple of Radha-Vallabh is somewhat later than the series of four already described. One of the pillars in the front gives the date of its foundation as Sambat 1683 or 1626 A. D. It was built by a Kayasth named Sunder Das who held the appointment of treasurer at Delhi. He was a disciple of Braj Chand the *ancestor of the* present *Gosains of the temple and the* son *of the* reformer Harivansh the founder of the Radha Vallabhi Sect. The ground plan of the temple is much the same as that of Hari Dev at Govardhan and the work is of the same character but carried out on a larger scale. The nave has an eastern facade, thirty four feet broad, which is in the three stages, the upper and the lower Hindu, and the one between them purely Muhammadan in character. The temple in fact is of special architecture interest as the last example of the early electic style. The interior is a fine vaulted hall, measuring sixty three feet by twenty feet with a double tier of openings north and south, those in the lower storey having brackets and architraves and those above being Muhammadan arches as in the middle storey of the front. The actual Shrine or Celle was demolished by Aurangzeb."

   —A Gazetteer—Muttra by D. L. Drake Brockman, I. C. S., 1911 A. D., Page 246.

३. 'श्री हरिवंश कुमार को, सेवक सुन्दरदास।
मन्दिर करि सन्मुख रह्यो, निरखे रास विलास॥
श्री हरिवंश सुधर्म उजागर, सुन्दरदास कायथ भटनागर।
खानखाना के हुते दिवान, अकबर शाह करें सम्मान॥

नवीन मन्दिर जिसमें सम्प्रति श्री राधावल्लभ जी का विग्रह प्रतिष्ठित है अर्वाचीन है और कला की दृष्टि से उसमें कोई विशेषता नहीं है।

सेवाकुंज में राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित होने के बाद श्री हरिवंशजी ने अपनी पद्धति से अष्टयाम सेवा-पूजा का प्रचार किया। इस नूतन पद्धति का प्रचार होने के बाद ही राधावल्लभीय सेवा-पूजा प्रणाली का कई अंशों में अनुगमन अन्य सम्प्रदायों में भी हुआ। पांच आरती का विधान भी इसी समय हरिवंशजी ने किया।[1] सेवाकुञ्ज के बाद दूसरा स्थल मानसरोवर था जहाँ एकान्त में ध्यान-भजन के लिए श्री हरिवंशजी जाते थे।[2] यह स्थान आज भी जमुना नदी के दूसरे किनारे पर जंगल में स्थित है, वहाँ भजन की दृष्टि से निर्जन प्रदेश का सौंदर्य है। कुछ लोगों का कहना है कि पहले यह स्थान यमुना के इसी किनारे पर था, बाद में यमुना-प्रवाह के परिवर्तन से दूसरे किनारे पर हो गया।

श्री हरिवंशजी के उपदेशों और कार्यों से प्रभावित होकर दूर-दूर से भक्तजन इनके दर्शनार्थ आने लगे थे। इनके शिष्य श्री नवलदास इसी बीच ओरछा गये। वहाँ पहुँचने पर नवलदास ने सब जगह श्री हरिवंश का गुणानुवाद किया जिसे सुनकर श्री हरिराम व्यास बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने श्री हरिवंशजी के दर्शनार्थ आने का दृढ़ संकल्प किया। श्री व्यास जी संस्कृत के प्रकांड पंडित और शास्त्रार्थ महारथी थे किन्तु जब वे श्री हरिवंश के

सब राजन को आज्ञा दीनी, देव स्थल की रचना कीनी।

+ + +

सुन्दर पग परि विनती करी, प्रभु जी मैं मन में यह धरी।
आज्ञा देहु तो मन्दिर करौं, अपने इष्ट सेइ भव तरौं॥
यहै बात सुन्दरहि सुनाई, आज्ञा प्रभु की यों है भाई।
सुन्दरदास सुनत सुख पायो, पूरन भाग्य उदै ह्वै आयो॥
आज्ञा वचन सुने जब कान, मानहुँ मृतक ने पाये प्रान।
खरचत द्रव्य न मन सकुचायो, तीन बरस में सिद्ध करायो॥

—श्री भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' से उद्धृत।

१. "सेवा की पद्धति विस्तारी, सात भोग रितु-रितु अनुसारी।
पांच आरती आठों याम, समय-समय भावना सुधाम।
सावधान सेवा में आप, कहुँ सुनें नहि असद् अलाप।"
(श्री उत्तमदास की वाणी; हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

टिप्पणी—२. सेवाकुंज को वृन्दावन का प्रथम मन्दिर-स्थान माना जाता है। 'मथुरा गजेटियर' में इसे महत्वपूर्ण स्थान माना है।

'The first Shrine erected at Brindaban was *one in honour of the* eponymous goddess Brinda Devi. It is said to have stood in the Seva Kunj, now a large walled garden with a massonary tank near the Ras-Mandal *but no traces remain of it.*'

—A Gazetteer—Muttra, Page 242.

समीप आये तब उनका समस्त ज्ञान-दर्प अपने आप तिरोहित हो गया और उन्होंने श्री हरिवंशजी को अपना गुरु बना लिया।

श्री पूरनदास ठट्ठा (सिंध) देश गये और वहाँ जाकर उन्होंने राधावल्लभीय पद्धति से सत्संग प्रारम्भ किया। उनके समाज में भक्तजन श्री हरिवंशजी की पद्धति से उपासना का नूतन मार्ग प्रकटित हुआ जान बड़े आनन्द से सम्मिलित होते थे। श्री परमानन्द नामक मनसबदार पर इस सत्संग का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वप्न में ही अपने भक्ति-बल से गुरु-मंत्र प्राप्त किया। शाही दरबार के आश्रित मनसबदार होने के कारण श्री परमानन्द का सिंध में अच्छा प्रभाव था। उन्होंने मनसबदारी त्याग कर वृन्दावन आने का निश्चय किया और वृन्दावन आकर श्री हरिवंशजी के शिष्य हो गये।

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ब्रज की भक्ति-साधना के चरम उत्कर्ष का काल है। इस काल में कृष्णभक्ति की जो अजस्र निर्झरिणी वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में होकर प्रवाहित हुई वह अद्यावधि किसी न किसी रूप में वर्तमान है। सोलहवीं सदी का अन्तिम चरण वृन्दावन भूमि के लिए दिव्य वरदान सिद्ध हुआ। श्री हितहरिवंश के वृन्दावन-आगमन के उपरान्त श्री स्वामी हरिदास, श्री हरिराम व्यास और स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती का आगमन हुआ। एक साथ इन चार महात्माओं के आगमन से ब्रजभूमि भक्ति के प्रबल प्रवाह से तरंगित हो उठी। चैतन्य सम्प्रदाय के बंगाली वैष्णव गोस्वामियों ने इनसे पहले कृष्णभक्ति की जो उज्ज्वल भावधारा प्रवाहित की थी उसे लोकभाषा और लोकसंगीत की माधुरी का पुट प्राप्त होते ही प्रसार तथा प्रचार का और अधिक व्यापक क्षेत्र मिला। शास्त्रीय विवेचन की परिपाटी ने बंगाली गोस्वामियों की भक्ति-साधना को गम्भीरता और प्रामाणिकता के उच्च स्तर पर ला खड़ा किया था किन्तु जनसाधारण की पहुँच से बाहर होने के कारण उसमें व्यापक प्रसार का अभाव बना हुआ था। निश्चय ही हरि-त्रयी की सरस पदावली और आर्जव भक्ति-पद्धति ने उसे स्फीत और प्रस्फुट बनाया। कृष्णभक्ति के इस नूतन स्वरूप का प्रचार करने के लिए रासलीला अनुकरण की आवश्यकता अनुभव हुई। तभी रासलीला अनुकरण को पुनरुज्जीवित करने के लिए रासमण्डल की स्थापना की गई। रासमंडल की स्थापना करने का श्रेय निश्चय ही श्री हितहरिवंशजी को है। लीलानुकरण तो पहले भी होता था किन्तु किन्हीं कारणों से वह लुप्त हो गया था, उसे नवीन रूप देकर प्रवर्तित किया गया। गोविन्दघाट (वृन्दावन) के समीप जो रासमंडल स्थापित है वह प्राचीनतम है और उसकी स्थापना श्री हरिवंशजी ने ही की है। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि रासलीला अनुकरण का प्रवर्त्तन श्री घमंडिदेव (निम्बार्क) को है और कुछ विद्वान् गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों को इसका श्रेय देते हैं। इस विवादास्पद विषय पर हमने 'रासलीला अनुकरण विवेचन' प्रकरण में विचार किया है।[1]

उसी समय राधावल्लभीय सेवा-पूजा विधि में वैशिष्ट्य लाने के निमित्त 'खिचड़ी की

१—देखिए—(प्रस्तुत प्रबंध) रासलीला अनुकरण, अध्याय सप्तम।

प्रथा' का श्री हितहरिवंशजी ने प्रचलन किया। खिचड़ी नामक उत्सव इस सम्प्रदाय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। विभिन्न रूप की वेशभूषा पहनाकर श्री राधावल्लभजी को प्रस्तुत किया जाता है। राधावल्लभजी का वेश इस उत्सव में एकदम साधारण होता है, यथार्थ में यही सहज-परिधान इस उत्सव की विशेषता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भगवत् विग्रह के इस 'सामान्य रूप' और 'सहज-परिधान' का यही अर्थ समझ में आता है कि अमूल्य पदार्थों के साज-शृंगार के साथ मूर्ति का प्रसाधन ही भगवान् को अभीष्ट नहीं—उन्हें तो साधारण से साधारण वेश-विन्यास भी उतना ही रुचिकर होता है। 'खिचड़ी प्रथा' के प्रचलन से जनसाधारण को थोजी के इस रूप की ओर अत्यधिक आकर्षण बढ़ा। राधावल्लभी सज्जन खिचड़ी प्रथा को बहुत महत्व देते हैं।

सम्वत् १५९५ के लगभग श्री प्रबोधानन्द सरस्वती वृन्दावन पधारे। किम्वदन्ती है कि वृन्दावन में श्री परमानन्द नामक एक महात्मा निवास करते थे। प्रबोधानन्द जी का मथुरा आने पर उनसे परिचय हुआ और उन्होंने एक दिन अति प्रेम-विभोर दशा में परमानन्दजी को देखा और वे उनके इस रूप पर मुग्ध हो गये। उन्होंने परमानन्द जी से इस प्रेम-विह्वल स्थिति तक पहुँचने का उपाय जानना चाहा। परमानन्द जी ने बताया कि भक्ति की यह पद्धति श्री हरिवंशजी की है जो रसमार्ग के नाम से वृन्दावन में विख्यात हो चली है। कहते हैं कि शास्त्र मर्यादा में विश्वास रखने वाले प्रचंड पंडित श्री प्रबोधानन्द जी रसमार्ग का रहस्य जानने के लिए श्री हरिवंशजी के पास आये और गो० हरिवंशजी से रस-चर्चा सुनकर इसकी सरसता पर मुग्ध होकर उसमें लीन हो गये।[1] यह तो प्रसिद्ध ही है कि श्री प्रबोधानन्द सरस्वती संस्कृत भाषा के धुरन्धर पंडित और रससिद्ध कवि थे। 'वृन्दावन शतक' नामक उनका स्तोत्रकाव्य रस के चरम उत्कर्ष का प्रमाण है। यह भी ठीक ही है कि वृन्दावन आने से पहले उन्होंने भारतीय भक्ति-साधना की अनेकानेक दुर्गम घाटियों का चक्कर काटा था। कर्मकांड की दुर्धर्ष जटिलताओं से भी उनका साक्षात् परिचय था। यह सब होते हुए भक्ति की सरसता पर मुग्ध होने के लिए कोई न कोई आकर्षण उन्हें वृन्दावन में ही मिला। इस सम्बन्ध में अत्यधिक विवाद है कि उन्होंने रसमार्ग को कब, कैसे और किसके उपदेश से स्वीकार किया, किन्तु यह कहना अधिक अनुचित और अप्रामाणिक न होगा कि श्री हरिवंशजी

१—"परमानन्द रसिक कहुं मिले, चर्चा करत दुहूं मन खिले।
नित्य विहार की चर्चा ठानी, सो प्रबोध के मन नहिं आनी।
स्तुति, स्मृति इतिहास सुनाये, सनक संहिता के मत गाये।
वामन वामन बृहत्पुरान, इन्हीं आदि कहे बहुत प्रमान।
तातें मानसरोवर कह्यौ, नित्य विहार रसिकजन लह्यौ।
सुनकर मानसरोवर रीति, श्रद्धा भई करी कछु प्रीति।
तब प्रबोध के मनु कछु आई, रंन सरोवर दर्श जु जाई॥"
(उत्तम मुदित कृत रसिक अनन्यमाल, प्रबोधानन्द चरित, पंक्ति ६ से १२ तक)

का प्रबोधानन्दजी पर प्रभाव पड़ा था; अन्यथा वे रसमार्ग में सहसा परिवर्तित क्यों होते। जिस शैली से प्रबोधानन्दजी ने बाद में अपनी वाग्धारा प्रवाहित की उस पर भी हरिवंशजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह ठीक है कि उनकी निष्ठा आराध्य की दृष्टि से कहीं और होगी और उनका गुरु भी कोई और रहा होगा। श्री हरिवंशजी को उनका गुरु सिद्ध करने का हमारा तनिक भी आग्रह नहीं है।

श्री भगवत मुदित ने प्रबोधानन्द जी का चरित्र लिखते हुए उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया है।[1] स्वयं प्रबोधानन्दजी के अष्टक में भी हितजी की स्तुति है।[2] भगवत मुदित ने इस शतक की पूरी टीका भी १७०७ सम्वत् में लिखी है; यह ग्रन्थ प्रकाशित भी है।

इसी समय कर्मठीबाई नामक एक भक्त महिला श्री हरिवंशजी का यशोगान सुनकर वृन्दावन आई। यह महिला उच्चकोटि के भक्तों में विख्यात है। श्री भगवत्मुदित ने इसका चरित्र लिखा है। कर्मठीबाई की श्री हरिवंशजी पर अनन्य श्रद्धा थी और उनकी शिष्या बनने पर ही उसे आत्मोद्धार का मार्ग सुलभ हुआ था।[3] कामवन की रहने वाली यमुनाबाई और गंगाबाई नामक अन्य दो महिलाएं भी श्री हरिवंशजी की शिष्या हुई और इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति को स्वीकार कर अपना उद्धार कर सकीं। श्री खरगसेन जी भी हरिवंशजी के अनुयायी बने। इनकी कथा नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में लिखी है।[4] श्री हरिदास तुलाधार भी इसी सम्प्रदाय के शिष्य थे। प्रसाद-निष्ठा के लिए उनकी बड़ी ख्याति थी।

१—"परमानन्द प्रबोध हित कही, सो विनती हित जू मन गही।
ये संन्यासी हम हैं ग्रेही, मन की भाव धरी जू सनेही।
सेवन करि परतीति बढ़ाई, नित्य विहार की शिक्षा पाई।।
प्रस्तुति अष्टक करि शुद्धि करी, चित्तवृत्ति हरि चरननि धरी।
सुन करना करि रीति बताई, अभिलाषा पुजई मन आई।
भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्यमाला'

२—"त्वमसि श्रीहरिवंश श्यामचन्द्रस्य वंश
परमरसद नादैर्मोहिता सर्वविश्वः।
अनुपम गुणदामैर्निर्मितोऽसि द्विजेन्द्र,
मम हृदि तव गाथाश्चित्र लेखेव लग्ना ॥
× × × ×
"राधावल्लभ पादपल्लवजुषां सद्धर्म नीतायुषां
नित्यंसेवित वैष्णवांघ्रि रजसां वैराग्य सीमा स्पृशाम्।
हृत्कैकान्त रसप्रविष्टमनसा मप्यस्ति यद् दूरत
स्तद्राधा करुणावलोकमचिरात् विन्दन्तु वृन्दावने ॥ —सप्तदश शतके

३. द्रष्टव्य—कर्मठीबाई का चरित्र—श्री भगवत्मुदित लिखित।

४. द्रष्टव्य—श्री खरगसेन का चरित्र—नाभाजी का 'भक्तमाल' पृष्ठ ८५६, छप्पय ७५२।

श्री नाभाजी ने भक्तों में इनका भी चरित्र लिखा है। श्री भगवतमुदित ने इनकी प्रसाद-निष्ठा की कथा लिखी है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'ब्याहुला' प्रथा का प्रवर्तन श्री हरिवंशजी ने बड़े समारोह से किया। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में अब ब्याहुला का विपुल वर्णन मिलता है। इस विवाहोत्सव की परिपाटी का रसपद्धति से सांगोपांग वर्णन का श्रेय निश्चय ही श्री हरिवंशजी को ही है। बाद में अनेक राधावल्लभीय महानुभावों ने अपनी सरस एवं सुन्दर वाणी में 'ब्याहुला' का वर्णन किया। ऐसा सुन्दर एवं मोहक वर्णन अन्य किसी वैष्णव सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं होता।[2]

सम्वत् १५९८ में शरद ऋतु में मनोहरीदासी नामक पत्नी से श्री मोहनचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुए।[3]

ग्रंथ रचना

श्री हितहरिवंशजी के दो प्रमुख ग्रन्थ विख्यात हैं। राधासुधानिधि संस्कृत का राधा-स्तुति-विषयक स्तोत्र ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना के विषय में यह साम्प्रदायिक किम्वदन्ती है कि हरिवंशजी ने शैशव में ही इस ग्रन्थ का उच्चारण किया था। जनश्रुति के विवाद में न पड़कर ग्रंथ की विषय-वस्तु और वर्णन-शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हितजी की राधा-निष्ठा की जैसी सुन्दर एवं सरस अभिव्यक्ति देववाणी के माध्यम से इस ग्रन्थ में हुई है वैसी किसी और भावुक भक्त या कवि की उपलब्ध नहीं होती। इस ग्रन्थ का विशद विवेचन हमने स्वतंत्र रूप से अष्टम अध्याय में किया है। हितजी की दूसरी सुप्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' है। इसमें राधावल्लभ सम्प्रदाय की मूल भावना काव्य के सरस माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। चौरासी पदों का यह संग्रह किस काल से किस काल तक तैयार हुआ यह निर्णय करना कठिन है। प्रतीत होता है अपनी आभ्यन्तर प्रेरणा और भावना के अनुकूल विभिन्न काल में इन पदों की रचना होती रही और अन्त में इन्हें एक सूत्र में ग्रथित करके 'हित चौरासी' नाम प्रदान कर दिया गया। ये समस्त पद गेय होने के कारण विभिन्न रागों के आधार पर लिखे गये हैं जो संगीत-शास्त्र की कसौटी पर खरे उतरते हैं। चौदह रागों का इनमें प्रयोग हुआ है। इनका विषय राधामूलक भावना की विविध रूपों में अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। किसी दार्शनिक विचारधारा की ऊहापोह या गूढ़ व्यंजना इनमें नहीं है। रचना की प्रौढ़ता इस बात का प्रमाण है कि ये पद श्री हरिवंशजी ने अपनी साधना के परमोत्कर्ष के समय में लिखे थे। राधासुधानिधि में शब्द परिवर्तन मात्र से एक ही भाव की जैसी बार-बार आवृत्ति हुई है वैसी इसमें नहीं है। इन पदों को हितजी

द्रष्टव्य—

१—श्री हरिदास सुनार का चरित्र—भगवतमुदित कृत रसिक अनन्यमाल।
" " " " " नाभाजी कृत भक्तमाल, पृष्ठ ८४२, छप्पय ७३३।

२—राधासुधा निधि—श्लोक ५६ तथा हित चौरासी पद सं० ६१।

३—श्री मोहनचन्द्र जी के जन्मोत्सव का वर्णन श्री जयकृष्णजी की वाणी में पठनीय है।

के जीवन-काल में ही सम्प्रदाय का आधार ग्रंथ होने का सौभाग्य मिल गया था। मन्दिर की सेवा-पूजा विधि में यथासमय इनका उपयोग भी प्रारम्भ हो गया था। इन पदों की माधुर्य-व्यंजना ने तत्कालीन भक्तों को एक ऐसी प्रेरणा प्रदान की थी कि जहाँ माधुर्य-भक्ति के लिये विशेष गुंजाइश न थी वहाँ भी माधुर्य-भाव पूर्ण शृङ्गारपरक अभिव्यक्तियों द्वारा प्रविष्ट हो गया। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्य-भक्ति पर स्पष्ट ही हित-हरिवंशजी के इन पदों की छाप देखी जा सकती है। यह ग्रन्थ सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ समझा जाता है।

अपनी साम्प्रदायिक तथा सैद्धांतिक भावना को स्पष्ट करने के लिये हितहरिवंशजी ने सत्ताईस स्फुट पद लिखे हैं जो तीसरी रचना कही जा सकती है। इन पदों में तेईस रागों पर आधित गेय पद हैं और चार दोहे हैं। इन स्फुट पदों की रचना भी यथासमय होती रही और विषयवस्तु की दृष्टि से इन्हें चौरासी पदों से पृथक् संकलित कर दिया गया। पदों के अनुशीलन करने से इस तथ्य को भली-भांति हृदयङ्गम करना कठिन प्रतीत होता है ये समस्त पद सिद्धांत को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं। अन्त में जो चार दोहे संकलित हैं उनमें निश्चय ही सुन्दर शैली से सिद्धांत प्रतिपादन हुआ है। दोहे सारगर्भित, गूढ़ सैद्धान्तिक भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं।

चौथी रचना 'यमुनाष्टक' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें यमुना की स्तुति में संस्कृत के आठ श्लोक हैं। निर्विवाद रूप से इस अष्टक को हितहरिवंशजी का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु यह अष्टक हितजी के नाम से विख्यात चला आ रहा है। इन चारों ग्रंथों की समीक्षा हमने पृथक् अध्याय में की है। यहाँ केवल सामान्य निर्देश मात्र कराने के लिए इतना लिखा गया है। इन चारों ग्रंथों की हमने अनेक हस्तलिखित प्रतियां देखी हैं अतः उनके आधार पर प्रामाणिकता आदि का निर्णय भी उसी अध्याय में किया है। इन ग्रंथों का रचना-काल निर्णय करना साधारणतः कठिन है किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि हितहरिवंशजी के वृन्दावन आने के बाद ही इनका प्रणयन हुआ होगा। अतः संवत् १५६१ से संवत् १६०६ के मध्य ही इनका रचनाकाल स्थिर किया जा सकता है।

निकुंजगमन

प्राचीन वाणियों के आधार पर श्री हरिवंशजी के निकुंजगमन की तिथि १६०६ ठहरती है। आश्विन मास की शरद् पूर्णिमा के दिन आपने इहलोक-लीला संवरण की। आपकी मृत्यु से रसिक-समाज, जिसका संगठन वृन्दावन में आपकी अध्यक्षता में हुआ था— बिखर गया। श्री हरिराम व्यास ने आपकी मृत्यु पर बहुत ही मार्मिक पद लिखा है। 'बड़ौ अभाग्य अनन्य सभा को उठि गयौ ठाठ सिंगार।'[1] रसिक-समाज के छिन्न-भिन्न होते ही

१—हुतौ रस रसिकनि कौ आधार।
बिनु हरिवंसहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार।

विभिन्न सम्प्रदायों के मतवाद फिर से जीवित हो उठे और वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष की भावना जो रस की सजग वर्षा में शान्त हो गई थी फिर से प्रबल हो गई।

श्री हरिवंशजी के देहावसान के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ भी प्रचलित हैं जिनका निराकरण करना हम आवश्यक समझते हैं। कहा जाता है कि श्री हरिवंशजी के विरोधियों ने एक दिन मौका पाकर तलवार से उनका सिर काटकर वध कर दिया। यह प्रवाद मूल रूप से बंगला के 'प्रेम-विलास' नामक ग्रंथ के भ्रमपूर्ण उल्लेख से फैला है। विद्वान् लेखकों ने यद्यपि इसकी प्रामाणिकता को सर्वथा संदिग्ध ठहराया है और युक्ति, तर्क, प्रमाण के आधार पर इसे उन्नीसवीं शताब्दी का कहा है, किन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण इस ग्रंथ द्वारा प्रचलित अनेक भ्रान्तियाँ फैल गई हैं। इस प्रकरण में 'प्रेम विलास' ग्रंथ के रचयिता का नाम नित्यानन्द बताया जाता है और रचना-सम्वत् १६५७ विक्रम। यह ग्रंथ सम्वत् १९६६ में प्रकाशित भी हुआ है। प्रकाशक ने ग्रंथ में किसी यदुनन्दन दास कृत 'करुणानन्द' नामक ग्रंथ के तथा कतिपय अन्य हस्तलिखित ग्रंथों के उद्धरण इसमें दिये हैं किन्तु उनकी प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं दिया। प्रकाशक स्वयं लिखता है कि जिन हस्तलिखित प्रतियों के उद्धरण इस पुस्तक में दिये हैं उनका लिपिकाल ज्ञात नहीं अतः केवल अनुमान के आधार पर इसे सम्वत् १६५७ वि० का कहा जाता है। जो दो-तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ 'प्रेम विलास' की मिली हैं उनमें २४ विलास न होकर किसी में १६, किसी में १७ और किसी में २० विलास हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति में लिपिकाल शाके १८३४ (वि० सं० १९६९) लिखा है। उसी में यह भी लिखा है कि यह प्रति जिस मूल हस्तलिखित प्रति से तैयार की गई है उसका समय शाके १७३२ (वि० सं० १८०७) है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ की रचना सम्वत् १८०७ के आसपास हुई होगी। प्राचीन प्रति में केवल १६ विलास (अध्याय) हैं किन्तु बाद की प्रतियों में इसकी संख्या निरंतर बढ़ती रही है। 'हरिवंश चरित्र' उन १६ अध्यायों में नहीं आता जो प्राचीन लिपि में है। १८ वां विलास हरिवंश चरित्र सम्बन्धी है जो निश्चय से प्रक्षिप्तांश है; बाद के वर्द्धमान अध्यायों का ही एक अंश है। इस ग्रंथ की अप्रामाणिकता के लिए आभ्यंतर प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। हरिवंश चरित्र लिखते समय प्रारम्भ से अन्त तक असत्य, भ्रामक और इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ, हरिवंशजी की सन्तान का वर्णन करते हुए लिखा है—

(पिछले पृष्ठ का शेष)

को राधा बुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार।
पद रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग्य अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार।
जिन बिनु दिन-छिन सतजुग बीतत सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल कुमुद बंधु बिन उड़गन जूंठो थार।
—हरिराम व्यास, व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध)—पद सं० ८१

'अपराध देहेर दुइपुत्र होइल तार।
वनचन्द्र और वृन्दावनचन्द्र नाम जार॥'

श्री हरिवंशजी की सन्तान में वृन्दावनचन्द्र नामक किसी पुत्र का होना कहीं नहीं मिलता। इसके आगे यह भी लिखा है कि हरिवंशजी के पूर्वस्वरूप (गृहस्थ-जीवन) में दो पुत्र और थे, उनके नाम कृष्णदास और सूर्यदास थे—

पूर्वे हरिवंशेर आरउ दुइपुत्र हय,
कृष्णदास सूर्यदास जार नाम राख॥'

श्री हरिवंशजी के देववन्द के निवास आदि का कोई वर्णन इस ग्रंथ में प्रामाणिक शैली से नहीं है। संक्षेप में, उपर्युक्त विवरण से 'प्रेम विलास' ग्रंथ की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है अतः इस ग्रंथ की बातें भी उपादेय नहीं ठहरती। फलतः इस ग्रंथ में निकुंज-गमन के सम्बन्ध में जो मिथ्या बातें लिखी हैं वे साम्प्रदायिक विद्वेष का ही परिणाम है, उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस ग्रंथ के आधार पर ही कतिपय अन्य विद्वानों ने भी श्री हरिवंशजी की मृत्यु का कारण दस्युओं द्वारा वध बताया है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने अपने 'भगवती कथा' [१] नामक ग्रंथ में 'संसार के महापुरुषों का मरण पथ' में लिखा है कि 'आचार्य हरिवंशजी का विपक्षियों ने सिर काट लिया।' श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने अपने एक दूसरे लेख में भी इस बात को दुहराया है। 'महापुरुषों का बलिदान' शीर्षक लेख दिल्ली के साप्ताहिक 'नवयुग' में प्रकाशित हुआ था; उसमें भी यही लिखा है कि 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्री हितहरिवंशजी महाराज का सिर उनके प्रतिपक्षियों ने काट लिया था।'[२] श्री ब्रह्मचारीजी के पास इस तथ्य की पुष्टि के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। किस आधार पर उन्होंने यह लिखा, यह भी कहीं स्पष्ट नहीं किया। साम्प्रदायिक विद्वानों से विचार-विमर्श करने पर विदित हुआ कि इस किम्वदन्ती को फैलाने में पारस्परिक विरोध तथा वैमनस्य ही कारण है। इस घटना को पूरी कहानी बना कर प्रतिपक्षी सम्प्रदायों में कहा-सुना जाता है। कहानी यों है कि "श्री हरिवंशजी की स्वतन्त्र उपासना-पद्धति में तथाकथित वैष्णव तत्त्वों की अवहेला देखकर कुछ वैष्णव रुष्ट हुए और उन्होने डाकुओं को प्रलोभन देकर उनका सिर कटवा लिया। डाकुओं ने सिर काटकर जमुना में प्रवाहित कर दिया जो तैरता हुआ श्री गोपाल भट्ट जी को दृष्टिगत हुआ। उन्होने द्रवित होकर उसे उठाया और हरिवंशजी के शिष्यत्व से प्रसन्न होकर उनका उद्धार किया।" इस घटना के मूल में श्री गोपाल भट्ट को गुरु सिद्ध करने की बात भी अन्तर्निहित है अतः कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति समझ सकता है कि यह सब कपोल-कल्पित जल्पना मात्र है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का साहित्य और इतिहास काल के धुंध में छिपा नहीं है। श्री हरिवंशजी के जन्मकाल से लेकर आज तक इस सम्प्रदाय की सम्पूर्ण परम्परा, इतिहास,

---

१—'भगवती कथा' २३ वां अंक, प्रथम संस्करण (भूमिका) ले० श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी।
२—साप्ताहिक नवयुग, दिल्ली, वर्ष १९ अंक ६, फरवरी १९४८, पृष्ठ १, पांचवां अनुच्छेद।

विभिन्न सम्प्रदायों के मतवाद फिर से जीवित हो उठे और वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष की भावना जो रस की अजस्र वर्षा में शान्त हो गई थी फिर से प्रबल हो गई।

श्री हरिवंशजी के देहावसान के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियाँ भी प्रचलित हैं जिनका निराकरण करना हम आवश्यक समझते हैं। कहा जाता है कि श्री हरिवंशजी के विरोधियों ने एक दिन मौका पाकर तलवार से उनका सिर काटकर वध कर दिया। यह प्रवाद मूल रूप से बंगला के 'प्रेम-विलास' नामक ग्रंथ के भ्रमपूर्ण उल्लेख से फैला है। विद्वान् लेखकों ने यद्यपि इसकी प्रामाणिकता को सर्वथा संदिग्ध ठहराया है और युक्ति, तर्क, प्रमाण के आधार पर इसे उन्नीसवीं शताब्दी का कहा है, किन्तु साम्प्रदायिक मनोमालिन्य के कारण इस ग्रंथ द्वारा प्रवर्तित अनेक भ्रान्तियां फैल गई हैं। इस प्रकरण में 'प्रेम विलास' ग्रंथ के रचयिता का नाम नित्यानन्द बताया जाता है और रचना-सम्वत् १६५७ विक्रम। यह ग्रंथ सम्वत् १९६६ में प्रकाशित भी हुआ है। प्रकाशक ने ग्रंथ में किसी यदुनन्दन दास कृत 'करुणानन्द' नामक ग्रंथ के तथा कतिपय अन्य हस्तलिखित ग्रंथों के उद्धरण इसमें दिये हैं किन्तु उनकी प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं दिया। प्रकाशक स्वयं लिखता है कि जिन हस्तलिखित प्रतियों के उद्धरण इस पुस्तक में दिये हैं उनका लिपिकाल ज्ञात नहीं अतः केवल अनुमान के आधार पर इसे सम्वत् १६५७ वि० का कहा जाता है। जो दो-तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ 'प्रेम विलास' की मिली हैं उनमें २४ विलास न होकर किसी में १६, किसी में १७ और किसी में २० विलास हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति में लिपिकाल शाके १८३४ (वि० सं० १९६७) लिखा है। उसी में यह भी लिखा है कि यह प्रति जिस मूल हस्तलिखित प्रति से तैयार की गई है उसका समय शाके १७७२ (वि० सं० १९०७) है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ की रचना सम्वत् १९०७ के आसपास हुई होगी। प्राचीन प्रति में केवल १६ विलास (अध्याय) हैं किन्तु बाद की प्रतियों में इसकी संख्या निरंतर बढ़ती रही है। 'हरिवंश चरित्र' उन १६ अध्यायों में नहीं आता जो प्राचीन लिपि में है। १८ वां विलास हरिवंश चरित्र सम्बन्धी है जो निश्चय से प्रक्षिप्तांश है; बाद के वर्द्धमान अध्यायों का ही एक अंश है। इस ग्रंथ की अप्रामाणिकता के लिए आभ्यंतर प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। हरिवंश चरित्र लिखते समय प्रारम्भ से अन्त तक असत्य, भ्रामक और इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ, हरिवंशजी की सन्तान का वर्णन करते हुए लिखा है—

(पिछले पृष्ठ का शेष)

को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार।
पद रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग्य अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार।
जिन बिनु दिन-छिन सतजुग बीतत सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल कुमुद बंधु बिन उड़गन जूंठो थार।
—हरिराम व्यास, व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध)—पद सं० ८१

'भ्रनराय देहेर दुइपुत्र होइल तार।
वनचन्द्र और वृन्दावनचन्द्र नाम जार॥'

श्री हरिवंशजी की सन्तान में वृन्दावनचन्द्र नामक किसी पुत्र का होना कहीं नहीं मिलता। इसके आगे यह भी लिखा है कि हरिवंशजी के पूर्वस्वरूप (गृहस्थ-जीवन) में दो पुत्र और थे, उनके नाम कृष्णदास और सूर्यदास थे—

पूर्व हरिवंशेर आरउ दुइपुत्र हय,
कृष्णदास सूर्यदास जार नाम रय॥'

श्री हरिवंशजी के देवबन्द के निवास आदि का कोई वर्णन इस ग्रंथ में प्रामाणिक शैली से नहीं है। संक्षेप में, उपर्युक्त विवरण से 'प्रेम विलास' ग्रंथ की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है अतः इस ग्रंथ की बातें भी उपादेय नहीं ठहरती। फलतः इस ग्रंथ में निकुंज-गमन के सम्बन्ध में जो मिथ्या बातें लिखी हैं वे साम्प्रदायिक विद्वेष का ही परिणाम है, उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस ग्रंथ के आधार पर ही कतिपय अन्य विद्वानों ने भी श्री हरिवंशजी की मृत्यु का कारण दस्युओं द्वारा वध बताया है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने अपने 'भगवती कथा'[१] नामक ग्रंथ में 'संसार के महापुरुषों का मरण पथ' में लिखा है कि 'आचार्य हरिवंशजी का विपक्षियों ने सिर काट लिया।' श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने अपने एक दूसरे लेख में भी इस बात को दुहराया है। 'महापुरुषों का बलिदान' शीर्षक लेख दिल्ली के साप्ताहिक 'नवयुग' में प्रकाशित हुआ था; उसमें भी यही लिखा है कि 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्री हितहरिवंशजी महाराज का सिर उनके प्रतिपक्षियों ने काट लिया था।'[२] श्री ब्रह्मचारीजी के पास इस तथ्य की पुष्टि के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। किस आधार पर उन्होंने यह लिखा, यह भी कहीं स्पष्ट नहीं किया। साम्प्रदायिक विद्वानों से विचार-विमर्श करने पर विदित हुआ कि इस किम्वदन्ती को फैलाने में पारस्परिक विरोध तथा वैमनस्य ही कारण है। इस घटना को पूरी कहानी बना कर प्रतिपक्षी सम्प्रदायों में कहा-सुना जाता है। कहानी यों है कि "श्री हरिवंशजी की स्वतन्त्र उपासना-पद्धति में तथाकथित वैष्णव तत्त्वों की अवहेला देखकर कुछ वैष्णव रुष्ट हुए और उन्होंने डाकुओं को प्रलोभन देकर उनका सिर कटवा लिया। डाकुओं ने सिर काटकर जमुना में प्रवाहित कर दिया जो तैरता हुआ श्री गोपाल भट्ट जी को दृष्टिगत हुआ। उन्होंने द्रवित होकर उसे उठाया और हरिवंशजी के शिष्यत्व से प्रसन्न होकर उनका उद्धार किया।" इस घटना के मूल में श्री गोपाल भट्ट को गुरु सिद्ध करने की बात भी अन्तर्निहित है अतः कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति समझ सकता है कि यह सब कपोल-कल्पित जल्पना मात्र है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का साहित्य और इतिहास काल के धुंध में छिपा नहीं है। श्री हरिवंशजी के जन्मकाल से लेकर आज तक इस सम्प्रदाय की सम्पूर्ण परम्परा, इतिहास,

---

१—'भगवती कथा' २३ वां अंक, प्रथम संस्करण (भूमिका) ले० श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी।
२—साप्ताहिक नवयुग, दिल्ली, वर्ष १६ अंक ६, फरवरी १९४८, पृष्ठ १, पांचवां अनुच्छेद।

साहित्य और वाणियों में उपलब्ध है। कोई शृंखला न तो लुप्त हुई है और न अंधकार में है अतः श्री हरिवंशजी की मृत्यु की इस कल्पित घटना के लिए कहीं कोई स्थान शेष ही नहीं रहता। पाँच सौ के लगभग वाणी-ग्रंथों में जिनमें चार सौ वर्ष प्राचीन वाणियाँ भी सम्मिलित हैं इस घटना का कहीं, किसी रूप में उल्लेख नहीं है। यदि इस घटना में तनिक भी सत्यांश होता तो कोई न कोई लेखक इसे अवश्य लिखता। इसीलिए आज इस घटना को भी विद्वान्. ऐतिहासिक नहीं मानता। गोपाल भट्ट जी को गुरु सिद्ध करने की भावना से सिर काटना और उनके द्वारा उद्धार करना भी साम्प्रदायिक पक्षपातपूर्ण संकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक है। हमने इस बात की छानबीन का पूरा प्रयत्न किया कि कहीं किसी स्थल पर कोई संकेत मृत्यु-सम्बन्धी इस घटना की पुष्टि करने वाला मिले किन्तु हमें आज तक उपलब्ध न हो सका। अनुश्रुतियों, किम्वदन्तियों, लीलाओं, मन्दिरों-मठों, पुरातन-पोथियों का भली-भाँति अनुशीलन करने पर भी हम यह उल्लेख किसी रूप में भी नहीं पा सके। 'प्रेम-विलास ग्रन्थ' (बंगला) के आधार पर कल्याण, भगवती कथा, और नवयुग में जो उल्लेख हुआ है उसका खंडन हमने ऊपर की पंक्तियों में किया ही है अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी का निकुंजगमन सम्वत् १६०८ की आश्विन मास की शरद् पूर्णिमा को मध्याह्नोपरान्त हुआ। आज भी इसी तिथि को उनका उत्सव साम्प्रदायिक मन्दिरों में मनाया जाता है।[1] वाणी-ग्रंथों में श्री उत्तमदास जी, श्री जयकृष्णजी, श्री व्यासजी, श्री प्रति-वल्लभजी ने इनका चरित्र वर्णित किया है किन्तु कहीं भी निकुंजगमन की सहज गति के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा। निस्संदेह ऐसे महापुरुष का चरित्र ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी जीवन-लीला भगवान् के चरणों में ही व्यतीत हुई और अवसान भी भगवान् की नित्य विहार लीला का स्मरण करते-करते स्वाभाविक रूप से हुआ। 'भागवत सम्प्रदाय' ग्रन्थ में

१—मानसरोवर ढिग रमनीय, भवन भवरनी अति कमनीय ॥ ४ ॥
प्रिया जोन्ह में ज्यों मिल गई, सहचरि संग लगी छवि छई ॥ ५ ॥
ऐसे ही श्री हरिवंश गुसांई, महल पधारे सो सब गाई।
सम्वत् सोलह सै र नौ, आश्विन् पूनौ स्वच्छ ॥ ६ ॥
ता दिन श्री हरिवंश वपु, दीसत नाहिं जग अच्छ ॥ ७ ॥
—श्री उत्तमदास जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)
'सरद मास राका उजियारो, पूरण ससी प्रकाशित भारी ॥ ४३ ॥
प्रिया जोन्ह में तहाँ मिल गई, तिहि छिन सहचरि सम्भ्रम भई।
कहतिकि कहाँ-कहाँ हो लली, सौंधे के डौरे लगि चली ॥ ४४ ॥
दृष्टान्तर त्यों श्री हरिवंश, मानसरोवर रस के हंस।
सम्वत् सोलह सौ८ अथ, पूनो आश्विन मास ॥ ४५ ॥
ता दिन श्री हित जग इगनि कियो अप्रगट विलास ॥ ४६ ॥
—श्री जयकृष्ण जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

आपकी मृत्यु के सम्बन्ध में लिखा है—'पचास वर्ष की आयु में सम्वत् १६०६ वि० की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अन्तरंग लीला में प्रवेश किया।'[1]

श्री हितहरिवंशजी के निकुंज-प्रवेश का समय कुछ विद्वानों ने संवत् १६२२ से संवत् १६४० के मध्य ठहराया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'ओरछा नरेश मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यासजी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे।+++ इनका रचना-काल संवत् १६०० से १६४० तक माना जा सकता है।'[2] श्री वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'भक्त कवि व्यासजी' में भी श्री हरिवंशजी का निधन-काल संवत् १६२२ के पश्चात् ही माना है। उनके मन्तव्य का आधार यह है कि संवत् १६१२ से पूर्व श्री हरिराम व्यास और श्री हितहरिवंशजी की भेंट नहीं हुई थी। यदि संवत् १६०६ को ही निधन काल माना जाय तो दोनों का मिलन भी सम्भव नहीं होता। वे लिखते हैं—'हितजी के निधन पर व्यास जी द्वारा कहे गये विरह के पद 'जिन बिनु दिन छिन सतजुग बीतत सहज रूप आगार' आदि कथन में जिस प्रकार के भावोद्गार हैं, उनमें उस समय व्यासजी का हितजी के समीप ही वृन्दावन में होना प्रकट होता है जो संवत् १६१२ के पूर्व सम्भव नहीं है।+++ संवत् १६२२ के पश्चात् हितहरिवंशजी की उपस्थिति अवश्य ही रही होगी, क्योंकि उस समय व्यासजी की आयु ५५ वर्ष की ही थी और हितहरिवंशजी के सम्मुख व्यासजी का 'सुख निरखत बीते तीनों पन' वाला कथन अपनी ५५ वर्ष से अधिक ही अवस्था में अनुमानित होता है।'[3] श्री वासुदेव गोस्वामी के इस कथन पर विचार करने के लिये व्यासजी की जन्मतिथि तथा वृन्दावन आगमन तिथि पर विचार करना आवश्यक है। व्यासजी संवत् १६११ में जब प्रथम बार वृन्दावन आये थे तभी उन्होंने हितजी का सामीप्य लाभ किया था और तभी से वे हितजी के अनुयायी भक्त हो गये थे। उन्हें संवत् १६१२ में दर्शन लाभ का अवसर मिला हो, ऐसी बात नहीं है। भगवत मुदित की वाणी के आधार पर व्यासजी का वृन्दावन आगमन काल १५६१ ही ठहरता है। *राधावल्लभ जी का पाटोत्सव सम्वत् १५६१ में हुआ उसी समय आप आये थे।* भगवत मुदित ने व्यासजी का चरित्र ५६ पदों में विस्तारपूर्वक लिखा है। वहीं ४२ वर्ष की आयु में वृन्दावन आने का भी उल्लेख है।[4] उत्तमदास जी कृत रसिकमाल में भी व्यासजी का चरित्र है उसमें भी यही समय है। अतः वासुदेव गोस्वामी जी का संवत् १६१२ का आधार

---

१. 'भागवत सम्प्रदाय'—लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४२३।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०२–२०३।
३. भक्त कवि व्यासजी—लेखक श्री वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ७२-७३।
४. कबहूँ वृन्दावन गुन गावें, रसिक भक्ति में मन ललचावें।
ऐसेहि करत ठीक नहि करी, बरष बयालिस आयुस टरी॥
एक दिन नवल वैरागी आए, व्यास मिले अति ही हरषाए।
श्री राधावल्लभ इष्ट बताए, नित्य विहार के भेद बताये॥

सिद्ध नहीं होता। हां, उनकी दूसरी युक्ति में कुछ बल अवश्य है किन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि व्यासजी का तीसरा पत्र और हित जी का निधन काल बाद में आया होगा। सम्वत् १६०९ में जब हितहरिवंशजी का निधन हुआ व्यासजी की आयु ६० वर्ष की थी जो वृद्धावस्था की आयु मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में हमने व्यासजी के चरित्र में विस्तार-पूर्वक लिखा है। यहां केवल संकेत मात्र ही पर्याप्त होगा।

श्री हितजी की निकुंजगमन तिथि का निर्णय करने के लिए साम्प्रदायिक वाणी-ग्रंथों के प्रचुर प्रमाणों के अतिरिक्त उनके बिन्दु-परिकर तथा पुत्रों के गद्दी पर बैठने की तिथि को सबसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। सम्वत् १६०९ की शारदीय पूर्णिमा के दिन श्री हितजी के निकुंज-प्रवेश करने पर श्री वनचन्द्र गोस्वामी गद्दी पर बैठे इसका उल्लेख मन्दिर की वंशावली में दिया हुआ है। उसी दिन वनचन्द्रजी का उत्सव आदि भी होता है। यदि सम्वत् १६४० के आसपास उनका गद्दी-अभिषेक हुआ होता तो उसी तिथि का उल्लेख और प्रचार मन्दिर के उत्सवों में भी होता। अतः संवत् १६०९ की शरद पूर्णिमा को ही श्री हितहरिवंशजी की निधन-तिथि मानना चाहिये। अंग्रेज लेखकों में ग्रियर्सन ने श्री हितहरि-वंशजी की आयु का वर्णन 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजंस एण्ड ईथिक्स' नामक ग्रंथ में अपने भक्ति-मार्ग शीर्षक लेख के अन्तर्गत किया है। वे लिखते हैं कि मृत्यु के समय हरिवंशजी की आयु ६५ वर्ष की थी। किस आधार पर ग्रियर्सन महोदय ने यह लिखा है इसका कोई प्रमाण नहीं दिया। प्राचीन वाणी ग्रन्थों का अध्ययन इतनी लम्बी आयु के पक्ष में नहीं है।[1]

(पिछले पृष्ठ का शेष)

चलि वृन्दावन दरसन कीजै, श्री हरिवंशहि को गुरु कीजै।
कातिक लगत वृन्दावन आए, नवल रसिक संग लिए सुहाए॥

—श्री भगवत मुदित कृत रसिक अनन्यमाल से उद्धृत
(प्रति काल १७८६ वि० सम्वत्)

1. 'Hari Vansh was about sixty five years of age at the time of his death.'
—Encyclopædia of Religions & Ethics, Vol. X, Page 559.

चतुर्थ अध्याय

भक्ति सिद्धान्त-विवेचन

रस-भक्ति में दार्शनिकता का अभाव

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धांत द्वैत या अद्वैत परक किसी विशिष्ट दर्शन-मार्ग पर आधृत नहीं है। इस सम्प्रदाय का मूलाधार प्रेम तत्व है अतः प्रेम-लक्षणा भक्ति के उपर्युक्त उपकरणों का ही वर्णन आचार्यों ने किया है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के लिए हम उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में भक्ति-विधायक सिद्धान्त रखे जा सकते हैं और दूसरे भाग में रसोपासना के सम्पादक नित्य विहार-सम्बन्धी चार तत्वों का समावेश हो सकता है। इसी आधार पर हमने सैद्धान्तिक विवेचन के निमित्त इन दो शब्दों का चयन किया है। भक्ति-सिद्धान्तों में प्रेम, हित, प्रेम-नेम, प्रेम-काम, विधि-निषेध, मान, विरह, मिलन, अर्चा-उपासना विधि का वर्णन होने के कारण गहन दार्शनिक चिन्तन के लिए अवकाश नहीं रहता, किन्तु रस दर्शन के अन्तर्गत राधा और कृष्ण का स्वरूप सहचरी की स्थिति, वृन्दावन का नित्य नैमित्तिक रूप और महत्व का विचार होने से इनके वर्णन में दार्शनिक ऊहापोह के लिए अवकाश निकल सकता है। वैष्णव सम्प्रदायों में दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचना द्वारा द्वैत-अद्वैत-परक भाव-व्यंजना प्रारम्भ से होती रही है अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का इस दिशा में क्या मन्तव्य है। क्या इस सम्प्रदाय में अद्वैतवादी दृष्टि से राधा और कृष्ण का ऐक्य मानकर शंकराचार्य का अनुगमन किया गया है या किसी अन्य आचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-परक भावना की पुष्टि की गई है। इसी प्रकार की अन्य सम्भाव्य शंकाओं के लिए स्थान होने से इस सम्प्रदाय के परवर्ती कतिपय विद्वान् महानुभावों ने अपने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता स्थिर करने की चेष्टा की है। किन्तु हम उनके दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं अतः संक्षेप में दार्शनिक मतवाद पर कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य श्री हितहरिवंश गोस्वामी ने ब्रह्मसूत्रों पर कोई भाष्य नहीं लिखा। गोस्वामी जी द्वैत और अद्वैत की जटिलता से बचकर एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना

चाहते थे जिसका अनुगमन करने वाले प्रेमी भक्त को किसी दुरूह एवं शुष्क दर्शन की उलझन में फंसकर अपने प्रेम-पथ का त्याग न करना पड़े। वे नहीं चाहते थे कि अद्वैत को स्वीकार कर माया के बन्धन में पड़ें अथवा शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत के प्रपंच में पड़कर रस की सरसता से वंचित हों। फलतः उन्होंने इस प्रकार के किसी शुष्क तात्विक एवं दार्शनिक मतवाद को अपने सम्प्रदाय में स्थान नहीं दिया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस सम्प्रदाय में न तो दार्शनिक जटिलता है और न भक्ति-सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और सरल अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है।

किन्तु हमारे उक्त कथन से स्थिति सर्वथा हमारे पक्ष में नहीं आती। आचार्य हित-हरिवंश और सेवकजी की वाणी में जो उपलब्ध नहीं होता वह भी परवर्ती गोस्वामियों तथा साधु-शिष्यों द्वारा इस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति के विषय में कहा गया और ऐसे-ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये गए जिन्हें देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहा जाता। इस सम्प्रदाय में भी शंकराचार्य की शैली से 'राधावल्लभीय भाष्य' लिखे गये। वेदान्त सूत्रों पर टीका तैयार हुई और दार्शनिक नामकरण करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के दर्शन को 'सिद्धाद्वैत' नाम दिया गया। ब्रह्म और जीव के अभेद सम्बन्धों की स्थापना में राधाकृष्ण का अभेद बताकर इस सिद्धाद्वैत की सम्पूर्ण पीठिका तैयार कर दी गई। 'सिद्धाद्वैत' का प्रयोग शब्दार्थ की दृष्टि से ही असंगत प्रतीत होता है फिर भी वर्तमान काल के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसका प्रयोग कतिपय विद्वानों ने किया है। ब्रह्म सम्प्रदाय के (ब्रह्म-चराचर में व्याप्त ईश्वरीय शक्ति, चतुर्भुज ब्रह्मा नहीं) अन्तर्गत इस सम्प्रदाय का परिगणन किया गया और सर्वतो-भावेन इसे अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति चतुःसम्प्रदाय की परम्परा में ही स्थिर करने का निष्फल प्रयत्न हुआ। यह प्रयत्न आद्य आचार्य की मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी तथाकथित वैष्णव धर्म की सीमाओं में समाविष्ट होने की अव्यक्त इच्छा का ही परिणाम है।

सिद्धाद्वैत

'सिद्धाद्वैत' शब्द का प्रयोग इस सम्प्रदाय में दार्शनिक सिद्धान्त के लिए सर्वथा अर्वाचीन है। विगत चालीस वर्ष से यह शब्द दो-चार स्थल पर लिखने-पढ़ने में आया है। इस सम्बन्ध में हम 'अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा', वृन्दावन द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध) की भूमिका का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। इस भूमिका के लेखक गोस्वामी मुकुन्द वल्लभाचार्य जी विभिन्न वैष्णव सिद्धान्तों का दार्शनिक मतवाद प्रतिपादित करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय में लिखते हैं—"श्री हिताचार्य के अनुयायियों का सिद्धान्त 'सिद्धाद्वैत' है"[1]। सिद्धाद्वैत से आपका क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं किया है। 'श्री हित सुधासागर' नाम से श्री हितहरिवंशजी के पदों का गुजराती में जो

१—श्री व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध) भूमिका—पृष्ठ ८
प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन।

संकलन प्रकाशित हुआ है उसकी भूमिका के प्रारम्भ में ही श्री गोस्वामी हितरूपलाल जी इस सम्प्रदाय के विषय में लिखते हैं—'अब सनातन सिद्धाद्वैत मतैकनिष्ठ अनन्य श्री हित राधावल्लभीय (ब्रह्म) सम्प्रदाय क्या है ? कब से है ? क्यों है ? इत्यादि समझना'''।'[1] इसमें भी सिद्धाद्वैत मतैकनिष्ठ कहकर दार्शनिक नाम देने का प्रयत्न स्पष्ट परिलक्षित होता है। गोस्वामी श्री युगलवल्लभ जी लिखित 'सिद्धान्त सार स्मृति' नामक पुस्तिका में भी सिद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया गया है—

यदेकमभवद्वैतं तदेवैव विचारितम् ।
तेनैवद्वैत मे कस्याच्छ्रीराधावल्लभ प्रभुः ॥[2]

उपर्युक्त श्लोक की टीका व्रजभाषा गद्य में लेखक ने स्वयं लिखी है जो इस प्रकार है—

भावार्थ—'जाई कारण "सिद्धाद्वैत सम्प्रदाय" जतायवेंकूं विचार करिकै एक ही भूमि में जन्म धारण कीनो, जाई कारण करकै द्वैत तें अद्वैत श्री राधावल्लभ प्रभु प्रकट होते भये। + + +। याही तैं सिद्धाद्वैत सम्प्रदाय श्री हिताचार्य ने प्रकट कीनो।' उपर्युक्त स्थलों में सिद्धाद्वैत से क्या तात्पर्य है यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया। जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है—सिद्ध है अद्वैत जिसमें या जहां वह सिद्धाद्वैत। अर्थात् राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए माया आदि कारणों के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहां न तो शंकराचार्य के अध्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अतः सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य-सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए। किन्तु यह शब्द यदि इस अर्थ का द्योतक माना जाय तो राधाकृष्ण का अद्वैत स्वीकार किया जायगा या जीव और ब्रह्म का ? साथ ही यदि अद्वैत है तो लीला में द्वित्व प्रतीति के लिए क्या समाधान प्रस्तुत किया जायगा ? अतः इस शब्द को हम केवल अनुकरणात्मक ही समझते हैं। अपने प्रयोग के आदि-काल से इसे सार्वभौम रूप से स्वीकार नहीं किया गया और शनैः-शनैः इसका अनौचित्य व्यक्त होता जा रहा है। फलत. आज राधावल्लभ सम्प्रदाय में या अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में इस शब्द को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। यथार्थ में प्रेमतत्व के भीतर ही इस सम्प्रदाय का रस-दर्शन निहित है अतः शास्त्रीय जटिलतापूर्ण दार्शनिकता का हमने अभाव बताया है।

राधावल्लभीय भाष्य

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री आचार्य हितहरिवंशजी ने प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नहीं लिखा। इतना ही नहीं दार्शनिक शैली से सैद्धान्तिक विवेचन करना भी आपको अभिप्रेत नहीं था अतः रसमार्ग से बाहर किसी प्रकार की कोई अभिव्यक्ति भी नहीं की। यदि दर्शन के आधार पर आपको अपना मन्तव्य प्रकट करना अभीष्ट होता तो अवश्य ही वे अपने पदों में या 'राधासुधानिधि' में इस प्रकार

१—श्री हित सुधा सागर, प्रकाशिका—सोने वाली छोटी सेठानी शुभकौरबाई, पृष्ठ—ग

२—सिद्धान्तसार स्मृति, ले० गोस्वामी युगलवल्लभ (वृन्दावन)—पृष्ठ १२।

का संकेत प्रस्तुत करते । श्री हितहरिवंशजी के पश्चात् इनके अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय की भावना को दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य-रचना हुई ।

१—राधावल्लभीय भाष्य के नाम से अब तक हमारे देखने में दो और सुनने में चार भाष्य आते हैं । इनमें से प्रथम भाष्य का सम्पूर्ण आकार-प्रकार हमने स्वयं देखा नहीं है, केवल दो सूत्रों के भाष्य का हिन्दी रूपान्तर मात्र 'श्री सुदर्शन' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था है । श्री सुदर्शन पत्रिका में गोस्वामी श्री रूपलाल जी का एक लेख इस भाष्य के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ था । उसके प्रारम्भ में परिचयात्मक रूप से निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—

'भगवान् श्री वेदव्यासजी प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर श्रीमद्धिताचार्य महाप्रभु पाद के द्वितीय पुत्र दिग्विजयी विद्वान् श्रीमद्गोस्वामी श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु पाद ने अनन्य श्री राधावल्लभीय धर्म एवं परात्पर श्री हित तत्व को हृदयंगम कराने के लिए एक सुवृहद् भाष्य निर्माण किया एवं श्री कर्णानन्द, श्री राधानुनय विनोद काव्य आदि अनेक ग्रंथों की भी रचना की । सम्प्रति श्री राधावल्लभ भाष्य के १-२ सूत्रों का अनुवाद ही पाठकों के समर्पण है ।' [1]

इस लेख में पहला सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्' अ० १ पा० १ सूत्र ४ का भाष्य (हिन्दी अनुवाद) उद्धृत हुआ है । भाष्य की शैली प्राचीन है किन्तु ब्रह्म निरूपण के स्थान पर हित तत्व की प्रतिष्ठा की गई है । हित का तात्विक विवेचन करते हुए समन्वय शब्द पर इस भाष्य में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—

'इस समस्त विश्व में हित रूप से परमात्मा का समन्वय है । हित परस्पर प्रेम की एकता को कहते हैं । प्रेम में संयोग और वियोग दोनों एक साथ रहते हैं । संयोगावस्था में भी विरह और विरहावस्था में भी संयोग रहता है । ज्ञान, शक्ति क्रिया आदि दोनों अवस्थाओं में कभी व्यक्त, कभी अव्यक्त दशा में रहती है ।' [2]

दूसरा सूत्र जो उद्धृत हुआ है वह है 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' अ० १ पाद २ सूत्र १ । इसका भाष्य इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है—'प्रथम पाद में ब्रह्म का लक्षण निरूपण किया जा चुका है अब इस पाद में ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हैं । गत पाद में आनन्द, रस अथवा हित ही ब्रह्म है वह निर्णय कर चुके हैं अब यहाँ उस रस या हित का स्वरूप कैसा है, इस बात को समझाने के लिये भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि वह परमात्मा 'हित' सर्वत्र है क्योंकि ऐसा उपदेश सर्वत्र वेदान्तो एवं स्मृतियों में सर्वत्र प्रसिद्ध है ।'[3] आदि

उपर्युक्त भाष्य का मूल रूप संस्कृत में है ऐसा कहा जाता है किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी हमारे देखने में नहीं आया । यदि यह मूल रूप में सामने आए तो विवेचन का

१—श्री सुदर्शन पत्रिका—माघ सम्वत् १९९३ प्रकाश ३, किरण १—श्री राधावल्लभ भाष्य प्रेषक गो० श्री हित रूपलाल जी अधिकारी, पृष्ठ ९५-१०१

२—वही पृष्ठ ९७ ।

३—वही पृष्ठ ९९ ।

आधार अधिक पुष्ट और प्रामाणिक हो सकता है। भाष्य के हिन्दी रूपान्तर को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह 'हित तत्व' की स्थिति को व्यापक और तात्विक बनाने के उद्देश्य से लिखा गया है। दार्शनिक गूढ़ चिन्तन का इसमें अभाव है। उदाहरण आदि से जो भाव स्पष्ट किये गये हैं वे लौकिक एवं व्यवहार्य तो हैं किन्तु दर्शन के सूक्ष्म धरातल तक उनकी पैठ नहीं है। यदि गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी ने यह भाष्य लिखा था तो उसे प्रकाश में क्यों नहीं लाया जाता, क्यों उसके आधार पर अनुरागी तथा सेवकवाणी का मर्मोद्घाटन नहीं किया जाता। हमें तो अभी तक इस भाष्य के सम्बन्ध में गहरा सन्देह है। अच्छा हो जिन महोदय के पास यह भाष्य यथावधि सुरक्षित रहा है उसे अब वे प्रकाश में लाकर भ्रमोच्छेदन का अवसर दें।

२—'राधावल्लभीय भाष्य' नाम से दूसरा भाष्य रीवां नरेश महाराज विश्वनाथसिंह जू देव का है जो रीवां के सरस्वती भंडार में आज भी सुरक्षित है। हमने भाष्य का विवरण प्राप्त किया और उसके प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त के आवश्यक पृष्ठों की प्रतिलिपि भी ली है। इस भाष्य में २३४ पृष्ठ हैं। ग्रन्थ का आकार—११ इंच लम्बाई ५ इंच चौड़ाई है। प्रति पृष्ठ में ८ पंक्तियां हैं। अनुष्टुप छन्दों का परिमाण ३२७६ है। गद्य-पद्य दोनों शैलियां हैं, नागरी लिपि में प्राचीन पत्राकार ढंग से लिखा हुआ है। इस भाष्य को देखकर कतिपय शंका-सन्देह स्वभावतः पाठक के मन में आते हैं। महाराज विश्वनाथसिंह रामोपासक परम्परा के भक्त-गृहस्थ थे। विचाररसिक होने के कारण आपने तत्कालीन माधुर्य भाव को स्वीकार करके पद रचना भी की है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय का वेदान्त परक भाष्य आपने लिखा यह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके विषय में लिखा है—'इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रंथ दूसरों के लिखे हुये हैं'—[1] अतः इस भाष्य के अनुशीलन और अध्ययन के बाद हम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह भाष्य भी महाराज विश्वनाथसिंह के नाम से प्रख्यात मात्र है, उनका लिखा हुआ नहीं है।

इस भाष्य का मंगलाचरण श्री रामचन्द्र, सीता, हनुमान आदि की स्तुति से होता है। चतुर्थ श्लोक में राधा की वन्दना है। पंचम श्लोक में श्रीकृष्ण की स्तुति है, षष्ठ श्लोक सरस्वती वन्दना का है। इसके बाद पार्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति है। एकादश श्लोक प्रियादासाचार्य की वन्दना में लिखा गया है। ऐसा कहा जाता है कि ये प्रियादासजी राधावल्लभीय मतावलम्बी थे और इनका महाराज विश्वनाथसिंह [illegible] प्रभाव था। कुछ लोगों की ऐसी भी धारणा है कि यह भाष्य भी [illegible] लिखा था किन्तु महाराज के नाम से प्रख्यात कर दिया।

इस भाष्य के [illegible]
ने दिया है कि यह [illegible] लेखक ने
महाराज [illegible] बीच-बीच में

राधा-भक्ति का संकेत भी रहता है किन्तु प्रारम्भ के पाँच पृष्ठों में दो श्लोक ही राधा-भक्ति के हैं शेष सब राम-भक्ति को माधुर्य भक्ति से संयुक्त करने के प्रयासमात्र हैं। प्रेमाभक्ति की उत्पत्ति की चर्चा गद्य भाग में ५-६ पृष्ठ पर है, वहाँ कहा है—

'तदा ब्रह्मानारायणं प्रणिपत्य विज्ञापयन्मे प्रेमाभक्तिः कथं स्यादिति विज्ञापयामास, ततो नारायणो राधावल्लभमंत्रं ब्रह्माणमुपदिश्य वैकुंठमाजगाम। ब्रह्मापि प्राप्तमनुः सत्यलोकमागत्य तन्मंत्रप्रभावाविर्भूत प्रेमस्फुरित श्रीरामानन्द निमग्नहृदय तस्थौ।'[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस किसी ने यह भाष्य लिखा उसका अन्तर्निहित उद्देश्य माधुर्य भक्ति और रामभक्ति में ऐक्य स्थापित करना था। महाराज विश्वनाथसिंह रामभक्त थे किन्तु उनकी वृत्ति रसिक थी। उनके विषय में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे भी यही प्रकट होता है कि वे विभिन्न सम्प्रदायों के भक्तों के साथ सत्संग करते रहते थे और सभी कोटि के भक्तों का आदर-सम्मान करते थे। इसी कारण भक्त और कविगण अपनी रचनाएँ उनके नाम से विख्यात करके प्रसन्न होते थे।

भाष्य के अन्त में भी लेखक ने रामभक्ति की निष्ठा का निर्वाह किया है। अन्तिम पंक्तियों की प्रतिलिपि इस प्रकार है—'श्रीमद्रामकृपाकटाक्षविषय श्री विश्वनाथाभिध्यक्षो-पार्येनमयान्य भाष्यगवचः सारार्थसंग्रहिणा श्रीरामप्रतिबोदितेन सुधि श्रीरामनिष्ठा निष्ठावतां श्रीरामप्रतिपत्तये कृतमिदं भाष्यं हि रामेर्पितं राजाधिराज श्रीरामकृपापात्राधिकारिणा श्रीविश्वनाथसिंहेन श्रीरामे भाष्यमर्पितम्। नमस्ते वशिका देवि हरिवंशालि रूपिणी, नारायण नमस्तऽस्तु नमस्ते कमलोद्भव।'[2] + + +

इसके बाद हरिवंशजी के पूर्वजों की वंशावलि का कुछ उल्लेख है। इसमें कश्यप, हलधर, श्रीधर, गंगाधर, विजयकुल, विद्याधर, जालप, प्रभाकर, जीवद, हिमकर, व्यासमिश्र और हरिवंश तक का नाम है। इस वंशवृक्ष के बाद जो नाम गिनाये गये हैं वे कदाचित् विश्वनाथसिंह जी से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें हरिराम, मुकुन्द, गोवर्द्धननाथ, चंद्रलाल, प्रियाचार्य आदि हैं। प्रियाचार्य शब्द प्रियादास जी के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। यह वंशावलि एवं नामावलि राधावल्लभ सम्प्रदाय से किस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बंध रखती है, यह शोध द्वारा ही विदित हो सकता है।

भाष्य के अन्तिम पृष्ठ का अंतिम अनुच्छेद इस प्रकार है—

'इति श्रीमद्भगवदावतार वेदार्थनिर्णायक श्रीमद्वेदवेदान्ताचार्य श्रीमद्वेदव्यासकृत वेदान्तसूत्राणां सिद्धश्रीमहाराजाधिराज श्रीमहाराज श्रीराजबहादुर श्रीसीतारामचंद्र कृपापात्राधिकारि श्री विश्वनाथसिंह जू देव कृते श्री राधावल्लभीय मत प्रकाशक भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य

१—श्री राधावल्लभीय भाष्य—ले० महाराज विश्वनाथसिंह जू देव। अप्रकाशित—सरस्वती भंडार, रीवा, विन्ध्यप्रदेश। पृष्ठ ६ तथा २३२।

टिप्पणी—इस भाष्य की प्रतिलिपि प्राप्त कराने में दरबार कालेज, रीवां के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल ने हमारी सहायता की है। उनके सहयोग के अभाव में हमें इस भाष्य की प्रतिलिपि मिलना असम्भव था। इस कृपा के लिए हम उनके आभारी हैं।

मधुर्यः पारः । चतुर्थाध्यायस्य सिद्धः सुमंभूपाम् ॥[१]

संक्षेप में, भाष्य के उद्धरणों से इसका रचयिता श्री महाराज विश्वनाथसिंह के अतिरिक्त कोई और प्रतीत नहीं होता किन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम इसे किसी अन्य की कृति समझते हैं।

सैद्धांतिक मीमांसा के लिए सीताराम के माधुर्य पक्ष को राधावल्लभीय भावना में प्रतिष्ठित करने का आग्रह इस भाष्य में दीखता है। कुछ स्थलों पर राधावल्लभीय विचारधारा का अनुगमन है जो केवल श्रवण द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। किसी राधावल्लभीय का निकट सहयोग-सम्पर्क ही इस प्रकार की युक्तियों को खोलने का कारण हो सकता है। कुछ भी हो, हमारी तो यही धारणा है कि यह भाष्य विश्वनाथसिंह को राधावल्लभीय सिद्धांत अवगत कराने के उद्देश्य से लिखा गया और उन्हीं के नाम से प्रकाशन भी कर दिया गया। इस भाष्य के आधार पर माधुर्य भक्ति का रूप तो सामने आता है किन्तु सिद्धाद्वैत या अद्वैतपरक कोई दार्शनिक सिद्धान्त खड़ा नहीं किया जा सकता।

३—तीसरा राधावल्लभ भाष्य (ब्रह्मसूत्र) संस्कृत में रीवां के प्रियादासजी का बताया जाता है, जिसकी सूचना 'साहित्य रत्नावली' के पृष्ठ ११ पर ८५२ संख्या में दी हुई है। यह भाष्य वृन्दावन में हितकुल के किसी गोस्वामी के पास सुरक्षित बताया जाता है। अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। प्रियादास नाम के एक दूसरे महात्मा पटना के हैं जिन का लिखा 'श्री सेवा दर्पण' प्रकाशित हुआ है। श्री सेवा दर्पण की विज्ञप्ति में अन्तिम पृष्ठ पर प्रियादास पटना वाले का परिचय लिखते हुए गोस्वामी व्रजवल्लभ निर्मोही ने इन्हीं को व्यासनंदन भाष्य का प्रणेता कहा है। अब प्रश्न उठता है कि क्या प्रियादास रीवां और प्रियादास पटना दोनों ने राधावल्लभ भाष्य लिखा या नाम सादृश्य के कारण दोनों के नाम से एक ही ग्रंथ प्रख्यात हुआ। यदि ग्रंथ के दर्शन का सौभाग्य होता तो यह निर्भ्रान्त रूप से निर्णय हो सकता था। वर्तमान स्थिति में कुछ भी कहना हमारे लिए सम्भव नहीं है। भाष्य उपलब्ध करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार समस्त प्रयत्न लेखक ने किये किन्तु दुर्भाग्यवश सफलता नहीं मिली। यदि रीवां वाले प्रियादास का भाष्य देखने को मिल जाय तो सम्भवतः महाराज विश्वनाथसिंह के भाष्य का रहस्य भी विदित हो सके।

४—चौथा भाष्य श्री भोलानाथजी लिखित कहा जाता है। इस भाष्य की हस्त-लिखित प्रति भी गोस्वामी रूपलालजी के पास बताई जाती है। भोलानाथजी आधुनिक समय के भक्त थे। सन् १६२८ में आपका निधन हुआ। यदि आपने कोई भाष्य लिखा भी है तो वह प्राचीन न होने से प्रमाण कोटि में नहीं आता।

हमारी यह निश्चित धारणा है कि भाष्य लिखकर वैष्णव बनने का मोह हितहरिवंश जी के बहुत बाद उत्पन्न हुआ और तभी भाष्य-लेखन व्यापार के चक्कर में, कुछ परम्परा-प्रेमी महानुभाव पड़े। अन्यथा रसभक्ति और प्रेमतत्त्व की उपासना में ब्रह्मसूत्रों पर या प्रस्थानत्रयी आदि किसी भी ग्रंथ पर भाष्य-प्रणयन की कोई आवश्यकता नहीं है। जो

१—राधावल्लभीय भाष्य—महाराज विश्वनाथसिंह जू देव कृत—पृष्ठ २३४।

भाष्य राधावल्लभ सम्प्रदाय में लिखे भी गये उनका न तो पठन-पाठन हुआ और न उन्हें साम्प्रदायिक मन्तव्यों की स्थापना में किसी भी रूप में स्वीकार किया गया। फलतः वे या तो संदिग्धावस्था में पड़े हैं या नामशेष होकर केवल शोध का विषय मात्र रह गये हैं। जो तथ्य या सिद्धांत मौलिक मान्यता पर आधृत नहीं होता उसकी यही चरम परिणति होती है।

रस-भक्ति में कर्मकाण्ड का स्थान

श्री हितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में बाह्य कर्मकाण्ड को कहीं भी प्रधानता नहीं दी। वे लौकिक कर्मों के प्रति प्रायः अनास्था बुद्धि से ही चलते रहे और जो कुछ उन्हें कर्त्तव्य-कर्म प्रतीत हुआ उसे भी कर्मकांड की उलझन में न फँसाकर सहज रूप से कहा। स्फुटवाणी के जिन पदों में बाह्य विधि का संकेत किया है वह ऐसी सीधी और सरल है कि कोई भी भक्त-प्रेमी उसे बिना किसी श्रम और क्लेश के अपना सकता है। स्फुटवाणी के अन्तिम चार दोहे सिद्धांत स्थिर करते हुए भी किसी अनुष्ठान की कठोर साधना की ओर इंगित तक नहीं करते। इन दोहों में जो भाव व्यक्त किया है वह लौकिक कर्मकांड से दूर करने वाला ही कहा जायगा। यह होते हुए भी परवर्ती महानुभावों ने रसभक्ति का विधान भी शास्त्रीय शैली से तैयार किया और श्री हितहरिवंशजी की भावना (स्पिरिट) के सर्वथा प्रतिकूल अनेक ग्रंथों का निर्माण कर दिया। 'राधावल्लभ पटल', 'ऊर्ध्वविनिर्णय', 'श्री सेवा दर्पण', आदि इसी कोटि की प्रकीर्णक रचनाएँ हैं जो अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन की ओर से प्रकाशित हुई हैं। यदि आचार्य हितहरिवंशजी की भावना को इन अनुयायियों ने भली-भांति हृदयंगम किया होता तो इस प्रकार के परम्परावादी प्रयत्न न होते।

यथार्थ में राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धांत या 'रस-दर्शन' का आधार न तो दार्शनिक जटिलता है और न बाह्याचार की रूढ़ियों के पालन में ही भक्ति की स्थिति है। भक्ति-सिद्धांत का मूलाधार है प्रेम या हित तत्त्व, जिसे भली-भांति हृदयंगम किये बिना राधावल्लभीय भावना का बोध कदापि सम्भव नही। दर्शन की ऊहापोह के स्थान पर इस सम्प्रदाय में 'नित्य विहार' का वर्णन है और उसी को रस-दर्शन कहा जाता है। कहीं-कहीं उसे ही वृन्दावन-रस भी कहा है। माधुर्य-भक्ति की चरम परिणति इसी रस में होती है। यह रस ही जीवात्मा का चरम ध्येय है। प्रेम की व्यापक परिधि को समझ लेने के बाद ही इस रस-क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। किसी प्रकार के द्वैत या अद्वैतपरक वाद के आग्रह में न पड़कर श्री हितहरिवंशजी ने इसी रस की स्थापना अपने सम्प्रदाय में की है। हम आगे की पंक्तियों में उसी का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री हितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में भी कहीं विचार व्यक्त नहीं किये हैं। इन जिज्ञासाओं का धरातल प्रायः दार्शनिक रहता है और दर्शन की सूक्ष्म विवेचना द्वारा ही इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न चिर-अनादि से होता आ रहा है फिर भी आज तक कोई एकमत स्थिर नहीं हो सका। 'नैको मुनिर्यस्यमतं न भिन्नम्' के मर्म को समझने वाले आचार्य हरिवंश गोस्वामी ने इस उलझन से दूर रहकर

अपनी प्रेमाभक्ति का ही प्रतिपादन करना समीचीन समझा। अतः हमने भी राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति एवं रस-दर्शन विषयक विवरण में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष, बन्धन आदि के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा है। भक्ति-विधायक तत्त्वों में प्रेम तत्त्व की मीमांसा प्रस्तुत करके तत्सम्बद्ध भावों और विषयों का ही उल्लेख किया है। रस-दर्शन में नित्य विहार के सम्पादक राधा, कृष्ण, सहचरी और वृन्दावन का स्वरूप विस्तार से प्रदर्शित किया गया है और यथास्थान समसामयिक माधुर्यभक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के साथ साम्य और वैषम्य भी दिखाया है। यथार्थ में ये ही मुख्य सिद्धांत राधावल्लभीय भक्ति और रसमार्ग के विधायक हैं और इन्हीं की सुदृढ़ नींव पर यह सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित किये चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय का सिद्धांत-पक्ष इसीलिए जटिल और दुर्बोध न होकर मोहक और आकर्षक है।

रसभक्ति-विधायक तत्त्वों का अनुशीलन

प्रेम-तत्त्व-मीमांसा

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का स्वरूप अन्य वैष्णव सम्प्रदायों से विलक्षण, व्यापक और मोहक है। अनन्त भावों और अनन्त रूपों में नित्य क्रीड़ा करने वाला यह प्रेम ही परात्पर तत्त्व है। इस प्रेम को रस संज्ञा देकर 'रसोवै सः' आदि श्रुतिपरक वाक्यों द्वारा भी समझा जा सकता है। अर्थात् रस रूप भगवान् और परात्पर प्रेम-तत्त्व में तात्त्विक भेद नहीं है। यह प्रेम सहज और असीम होने के कारण नित्य माना जाता है। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, इस सम्प्रदाय में रसोपासना है, अर्थात् राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसी को रस संज्ञा दी जाती है और वह प्रेम की आस्वाद्य स्थिति का ही रूप है। 'हित' शब्द प्रेम के लिये ही इस सम्प्रदाय में पारिभाषिक शब्द के समान प्रयोग में आता है। प्रेम की व्यापक परिधि में सामान्यतः रस, हित, नेह, प्रीति आदि सभी भाव समाविष्ट हो जाते हैं। हित और प्रेम शब्द में भाव-व्यंजनामूलक व्यावर्तक रेखा खींचना सरल नहीं, किन्तु प्रेम की विशिष्ट भावना के उद्देश्य से हित शब्द का व्यवहार आचार्य हितहरिवंशजी ने किया है। दार्शनिक शब्दावली में ब्रह्म और जीव की एकता प्रतिपादन करने के लिये 'ज्ञानदशा' शब्द का प्रयोग न करके यहाँ 'प्रेमदशा' को ही ऐक्य भावना का स्रष्टा कहा जाता है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में मोक्ष प्राप्ति की कामना के साथ ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का अनुगमन विधेय होता है; उसके बिना न तो माया के आवरण उच्छिन्न होते हैं और न भवबन्धन से मुक्ति ही सम्भव है। किन्तु इस सम्प्रदाय में न तो मुक्ति की कामना है और न ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का ही कोई विधान है। यहाँ तो नित्य-विहार-दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्यभाव है और उसकी प्राप्ति प्रेमतत्त्व से होती है। इस प्रेमदशा में पहुँचने के लिये

सहचरी रूप जीवात्मा को अपना लौकिक रूप विसर्जित कर राधिका के महल में सेवा-परिचर्या करके निकुंज लीलाओं का दर्शनाधिकार प्राप्त करना होता है। इस नित्य विहार के विधायक जो चार तत्त्व माने गए हैं उनमें यह एक प्रेमतत्त्व ही समान रूप से अनुस्यूत है और यही विहार-भावना का पोषक है। चराचर जगत् का जो रूप हमारे सामने है और जो अव्यक्त, अगोचर रूप भावना द्वारा जाना जाता है उन सब में यही प्रेमतत्त्व व्याप्त है। श्री लाड़िलीदास ने 'सुधर्मबोधिनी' में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

सर्व चित्र हित मित्र के, जहँ लौं धामी धाम।
काहि तजौं काको भजौं, सजौं गिरा हित नाम ॥[1]

अर्थात्—समस्त धाम और उनमें निवास करने वाले धामी उसी हित देवता (प्रेम) के विविध चित्र हैं। अतः किसको त्यागकर किसका भजन करें यह निर्णय कठिन है। यथार्थ में हित गिरा ही उपास्य है। यहां हित को प्रेम के व्यापक रूप में ग्रहण करके साम्प्रदायिक प्रेमतत्त्व को लक्ष्य कराया गया है। इसी भावना को ध्यान में रखकर कुछ लोगों ने *'सिद्धाद्वैत' जैसे दार्शनिक शब्द को राधावल्लभ सम्प्रदाय का सिद्धान्त कहने का* साहस किया था। वस्तुतः यह प्रेम या हित की स्थापना किसी दार्शनिक रूढ़ि-परम्परा का पालन न होकर हितहरिवंशजी की अपनी मौलिक सृष्टि है।

हिताष्टक में इसी भाव को—'यत्किंचित् दृश्यते सृष्टौ सर्वं हितमयं विदु' कहकर भी व्यक्त किया गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूलाधार 'राधाप्रेम' ही है, उसके भीतर ही साधक का साधन और साध्य निहित रहता है। यह राधाप्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। इस प्रेम को अद्वय युगल स्वरूप समझा जाता है। प्रिया-प्रियतम (श्यामाश्याम) में नित्यभाव से विद्यमान यह प्रेम ही रस रूप होकर प्रस्फुटित होता है। इसी की उपलब्धि सहचरी का उपास्य है।

प्रेम की ऐहिक और आमुष्मिक महत्ता प्रदर्शित करते हुए इस सम्प्रदाय की वाणियों में इसका जो विशद-व्यापक वर्णन हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि प्रारम्भिक साधना के सिवा *नवधा भक्ति को भी प्रेम के आगे कोई महत्त्व प्राप्त नहीं होता।*[2] रागानुगाभक्ति

१—श्री लाड़िलीदास कृत 'सुधर्म बोधिनी' पृष्ठ १०, दोहा १७।

२—महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माँहि।
नवधा हू तिहि सर्व नहिं, नेम सबै मिटि जाहिं ॥
—ध्रुवदास कृत—भजन कुंडलियां लीला (बयालीस लीला) पृ० ६६

साधन विविध प्रयास तें सकल विहावहीं।
श्रवन कथन सुमिरन सेवन चित लावहीं ॥
अर्चन बन्दन अरु दासत्व सख्य और आत्मा-समर्पण।
ये नव लक्षण भक्ति बड़ाई, तब निज प्रेम लक्षण पाई ॥
—सेवक वाणी (श्री हित ध्यान प्रकरण) पृष्ठ १२२

स्वर्ग न इच्छै नरक न डरै, धरै धर्म हरिवंश को —सेवक वाणी, पृष्ठ १२६।

का आश्रय लेने वाले भक्त के लिये भी कैवल्य या मुक्ति कोई महत्ता नहीं रखती, अतः वह मुक्ति की आकांक्षा को त्यागने में ही कल्याण मानता है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रतिपादित यह प्रेम-लक्षणा तो उससे भी एक चरण आगे की वस्तु है अतः इसे पाने की इच्छा रखने वाले प्रेमियों के मन में तो कोई और इच्छा-अभिलाषा पैदा ही क्यों कर हो सकती है। राधासुधानिधि ग्रंथ में इसीलिये श्री हितहरिवंशजी ने राधा के प्रेम को प्रधान मानते हुए स्पष्ट कहा है कि 'सांसारिक विषय-वार्त्ता तो कोटि-कोटि नरकों के समान घृणित है अतः इसे बन्द करो। श्रुतिकिया में भी श्रम व्यर्थ है। और हमें तो (इस राधा-प्रेम के सामने) कैवल्य से भी भय प्रतीत होता है।'[1]

प्रेम की प्रभुता और गरिमा स्थापित करने के बाद इसे विलक्षण रूप देने के लिये शाश्वत तत्त्व माना गया और संसार में प्रतीत होने वाले संयोग-वियोग से सर्वथा रहित कहा गया। तात्त्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय में प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखने वाला एक स्थायी भाव है जो किसी भी रूप में आनन्दरहित होकर क्षण-भर भी नहीं ठहरता। गौड़ीय सम्प्रदाय भी विरह भावना पर आश्रित प्रेम को प्रधानता देता है। परकीया भाव के कारण विरह-भावना का उसमें स्वतः महत्त्व हो जाता है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय स्वकीया भाव का समर्थक है अत वहाँ मिलन ही में रससृष्टि सम्भव है।। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियों के विरह की स्थिति को प्रेम की उत्कर्ष-स्थिति कहा गया है। सूरदास ने 'ऊधो विरहौ प्रेम करै' कहकर विरह दशा को प्रेम की परिपाक दशा बताया है।[3] काव्य-साहित्य में भी विप्रलम्भ शृंगार को संयोग से अधिक प्रबल और आकर्षक माना जाता है। ऐसी स्थिति में नित्य मिलन मानने वाले राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे सर्वथा नूतन रूप में प्रस्तुत करके विरह-मिलन की संकीर्ण सीमाओं को मिटा दिया है। विरह-

१—अलं विषयवार्तया नरक कोटि बीभत्सया,
वृथा श्रुतिकयाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु।
—राधासुधानिधि—श्लोक सं० ८३

२—संगम विरह विकल्पे, वरमिह विरहो न संगमस्तस्य।
एकः स एव संगे, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।। रूपगोस्वामी—पदावली।

३—ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंगहि, रंगन रसे परै।
ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सतफरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तम अपनो पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहे सर सन्मुख, सौ रवि रथहि अरै,
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दुख-सुख निदरै।
—सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद ४६०४, भाग २, पृष्ठ १५६८।

मिलन की यह अद्भुत स्थिति किसी अन्य सम्प्रदाय में दृष्टिगत नहीं होती।

मिलन, विरह और मान

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की वही स्थिति उपास्य और स्पृहणीय मानी जाती है जिसमें प्रिया-प्रियतम (राधाकृष्ण) एक पल को भी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते किन्तु साथ रहते हुए भी विरह सदृश अनुभूति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से आनन्द-पुलक-पूर्ण बने रहते हैं। मिलन में भी विरह की इस मानसिक भावना की कल्पना का प्रयोजन यह है कि श्री हरिवंशजी के मत में नित्य मिलन की स्वीकृति होने के कारण कोई यह न समझ ले कि उनके प्रेमभाव में विरह-सदृश उद्वेग, उत्कर्ष, उल्लास, उद्दीपन और उत्साह कभी होता ही नहीं। प्रेम की नित्य नूतनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए सूक्ष्म-विरह की अनोखी सृष्टि की गई। सिद्धान्त तो यही किया कि यह प्रेम अति मधुर और परम आस्वाद्य है; उसमें मिलना-बिछुड़ना कुछ नहीं; रूप-सौंदर्य का निरन्तर पान करके ही जीवित रहना होता है।[1] फिर भी मान तथा विरह का नूतन रूप खड़ा करके उसे प्रेमदशा का एक पक्ष स्वीकार किया गया। मान को प्रेमोद्दीपक भाव बताकर इसका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। यदि मान की स्वीकृति होगी तो फिर प्रेम में विरह भी मानना होगा अतः स्थूल रूप से मान को भी नहीं माना गया। 'हित शृङ्गार लीला' के दोहों में ध्रुवदासजी ने मान का खंडन किया है।[2] किन्तु मान के मधुर क्षणों का वर्णन वाणियों में दृष्टिगत होता है। इस विरह को अटपटी भाँति का ठहराकर इसका तात्त्विक विवेचन 'सिद्धान्त विचार लीला' में ध्रुवदासजी ने ही किया है। 'रहस्य मंजरी लीला' में वे ही विरह की विलक्षण स्थिति पर विचार व्यक्त करते हैं कि विरह की विचित्र दशा सुनकर विस्मय होता है। प्यासा जल न पीकर जल ही प्यास को पी रहा है। प्यास ही जल हो गई है, विचित्र दशा है।[3] 'रंगविहार लीला' और 'रति मंजरी लीला' में विरह का वर्णन किया है किन्तु वह वर्णन मिलन की घड़ियों में विरह का सूचक है और यही उसकी अद्भुतता है। श्रीकृष्ण की क्रोड में विराजमान राधा भी सहसा, हा मोहन ! मोहन ! करके प्रलाप कर उठती हैं, यह भी उनके विरह का विचित्र रूप है। मिलन में, सामीप्य लाभ के क्षणों में, आकुलतावश प्रलाप करने का

१—महा प्रेम निज मधुर अति, सबतें न्यारो आहि।
तहाँ न मिलिबो बिछुरिबो, जीवत रूपहि चाहि।
—श्री ध्रुवदास ख्याल हुलास लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ २१।

२—तहाँ मान कैसे बने अद्भुत अहै यह प्रेम।
भीजे दोऊ आसवत रस कहं समाय विच नेम॥
—श्री ध्रुवदास, हित शृंगार लीला, पृष्ठ १२५।

३—अटपटी भाँति को विरह सुनि भूलि रह्यो सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को प्यास भयो जल सोइ॥
—श्री ध्रुवदास, रहस्य मंजरी लीला, पृष्ठ १८७।

वर्णन 'राधासुधानिधि' में श्री हरिवंशजी ने अनेक स्थलों पर किया है।[1]

मान और विरह का वर्णन श्री व्यासजी ने अपनी वाणी 'मान रस' प्रकरण में विस्तार से किया है किन्तु उसका साम्प्रदायिक भावना से ही अर्थ करने पर यह संगत प्रतीत होता है। मिलन की दशा में ही मान सम्भव होता है और मान के क्षणों में क्षणिक विरह बनता है।[2] लालजी प्रियाजी के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करते हुए उनको अपने में लीन कर लेने के लिए व्यग्र हो उठे हैं, तब प्रियाजी यदि एक पल को भी उदासीन हों तो यही विरह और मान की स्थिति स्वीकार की जाती है। 'मान रस प्रकरण' में व्यासजी ने बीसियों पदों में यही भाव प्रस्तुत किया है।[3] सामान्यतः व्यासजी का यह मान-विरह वर्णन लौकिक

१—देखिए, राधासुधानिधि, श्लोक ४६, ४७, ४८, १२७।

२—हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मान जुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधित प्रिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी॥
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखति दुरि चोरी।
(जैश्री) हित हरिवंश करत कर धूनन प्रणय कोप मालावलि तोरी॥
—हितचौरासी, पद सं० ७।

३—मान तजि मानिनि बदन दिखाउ।
दुख मोचन तेरे दरसन बिनु, लोचन जरत बुझाउ।
मन्द मधुर मृदु कोकिल कैसे अपने बचन सुनाउ।
पंचम सुर पदतार अलापत, तू घट रागहि गाउ।
परम भाग मेरो अब सुन्दरि, देखे तेरे पाउ।
व्यास स्वामिनी विहँसि मिली, हँसि विरह सिन्धु की नाउ॥
—श्री व्यास वाणी (मान रस प्रकरण) पद सं० १४०

राधा प्यारी हौ मान न कर।
अन्तर विरह दहन तन जारत, बरषावहि बिम्बाधर जलधर।
बिन अपराध कोप न कीजै, दीनै हौं प्यारी,
प्रान दान धन, राजा तेरो हौं अनुचर,
व्यास स्वामिनी मन्द हास करि, कण्ठ लगाइ लयो सुन्दर वर॥
—श्री व्यास वाणी (मान रस प्रकरण) पृष्ठ २४७

द्रष्टव्य-मान रस प्रकरण-पद सं० १३२, १३३, १३६, १३२, १४७, १५०, १५५।
(व्यास वाणी)

छाँड़ि दै मानिनी मान मन धरिबौ।
प्रणत सुन्दर, सुघर, प्राणवल्लभ नवल, बचन अधीन सौं इतौ कत करिबौ।
जपत हरि विवस तब नाम प्रतिपद विमल मनसि तव ध्यान तें निमिष नहिं टरिबौ।
—हित चौरासी, पद ८१

और आचार मर्यादा के अनुकूल है और प्रेम की सांसारिक विवृत्ति के धरातल पर ही हुआ है किन्तु इसमें मिलन की सामान्य भावना पर कोई आघात नहीं होता। ध्रुवदासजी, नेही नागरीदासजी, गोस्वामी रूपलालजी आदि महानुभावों ने सांसारिक दृष्टि से विरह-मान को स्वीकार करते हुए भी इसका वर्णन व्यासजी की शैली पर नहीं किया। ध्रुवदासजी ने तो स्पष्ट ही 'सिद्धान्त विचार लीला' में कहा है—जो कोऊ कहे कि मान विरह महापुरुष न गायो है सो सदाचार के लिए। औरनि के समुझाइवे को कह्यो है। 'रहस्य मंजरी लीला' में इस मान-विरह को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

> 'तिनको प्रेम और ही भांति, अद्भुत रीति कही नहिं जाति।
> देखत ही अनदेखी मानें, तिनकी प्रीतिहि कहा बखानें।
> जब हो उर सों उर लपटाहीं, तब मनों विरही ह्वै जाहीं।
> छूटे जब हो छबि देख्यो करें, विरह आनि अंगनि संचरें।
>
> (रहस्य मंजरी लीला, पृष्ठ १८६)

संक्षेप में, नित्यमिलन के सिद्धान्त में आस्था रखने के कारण मान और विरह का वर्णन सांसारिक दृष्टि से प्रेमतत्व को हृदयंगम करने की एक सरणि मात्र है। यथार्थ में स्थूल मान और विरह का सैद्धान्तिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं है। प्रेम की पूर्णता वहीं है जहाँ प्रिया-प्रियतम नित्यमिलन के शाश्वत आनन्द में लीन होकर भी विरह-सुख (ललक) को सूक्ष्म रूप से अनुभव करते रहें। श्री ध्रुवदासजी ने इस अकथ-अनिर्वचनीय प्रेम का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है—

> न आदि न अन्त, विहार करें दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
> नई नई भांति नई छबि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी॥
> रहैं मुख चाहि दिए चित माहि परें रस प्रीति सुसर्वसु हारी।
> रहैं इक पास करें मृदु हास सुनो 'ध्रुव' प्रेम अकथ्य कथा री॥[1]

प्रेम में विरह-मिलन की इस विलक्षण दशा को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए आचार्यवर श्री हरिवंशजी ने अपनी स्फुट वाणी में दो कुण्डलियां लिखी हैं। इन कुण्डलियों में संसार में प्रसिद्ध दो कोटि के प्रेमियों के उदाहरण देकर इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। चक्रवाक-दम्पति और सारस युगल का प्रेम काव्य-साहित्य में अपने-अपने ढंग से त्याग और बलिदान के लिए प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चकई रात्रि होते ही अपने प्रियतम चकवा से वियुक्त

(पिछले पृष्ठ का शेष)

सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपं च तन्मोहनं,
तत्तत्केलि कलाविलास लहरी चातुर्यमाश्चर्य भूः।
नो किंचित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो
राधा माधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः॥

—राधासुधानिधि श्लोक सं० १०२

1—भजन शृङ्गार सत लीला (ध्रुवदास) ब्यालीस लीला, पृष्ठ १०२।

होकर नदी के दूसरे किनारे चली जाती है। रात भर विरह वेदना से संतप्त रहती है और दैव के इस विधान को सहकर प्रभात होने तक अपने प्रियतम से मिलने की बाट जोहती है। रात्रि के विरह से उसकी प्रेमानुभूति तीक्ष्ण और प्रबल हो जाती है और प्रभात का मिलन उसे अपेक्षाकृत अधिक आह्लादक एवं आनन्दमय प्रतीत होता है, 'सुखं हि दुखान्यनुभूय शोभते।' चकई की दृष्टि में यह विरह उसके प्रेम की परीक्षा है, उसकी वेदना का अन्त मिलन रूपी वरदान में होता है अतः वह इस वियोग को सहन करने में भी गौरव ही समझती है। चकई की इस दशा पर व्यंग करता हुआ सारस कहता है— 'हे चकई, प्रिय वियोग के बाद भी तेरे शरीर में प्राण व्यर्थ ही रहते हैं। सरिता के दो कूलों की दूरी, रात्रि का भयंकर समय, भयावह निर्जन स्थान और भीषण मेघ गर्जन के होते हुए भी तू अपने प्रियतम से बिछुड कर जीवित रहती है, तुझे अपने इस जीवन पर लज्जा क्यों नहीं आती ? अश्रुविहीन नेत्रों से कैसे तू प्रभात की प्रतीक्षा करती हुई प्राण-रक्षा करती है ? कौन-सा ऐसा सन्देश है जो तुझे प्रभात तक जीवित बनाए रहता है ? विरह की दारुण घड़ियों में जीवित रहने को मैं तो *प्रेम की न्यूनता ही मानता हूँ। विरह में जीवित रहना क्या किसी सच्चे प्रेमी को शोभा* देता है।'[१]

सारस की इस व्यंगोक्ति में विरह-भाव पर गंभीर आक्षेप छिपा है जो प्रेम में वियोग की कल्पना भी सहन नहीं कर सकता। किन्तु बिना विरह के प्रेम का पूर्ण परिपाक भी तो सम्भव नहीं। तब फिर कौन सी स्थिति यथार्थ, युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। सारस की इस उक्ति के पीछे उसका अपना आत्मबलिदान, त्याग और प्राणविसर्जन का भाव छिपा है।

सारस-युगल के लिए प्रसिद्ध है कि ज्योंही उनमें से एक का विछोह होता है, दूसरा उसके विरह में तड़प-तड़पकर प्राण गँवा देता है। अतः सारस की दृष्टि में चकई का विरह-दशा में भी जीवित रहना प्रेम का दम्भ करना है। चकई का प्रेम कहीं न नहीं न्यून है, तभी तो विरह में भी वह जीवित रहकर मिलन की आकांक्षा को सहेजती है। किन्तु चकई की दृष्टि से विरह में जीवित रहना प्रेम की न्यूनता नहीं वरन् प्रेम की परिपूर्णता ही है। सारस की व्यंग्यमयी भर्त्सना का उत्तर देती हुई चकई कहती है कि—'हे सारस ! सरित के दूसरे कूल पर जाकर रात्रि-भर विरह-वेदना को सहकर और प्रेमाग्नि के सताप का अनुभव करके जीवित रहना ही प्रेमोन्माद का परिचायक है। वियोग में प्राण देने से तो प्रेमी के प्रति

१—सारस की उक्ति

चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर, अरु काल निशि, तरफ तेज घन गज्ज ॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल बिहून करि नैन भोर किय भाय बितावै ॥
हित हरिवंश विचारि याद अस कौन जु चकई।
सारस यह सन्देश प्राण घट रहै जु चकई ॥

—श्री हितहरिवंश रचित स्फुट वाणी, पद सं० ५।

अपनी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं आता। प्रेम की यथार्थ और परिपूर्ण अनुभूति के लिए विरह की घड़ियों का दाह अनुभव करना अनिवार्य है। हे सारस तुम निरन्तर अपने प्रेमपात्र के पास रहते हो अतः प्रम के मर्म का तुम्हें भला क्या पता हो सकता है।'[1]

सारस-चकई के इस सम्वाद को प्रस्तुत करने का हमारा प्रयोजन यही है कि ये दोनों कुंडलियाँ सम्प्रदाय में प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना करने वाली मानी जाती हैं। इनमें से कोई सा एक पक्ष स्वीकार नहीं किया जाता वरन चकई की विरहाकुलता और सारस का आत्म-त्याग दोनों ही मिलकर प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। श्री करपात्रीजी ने इस प्रेमतत्त्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—'सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवी विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग काल में सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वंचित रहती है। परन्तु नित्य निकुंज में श्री निकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्री व्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शत कोटि गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य-रस की अनुभूति होती है और साथ ही चकवी की अपेक्षा शत कोटि गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है।'[2] 'भागवत सम्प्रदाय नामक ग्रंथ में राधावल्लभीय सम्प्रदाय प्रकरण में इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'प्रेम विरहा ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कंठा इसका प्राण है। युगलकिशोर श्री राधावल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है। परन्तु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है।[3] प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्ति रूपी महान् विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होता है—'मिलेहि रहत मानों कबहुँ मिले ना।'[4]

१—चकई की उक्ति

सारस सर बिछुरन्त को जो पल सहय शरीर।
अगिन अनंग जु तिय भखै तो जानै पर पीर।
तो जानै पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन।
मरत सारसहि फूटि पुनि न परयो जु लहत मन॥
हितहरिवंश विचारि प्रेम विरहा बिन का रस।
निकट कंत नित रहत मरम कह जानै सारस॥
—श्री हितहरिवंश रचित स्फुट वाणी, पद संख्या–६।

२—श्री भगवत्तत्त्व—लेखक श्री करपात्रीजी, पृष्ठ १६१।

३—'भागवत सम्प्रदाय'—लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४४०।

४—तन मन से बिछुरैं नहीं काहू कहुँ दिन रैन।
कबहुँ संजोग न मानहीं रैनन भरि-भरि नैन॥
—श्री मोहनाथ—अनुरागी के टीकाकार।

मिलन में भी विरह की स्थिति स्वीकार करने का तात्पर्य सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने भी स्पष्ट किया है। स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का विरह वर्णित किया गया है। सूक्ष्म विरह वह है जहाँ प्रिया-प्रियतम एक ही पर्यंक पर समासीन होते हुए अपने तन और मन के पार्थक्य को असह्य मान कर तादात्म्य की बलवती उत्कंठा से प्रेम विह्वल हो कर एक दूसरे में लीन हो जाना चाहते हैं। तन-मन का यह पार्थक्य उन्हें विरह-जन्य वेदना का सा प्रतीत होता है। निरन्तर एक दूसरे के रूप-सौन्दर्य का पान करते हुए भी मन में एक प्रकार की अव्यक्त अतृप्ति बनी रहती है और उसके कारण वे सूक्ष्म-विरह का अनुभव करते हैं। यह विरह साहित्य-शास्त्र में प्रेम-वैचित्र्य के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-दशा की जो अनुभूति होती है वही प्रेम-वैचित्र्य है। इस स्थिति का रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रंथ में सोदाहरण वर्णन किया है।[1] सूरदास के पदों में भी यह स्थिति वर्णित हुई है।[2] श्री हितहरिवंशजी ने इस भाव को व्यक्त करने के लिए नेत्र वर्णन का प्रसंग चुना है और एक पल के लिए केश-लट के नेत्र के आगे आ जाने से दर्शन की बाधा को विरह की तीव्र वेदना कहा है।[3] यही प्रेम

१—प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षः स्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्र्यमुच्यते ॥ १३४ ॥
आभीरेन्द्र सुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्घूर्णशस्यांकुरा
राधा हन्त तया व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः॥ १३५ ॥
—रूपगोस्वामी—उज्ज्वल नीलमणि—पृष्ठ ५४८-४६

२—राधेहि मिलेहू प्रतीति न आवति।
यदपि नाथ विधु वदन विलोकति दरसन को सुख पावति।
भरि-भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति।
विरह विकलमति दृष्टि दुहूं दिसि सचि सरधा ज्यों धावति॥
चितवत चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुधि वितर्क बनावति।
कबहुंक करति विचारि कौन हौं हरि केहि यह भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति॥ —सूरसागर, दशम स्कन्ध पद सं० २७२१

३—कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात।
श्रुति पर कंज, दृगंजन कुच बिच मृग मद ह्वै न समात।
(जैधी) हित हरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात।—हितचौरासी—पद ६०।

वैचित्य दशा है। ध्रुवदासजी की 'हित शृंगार लीला' में भी यही भाव दृष्टिगोचर होता है।[1] "देखत देखत कल नहिं भाई, चाहत प्रान में प्रान समाई।"[1] स्थूल विरह का वर्णन तो शृंगार रस आदि में होता है, जैसे प्रवास काल में, गोचारण के समय गोपियों का कृष्ण विरह, मथुरागमन के समय सखियों का विरह आदि। इस स्थूल विरह का राधावल्लभीय सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं।[3]

श्री ध्रुवदासजी ने प्रेमतत्त्व का वर्णन 'सिद्धान्त विचार' नामक वार्ता (वचनिका) ग्रंथ में विस्तारपूर्वक किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रेम की ऐसी सुन्दर मीमांसा किसी अन्य ग्रंथ में नहीं हुई। ध्रुवदासजी कहते हैं कि—"प्रेम का निज स्वरूप है चाह, चटपटी, आधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरलता, नूतनता, और सदा एक रस रह कर भी जिसमें रुचि और भाव तरगें बढ़ती ही रहें। इसके सिवा जो सहज हो, जिसमें मधुरता और मादकता हो और जिसका आदि-अन्त न हो। जिसमें क्षण-क्षण नवीनता के साथ स्वाद बना रहे वह प्रेम है।[4] प्रेम के सतत वर्द्धमान होने के लिए जिन गुणों का वर्णन ऊपर की

१—मधुर ते मधुर अनूप ते अनूप अति,
　　　रसनि को रस सब सुखनि को सार री।
　विलास को विलास निज प्रेम की राजे दशा,
　　　राजें एक छत दिन विमल विहार री।
　छिन छिन त्रिवित चकित रूप माधुरी में,
　　　भूलें सेई रहें कछु आवें न विचार री।
　भ्रमहूं को विरह कहत जहां डर आवें,
　　　ऐसे हैं रंगीले ध्रुव तन सुकुमार री॥
　　　　　—ध्रुवदास रचित—हित शृंगार लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ १२६।

२—'ताते प्रेम विरह अनेक भांति है। जैसो जहां प्रेम तैसो तहां विरह।
　जहां स्थूल प्रेम तहां स्थूल विरह, जहां सूक्ष्म प्रेम तहां सूक्ष्म विरह।
　जो कोऊ कहै स्थूल कहा सूक्ष्म कहा ? सूक्ष्म प्रेम यासौं कहिए जो एक सेज पर रूप देखत चन्द चकोर ज्यों नैनांचल ओट भये महा कठिन दसा होइ अरु देह हू अपनी न्यारी नाहीं सहि सकति यह हूं विरह मानत है।
　　　　　—ध्रुवदासजी कृत—सिद्धांत विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ५०।

३—जहां संयोग में देखत देखत विरह रहे तहां स्थूल विरह की समाई नहीं। सब रस, सब सिंगार सब प्रेम, सब नेम मूरति धरें श्री किसोर किसोरी जू को सर्वदा सेवत रहत हैं।
　　　　　—ध्रुवदासजी कृत—सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४४।

४—प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरलता, नूतनता, सदा एकरस, रुचि तरंग बढ़त रहै। सहज सुढ़न्द मधुरता, मादकता, जाको आदि अन्त नाहि छिन-छिन नूतनता, स्वाद।
　　　　　—ध्रुवदास जी कृत, सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४३-४४

पंक्तियों में किया गया है वे मनोविज्ञान शास्त्र की आधुनिक कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। प्रेम के भाव को उद्दीप्त करने में रूप-सौन्दर्य का महत्व सभी शास्त्रों में स्वीकार किया गया है। रूप की परिभाषा का निर्णय भी कदाचित् इसी लिए नहीं होता कि उसके विधायक तत्व बाह्य न होकर द्रष्टा के आभ्यन्तर मन से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। एक बार जी भर कर देख लेने पर बार-बार देखने की चाह ही रूप-पिपासा की प्रेरक मानी जाती है। बार-बार देखने पर भी जो नूतन, निरवद्य, नवल लगे वही प्रीति कर रूप माना जाता है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः।" अतः प्रेम दशा का राधावल्लभीय मत में विरह-मिलन जैसा ऐकान्तिक स्वरूप नहीं बनता। मिलन की नित्यता मानते हुए भी यहां सूक्ष्म विरह की स्वीकृति है जो अन्य सम्प्रदायों से सर्वथा नूतन है।

प्रेम-तत्व ही समस्त संसार में व्याप्त है। वही हमें (जीव को) आराध्य के प्रति उन्मुख रखता है। इस प्रेम का पूर्ण परिपाक जुगल प्रेम (राधाकृष्ण) में होता है। जुगल प्रेम को सासारिक प्रेम से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र मानकर इसका वाणी-ग्रंथों में अमित विस्तार हुआ है। कुछ भक्तों ने सासारिक प्रेम के प्रतीकों द्वारा उस आमुष्मिक प्रेम को अपनी वाणियों में उपन्यस्त किया है। सासारिक शैली से वर्णन करने में ससारी जीवो को प्रारम्भ में कुछ भ्रम हो सकता है और वे इस प्रेम को सामान्य मानव-समाज का वासना-प्रधान प्रेम समझ सकते हैं किन्तु ज्यों-ज्यों इसकी विविध दशाओं और सीमाओं का बोध होता जाता है त्यों-त्यों सांसारिक भावनाओं का मैल दूर होकर निर्मल प्रेम का दिव्य स्वरूप शेष रह जाता है। 'सेवक चरित' लेखक श्री प्रियादासजी ने प्रेम की मीमांसा करते हुए 'राधे नेह' का ब्रजभाषा गद्य (वार्ता शैली) में बड़े मार्मिक ढग से विस्तार किया है। प्रेम की सूक्ष्म और स्थूल दोनों स्थितियों के लिए लौकिक विशेषणों के साथ जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया है वह भाव, भाषा, शैली (अभिव्यंजना) सभी दृष्टियों से अद्भुत है। प्रेम की विभोर दशा के चित्रण के लिए जिन शब्दों, वाक्यों और वाक्यावलियों का प्रयोग इस गद्यवार्ता मे हुआ है वे प्रेम की शारीरिक तथा मानसिक दशाओं को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं। पद-चयन में जो सजीवता और प्रेषणीयता है वह काव्य की व्यजक-पदावली की दृष्टि से प्रथम कोटि की है। संसार में रहते हुए भी प्रेमानुभूति के क्षणों में जिस मन.स्थिति में हम होते हैं उसके वर्णन के लिए इतनी सटीक पद-योजना स्वानुभूति के बिना सम्भव नहीं हो सकती। प्रेम की कोई दशा, प्रेम का कोई परिवर्तन, प्रेमानन्द की मादक तरलता, प्रेमानुभूति के क्षण के समस्त कायिक एवं मानसिक आन्दोलन इस वाणी में प्रियादासजी ने ग्रथित कर दिये हैं। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेमतत्व को प्रेम-लक्षणा भक्ति से भी ऊपर स्थान देने के कारण इस सम्प्रदाय के अनेक भक्तों ने अपनी वाणियों में इसका विशद विवेचन किया है। प्रियादासजी की यह गद्य वार्ता काव्यमयी होने के साथ अनुभूति प्रधान एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों से परि-पूर्ण है।[1]

१—'उह हित राधे जुग नेह अमायक है। अति सूक्ष्म है, अति पैनो है, अति प्रबल है + + + अति सुन्दर हूते सुन्दर है, अति अगाध गहरौ है, गंभीर है। या नेह समुद्र के सब

नेही नागरीदासजी ने प्रेमतत्त्व की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रेम का यथार्थ स्वरूप केवल रसिक शिरोमणि (श्री हरिवंशजी) ही समझा सकते हैं। इस विलक्षण प्रेम का आदि, मध्य और अन्त नहीं है।[1] प्रेम द्वारा भजन की यह पद्धति सर्वसाधारण के लिए सुगम नहीं है। इसे स्वीकार करने के लिए रसमार्गी साधना पद्धति का पूरा-पूरा ज्ञान आवश्यक है।

बाबा वृन्दावनदास जी ने भी इस प्रेमतत्त्व का अपने पदों तथा दोहों में अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। प्रेम को गहन, सूक्ष्म तत्त्व मानते हुए उन्होंने भी इसकी अद्भुत स्थिति की चर्चा की है। वे कहते हैं कि यह प्रेमतत्त्व ही राधा-माधव (दम्पति) के हृदय में व्याप्त होकर खेल कराता है। मुनिजन के मन भी यह अपने वश में करने की शक्ति रखता है। यह प्रेम अखिल विश्व में व्याप्त होकर सबके मन में उमंग, आनन्द और आकर्षण पैदा करता है। सखियों के हृदय में बैठकर यही प्रेम रसानुभव कराता है। इसलिए इसको दिव्यातिदिव्य कहा जाता है।[2]

प्रेमतत्त्व का वर्णन साम्प्रदायिक सिद्धान्त की दृष्टि से प्रायः सभी भक्त महानुभावों

समुद्र प्रण समान है। नेह सिन्धु अति सचिक्कन हूते अति सचिक्कन है। अति मृदुल हूते मृदुल है। अति रम्य हूते रम्य है। + + +। अति तन पुलकावनो है, अति हित बढ़ावनो है, अति अलभ लुभावनो है, तन मन सुधि अति बिसरावनो है, अति मान खंडनो है, अति प्रीति मंडनो है। सरबसु लुटावनो है, हिय में अगनि उठावनो है, अकह वचन सुनावनो है। तन मन सींचि अति शीतल करावनो है, अति तृषित करावनो है, अति चित्त चुरावनो है। हग कोमल करावनो है, अति कनावड़ो करावनो है, कुल जगते खुवावनो है, भलो बुरो सिर धरावनो है, कहो सुनो सब सहावनो है, सब सों दुरावनो है, हित को भजन करावनो है, निज रूप दिव्य सुहावनो है।'

—प्रियादास लिखित 'सेवक चरित'

(हस्तलिखित प्राचीन प्रति से उद्धृत)

टिप्पणी—यह प्रकरण हस्तलिखित प्रति में आठ पृष्ठों में बड़े विस्तार से वर्णित है। उसके कुछ वाक्यांश ही यहाँ दिये गये हैं।

१. 'प्रबल प्रेमवर तत्व पायो।
जाको आदि अन्त मधि नाहीं, रसिक नृपतिजू प्रगटि दिखायो।
दुर्लभ, दुर्घट, दुर्गम ठाहर जाको प्रभु अलि मारग पायो।
नागरीदास श्री व्यास सुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायो।।

—नेही नागरीदासजी की पदावली

(बाबा बंशीदासजी की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२. बन्दो प्रेम खिलारी दम्पति उर जो है। मुनिजन मन मोहै।
कौतुक रचै जु भारी भारी अति रस रूप दुकावै।
सदा सदेह रहे वृन्दावन पिय प्यारी बुलरावै।

ने किया है। कतिपय स्थलों पर हित तत्व को ही प्रेमतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करके इन दोनों में अभेद वर्णित हुआ है। रसोपासना का प्रतिपादन करते हुए भी कई भक्त-कवियों ने हित और प्रेम को उसी का पोषक बताया है। कहीं-कहीं प्रेम, हित और रस पर्यायवाची भी स्वीकार किये गये हैं। होली के धमार, वसन्त के पद, लीला और मांझ लिखते समय भी प्रेम का रूपक और उत्प्रेक्षा की आलंकारिक शैली से प्रायः सभी वाणीकारों ने वर्णन किया है। चतुर्भुजदास, दामोदर स्वामी, गोस्वामी रूपलालजी, रतनदासजी, सहचरिसुखजी आदि ने अनेक पद प्रेमतत्त्व के प्रतिपादन में लिखे हैं। अर्वाचीन भक्त महानुभावों ने उसी परम्परा को स्वीकार करके प्रेम का सैद्धान्तिक शैली से वर्णन किया है। श्री भोलानाथ जी (हित भोरी जी) राधावल्लभ सम्प्रदाय के अर्वाचीन (मृत्यु सन् १६२८) भक्त कवि हुए हैं। उनकी पद रचना प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। उनकी शिक्षा-दीक्षा आधुनिक युग की थी किन्तु निष्ठा में वे पूर्णतः भक्त और धार्मिक व्यक्ति थे। प्रेम की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में उनके बीसियों पद हमें देखने को मिले जिनमें सांसारिक दृष्टान्त एवं उदाहरणों द्वारा प्रेमतत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्रेम का आस्वादन करते हुए भी प्यासा रहना इस प्रेम की सांसारिक दृष्टि से विशेषता मानी जाती है। प्रेम की उभय पक्ष में समता प्रदर्शित करने के लिए दो दर्पणों के बीच रखी हुई दीप-ज्योति का उदाहरण बहुत सुन्दर है। चाँद और चकोर के उदाहरण को उन्होंने प्रेम का एकांगी स्वरूप माना है। प्रेम की सार्थकता वहीं है जहाँ दोनों में एकता-समता पैदा हो और फिर दोनों अपने-अपने सुख-लाभ को भूलकर दूसरे के सुख-लाभ में अपने को अर्पित कर दें।[1]

याके खेल रसिक जन परचैं थिरचर सब मन भावैं।
वृन्दावन हित रूप सहेलिनु चित जु चोज उपजावैं।
—चाचा वृन्दावनदास की हस्तलिखित वाणी से उद्धृत।

महा प्रेम निज मधुर रस सबते न्यारौ आहि।
तहाँ न मिलिवौ बिछुरवौ जीवत रूपहि चाहि॥
—ध्रुवदास कृत ख्याल हुलास लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ २३।

१. प्रीति की रीति कैसे कहि आवैं।
कर‍ि विचार हिय हार रहत हैं क्यों हूँ मन न समावैं।
चंद ही रहत एक टक देखत सो जग धन्य चकोरी।
टूटैं शीश दीठ ना छूटै तदपि प्रीति अति थोरी।
तन मन होय चकोरी चन्दा शशि ह्वै शशि छवि पीवे।
तो कछु स्वाद और ही पावै पिय तजु प्यासो जीवे।
तदपि प्रीति एकंगी कहियैं जहाँ न प्रेमी दोऊ।
उभरहि रस जु चकोरहि इक टक चाहै चन्दा सोऊ।
ह्वैं चकोर वह चहै चकोरहि यह चन्दा, ह्वैं चन्दहि।
छिन-छिन में तन पलटे दोऊ अदभुत प्रेम के फन्दहि।

प्रेम पंथ की दुरूहता का वर्णन तो सभी सम्प्रदायों के भक्तों ने किया है। नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्रों में भी प्रेमाभक्ति को दुर्गम बताया गया है किन्तु उस दुर्गमता से भी अधिक विलक्षण है राधावल्लभीय प्रेमाभक्ति। भक्तवर श्री ध्रुवदासजी ने तो इसकी दुरूहता को हृदयंगम करके इसे सर्वसाधारण के लिए कठिन बताया है—

> चढ़िकै मैन तुरंग पर चलिबौ पावक मांहि।
> प्रेम पंथ ऐसो कठिन सबकोऊ निबहत नांहि॥[1]
> प्रीति रीति अति कठिन है, कहूँ न समझै कोइ।
> प्रेम बान जिहि उर लगे निसि दिन जाने सोइ॥[2]
> सब तें कठिन उपासना प्रेम पंथ, रस रीति।
> राई सम जौ चले मन छूट जाय ध्रुव प्रीति॥[3]
> प्रेम बात ही बात में सूक्षम कह्यौ न जाइ।
> तन तरवर को छांडि कै मनहि भुलावै आइ॥[4]
> प्रेमी बिछुरत मांहि कहुं मिल्यौ न सो पुनि आहि।
> कौन एक रस प्रेम को कह न सकत ध्रुव ताहि॥[5]

प्रेमतत्त्व का वर्णन गौड़ीय सम्प्रदाय में भी हुआ है। श्रीमद्भागवत में भी गोपी-प्रेम को महत्व दिया गया है और भक्ति-सूत्रों में भी गोपी-प्रेम का महत्व वर्णित है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में गोपी-प्रेम भी शुद्ध प्रेम तत्त्व तक नहीं पहुँचता क्योंकि उसमें सकामता "आत्म सुख" की भावना आ जाती है। अतः शुद्ध प्रेम तत्त्व ब्रज-देवियों के पवित्र प्रेम से भी ऊपर कहा गया है।

> याको यामें याको यामें पलटि पलटि हित पावै।
> छिन-छिन प्रेम पयोनिधि संगम अधिक-अधिक अधिकावै।
> ज्यौं हूँ दर्पन बोध बोध की अगनित आभा दरसै।
> द्विगुन चौगुनी फेरि अठगुनी त्यौं अनन्त हित सरसै।
> अनुप्रमान अनुमान कह्यौ यह प्रीति बात कछु औरै।
> ताको थाह कौन अवगाहै बूरहि तैं मति बौरै।
> भोरी हित अब ह्वै ध्यान चुप गूँगे से गुर लाऊँ।
> रोम-रोम भरि रहै मिठाई ना कछु कहूँ कहाऊँ॥
> —श्री भोलानाथ की पदावली में से संकलित—श्री राम कृष्ण किशोर, पृष्ठ १७२-१३।

1. श्री ध्रुवदास रचित 'प्रीति चौवनी लीला' ब्यालीस लीला पृष्ठ ५१।
2. " " " 'ब्रजलीला' " " पृष्ठ २११।
3. " " " 'भजन शृङ्गार सत लीला' " " पृष्ठ ११०।
4. " " " 'प्रीति चौवनी लीला' " " पृष्ठ ५१।
5. " " " 'प्रेमावली लीला' " " पृष्ठ १३१, दोहा ५१।

गोपिन के सम भक्त न आही, विधि उद्धव तिन की रज चाही।
तिन मन कछू सकामता आई, ताते विघ अन्तर परयो भाई ॥[1]
व्रज देविन के प्रेम की बंधी धुजा अति दूरि।
ब्रह्मादिक वांछित रहे तिनके पद की धूरि ॥
तिनहूं को मन तहां न परसं, ललितादिक जेहि ठां छवि दरसं ॥[2]

प्रेम में तत्सुख भाव

प्रेम प्रेमी की रागात्मिका वृत्ति का वह रूप है जो उसे प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट करके उसके दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप आदि द्वारा प्रेमी को सन्तुष्ट और सुखी बनाता है। सांसारिक प्रेम में, प्रेम करने वाला प्रेमी अपनी वृत्तियों के परितोष के लिए ही प्रेम के संसार में प्रविष्ट होता है। स्व-सुख-सिद्धि ही सामान्यतः प्रेम का लक्ष्य भी माना जाता है किन्तु राधावल्लभीय प्रेम की परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। यहां प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव) अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्मसमर्पण करते हैं। राधा की समस्त चेष्टाएं माधव को रिझाने, प्रसन्न करने में है और माधव राधा के प्रमोद और आनन्द की चेष्टा करते है। आत्म-विसर्जन के बाद ही दूसरे की तुष्टि सम्भव है यही इस मत का प्रेम-सम्बन्धी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को श्री हितहरिवंशजी ने 'हित चौरासी' के प्रथम पद में ही स्पष्ट किया है। इस पद का आशय यही है कि राधाकृष्ण एक ही प्रेमतत्व के दो विग्रह हैं। क्रीड़ा या विलास के लिए दो रूप धारण करते हैं। जब राधाकृष्ण यथार्थ में एक ही तत्व के दो दृश्यमान् रूप हैं तो कौन किसे प्रसन्न-प्रमुदित करे यह प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पारस्परिक परितुष्टि पर ही बल दिया जाता है। अपनी प्रसन्नता का आधान अपने भीतर न होकर 'जोई-जोई प्यारो करैं, सोहि मोहि भावें' अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं वही मेरी प्रसन्नता का कारण है क्योंकि मैं अपने सुख की उपलब्धि में मग्न न होकर श्रीकृष्ण के सुख की सतत कामना करती हूं। और दूसरी ओर श्रीकृष्ण भी अपना सुख न देखकर मेरे सुख के लिए वही-वही काम करते हैं जो मुझे अच्छे लगते हैं। मुझे उनके नेत्रों में रहना ही सुहाता है तो वे भी मेरे नेत्रों की पुतली बन जाने में सुखी हैं। वे मुझे अपने तन, मन, प्राण से भी अधिक प्रिय हैं और उन्होंने मेरे लिए अपने कोटि-कोटि प्राण न्यौछावर कर रखे हैं। श्री हितहरिवंशजी इस भाव को दृष्टान्त से पल्लवित करके कहते हैं कि आप दोनों (राधाकृष्ण) वृन्दावन प्रेम पयोनिधि रूपी मानसरोवर के हंस-हंसनी हैं। आपका सम्बन्ध जल-तरंग के समान अभिन्न है, आप दोनों को पृथक् कौन कर सकता है। इस पद में श्री हितहरिवंशजी ने अपने प्रेमविषयक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के साथ राधा-

---

१. श्री ध्रुवदास रचित 'अनुरागलता' (ब्यालीस लीला) पृष्ठ २४०।
२. „ „ „ 'प्रेमलता लीला' „ „ पृष्ठ २४४।

कृष्ण के नित्य सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है।[1] इस सिद्धान्त का मूलाधार राधाकृष्ण की एकता ही प्रतीत होता है। ब्रह्म संहिता, श्री संहिता, श्री राधातापिन्युपनिषद् और गोपाल-तापिन्युपनिषद् में इसी भाव को 'यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः' द्वारा प्रतिपादित किया है।[2]

श्री ध्रुवदासजी ने 'प्रेमलता लीला' में इसी भाव को ज्यों का त्यों वर्णित किया है।[3] 'सिद्धान्त विचार' ग्रन्थ में भी इस विषय पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"छहुन प्रेम के रस में दोऊ मत्त रहत हैं। एक रस सनेह की रीति ऐसी है जो सनेही को सुख चाहे अपनी चाह कछु नाहीं। श्री प्रियाजी विलास करें सब लालहू के हेत और लालजी जानें लाड़िलीजी सुख पावें, सोई करें अपनी चाह कछु नाहीं।"[4] अतः सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जो अपने प्रेमास्पद के सुख से आसक्त हों उसे ही स्नेही या प्रेमी कहना चाहिये। इस भाव को पारिभाषिक शब्दों में 'तत्सुखसुखित्व भाव' कहते हैं। इसके लिये स्व-सुख कामना का सर्वथा विसर्जन तथा अनन्य भाव से प्रेमास्पद के सुख में आसक्त होना अनिवार्य है। 'आसक्त' की व्याख्या करते हुये ध्रुवदासजी ने कहा है, 'आसक्त कहा? सक्ति रहित आसक्त। जब ताईं मन की गति भँवर की सी चंचल फिरै तब तांईं आसक्त नाहीं। जब सब ठौर तें चंचलता छूटै तब आसक्ति के रस में अटकै।'[5] ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य, विषय और वैराग्य को प्रेम

---

१. जोई-जोई प्यारो करै सोइ मोहि भावै,
   भावै मोहि जोई-जोई, सोई-सोई करै प्यारे।
   मोंको तो भावतो ठौर प्यारे के नैननि में,
   प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे।
   मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
   अपने कोटिक प्रान प्रीतम मों सो हारे।
   (जैश्री) हित हरिवंश हंस-हंसिनी सांवल गौर,
   कहौ कौन करै जल तरंगिनि न्यारे॥ —हित चौरासी पद सं० १।

२. या राधा यश्च कृष्णोरसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।
   राधया सहितो देवो माधवो नैव राधिका। यो अनयोर्भेदं पश्यति स संसृते
   मुक्तो न भवति, यस्तु राधां बिना तं ध्यायति, प्रवदति, प्रपठति, समूढतमोत्तमः।
   —राधातापिन्युपनिषद्

३. जाको है जासों मन मान्यो, सो है ताके हाथ बिकान्यो
   अरु ताके अङ्ग संग की बातें, प्यारी लगें सबै तेहि नातें।
   सबै सोई जो ताको भावै, ऐसी नेह की रीति कहावै॥
   ध्रुवदास कृत प्रेमलता लीला—ब्यालीस लीला, पृष्ठ २४४

४. द्रष्टव्य—सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला पृ०, ४८।

५. " " " पृ० ५०।

मार्ग की अनुभूति में इसीलिये अन्तराय माना गया है कि इनसे अभिभूत होने पर एकान्तिक आसक्ति नहीं होने पाती, आतंक, भय, गर्व, प्रभुता आदि से प्रभावित होकर मन अपनी सहज अभिव्यक्तियों से वंचित हो जाता है और भीतर ही भीतर अपने प्रेमास्पद की बाह्य गरिमा का ही गुणगान-स्तवन करने में लीन रहता है। आसक्त मन तो वह है जो गौरव-गरिमा की भावना से ऊपर उठकर प्रेम रस में चकित हो जाय। जैसा कि श्री हितहरिवंशजी ने कहा है—

> अति ही अरुण तेरे नैन नलिन री।
> आलस जुत इतरात रंग मगे भये निशि जागर मषिन मलिन री।
> शिथिल पलक में उठत गोलक गति बिंधयौ मोहन मृग सकत चलिन री।
> (जैश्री) हित हरिवंश हंस कल गामिनि संभ्रम देत भ्रमरनि अलिन री॥
>
> —हित चौरासी, पद सं० ८

प्रेम में तत्सुख भाव का वर्णन नारद ने भी अपने भक्ति-सूत्रों में किया है किन्तु उसका व्याख्यान हितहरिवंशजी ने अपनी शैली से करके उसे नवीन रूप दे दिया है।

प्रेम में अनन्यता

अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है। सभी भक्तों ने अनन्यता को प्रेम की पहली शर्त मानकर इसे प्रेम-मार्ग की परमोपास्य निष्ठा बताया है। श्री हितहरिवंशजी के मत में तो अनन्यता धर्म का आधार है। स्फुट वाणी के दो पद इस अनन्यता की स्थापना में इतने स्पष्ट और व्यापक रूप में प्रस्तुत किये हैं कि किसी प्रेमी भक्त को नाना धर्मों के प्रलोभन में पड़ने और इधर-उधर भटकने का कोई प्रसंग आ ही नहीं सकता।

> रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।
> मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा सपथ करौं त्रण छिये।
> जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
> तेऊ उमगि तजति मर्यादा बन विहार रस पिये॥
> खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जिये।
> (जैश्री) हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिन या रजहि लिये॥
>
> श्री हितहरिवंश कृत, स्फुट वाणी पद संख्या २०।

> मोहनलाल के रंग रांची।
> मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसौं दिस मांची॥
> कंत अनंत करौ जो कोऊ बात कहौं सुनि सांची।
> यह जिय जाहु भलें सिर ऊपर हौं व प्रगट ह्वै नांची॥
> जागृत शयन रहत उर ऊपर मनि कंचन ज्यौं पांची।
> (जैश्री) हित हरिवंश डरौं काके डर हौं नाहिन मति कांची॥
>
> श्री हितहरिवंश कृत—स्फुट वाणी पद संख्या १२।

अनन्यता की परिभाषा और व्याख्या करते हुये ध्रुवदासजी कहते हैं—"अनन्यता

याको कहिये छाँडि आपनो इष्ट और न जानै। न मन चलै, जो चलै तो अनन्यता नाहीं। + + +। (सिद्धान्त विचारलीला)।" श्री सेवकजी ने 'श्री हित अनन्य टेक प्रकरण' में अनन्यता पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनकी मान्यता है कि प्रेम-मार्ग पर चलने वाले भक्त को सबसे पहले अपने इष्टदेव में अनन्य बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये। श्री राधावल्लभलाल की उपासना करते समय किसी अन्य देवी-देवता का भाव भी मन में नहीं लाना चाहिये। राधाजी को इष्ट मान लेने पर किसी अन्य देवता की उपासना के लिये श्री हरिवंशजी के मतावलम्बी के लिये स्थान ही नहीं रहता। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य, माहात्म्य आदि जिन विभिन्न रूपों की उपासना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित है उनको राधावल्लभ सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं। यहाँ तो केवल रसोपासना का विधान है जिसमें माधुर्य पक्ष की ही स्वीकृति है।[1]

श्री ध्रुवदासजी ने 'भजनसतलीला' के दोहों में अनन्यता का वर्णन करते हुए इसे अनिवार्य कहा है। उनकी धारणा है कि यह भक्तिरस वृन्दावन में ही राधा की उपासना से प्राप्त होता है। जो वृन्दावन-रस और राधाभाव के उपासक नहीं वे प्रेमलक्षणा-भक्ति के मर्म को नहीं पहचान सकते—

जे नर वृन्दाविपिन तजि अनतहि मन लै जात।
कंचन तजि गहि कांच को फिर पाछे पछितात॥
दुर्लभनिधि देखत सुनत सो आवत उर नाहिं।
जिन धर्मन में कष्ट बहु हठ ठानत मन माहिं॥
पाँचों इन्द्री साधिके, योग मौन व्रत लीन।
देख्यो भजन अनन्य बिनु सब वृथा श्रम कीन॥

---

१. कर्म धर्म कोऊ करहु वेद विधि कोऊ बहु विधि देवतन उपासी।
कोउ तीरथ तपज्ञान ध्यान व्रत अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी॥
कोउ यमनेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार कदम्ब उपासी।
मन बच क्रम विशुद्ध सकल मत हम श्री हितहरिवंश उपासी॥
—सेवक वाणी (हितामृत सिन्धु—पृष्ठ १०६)

एक धरम्मी अनन्य कहाय बड़ाई को प्यारो वे बाजो सौं मांडत।
और के बाप सों बाप कहंत धरम्म के काज धरम्महि छांडत॥
बोलत बोल बटाऊ से लागत ह्वै गुरमानी न बात प्रमानत।
कांचे धरम्मिन के सुनौं छन्द धरम्मी धरम्म मरम्म न जानत॥
—सेवक वाणी—हितामृत सिन्धु—पृष्ठ ११६।

रसिक अनन्य निसान बजायो एक श्याम श्यामा पद प्रीति।
श्री हरिवंश चरण निज सेवक विचरै नहीं छाँड़ि रस रीति॥
—सेवक वाणी—हितामृत सिन्धु—पृष्ठ १२६।

हूँ पावँ या देहते कैसेहु कोप विशाल।
जो है एक अनन्य व्रत तजत न ताहि गोपाल ॥

—भजन सतलीला—प्रभुदास—(व्यासीस लीला) पृष्ठ ७४

श्री व्यास जी ने अपनी वाणी में अनन्यता पर बहुत जोर दिया है और प्रेम-मार्ग के लिए इसे निष्ठा-आस्था का जनक ठहराया है। उनकी मान्यता है कि अपना धर्म छोड़ पराये द्वार जाने पर अपना धर्म, आस्था, मर्यादा, विश्वास सब नष्ट होता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' ही अनन्यता की पहली सीढ़ी है। उनका कथन है कि यद्यपि अनन्य व्रत की टेक का निर्वाह तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है फिर भी इसके बिना प्रेमी भक्त बनने का अधिकार प्राप्त ही नहीं होता। बिना अनन्य व्रत लिये प्रेमी होने का दम्भ गणिका के प्रेम के समान है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में अनन्यता पर अत्यधिक बल दिया गया है। परवर्ती सभी भक्त महानुभावों ने इसे सम्प्रदाय की निष्ठा का मूल बताकर धर्मी बनने के लिए सर्वथा अनिवार्य माना है। चाचा वृन्दावनदास ने अपनी 'रसिक पथ चन्द्रिका' में अनन्य धर्म का प्रतिपादन तथा अनन्य धर्मी के कर्तव्य-कर्म का बड़ी सजीव शैली से वर्णन किया है। उनकी धारणा है कि एक की टेक निभाना सबकी टेक को समेटना है।[2]

प्रेम और नेम

प्रेम-मार्ग में नेम (नियम) का क्या स्थान है और नेम का प्रेम से क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न प्रेमलक्षणा-भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में प्रारम्भ से ही विचारणीय रहा है। मर्यादा पालन की दृष्टि से नेम (नियम) की आवश्यकता और उपादेयता सभी वैष्णव सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। धार्मिक मर्यादा को स्थापित करने के लिए साधारणतः नेम की आवश्यकता होती ही है। भागवतपुराण में भक्ति का स्वरूप स्थिर करते हुए नवधाभक्ति का विधान भी मर्यादा का ही एक रूप माना गया है। भक्तिसूत्रों

---

१. अनन्य व्रत खांडे की सी धार।
इत उत डगत, जगत हित तें हरि, फेर न करत सम्हार ॥
कहा व्यास कुल कर्मनि छांडे, जौ लगि विषय विकार।
बिनु प्रेमहि न प्रसाद नेम तहाँ, हरि न गहत ज्योनार ॥
कौन काज कीरति बिनु प्रीतहि, गनिका कैसो जार।
व्यासदास की पति गति नासे, गये पराये द्वार ॥
—व्यास वाणी—पूर्वार्द्ध पद सं० १७५।

२. एक धर्म रस रीति प्रीति एकै रंग रहिए।
ताकों कहत अनन्य आन दिसि सुपन न चहिए ॥
एक नाम इक धाम एक सांचौ व्रत धरिए।
अगम सुगम करि लियो एक सेवक हित करिए॥
—चाचा वृन्दावनदास रचित, रसिक पथ चन्द्रिका—पृष्ठ २०।

में नियम की बाह्य रूप से स्वीकृति न होने के कारण उसके विविध रूपों का विचार नहीं किया गया। फलतः यहाँ यह प्रश्न विवादास्पद नहीं बन सका। किन्तु परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने जब प्रेम को सर्वोच्च स्थान देकर भक्ति-पथ को प्रशस्त किया तब स्वभावतः यह प्रश्न सामने आया कि नेम का स्वरूप और सीमा क्या निर्धारित की जाय। श्री रूप-गोस्वामी ने अपने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति के रूप प्रतिपादित करते हुए जब उसे वैधी और रागानुगा नाम दिया तब वैधी में शास्त्र मर्यादा का अनुगमन सहज ही में स्थान पा गया। रागानुगा भक्ति के कामरूपा और सम्बन्धरूपा नामक दो भेद करके उनमें नेम की मर्यादा का स्पष्टतः बाह्य विधान नहीं किया किन्तु नेम का सर्वथा तिरस्कार भी वहाँ नहीं है।[1] उसमें काम और प्रेम की क्रीड़ाओं को स्थान देकर प्रकारान्तर से विहार-परक नेम की स्वीकृति ही समझनी चाहिए। 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' से अधिक परिष्कृत और व्यापक भक्ति का स्वरूप किसी अन्य ग्रंथ में नहीं मिलता अतः उसे ही प्रेम-लक्षणा भक्तिमार्गों में प्रमाण माना जाता है। श्री हितहरिवंशजी ने प्रेम-नेम की स्थापना कुछ विलक्षण शैली से की है। उनके मत में नेम शब्द साधारण नियम के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक विशेष तात्त्विक अभिप्राय का द्योतक है। उनके मत में नेम की भी स्थिति है और वह रससृष्टि में सहायक होकर प्रेम के साथ नित्य भाव से वर्तमान रहता है। नेम को आकृतिरूप और परिणामरूप स्वीकार किया गया है। नित्य एकरस रहने वाले प्रेम के साथ आविर्भाव और तिरोभाव होने वाली क्रिया-चेष्टाएँ, विविधरूप और परिणाम उसी में व्याप्त रहती है जिसे ध्रुवदास जी ने यंत्रित की संज्ञा दी है। यह यंत्रित रूप नेम का माना गया है। प्रेम जंत्रित नेम को स्थायी माना गया है। स्थिति के अनुरूप उन्होंने नेम को विभिन्न कोटियों में रखकर इसकी व्याख्या की है। उनके किये हुए भेद को हम तीन भागों में विभक्त करके विश्लेषण करेंगे। पहला भेद 'विहारपरक प्रेम और नेम' है जिसमें सांसारिक व्यवहार पक्ष को दृष्टि में रखकर विचार नहीं किया जाता, दूसरा भेद 'साधना-परक प्रेम और नेम' है जिसमें विहार की स्थिति और व्यावहारिक स्थिति से हटकर प्रेम और नेत्र की स्थिति ही साधक के लिए विचारणीय रहती है, तीसरा सामान्य 'जागतिक प्रेम और नेम' का सम्बन्ध है जिसका प्रायः व्यवहारपरक दृष्टि से ही विचार किया जाता है।

विहार-परक प्रेम और नेम

विहार की स्थिति में प्रिया-प्रियतम की विविध केलि-क्रीड़ाएँ, मान-विरह, मिलन-वियोग आदि को नेम के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। प्रेम की स्थिति इन क्रीड़ाओं

---

१. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।
यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्ति रूप जायते ॥ २ ॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा।
आनुकूल्यविपर्यासाद् भीति द्वेषो पराहतौ ॥ ६२ ॥
—रूप गोस्वामी रचित—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु—पूर्व भाग लहरी २

द्वारा सम्पन्न होती है अतः विहारपरक नेम को सर्वथा त्याज्य या हेय नहीं माना जाता। श्री हितहरिवंशजी ने अपनी स्फुट वाणी के एक पद में इस प्रेम-नेम को नित्य विहार के लिए जिस रूप में स्वीकार किया है हम उसको श्री भोलानाथ जी राधावल्लभीय की टीका सहित प्रस्तुत करते हैं—

> तू रति रंग भरी अति देखियत हैरी राधे, रहसि रमी मोहन सौं ब रैन ।
> गति चति सिथिल, प्रगट पलटे पट, गौर अंग पर राजत ऐन ॥
> जलज कपोल ललित लटकति लट, भ्रकुटि कुटिल क्यों धनुष धृत मैन ।
> सुन्दरि रहउ, कहउ कंचुकि, क्षत कनक कलश कुच बिच नख दैन ॥
> अधरबिम्ब दलमलित, आलसयुत, अद आनन्द सूचित ललि नैन ।
> हित हरिवंश दुरति नहि नागरि, नागर मधुप मथत सुख सैन ॥
>
> —स्फुट वाणी—पद संख्या १० ।

टीका—"इस पद में मंगला के समय प्रियाजी की सुरतान्त छवि का वर्णन है। उसी में प्रियतम से मिलने पर प्रेमी जीव की जो दशा होती है उसका भी वर्णन है। रात्रि रमण से और रजनी आनन्दित करने से रात के नाम हैं। जब समस्त सांसारिक व्यापार बन्द हो जाते हैं, वही प्रियतम से मिलने का समय है। 'रहसि' एकान्त में मिलना होता है। जब तक हृदय में किसी दूसरे का लेशमात्र भी भान रहता है तब तक मिलना असम्भव है। 'मोहन' शब्द साभिप्राय है जिसे वह मोहित करले वही बड़भागिनी उसके साथ रमण कर सकती है और किसी की वहाँ पहुँच नहीं हो सकती। हे राधे! तू इसी प्रकार उससे मिली है क्योंकि तू रति (प्रीति) और रंग से भरी हुई दिखाई देती है। तेरी गति अत्यन्त शिथिल हो गई है, क्योंकि हृदय में रूप का प्रकाश हो जाने पर मन पङ्गु हो जाता है, सब सुख फीके पड़ जाने से उदासीनता आ जाती है और भीतर की उलझन तथा आनन्द के भार के कारण चलने-फिरने में भी पाँव की गति बहुत मंद हो जाती है। तूने प्यारे से पट बदल लिये हैं, अर्थात् तन, मन जो कुछ तेरा था सो उनको दे दिया, तब उन्होंने भी जो कुछ उनका था वह तुझे दे दिया, सो वह यह सब प्यारे की विभूति तेरे गोरे अंग पर बिल्कुल ठीक-ठीक फबती है। श्याम की जोड़ी है इससे गोर शब्द दिया गया है। तेरे कपोल चन्द्रमा के समान हैं, दर्शनमात्र में आनन्द और अमृत की वर्षा करते हैं। लटें छूट रही हैं अर्थात् अपनी देह की भी सुध नहीं है। टेढ़ी भौंहें ऐसी जान पड़ती हैं मानो कामदेव ने धनुष धर दिया हो, अर्थात् अब इन भौंहों का उतरना-चढ़ना और अनेक प्रकार के भावों का दिखाना सर्वथा बन्द हो गया है। हे सुन्दरि! ठहरो, यह तो कहो कि कंचुकी कहाँ गई? अत्यन्त उन्मत्त प्रेम की दशा में न लाज है, न वस्त्र और न देह का ही मान है। क्योंकि दोनों कुचों के बीच में अर्थात् हृदय में प्रेम के नख लग गये हैं, इससे गहरा घाव हो रहा है। यद्यपि ओंठ लाल (अनुराग) भरे हैं तथापि दलमलित है, बोल नहीं सकते हैं। केवल आलस भरे नेत्र ही इस आनन्द की सूचना करते हैं, ओंठ बिचारे क्या कह सकते हैं। नेत्रों की भी गति (फड़कना) बन्द है। हे नागरि! प्रेमरूपी आसव को पीकर उन्मत्त भये नागर के साथ शयन (संभोग) में जो सुख का

मथन कर सार निकाला है सो क्या छिपाये छिप सकता है।"[१]

स्फुट वाणी का यह पद यथार्थ में प्रेम का सिद्धान्त स्थिर करने वाला पद है जिसमें सुरत प्रसंगानुकूल रति-क्रीड़ाओं का वर्णन करके नेम की स्थापना की गई है। इस पद में राधा का रहसि मिलन, सुरत-सम्भोग, प्रियतम के प्रकाश से मन की गति पंगु होना, लटें बिखरना, कंचुकी का विस्रंस होना, भौंहों का निश्चेष्ट होना, अधरों का आनन्दातिरेक से मूक-स्तब्ध होना आदि क्रियाएँ विहारपरक नेम के अन्तर्गत समझी जायेंगी अतः इनकी स्थिति प्रेम की उन्मत्त दशा में भी मानी गई है। हित चौरासी के अनेक पदों में प्रेम और नेम की स्थितियों का विशद वर्णन मिलता है। प्रेम और नेम को विहारपरक समझने के लिए प्रिया प्रियतम की दशा का इस प्रकार विवेक करना आवश्यक है। जब प्रेम की आस्वाद्य स्थिति में लीन होकर दोनों आत्मविभोर हो जाते हैं और उन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं रहता वह स्थिति 'प्रेम' कहलायगी। जब विभोर दशा से उछलकर प्रेम तरंगायित होता है और उस समय जो स्थिति उत्पन्न है वह 'नेम' कोटि में रखी जाती है। कभी-कभी प्रेम और नेम की संयुक्त दशा भी संभ्रम के कारण उत्पन्न होती है, क्षणभर में प्रेम तरंगित होकर नेम में परिवर्तित होता है और नेम प्रेम में। इसे प्रेम-नेम की मिश्रित या संयुक्त दशा कहा जाता है। हम नीचे चौरासी का एक पद उद्धृत करके उसमें प्रेम-नेम की स्थिति को उदाहृत करेंगे—

विहरत दोऊ प्रीतम कुंज। (नेम स्थिति)
अनुपम गौर स्याम तन सोभा, बन बरसत सुख पुंज।
अद्भुत खेल महामन मनमथ को दुंदुभि भुवन राव।
जूझत सुभट परस्पर अंग-अंग, उपजत कौतिक भाव।
(नेम स्थिति)

भरि संग्राम अमित अति अबला निरखत कज नैन।
पिय के अंक निसंक तंकतन आलस जुत कृत सैन।
(प्रेम स्थिति)

लालन मिस आतुर पिय परसत उरु नाभि उरजात।
(नेम स्थिति)

अद्भुत छटा बिलोकि अवनि पर विथकित वेपथु गात।
(प्रेम स्थिति)
(लालजी की)

नागरि निरखि बदन पिय आतुर दियो सुधा धर थोर।
सम्भर उठे मद्य मधु पीवत मिलत मीन मिथ भोर॥
(नेम स्थिति)

१—स्फुट वाणी—श्री हित हरिवंश रचित, टीका श्री भोलानाथ (अप्रकाशित) पृष्ठ १४-१५।

अबही में मुख मध्य विलोके बिबाधर सु रसाल ।
जाग्रत ज्यों भ्रम भयो परयो मन सत मनसिज कुलजाल ॥
(संभ्रमजन्य शिथिल स्थिति)

सकृदपिमयि अधरामृतमुपनय सुन्दरि सहज सनेह ।
तव पद पंकज को निज मन्दिर पालय सखि मम देह ॥
(नेम स्थिति)

प्रिया कहत कहु कहाँ हुते पिय नव निकुंज वर राज ।
सुन्दर वचन रचन कत वितरति रति लंपट बिनु काज ॥
(नेम स्थिति)

इतनो श्रवन सुनत मानिनि मुख अंतर रह्यौ न धीर ।
मति कातर विरहज दुख व्यापत बहुतर स्वांस समीर ॥
(प्रेम स्थिति)

(जैश्री) हित हरिवंश भुजन आकष लै राखे उर मांझ ।
मिथुन मिलत जु कछुक सुख उपज्यो त्रुटि लवमिव भइ सांझ ॥
(प्रेम की अनन्य दशा में लीन स्थिति)
—हित चौरासी, पद सं० ६६ ।

जिस स्थिति को 'प्रेम जंत्रित नेम' कहा जाता है उसका सुन्दर उदाहरण श्री हित-हरिवंशजी की स्फुट वाणी का निम्न पद है—

दोऊ जन भीजत अटके बातन ।
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अम्बर लपटे गातन ॥
ललिता ललित रूप रस भीनी, बूंद बचावत पातन ।
(जैश्री) हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रतिरस घातन ॥
—स्फुट वाणी, पद सं० २३ ।

प्रेम को शाश्वत, त्रिकालातीत और सदा एकरस रहने वाला तत्त्व मानकर नेम को विहार की स्थिति में आदि-अन्त-युक्त एक ऐसा धर्म माना है जो प्रेम को व्यवहार्य बनाने में योग देता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पात्र और जल, सुवर्ण और आभूषण वस्त्र और रंग आदि के लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पात्र आधार है सदा एक समान रहने वाला, जल आधेय है परिवर्तित होने वाला। अतः [illegible] पात्र के समान सदैव एकसी (शाश्वत) रहती है, नेम जल स्थानीय है जो [illegible] होता रहता है। स्वर्ण के उदाहरण में सोने की स्थिति प्रकृति ([illegible] कनक-कुण्डलादि निर्माण करने में वह सोना [illegible] को प्राप्त होता है, अतः प्रेम की [illegible] सदृश परिवर्तन को प्राप्त [illegible] भ्रान्ति भी सम्भव है। [illegible] में यदि प्रेम और नेम [illegible] होगा। इस प्रश्न का

समाधान इस प्रकार किया जायगा कि ये दोनों उदाहरण बाह्य रूप से वस्तुस्थिति क दर्शाने मात्र को है। यथार्थ में ऐसा भेदभाव—प्रकृति और विकृति रूप पार्थक्य—प्रेम औ नेम में नहीं बनता। वस्त्र के ताने-बाने की तरह विहार-परक प्रेम में ये दोनों मिले रहते है रस सृष्टि में दोनों का समान रूप से योग सतत रहता है अतः इन्हें अभिन्न-सदृश माना जान चाहिए। अर्थात् रस रूपी पट के प्रेम और नेम ताने-बाने के समान है। एक के अभाव मे पूर्ण रस-पट का निर्माण सम्भव नहीं। हां, मनोव्यापार की दृष्टि से प्रेम और नेम की क्रियाओं में कुछ अन्तर अवश्य देखा जा सकता है। और यही अन्तर इन दोनों में अपेक्षाकृत व्यापकता और वरिष्ठता का मापदंड हो सकता है। प्रेम की स्थिति, प्रेम की आनन्दमयी विह्वल दशा, विवशता की जननी है। नेम की क्रिया सावधानता है जिसमें बाह्य क्रियाएं हास-विलास आदि स्पष्ट परिलक्षित होती रहती है। अर्थात् प्रेम की गंभीर स्थिति को जिन क्रियाओं द्वारा पहचाना जाता है वे सब नेम हैं। इस स्थल पर आते ही हम प्रेम और नेम के बीच विभाजक रेखा खीच सकते हैं।[1]

श्री ध्रुवदासजी के काव्य से हम प्रेम की विभोर दशा तथा नेम की क्रीड़ा-दशा का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करके इस विहारपरक प्रेम-नेम को और स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

> माधुरी की कुंज तामें मोद की लै सेज रची
>
> तेहि पर राजे अलबेले सुकुमार री।
>
> रूप तेज मोद के युगल तन जगमगे
>
> हाव भाव चातुरी के भूषन सुदार री॥
>
> नेह नीर नैनन की सैनन में रहे भीजि,
>
> कौन रंग बाढ़्यो जहां बोलि बोऊ भार री।
>
> अति ही आसक्त सखी रहो मोहि जोहि जोहि
>
> हित ध्रुव प्रानिन को यहै है अहार री॥[2]

विहार की स्थिति में मोद की सेज पर प्रिया-प्रियतम विराजमान हैं। कान्ति, दीप्तिमय शरीर वाले दोनों हाव-भावपरायण होकर प्रेम में डूबे हुए हैं। नेत्रों से प्रेमाश्रु विगलित हो रहे हैं—प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए वाणी से वचन नहीं निकल रहे हैं, बोलना उस समय भार-स्वरूप प्रतीत होता है। अत्यन्त आसक्त (एक दूसरे में प्रेमातिरेक के कारण लीन) होकर मुग्ध होकर देख भर रहे हैं, उनके जीवन का यही आहार है। इस स्थिति में प्रेम की विभोर दशा के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं है।

---

१. 'प्रेम की क्रिया विवशता, नेम की क्रिया सावधानता या तें एक कहिए स्वाद को दोइ। कबहूं खिलारी खेलबस, कबहूं खिलारो बस खेल।'

ध्रुवदास रचित—सिद्धान्त विचार लीला, पृष्ठ ४६।

२. ध्रुवदास रचित 'भजन श्रृङ्गार सत लीला, दूसरी श्रृंखला, पृष्ठ ६५।

दूसरा उदाहरण नेम की रति-क्रीड़ापरक स्थिति का वर्णन करने वाला है—

खेलत फाग भरे अनुराग सों लाड़िली लाल महा अनुरागी।
तैसिये संग सखी सुठि सोहनी प्रेम सुरंग सुधा रस पागी।।
हैं पिचकारी चितौन छबीली की प्रीतम के उर अन्तर लागी।
रंग कौ ओर न छोर सनेह कौ देखि सबै उपमा ध्रुव भागी।।[1]

उपर्युक्त सवैया में लाल-लाड़िली का पारस्परिक अनुराग व्यक्त करने का प्रसंग है। चितवन की पिचकारी प्रीतम के अन्तरतम में लग उन्हें भी स्नेह-सिक्त कर देती है, इस फाग खेलने में प्रेम का ओर-छोर नहीं रहा है। कवि को उपमा नहीं मिल रही है। यह सब वर्णन नेम के अन्तर्गत ही रखा जायगा।

प्रेम-नेम की शास्त्रीय कसौटी पर परख श्री ध्रुवदासजी ने अपने 'सिद्धान्त विचार लीला' नामक ग्रंथ में की है। सिद्धांत की सूक्ष्मता और गंभीरता से पूर्णतया अवगत होकर ही कदाचित् उन्होंने पद्य के स्थान पर 'गद्यवार्त्ता' का आश्रय लिया है। गद्य में प्रश्नोत्तर तथा शंका-समाधान के द्वारा विचार-विमर्श के उपर्युक्त युक्ति, तर्क, प्रमाण आदि दिए जा सकते हैं अतः यह शैली अधिक समीचीन रहती है। वचनिका के प्रारम्भ में आपने एक प्रश्न उठाया है—"प्रेम-नेम के लक्षण कहा ? कहा प्रेम, कहा नेम ? प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस रुचि तरंग बढ़त रहै। सहज स्वच्छन्द जाको आदि अन्त नाहिं, छिन-छिन नूतनता स्वाद। अरु नेम अनेक भान्ति है। जाको आदि अन्त होय सो सब नेम जानिवौ। † †। प्रेम नेम जैसे तन्तु का ताना-बाना, न्यारो कोई नाहीं। और सोना है ताते भूषण करयौ सो नेम भयौ। सोना एक रस है सो प्रेम है। † † †। एक ने कही जब प्रेम उपजै तब नेम रहै कि जाय। जो नेम-प्रेम तें न्यारे हैं ते जाइं, जे नेम प्रेम से जटित है ते कैसे जाइं। नवधा भक्ति हू नेम है। जब प्रेम सच्छता उपजै तहाँ प्रेम में लीन ह्वै रहै। ताको दृष्टान्त, जैसे श्वेत वस्त्र लाल रंग्यौ तब वह लाल भयौ। वस्त्र कहूँ नहीं गयौ। जैसे भरिया पात्र को आकार नेम, पात्र प्रेम। जो बरिये और निवरै सो सब नेम, अरु एक रस रहै सो प्रेम। † † †। प्रेम की क्रिया विवसता, नेम की क्रिया सावधानता। यातें एक कहिए स्वाद को दोह। कबहु खिलारी खेल बस, कबहु खिलारी बस खेल।"[2]

---

१. ध्रुवदास रचित 'भजन शृङ्गार सत लीला', तृतीय शृङ्खला, पृ० १०४।

२. प्रेम मदन के सिन्धु द्वै दहत रहत दिनहीय।
कबहुं बिवस चेतत कबहुं छिन-छिन प्यारी पीय।।
छिन-छिन प्यारो पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहो कोऊ वरनै कैसे।।
यह सुख सखियन बट परयौ भूलै ध्रुव सब नेम।
इक रस फूली फिरत संग पाइ माधुरी प्रेम।।
द्रष्टव्य—ध्रुवदास कृत—सिद्धान्तविचार लीला, पृष्ठ ४६।

उपर्युक्त ब्रजभाषा की गद्यवार्ता में श्री ध्रुवदासजी ने जिस गूढ़ाशय का व्याख्यान किया है उसी को संक्षेप में आपने 'प्रीति चौवनी लीला' में लिखा है।[1] वे विहारपरक प्रेम-नेम का स्वरूप स्थिर करके साधनापरक तथा जागतिक प्रेम-नेम पर भी अपनी व्यवस्था देते हैं।

साधारण प्रेम-नेम

प्रेम और नेम के स्वरूप, सीमा और पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक रसिक भक्त महानुभावों ने साधनापरक प्रेम-नेम के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। श्री हितहरिवंशजी के सिद्धान्तों के सर्वप्रथम भाष्यकार श्री सेवक जी कहे जाते हैं। उन्होंने अपनी 'सेवकवाणी' में प्रेमतत्त्व को प्रधान मानकर साधना की दृष्टि से नेम पालन के प्रति उपेक्षाभाव व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में प्रेम के अखंड राज्य में नेम-निर्वाह व्यर्थ है।[2] श्री ध्रुवदास जी ने भी साधनापरक प्रेम के साथ नेम की व्यर्थता प्रतिपादित की है।[3] भक्तकवि व्यासजी ने प्रेम-नेम का तात्त्विक विवेचन नहीं किया किन्तु प्रेम की व्यापक सीमा बताते हुए उसमें नेम की अनिवार्यता पर जोर नहीं दिया है। 'रसिक अनन्य व्रत' प्रसंग में प्रेम को उपादेय और काम्य सिद्ध करते हुए नेम को अनावश्यक कहा है।[4]

साधनापरक प्रेम-नेम के विषय में ध्रुवदासजी कहते हैं कि जिस शरीर-रूपी वन में प्रेम-रूपी केहरी गर्जता है वहां नेम-रूपी मृग, गज, गीदड़, विहंग कैसे रह सकते हैं। जो साधक

---

१. जब लगि हूँ मन बीच कछु स्वारथ को हित होय।
   शुद्ध सुधा कैसे रहे, परे जो तामें तोय॥
   आदि अन्त जाको भयो सो तय प्रेम न रूप।
   आवन जात न जानिये, जैसे दाह अरु धूप॥
   —ध्रुवदास कृत—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५६।

२. श्री हरिवंश अनिन जहाँ प्रेम, तहाँ कहाँ व्रत संयम नेम।
   क्षेम सकल सुख सम्पदा॥
   —सेवक वाणी, श्री हितविलास प्रकरण, हितामृतसिंधु, पृष्ठ ८२।

३. हरिवंश चन्द्र सब रसिकजन राखे रस में बोरि।
   प्रेमसिन्धु विस्तारकें नेम मेंड़ दई तोरि॥
   —ध्रुवदास कृत—प्रेमावली लीला, पृष्ठ १७२।

४. अनन्य धन ताके कौ-सी धार।
   × × ×
   बिनु प्रेमहि न प्रसार नेम तहाँ हरि न करत ज्यौनार।
   व्यासदास को बनि बनि मार्ग मरे कराये हार॥
   —व्यासवाणी (रसिक अनन्य धन सिद्धान्त प्रकरण) पृष्ठ १०७।

नेम के जाल में उलझे हुए हैं वे प्रेम मार्ग पर सरपट कैसे दौड़ सकते हैं।[1] मन से नेम का चक्कर दूर किये बिना प्रेम की प्राप्ति सम्भव नहीं। माधुर्य रसपूर्ण प्रेम के मन में आते ही नवधाभक्ति और सब प्रकार के नेम दूर हो जाते हैं।[2] 'भजनसत लीला' में भी यही सिद्धान्त साधनापरक नेम के लिए स्थिर किया है। उनकी मान्यता है कि नेम द्वारा प्रेम नहीं होता, प्रेम के लिए रसिकों का सम्पर्क आवश्यक है।[3] बिना नेम के जहां प्रेम विराजता है वहीं निष्काम प्रेम एकरस गर्जता है। यदि उस प्रेम में राई भर भी नेम मिला तो उस प्रेम की वही स्थिति होगी जो दूध में कांजी मिला देने से होती है। शुद्ध दूध एकदम फटकर नष्ट हो जाता है।[4] 'प्रेमलता लीला' में लाल-लाड़िली के प्रेम का कारण 'निज प्रीति रस' नाम से व्यवहृत हुआ है। नेम का तो वे दोनों स्पर्श भी नहीं करते। यदि नेम का भाव उन दोनों के प्रेम के बीच आ जाय तो वह स्थिर न होकर नष्ट हो जाता है।

प्रेम-नेम के सम्बन्ध में सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों तथा भक्त महानुभावों ने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु पिष्टपेषण को बचाने की दृष्टि से हम और अधिक मत उद्धृत नहीं कर रहे हैं। श्री गोस्वामी रूपलालजी इस सम्प्रदाय के एक प्रभावशाली एवं निर्भीक आचार्य हुए हैं। उनका जन्म संवत् १७३८ में हुआ था। उन्होंने अपने विचार प्रदर्शित करते हुए नेम की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है। उनकी वाणी की हस्तलिखित प्रति से हम नीचे जो पद उद्धृत कर रहे हैं उसका सार यह है कि रस की विवश दशा में जब मन निमज्जित हो जाय और किसी प्रकार की सुध न रहे वही प्रेमदशा कही जाती है। इससे भिन्न जहां सावधानता बनी रहे वह सब नेम-काम कहा जायगा। जब मन सच्चे प्रेम

---

१. जेहि तन घन गरजत रहे अद्भुत केहरि प्रेम।
बामें पावें रहन क्यों गज विहन मृग नेम।
प्रेम चाल बांकी चलन मन पग नहि ठहराय।
नख सिख अरुझे नेम तें ते कैसे तहं जाय॥
भूल्यौ नहि अपनौ विषय मिट्यौ नमन ते नेम।
तासौं ध्रुव कैसे कहै जानि-बूझिकैं प्रेम॥

ध्रुवदास—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५८-५९।

२. महा माधुरी प्रेम रस आवें जिहि उर मांहि।
नवधाहूं तिहि दबै महिं नेम सबै मिटि जाहि॥

ध्रुवदास—भजन कुंडलिया लीला, पृष्ठ ६४।

३. रे मन रसिकन संग बिनु रंच न उपजै प्रेम।
या रस को साधन यहै और करो जिनि नेम॥

—ध्रुवदास—भजन सत लीला, पृष्ठ ७०।

४. बिना नेम यहां प्रेम विराजै, सो निह काम एक-एक गाजै।
राई सम जो नेम मिलाई, कांजी दूध प्रेम ह्वै जावै।

—ध्रुवदास—अनुराग लता लीला, पृष्ठ २४१।

पयोनिधि में अवगाहन करने लगता है तब नेम-काम की भावना तक शेष नहीं रहती।[1]

जागतिक प्रेम-नेम

जागतिक प्रेम-नेम के विषय में अधिक विचार-विमर्श इसलिए नहीं किया गया कि साधारणतः प्रेमलक्षणा-भक्ति के उदय होने पर अपने आप बाह्य नेम आदि का कोई स्थान नहीं रह जाता। जिन सम्प्रदायों में साधना-परक नेम को स्थान प्राप्त है वे भी लोकाचार पर आश्रित बाह्याडम्बर को नेम की कोटि में रख कर त्याज्य ही बताते हैं। जो कठोर मर्यादावादी हैं और प्रेममार्ग को स्वीकार नहीं करते उनके यहां अवश्य जागतिक नेम की स्वीकृति अन्त तक बनी रहती है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में चूंकि 'नेम' शब्द सामान्य जागतिक कर्मकांड का द्योतक नहीं है और इसका विचार करते समय किसी के सामने स्थूल नेम का ध्यान नहीं रहा है अतः उसका यहां कोई महत्व नहीं। प्रेमपरिपाक में सहायक नेम तथा उसकी विविध क्रीड़ाएं ही यहां नेम के अन्तर्गत आती हैं अतः उन्हीं का विचार हुआ है। फिर भी ध्रुवदास जी तथा अन्य महानुभावों ने इस जागतिक नेम को व्यर्थ ठहरा कर अवहेलना की दृष्टि से देखा है। श्री चतुर्भुजदास ने जागतिक प्रेम-नेम की व्यर्थता का अपने 'द्वादश यश' नामक ग्रंथ में तथा स्फुट पदों में बड़ी स्पष्टता से उल्लेख किया है। समस्त लोक-लाज, कुल-मर्यादा, कर्मकांड नेम का ही रूप है अतः प्रेममार्ग के पथिक को इसे छोड़ना अनिवार्य है।[2]

---

१. विवस भाव रस होइ सु प्रेम यातें और काम सब नेम।
ना तौ नेह देह सम्बन्ध, ताकें हित जग भटकें अन्ध॥
जो कछु प्रेम जगत को देख्यौ, सो तो नेम काम उर लेख्यौ।
बूढ़ें उछरें काम वासना, तातें इनकी नांहि वासना।
सांचौ प्रेम जु हो तो ताहि, प्रेम रूप लेतौ अवगाहि॥
—गोस्वामी रूपलाल जी की (हस्तलिखित) वाणी से उद्धृत।

२. मारत हौ कत प्रेमहि लाजनि।
करत प्रेम पं, नेम न विसरत करत फिरत विधि कुल के काजनि।
पूरन प्रेम गनत गोपिन कौ सब कृत तजत जगत भई भ्राजनि॥
तिनकें प्रेम मगन मोहन भयें तज कें अखिल लोक के राजनि।
हृदय बसति हरि, नेम गयौ टरि, प्रेम रह्यौ भरि विदित विराजनि॥
+ + +
रही रिपि रवनी कन्त पति ज्यों सरिता सागर हि समाजनि।
प्रेम परें निकट न चत्रभुज मुरलीधर भर करत निवजानि॥
—चतुर्भुजदास—स्फुट पद हस्तलिखित प्रति से।

सुन सखि दसा होत जब प्रेम की।
ज्ञान कर्म विधि वैभवता सब नहि ठहरात व्रत नेम की।

संक्षेप में, विहारपरक, साधनापरक तथा व्यवहारपरक नेम-प्रेम के मर्म को हृदयंगम करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि विहार दशा में नेम भजनीय तत्त्व का पोषक क्षणिक उपादान है, उसकी स्थिति सर्वथा हेय या त्याज्य नहीं। वह प्रेम में अन्तर्भुक्त होकर रसपरिपाक में सहायक होता है अतः ग्राह्य एवं उपादेय है। साधना-परक नेम साधक की मन स्थिति को सुस्थिर करने में प्रारम्भ में उपयोगी होता है अतः उसे भी कुछ काल तक स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु तृतीय कोटि का मर्यादावादी कर्मकांड परक नेम इस मार्ग में उपादेय न होने से त्याज्य और हेय कहा गया है। उसका प्रायः सभी भक्तों ने खंडन किया है।

प्रेम और काम

प्रेमलक्षणा-भक्ति को माधुर्यभक्ति और शृंगार रस को उज्ज्वल रस की संज्ञा देकर चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वान् पंडित श्री रूप गोस्वामी ने अपने भक्ति-ग्रंथों में शृंगार और प्रेम के लौकिक विषय-वासनामय रूप का उन्नयन किया था। शृंगार और प्रेम के सांसारिक चित्रों के माध्यम से उन्होंने हरिभक्ति का उज्ज्वल एवं दिव्य रूप खड़ा करके शृंगार की भोग-वृत्ति का भली-भांति परिमार्जन भी किया। भक्ति के क्षेत्र में जिस शृंगार को चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने अवतरित किया था उसका कृष्णभक्ति-परक परवर्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनमें शृंगारमयी शैली से रसोपासना प्रवर्तित हो गई। रसिकाचार्यों ने प्रेम और शृंगार का वर्णन करके जो शैली (अभिव्यक्ति का माध्यम) ग्रहण की उसमें प्रेम के प्रतिपादन में काम, मनोज, मार, मनसिज, मन्मथ आदि शब्दों का प्रचुर परिमाण में प्रयोग हुआ। साथ ही भाववस्तु के लिए भी स्थूल काम-चेष्टाओं का सांगोपांग वर्णन किया गया। उस वर्णन के पीछे भक्तों की चाहे जैसी पावन भावना रही हो किन्तु सामान्य पाठक को उसमें काम-वासना की गंध आना स्वाभाविक है। रसोपासना में शृंगार का स्थान हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं और हमने यह भी बता दिया है कि इस उपासना पद्धति को स्वीकार करने का कारण क्या था। प्रस्तुत प्रकरण में हमें प्रेम और काम के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप पर ही प्रकाश डालना है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का इस संबंध में कोई नवीन दृष्टिकोण या मत नहीं है। राधासुधानिधि ग्रंथ में जिस भाव से राधा की महिमा का गान तथा उपासना का विधान हुआ है वह चैतन्य और निम्बार्क से भिन्न नहीं है अतः शृंगार भावना के चित्रण में भी प्रायः साम्य है। 'हित चौरासी' में भी काम, प्रेम और शृंगार के सम्बन्ध में कोई सिद्धांत वाक्य नहीं लिखा गया किन्तु साम्प्रदायिक भावना का अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचना कठिन नहीं है कि जिस 'काम' का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है वह लौकिक वासना-जन्य काम न होकर प्रेम-मार्ग में प्रेरक, प्रवर्तक

(पिछले पृष्ठ का शेष)

रहत अधीर इरत नैननि जल मिटत सकल चंचलता मन की।
परमचित्त आनन्द सिन्धु में लजि तजि ज्ञात लाज गुरु जन की॥
—ध्रुवदास—स्फुट पदावली ब्यालीस लीला—पृष्ठ ३५।

भाव है। श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने अपने 'श्री भगवद्भक्ति रसायन' नामक ग्रंथ में काम का उल्लेख करते हुए उसका लौकिक स्वरूप शरीर सम्बन्ध की इच्छा ही माना है। अर्थात् इस सुख की मानसिक भावना ही काम की प्रेरक है। काम के अभिमान और अनभिमान दो भेद भी किये हैं जो शरीर अभिव्यक्ति और तिरस्कार रूप से कहे जाते हैं।

काम शरीरसम्बन्धविशेषस्पृहात्मना।
अभिमानानभिमानभेदेन स भवेद् द्विधा॥[1]

प्रेम और काम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'श्री चैतन्य चरितामृत' के लेखक श्रीकृष्णदास कविराज की उक्ति बड़ी सटीक और सुन्दर है :—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार काम नाम।
श्रीकृष्णेर प्रीति इच्छा तार प्रेम नाम॥
अतएव काम प्रेमे बहोत अन्तर।
काम अंधतम, प्रेम निर्मल भास्कर।
अतएव गोपीगण न करें विकार।
कृष्ण सुख हेतु करे संगम-विहार॥

—श्री चैतन्य चरितामृत।

इस कथन में कृष्ण-प्रीति को प्रेम और अपनी इन्द्रियों के सुखभोग की इच्छा को काम कहा गया है। ठीक यही भाव राधावल्लभीय वाणियों में व्यक्त हुआ है। राधावल्लभीय भक्तों ने काम के सम्बन्ध में स्पष्टोक्तियों द्वारा उसे प्रेम से पृथक् दिखाने की श्लाघ्य चेष्टा की है। सांसारिक काम-सम्बन्धों में नायक-नायिका की विलास-चेष्टाओं का मांसल वर्णन रहता है। स्थूल रूप से शारीरिक सुखभोग ही काम का रूप है किन्तु राधाकृष्ण प्रेमवर्णन में इस स्थूल काम को सर्वथा त्यागकर आनन्द की ऐसी भूमिका तैयार की जाती है जहां वासना जैसा भाव मन में न आवे। श्री ध्रुवदासजी ने तो नायक-नायिका का अस्तित्व तक रस में स्वीकार नहीं किया फिर भौतिक काम प्रसंग बनेगा ही कैसे।[2] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब (राधा-विषयक) प्रेमाकुर मन में पैदा होता है तब समस्त विषय-वासनाएं नष्ट हो जाती हैं। संसार से आन्तरिक वैराग्य हो जाता है और वृन्दावन रस मन में हिलोरें मारने लगता है।[3] राधा-कृष्ण प्रेम को निष्काम प्रेम की संज्ञा भी दी गई है। यद्यपि यह निष्काम भाव आध्यात्मिक

१—द्रष्टव्य—श्री मधुसूदन सरस्वती—भगवद्भक्ति रसायन, पृष्ठ १४०।

२—जहां न नायक नायका रस करवावत केलि।
उभै सखी संगम सुरस, पियत नैन पुट झेलि॥
ध्रुवदासकृत, ब्यालीस लीला—पृष्ठ १६४।

३—प्रेम बीज उपजै मन माहीं, सब सब विषै वासना जाहीं।
जगतें फिरे भयो बैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी॥
—वही—पृष्ठ २३६।

दृष्टि से ही समान होता है लोक में तो सकामता ही देखी जाती है।[1] 'सिद्धांत विचार' में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि काम और प्रेम में क्या भेद है; ध्रुवदास जी कहते हैं कि जहाँ तक सुख है उन सब में काम रस ही विशेष है। इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं।[2]

इसी प्रसंग में आगे और स्पष्ट करते हुए काम-प्रेम के विषय में कहते हैं कि कोई यह शंका करे कि काम को पहले नेम के अन्तर्गत रखकर उसका युगल किशोर की प्रेम-लीलाओं में उपयोग वर्णन किया है तो फिर इस काम भाव को त्याज्य या हेय कैसे समझा जा सकता है। इस शका का समाधान यह है कि युगल किशोर का काम प्राकृत काम नहीं अपितु दिव्य प्रेम है। यह निज प्रेम ही शृंगार रस के पोषण के लिए नेम रस के रूप में अलग करके कहा है। श्री प्रियाजी के अंग संग से जो बातें (रस) उत्पन्न होती हैं वे सभी प्रियतम श्रीलालजी को प्यारी लगती हैं, अतः यह काम (प्रेम) अप्राकृत है। श्रीकृष्ण काम के वश में नहीं हैं। जिनका रूप देखकर कोटि-कोटि मनोज रति सहित मूर्च्छित होते हैं वे साक्षात् प्रेम हैं।[3]

"काम और प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है—'भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेवहि। मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्।' प्रेमी के द्रुत चित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पद विच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि हैं। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर जतु (लाक्षा) पिघल जाती है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। कृष्ण आदि

१—दुख को मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग तहाँ न कछु, रस में ध्रुव सुख धाम॥
ध्रुवदास कृत—ब्यालीस लीला, पृष्ठ २४१।

२—'एक ने कही प्रेम में अरु काम में कहा भेद है ? सो सब समझाइ देहु। ताते जैसी यथामति उपजी तैसो कही। और जहाँ तांही सुख हैं तिन पर काम रस अधिक है या पर और नाहीं। तहाँ श्यामजू ने कही उहाँ के सुख की निसानी पद में। काम रति सुख की निसानी। ये प्रेम के रस के आगे काम लज्जित होइ रहे ताते सबनि काम-सुख नेम में राखे। या पर प्रेम को सुख निमित्त रहित सदा एक रस है।"
—सिद्धान्त विचार—ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४६।

३—जो कोऊ कहे कि काम नेम में कहि आये हैं तो उनहूं की काम केलि तो गाई है ? सो यह काम प्राकृत न होइ प्रेममई जानिवौ, निज प्रेममई जानिवौ। निज प्रेम ही नेम, रस, सिंगार, पोषक के लिए न्यारे के कहे हैं। जो बात प्रियाजू के अंग संगते उपजै सोई प्रीतम कौं प्यारी लगै यह अप्राकृत प्रेम है। श्रीकृष्ण काम के वश नाहीं। जिनको रूप देखते ही कोटि-कोटि मनोज रति सहित मूर्च्छित होहि सो + + + साक्षात् प्रेम है।
—सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला—पृष्ठ ४७।

आलम्बन सात्विक हैं इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुत चित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे काम कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है, तथा काम दुख और अपुण्यस्वरूप है।"[1]

श्री वल्लभ रसिक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रभाव में ही काम और प्रेम का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए बड़ी सुन्दर बात कही है—"काम रूप बिन प्रेम न होही। काम रूप जहां प्रेम न सोई।" बिना काम (इच्छा) के प्रेम नहीं होता और जहां काम (सकामता) आ जाती है वहां प्रेम नहीं रहता। देखने में भले ही यह पहेली-सी प्रतीत हो किन्तु इसकी गूढ़ता सराहनीय है। काम के बिना प्रेम नहीं होता इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मन की समस्त कामना किसी के प्रति पूर्ण शक्ति के साथ नहीं लगती तब तक प्रेम कैसे होगा। और जब प्रेम हुआ तो निज सुख की काम वासना नहीं रहनी चाहिए। तत्सुखसुखित्व आने पर ही प्रेम की स्थिति बनेगी। यही साम्प्रदायिक भाव है। श्री हितहरिवंशजी ने प्राकृत काम से भिन्न नित्य नूतन रहने वाले काम को स्वीकार कर उसी का वर्णन किया है। राधा अपने नैसर्गिक प्रेम के क्षणों में जिस काम को उद्दीप्त (जीवित) करती हैं वह पशुपति द्वारा दग्ध हो जाने के बाद नित्य-नवीन रूप धारण करके पुनः प्रेमोत्पादन में सहायक होता है। इसी मदन केलि के योग से प्रेम आस्वाद्य बनता है और फिर आस्वादित होकर रस कहलाता है।

श्री गोस्वामी रूपलालजी ने अपनी वाणियों में कई स्थानों पर काम-प्रेम का अन्तर स्पष्ट किया है। काम और प्रेम का साहचर्य मानते हुए आपने सोने और सुहागे की उपमा दी है। जैसे आग में तपाने पर सुहागा भस्म हो जाता है और सोना शेष रहता है वैसे काम रूपी सुहागा शुद्ध प्रेम उत्पन्न होने पर नहीं रहता। जब तक प्रेमास्पद से आशा-इच्छा रहती है तब तक काम-वासना है और जब सब कुछ छोड़कर मन रसमय हो जाता है तब प्रेम की स्थिति जाननी चाहिए।[2]

१—भगवत्तत्व—ले० स्वामी हरिहरानन्द (करपात्रीजी) पृष्ठ २२१।

२— पावक में उड़िजात ज्यों कनक सुहागो संग।
काम प्रेम त्यौंही लखो, कंचन प्रेम अनंग॥
सांचो भावक अंग कहा मैं, चाह धातु भावना मिलावै।
संत संग में नित औटावै, विषय के लिये चितहि लगावै।।
तब कछु भजन उपासन आवै, पुलक रोम गद्गद् बरसावै।।
धातु अंग सांचो बिसरावै, सोई प्रेमी होन कहावै॥
दा सांचे में नित बसै, सांचो प्रेमी आइ।
रूप लाल हित जानिकै, दिन दिन सरस बढ़ि जाइ॥
—श्री गोस्वामी रूपलाल जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

रसोपासना में विधि-निषेध मर्यादा

माधुर्यभक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में भक्ति के दो भेद माने जाते हैं। पहली रसभक्ति और दूसरी शास्त्रभक्ति। शास्त्रभक्ति को ही मर्यादा-भक्ति भी कहते हैं। मर्यादा-मार्ग से भक्ति करने पर साधन-पालन अनिवार्य होता है। साधनों में रत रहने से स्नेह की हानि होती है। रसमार्ग की भक्ति में स्नेह की प्रधानता और परिपूर्णता ही साध्य और साधन है अतः बाह्याचार पर बल नहीं दिया जाता। रसरूपाभक्ति के भाव, मान, प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग, ये षट् भेद बताये हैं, उनके लिए साधनों की विशेष आवश्यकता नहीं समझी गई। शास्त्र या मर्यादा भक्ति नवधा है जिसको सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया है। अतः यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि रसमार्गीय भक्ति-पद्धति का अवलम्बन करके चलने वालों को शास्त्र-मर्यादानुरूप विविध साधनों की वैसी आवश्यकता नहीं होती जैसी नवधा भक्ति को स्वीकार करने में होती है।[१]

श्री हरिवंशजी ने जिस भक्ति का प्रतिपादन अपने सम्प्रदाय में किया वह रस-भक्ति है अतः शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का उस पर आरोप करना उन्हें उचित नहीं लगा। वैष्णव सम्प्रदायों में शास्त्रमर्यादा की अवहेलना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं होती। छोटे-छोटे कर्मकांड के नियमों का पालन भी वहां अनिवार्य समझा जाता है किन्तु हरिवंशजी ने शास्त्रीय नियम न बनाकर प्रेम-साधना के लिए राधा की वन्दना को ही एकमात्र नियम ठहराया। विधि-निषेध को स्वीकार न करने में हरिवंशजी का प्रयोजन यही था कि बाह्याचारों में फंसकर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है। हृदय कर्मकांड की कठोरता के कारण सरस और स्निग्ध नहीं रहता। स्नेह का अभाव हो जाने से राधाकृष्ण के नित्यविहार की स्थिति का आनन्द-लाभ प्राप्त करने की उसमें क्षमता नहीं रहती। प्रेम की स्वच्छन्द लीलाओं को यदि शास्त्र की शृङ्खला से जकड़ दिया जाय तो उनमें चित्त को द्रवित करके अपने में रमाने की सहज-शक्ति का अभाव हो जाता है। जो प्रेममार्ग को स्वीकार कर चुका उसके लिए तप, जप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता भी क्या है।

श्री नाभाजी ने अपने भक्तमाल में 'हरिवंश चरित' सम्बन्धी जो छप्पय लिखा है उसमें 'विधिनिषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी' कहकर श्री हितहरिवंश जी की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। 'विधि-निषेध नहिं' पद में शास्त्रीय विधि-निषेध की अस्वीकृति व्यक्त की गई है किन्तु दूसरे पद में अपने व्रत में अनन्यता और उत्कटता बताई गई है। यह

१—सा भक्तिरसशास्त्राभ्यां द्विधैव परिकीर्तिता।
रसभक्त कृपया सा खंडाखण्डतां व्रजेत्॥
श्री नारायण भट कृत—भक्तिरसतरंगिणी, पृष्ठ ६।
श्री भागवत सम्प्रोक्तसाधनैर्भक्तिमाप्नुयात्।
रसवतीं ततोऽप्येवं सामान्यां समतां मताम्॥
वही—पृष्ठ १७।

विरोधाभास ही उनके चरित की विशेषता को घोषित करता है। 'अनन्य व्रतधारी' का तात्पर्य अपनी रसभक्ति (राधाभक्ति) में अनन्यता का सूचक है शास्त्रीय अनन्यता का नहीं। प्रियादास ने टीका कवित्त में यही बात और स्पष्ट रूप से कह दी है—'विधि औ निषेध छेद डारे प्रान-प्यारे हिये।' 'आप विधि और निषेध से सर्वथा मुक्त थे। उनके प्राण प्राणनाथ ही थे जो हृदय में बसते थे'। (रूपकला वार्तिक तिलक)[1]

'राधासुधानिधि' ग्रन्थ में श्री हितहरिवंशजी ने 'रसिक स्वरूप' का वर्णन करते हुए लिखा है कि "श्री गुरु के भजन रूपी पराक्रम युक्त कोई महा बुद्धिमान् पुरुष इस पृथ्वी पर विरले ही हैं जो न तो अपने बाहुमूल में कभी शंखचक्रादि (वैष्णव चिह्न) धारण करते हैं और न कभी ललाट-पटल पर विचित्र हरिमन्दिर (तिलक) ही रचते हैं, और कंठ भाग में सुहावनी तुलसी माला ही धारण करते हैं।" आगे पुनः दूसरे श्लोक में कहते हैं कि "गूढ़ाश्चर्य रूप उज्ज्वल रसाश्रित रसिकगण वेदोक्त कर्मकांड का अनुष्ठान करें या न करें, माला, चन्दन आदि विषय समूह अर्थात् भोग-विलास के उपकरण ग्रहण करें या न करें। इससे उनकी न कोई हानि है और न लाभ ही।"[2] इन दोनों श्लोकों का भाव स्पष्ट रूप से कर्मकांड की कठोरता के पक्ष में नहीं है। राधासुधानिधि के अन्य श्लोकों में विधि के रूप में एक ही तत्त्व को माना है वह है श्रीराधा की प्रेम-निमग्न निकुंज-विहार स्थिति का दर्शन। सहचरी रूप से जीवात्मा यदि जुगल-किशोर की लीला को देख सके तो यही उसके इस जीवन का फल है। निकुंज-लीला के समय 'माहिली' बनने का सौभाग्य मिले वही सब करना विधेय है। अन्य कुछ भी विधि के अन्तर्गत नहीं आता।

श्री हरिवंशजी ने अपने स्फुट पदों में श्रीकृष्ण की सेवा-पूजा (आरती) के लिए एक पद लिखा है जिसमें विस्तारपूर्वक शृङ्गार तथा भोग-विधि का संकेत है। सेवा पूजा की विधि का बाह्याचार की दृष्टि से इससे अधिक विस्तृत वर्णन कहीं और नहीं किया। किन्तु इस विधि-विधान के होते हुए भी हित सम्प्रदाय में 'राधा-प्रेम' ही आराध्य माना गया है, अन्य

१—भक्तमाल—नाभाजी कृत, पृष्ठ ५६८, छप्पय १११।

२—लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंखचक्रादिकं,
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
ससत्तुलसि मालिकां दधति कण्ठपीठेन वा,
गुरोर्भजन विक्रमात्म क इहते महाबुद्धयः॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ८१।
कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु वा।
गूढ़ाश्चर्य रसाः स्रगादि विषयान्गृह्णन्तु मुंचन्तु वा॥
किं वा भावरहस्य पारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः।
किंचिज्ज्ञैरनुयुञ्जतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरस्यैरपि॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ८२।

सब पूजा-अर्चा गौण है ।[1] स्फुटवाणी में भी सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले चार दोहों में किसी बाह्य कर्मकांड का वर्णन न करके सूक्ष्म तत्व का ही उल्लेख किया है ।

सबसों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम ।
श्री राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम ॥
तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ॥
—स्फुटवाणी श्री हितहरिवंश ।

श्री हितहरिवंशजी की साम्प्रदायिक भावना के सर्वप्रथम व्याख्याता भाष्यकार श्री दामोदरदास (सेवकजी) हैं। आपने 'सेवकवाणी' में सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयत्न किया इसीलिए आपकी वाणी को 'हित चौरासी' का पूरक ग्रन्थ माना गया और श्री हरिवंशजी के उत्तराधिकारी पुत्र गो० श्री वनचन्द्र जी ने हित चौरासी के साथ सेवकवाणी का रहना अनिवार्य बताया ; 'सेवकवाणी को पढो हितचौरासी संग' । तब से हितहरिवंशजी के चौरासी पद और सेवकवाणी एक साथ ही लिखी-पढ़ी जाती है और दोनों को समान सम्मान प्राप्त है। सेवकवाणी में श्री सेवकजी ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे हितचौरासी के आधार पर हैं अतः हम उन्हें भी साम्प्रदायिक महत्व में किसी भाँति न्यून नहीं समझते । श्री सेवकजी ने विधि-निषेध की मर्यादा में प्राचीन शास्त्रों की दुहाई नहीं दी वरन् जो विधेय बताया वह आचार्य हरिवंशजी के आधार पर ही । हाँ, हरिवंशजी का नाम स्मरण, उनका स्थान और महत्व अवश्य अपनी ओर से विधि में ठहराया ।

१—आरती मदन गोपाल की कीजियै ।

\+ \+ \+

अगर करि धूप कुमकुम मलय रंजित,
नवबर्तिका घृत सौं पूरि राखौ ।
कुसुम कृत माल नंदलाल के भाल पर।
तिलक करि प्रकट यश क्यों न भाखौ ।
भोग प्रभु योग भरि थार धर कृष्ण पै
मुदित भुजदंड वर चमर ढारौ ।
आचमन पान हित, मिलत कर्पूर जल
सुभग मुख बास कुल ताप जारौ ।
शंख दुंदुभि पणव घंट कलवेणु रव,
झल्लरी सहित स्वर सप्त नाचौ ।
मनुज तन पाय यह दाय व्रजराज भज,
सुखद हरिवंश प्रभु क्यों न याचौ ॥
—श्री हितहरिवंशजी की स्फुटवाणी, पद सं० १८ ।

विधि-निषेध की दृष्टि से, सेवकजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१—श्री हरिवंशजी की उपासना रीति यह है कि इसमें 'श्याम श्यामा' का नाम एक साथ लिया जाता है। इसमें श्याम (कृष्ण) आराधक और श्यामा (राधा) आराध्य हैं। ये दोनों निकुंज में नित्यविहार करते हैं और श्री हरिवंश इनकी परस्पर प्रीति का गान करते हैं। सहचरी रूप जीवात्मा को इनके सुख-भोग को देखकर आत्मसुख लाभ करना इष्ट या साध्य है।

२. श्री हरिवंश की रस रीति में वृन्दावन, सहचरीगण, श्यामसुन्दर और श्यामा (राधा) परस्पर तत्सुखमयी प्रीति में आबद्ध होकर लोक एवं वेद की मर्यादाओं से अतीत परम प्रेममयी क्रीड़ा में प्रवृत्त रहते हैं।

३. अनन्य प्रेमियों के भजन में अन्तर्यामी स्वरूप (निर्गुण) की उपासना को अवकाश नहीं है क्योंकि प्रकट रूप से ही प्रीति का आश्रय बन सकता है। प्रकट रूपों में सबसे शुद्ध रूप वह है जो वृन्दावन में नित्य रास क्रीड़ा में निमग्न है।

४. श्री हरि (कृष्ण) और हरिवंश में कोई भेद नहीं है। हरि की उपासना के लिए लीलाश्रवण, गुणकथन एवं नामस्मरण में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। इस रीति के ग्रहण किये बिना भक्ति का उदय नहीं होता।

५. विधर्मियों के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के कोई लाभ नहीं। विविध शास्त्रों के फेर में रहने में स्वधर्म की हानि ही होती है। अतः सच्चे धर्मी को अपने धर्म में दृढ़ आस्था रखकर हरिवंश प्रतिपादित मार्ग पर ही चलना चाहिए।[1]

संक्षेप में, यही सेवकजी के मतानुसार विधि-निषेध मर्यादा है। उपर्युक्त मर्यादा के होते हुए सेवकजी 'विधि-निषेध' की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं मानते क्योंकि प्रेमोपासना में व्रत, संयम, नियम आदि की कोई विधि टिकती नहीं। उन्होंने इसीलिए बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि—

---

१. श्री हरिवंश जनित जहाँ प्रेम, तहाँ कहाँ संयम व्रत नेम।
छेम सकल सुख सम्पदा, तहाँ जाति कुल नहीं विचार।
कौन सुउत्तम कौन गंवार, सार भजत हरिवंश के॥
(हितामृतसिन्धु) सेवकवाणी—पृष्ठ ८२।

जाति पाँति कुल कर्मधर्मव्रत, संसृति हेतु अविद्या नासी।
सेवक रीति प्रतीति प्रीति हित, विधि निषेध शृंखला विनासी।
—सेवकवाणी—पृष्ठ १०६।

विधि निषेध शृंखला छुड़ावै, निज आलय वन आनि बसावै।
—सेवकवाणी—पृष्ठ १२६।

गुप्तरीति आचरण प्रकट सब जग दिये।
ज्ञान धर्म व्रत कर्म भक्ति किंकर किये॥ —सेवकवाणी—पृष्ठ १२८।

"या रस में विधि नहीं निषेध, तहाँ न लगन ग्रहन के वेध, तहाँ कुदिन दिन कछु नहीं। नहीं शुभ प्रशुभ मान अपमान, स्नान क्रिया जप तप नहीं।"

—सेवकवाणी, पृष्ठ ८२।

श्री हरिराम व्यास ने अपनी वाणी में रसमार्ग का अनुगमन करने वालों को विधि-निषेध से ऊपर ठहराया है और बार-बार यह कहा है कि प्रेम-मार्ग की उपासना करने वालों को किसी बाह्याचार, कर्मकांड और विधि-निषेध के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। 'निज दृढ़ता कथन प्रकरण' में वे कहते हैं कि मुझे किसी भी धर्म का विश्वास नहीं, आधुनिक युग में कोई भी अपने धर्म में सच्चा नहीं रहा है अतः किसका विश्वास करें, किससे प्रेम करें।[1] एकादशी को व्रत रखकर (उपवास करके) कोई अपनी धर्म-निष्ठा का दम्भ करता है तो कोई प्रसाद की निन्दा करता है।[2] एक दूसरे स्थल पर इसी प्रकरण में वे कहते हैं कि मैं तो उस धर्म का मानने वाला हूँ जिसे लोग अधर्म कहते हैं मैं अपना मार्ग लोगों से उल्टा ही समझता हूँ।[3] भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए एक स्थान पर आपने कहा है कि प्रेमभक्ति के मार्ग में जात-पाति, ऊँच-नीच, यज्ञोपवीत, संस्कार आदि की क्या आवश्यकता है। सन्ध्या, तर्पण, गायत्री आदि उस मार्ग में सब व्यर्थ है। रामानन्द की भक्ति का प्रभाव व्यासजी पर प्रारम्भ में रहा था—वे भक्ति के आगे समस्त बाह्याचारों को अवांछनीय मानते थे। वैष्णव की सच्ची साधना यही है कि वह प्रेम, अहिंसा, समता और भक्ति को अपनाता हुआ मानव मात्र में समबुद्धि रखे।[4] व्यासजी के विषय में एक दन्तकथा प्रचलित है कि उनकी कन्या के विवाह में उनके

---

१. रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुल देवी राधा, बरसानो खेरो, ब्रजवासिन सौं पाँति।
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंड, हरिमन्दिर भाल।
हरिगुन नाम वेदधुनि सुनियत, मूंज पखावज, कुश करताल।।
+ + +
सेवा विधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास।
वंसी रिधि जजमान कल्पतरु, व्यास न देत असीस सराप।।
—व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध), पृष्ठ ७५, पद १२१।

२. मोहि न काहू की परतीति।
कोऊ अपने धर्म न सांचौ, कासौं कीजै प्रीति।
कबहुंक व्यास उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छीति।
—व्यासवाणी—पद १०६, पृष्ठ ६८।

३. जासौं लोग अधर्म कहत हैं सोई धर्म है मेरो।
लोग दाहिने मारग लाग्यौ हौं व चलत हौं डेरो।। व्यासवाणी—पद १२२

४. भक्ति में कहा जनेऊ जाति।
सब दूषन भूषन बिन ब्राह्मनि पति छू परनि घिनाति।
+ + +
सन्ध्या तरपन गायत्री तजि भजि माला मंत्र सजाति।
व्यासदास के सुख सर्वोपरि वेद विदित विख्याति।।
—व्यासवाणी—पद १६२, पृष्ठ ६६।

सम्बन्धियों ने प्रथानुसार गणेश का पूजन किया, और बरात के लोगों ने समस्त भोज्य पदार्थों का भोजन किया। व्यासजी को ये दोनों बातें बहुत बुरी लगीं और वे गणेश-पूजन को अपने रस-मार्ग में कलंक की बात मानकर मन में इतने खिन्न हुए कि उन्होंने कन्या को कोसते हुए कहा कि ऐसी कन्या पेट ही में क्यों न मर गई जिसने पैदा होकर विवाह के समय अनर्थ के कार्य करवा कर अपने कुल में दाग लगाया। इस किम्वदन्ती का आधार एक पद है जो स्पष्ट रूप से सारी कथा का संकेत देता है।[1]

व्यासजी ने अपने दोहों में भी नीति की मर्यादा का समर्थन करते हुए शास्त्रीय विधि-निषेध की मर्यादा को व्यर्थ बताया है। वे कहते हैं कि जब विधि-निषेध के जाल में मनुष्य फंस जाता है तब भक्ति उससे दूर चली जाती है और वह आडम्बर का ही पोषक रह जाता है।[2] एकादशी व्रत का उपहास करते हुए वे कहते हैं कि जो वैष्णव एकादशी व्रत रखकर महाप्रसाद से दूर रहते हैं वे अवश्य ही यमपुर के भागी होंगे और उनके मुख में धूल पड़ेगी।[3]

श्री ध्रुवदास ने भी अपनी रचनाओं में विधि-निषेध का विवेचन 'मन-शिक्षालीला' नामक ग्रन्थ में किया है। सिद्धान्त विचार लीला में भी इस विषय पर विचार व्यक्त किये गये हैं। वे लिखते हैं कि वृन्दावन में आकर यदि कोई 'उपासक निमित्त, तिथि (एकादशी) विधि माने तो यह ठीक नहीं है। जिस वृन्दावन में लाड़िली लाल नित्यविहार में लीन रहते हैं वहां इस बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं है।[4] आगे वे उसी प्रकरण में इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'अति आचार पालन अनाचार समान है'। वैष्णव सदाचार की रक्षा के लिए ही आचार का पालन करे—मन में यह विश्वास कभी न करे कि केवल आचार-पालन से ही कार्य सिद्ध होगा। शुद्धता के लिए आचार करे। अधिक बाह्याचार पालन से मन कर्कश हो जाता है। प्रेमोपासना का भजन अति कोमल है इसमें

---

१. मरं वे जिन मेरे घर गनेस पुजायो।
 जे पदारथ सन्तनिके काजें ते सारे सबननने खायो।
 व्यासदास कन्या पेटहिं क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायो॥
 —व्यासवाणी—पद १४१, पृष्ठ ८२।

२. लजिकें रसिक अनन्यता विधिनिषेध सये घेरि।
 व्यासदास के भजनतें भक्ति गई है टेरि॥ वही, पृष्ठ ११३।

३. करं व्रत एकादसी महाप्रसादते दूरि।
 बांधे यमपुर जायगे, मुख में परि है धूरि॥ वही, पृष्ठ ११८

४. "और श्री वृन्दावन में जो कोई निमित्त, तिथि, विधि माने सो भली नाहीं। श्री लाड़िलीलालजू जहां नित्य विहार करत हैं।"
 ध्रुवदास कृत—ब्यालीस लीला—सिद्धान्तविचार, पृ० ६६।

कठिन कर्मकांड की पद्धति नहीं बनती ग्रतः कोमल ग्रौर कठिन का संग नहीं हो सकता।[1] प्रेममार्ग की उपमा ध्रुवदासजी ने केहरी से दी है जो निर्द्वन्द्व होकर जंगल में घूमता है, किसी के शासन की परवाह नहीं करता। अन्य सब धर्म मृग के समान बंधन में बंधे रहते हैं।[2]

श्री चाचा वृन्दावनदास ने विधि का उल्लेख करते हुए राधावल्लभीय उपासना का संकेत किया है। 'रसिकपथ चन्द्रिका' में रसिकों के लिए विधेय कर्मों का भी संकेत है किन्तु वह विधि शास्त्रीय नहीं—ग्राचार पर निर्भर नहीं—वरन् रस की ग्रनन्य रीति पर निर्भर करती है। कहने का प्रयोजन यह है कि किसी कठोर विधि का विधान वे नहीं करते। सहज रूप में उपासना का सीधा-सादा मार्ग बताते हैं :—

प्रीति पारखू जुगल हैं तिन पर राखो प्रीति।
वृन्दावन हित रूप की यही उपासना रीति ॥

—(रसिकपथ चन्द्रिका, ५० दोहा)

श्री लाडिलीदास विरचित 'सुधर्मबोधिनी' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ में विधि-निषेध मर्यादा का स्पष्टीकरण हुआ है। बाह्य साधनों को भक्ति-मार्ग में ग्रनुपादेय सिद्ध करके उन्होंने नाम-महिमा पर ही बल दिया है।[3]

संक्षेप में, विधि-निषेध के विषय में राधावल्लभ सम्प्रदाय कट्टरपंथी नहीं है। वैष्णव धर्म की बाह्याचार सम्बन्धी रूढ़ियों की इसमें उपेक्षा की गई है। एकादशी व्रत, ग्रपरस,

---

१. ग्रति ग्राचार ग्रनाचार समान है। वैष्णव सदाचार के लिए ग्राचार करैं। मन में विश्वास न धरैं कि याही तैं कारज सिद्ध होइगो। शुद्धता के लिए करैं। बहुत ग्राचार तै हियो कठोर होइ जाइ है। यह भजन ग्रति कोमल है। कोमल ग्रौर कठिन एक संग न बनै।

—ब्यालीस लीला—सिद्धान्तविचार, पृ० ५३।

२. विधि निषेध के बन्द हैं ग्रौर धर्म मृगमानि।
केहरि पुनि निर्बंध है, भगवत धर्महिं जानि ॥

—ब्यालीस लीला—पृष्ठ ७२।

कहु ग्राचार ग्रप रस कहा कहु संयम व्रतनेम।
कहा भजन विधि सौं बिध्यौ जौ नहिं परस्यौ प्रेम ॥

—ब्यालीस लीला (मन-शिक्षालीला) पृष्ठ ६।

३. सब साधन करि हीन जो दुखी दीन चितलाइ।
ताके सब कारज सहज नामहिं लेत बनाइ ॥
साधन सकल प्रनाम करि नाम गाइ दुलराइ।
नामी नाम ग्रासक्त सब सहज मिलेंगे ग्राइ ॥

—श्री लाड़लीदास कृत—सुधर्मबोधिनी—पृष्ठ ३५।

सपरस, तीर्थ, स्नान आदि को सर्वथा विधेय और अनिवार्य नहीं माना गया। प्रेमियों के लिए इन औपचारिक कृत्यों की यथार्थ में आवश्यकता रहती भी नहीं है। श्री हितहरिवंशजी से कुछ वर्ष पहले जिस प्रेमलक्षणा भक्ति का सूत्रपात बंगीय वष्णव भक्तों द्वारा ब्रजभूमि में हुआ था उसमें भी विधि-निषेध पर विशेष बल नहीं दिया गया था किन्तु शास्त्रीय परिपाटी की उसमें पूर्णतया स्वीकृति होने से विधि-निषेध भी किसी न किसी रूप में आ ही जाते थे। एकादशी व्रत, सत्यनारायण कथा, तुलसी पूजा आदि तो सभी वैष्णव धर्मों में अनिवार्य मानी जाती रही है। हरिवंशजी ने इनको भी आवश्यक या विधेय नहीं ठहराया। फिर भी उपासना की बाह्य-विधि में कुछ बातें स्वीकार की गईं जिनका वर्णन हम आगे करेंगे।

पंचम अध्याय

नित्यविहार के विधायक तत्त्व

(राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी)

राधा का सामान्य परिचय

वैष्णव भक्ति में राधा का समावेश किस युग में हुआ यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता। राधा का जो रूप आज भक्ति-सम्प्रदायों में इङ्गित होता है वही एक सहस्र वर्ष पूर्व रहा होगा यह कहना भी कठिन है। कृष्णभक्ति शाखा के प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय में राधा की किसी न किसी रूप में स्वीकृति है। अपनी-अपनी मान्यता के अनुकूल राधा के स्वरूप और शक्ति की कल्पना की गई है। आभीर संस्कृति के कान्ह और राही को कृष्ण और राधा मानने वाले विद्वानों के पास भी इस बात का कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि राधा और कृष्ण का प्राचीनतम रूप वही है। राधा के उद्भवविषयक इतने अधिक पौराणिक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि उनके आधार पर यह निर्णय नही किया जा सकता कि राधा का यथार्थ स्वरूप प्रारम्भ में क्या रहा होगा। जो लोग राधा को सामान्य नारी मानते हैं वे भी उसके वंश, परिवार, गोत्र, जन्मस्थान आदि का कोई ऐतिहासिक विवरण नही देते। इसलिए इन विषम परिस्थितियों में अनुसंधाता के लिए यह विषय बड़े महत्व का हो जाता है। यदि राधा को केवल कल्पित प्रेमदेवी ही मान लिया जाय और उसका सम्बन्ध किसी ऐतिहासिक परम्परा से संयुक्त न किया जाय तब भी उस देवी के प्रारम्भिक (मूल) उपासकों की भावना की छानबीन करना आवश्यक होगा। यही कारण है कि राधा के स्वरूप और अस्तित्व का प्रश्न साहित्य और धर्म के क्षेत्र में प्रवेश काल से ही जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। यदि राधा का नाम भागवत पुराण में उपलब्ध हो गया होता तो निश्चित ही वहीं से इस परम्परा की कड़ी का संधान प्रारम्भ हो जाता किन्तु राधा नाम के अभाव ने पहेली को और अधिक जटिल बना दिया है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदाय में अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार राधा का स्वरूप वर्णित और प्रतिपादित किया गया है। किन्तु उनके आधार पर यह

निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यथार्थ रूप में राधा क्या है और राधा-तत्व का आदि-उद्‌भव कैसे हुआ। ऐतिहासिक आधार पर तथ्य निर्णय करने वाले विद्वानों ने राधा को लोक-मानस की सृष्टि कहकर ऐतिह्य के जाल से बाहर करने की चेष्टा की है। लोक-मानस की सृष्टि मान लेने पर भी यह तो निर्णय करना ही होगा कि किस काल में लोक-मानस ने यह सृष्टि की और इसका आधार क्या था। वैष्णव सम्प्रदायों में राधा उसी प्रकार अनादि और अनन्त है जिस प्रकार भगवान् कृष्ण। दोनों का रूप भी एक ही है अतः इतिहास के कालक्रम की कसौटी पर परखने का वहाँ कोई आग्रह है ही नहीं। किन्तु जिज्ञासु विद्यार्थी भावना के इस प्रवाह में न बहकर तथ्य निर्णय के लिए उत्सुक बना रहता है। इस औत्सुक्य-शमन के लिए कुछ विद्वानों ने वेदों में राधा का अस्तित्व ढूँढने का प्रयत्न किया और राधा शब्द का संधान करके ही छोड़ा। ऋग्वेद में 'स्तोत्रराधानां पते'[1] इस पद में 'राधानां' शब्द को राधा के साथ जोड़ने का साहस इसी प्रकार की चेष्टा का फल है। यद्यपि यहाँ राधा शब्द नामवाचक संज्ञा नहीं है फिर भी बाह्य शब्दसाम्य के आधार पर यह खोज की गई। इसी प्रकार दो-एक और मंत्रों का सम्बन्ध भी—अर्थ का घोर अनर्थ करके—राधा से जोड़ा गया है। किन्तु किसी विद्वान् ने इस प्रकार के असंगत एवं अनर्थपूर्ण प्रयत्नों की सराहना नहीं की और न किसी ने वैदिक वाङ्मय में राधा को स्वीकार ही किया। यथार्थ में वैदिक साहित्य में कहीं भी राधा शब्द (नामवाचक संज्ञा शब्द) उपलब्ध नहीं होता। उस काल में राधा की कल्पना हुई ही नहीं थी। धन, अन्न, पूजा, नक्षत्र आदि अर्थों में राधा शब्द का प्रयोग हुआ है; राधा नामक किसी आराध्या देवी के अर्थ में कहीं राधा शब्द नहीं है।

उद्‌भव सम्बन्धी मान्यताएँ

राधा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रचलित मत यह है कि राधा आर्य जाति की देवी न होकर आभीर जाति की इष्टदेवी थी। आर्यों का जब आभीर जाति से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हुआ तब उन्होंने आभीरों की आराध्या इष्टदेवी को भी अपनी पूजा-अर्चा में इष्टदेवी के रूप में ग्रहण कर लिया। सर भंडारकर ने इस मत की पुष्टि की है और वे लिखते हैं कि सीरिया से आये हुए आभीरों की इष्टदेवी राधा को आर्यों ने स्वीकार किया। आभीरों के यहाँ बस जाने पर उनके बालगोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों पश्चात् आभीरों की इष्टदेवी राधा भी आर्यजाति में स्वीकृत कर ली गई।[2] यही कारण है कि प्राचीन ग्रंथों में बालगोपाल लीला तो मिलती है पर राधा का वर्णन कहीं नहीं मिलता। भंडारकर की इस धारणा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आभीर जाति को सीरिया से इस देश में आया हुआ भी नहीं माना जाता।

---

१. ऋग्वेद, १।२०।२६

2. Vaishnavism, Shaivism and other religious systems—Dr. Bhandarker, Page 38

आभीर भारतीय ही थे, किन्तु वे अपनी उपासना-पद्धति की मौलिकता के कारण आर्यों से पृथक् समझे जाते है।[1]

भक्ति-क्षेत्र में राधा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो संकेत प्रस्तुत किये हैं। उनकी कल्पना है कि "राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसीलिए आर्य-ग्रंथों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर इस बालक देवता की सारी बातें आभीरों से ले ली गई होंगी। और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगा।" यह कल्पना भंडारकर के मत की पुष्टिमात्र ही है। आभीरों को इसमें विदेशी नहीं कहा गया है, यही अन्तर है।

दूसरी कल्पना अनुमानाश्रित है। आपका अनुमान है कि "राधा इसी देश की आर्य-जाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद में आर्यों में इसकी प्रधानता होने पर कृष्ण के साथ भक्ति के लिए इसका सम्बन्ध जोड दिया गया।" इसका तात्पर्य यही है कि सामान्य देवी राधा को कालान्तर में विशेष स्थान मिल गया।[2]

दार्शनिक दृष्टि से राधा-भाव का विवेचन प्रस्तुत करने वाले विद्वान् सांख्य शास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद को राधाकृष्ण का आधार मानते हैं। पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण (पुरुष) और राधा (प्रकृति) की कल्पना की गई। डा० मुंशीराम शर्मा कहते हैं कि "हमारी सम्मति में इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखंड में लिखा है—"ममार्द्धा स्वरूपात्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी।"[3]

तंत्रमत के शिव-भक्ति के स्वरूपाख्यान के मूल में भी सांख्य शास्त्र का यह पुरुष-प्रकृतिवाद अन्तर्निहित है ऐसा मानने वाले विद्वान् राधाकृष्ण भाव का सम्बन्ध तंत्रमत के विकास की एक परवर्त्ती कड़ी के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार राधा का विकास शक्ति की कल्पना में निहित है। शैव तथा शाक्त तांत्रिकों के प्रभाव से राधा को कृष्ण के साथ स्थापित किया गया और कालान्तर में उसका वैष्णव भावना के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों में विकास

---

१. इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णु पुराण में आभीरवंश का उल्लेख है। वायु पुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशानों के पूर्व दस पीढ़ियों तक सिंध में राज्य किया था। + + +। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यतः आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।

—भारतीय साधना और सूर साहित्य : डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ १६४।

२. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १६-१७ (संशोधित संस्करण)

३. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ १७५।

हुआ। इसी कारण कतिपय विद्वान् जयदेव के गीतगोविन्द पर भी सहजयान का तथा तंत्र-शक्ति का प्रभाव स्वीकार करते हैं। राधा को शक्तितत्त्व या आह्लादिनी शक्ति मानना स्पष्ट ही तंत्रवाद का प्रभाव सिद्ध करता है।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में पुरुषतत्त्व तथा स्त्रीतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कृष्णत्व एवं राधात्व का उल्लेख हुआ है। कृष्ण और राधा क्रमशः रस और रति हैं। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को अपने स्वरूप बोध के लिए प्रारम्भ में अपने को कृष्ण और राधा मानकर लौकिक रति में लीन होना अनिवार्य है। क्रमशः यही लौकिक कामरति अलौकिक प्रेम में परिणत होकर आनन्द की सृष्टि करने वाली होती है। उस आनन्दोपलब्धि के क्षणों में पुरुष कृष्णत्व में और स्त्री राधात्व में निमज्जित होकर 'स्वरूप' का रहस्य समझते हैं। सहजिया सम्प्रदाय लौकिक काम की भूमि पर अलौकिक प्रेम की कल्पना करके आगे बढ़ता है अतः उसकी प्रारम्भिक सभी साधन-क्रियाएं बाह्य शृंगार या कामलीला पर स्थिर हैं। उनमें अश्लील शृंगार की प्रधानता देखकर विकृत भावना उत्पन्न होना सहज ही है। बौद्ध सहजयान सम्प्रदाय से यौगिक क्रियाएं ग्रहण करने के कारण इनमें भोग-काम की प्रधानता हुई। इसी कारण परकीया प्रेम को श्रेष्ठतम समझा गया। डा० हरवंशलाल शर्मा ने 'सूर और उनका साहित्य' ग्रंथ में लिखा है कि 'युगल-उपासना पर सहज मत का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। इसका ज्ञान हमें बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से हो सकता है जिसके अनुसार चौरासी कोस का व्रजमंडल स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और व्रज की पंचकोसी पचांगुल परिमित अंग विशेष है।"[1] किन्तु प्रकृत प्रसंग में यह विचारणीय है कि क्या तांत्रिक, बौद्ध या सहजिया राधा भाव की उत्पत्ति में प्रथम और प्रमुख कारण हैं? अथवा इनको भी राधा की पूर्व-कल्पना का आभास मिला था जिसका अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार इन्होंने उपयोग किया। हमारी धारणा है कि राधा का कोई न कोई रूप इन्हें मिला होगा जिसका इन सम्प्रदायों में अपनी मान्यतानुसार उपयोग हुआ। कुछ विद्वान् राधा की उत्पत्ति के मूल में तात्त्विक दृष्टि से शक्तिवाद का प्रभाव मानते हैं। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रंथ 'श्री राधा का क्रम विकास' में लिखा है—'राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है; वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न-भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है। जो थी गुप्त शक्तिरूपिणी क्रम परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्होंने आकर रूप परिग्रह किया है परम प्रेम-रूपिणी मूर्ति में।[2]

"भारतवर्ष शक्तिवाद का ही देश है। सृष्टि तत्त्व का अवलम्बन करके एक आद्या शक्ति-देवी की कल्पना दूसरे देशों में भी देखी जाती है और इस आदि-देवी में मातृत्व का आरोप करके देवी बनाना अन्यत्र भी कुछ-कुछ मिलता है। लेकिन इस शिव-शक्ति एक

१—'सूर और उनका साहित्य'—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ २९९।

२—श्रीराधा का क्रमविकास—डा० शशिभूषणदास, पृष्ठ १।

विश्व-शक्ति को भारतवर्ष ने अपने धर्म जीवन में जिस प्रकार ग्रहण किया है ऐसा संसार में दूसरी जगह नहीं दिखाई देता।"[1]

डा० दासगुप्त महोदय ने श्री सूक्त और श्री देवी या लक्ष्मीदेवी का प्राचीन इतिवृत्त वर्णित करके उनमें भी शक्ति तत्त्व की स्थापना की है और वहाँ भी राधाभाव का संधान किया है। पांचरात्र और काश्मीर शैवदर्शन में भी शक्ति तत्त्व का आपने अनुशीलन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शक्ति तत्त्व ही परवर्ती काल में राधातत्त्व के रूप में गृहीत हुआ। पुराणादि में वर्णित वैष्णव शक्ति तत्त्व के साथ भी राधाभाव को जोड़ा गया है और शक्ति की मूल कल्पना तक राधा को ले जाने का प्रयास हुआ है। शक्ति के रूप में राधा को मानने वाले सभी सम्प्रदायों में यह क्रम-विकास दृष्टिगत हो सकता है किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि माधुर्य भक्ति को स्वीकार करने वाले वैष्णव सम्प्रदायों में शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध कहाँ तक गृहीत हुआ है और राधा को शुद्ध शक्ति का स्थान किस-किस सम्प्रदाय में प्राप्त है।

शाक्त मत में वामा-पूजा का प्राधान्य है। नर-तत्त्व (शिव) का ग्रहण साधन रूप में ही किया जाता है। त्रिपुर सुन्दरी की कल्पना में स्त्रीतत्त्व को मुख्य स्थान देने का भी यही अभिप्राय है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने को त्रिपुर-सुन्दरी ही समझकर व्यवहार करे ऐसी मान्यता के कारण शाक्तमत में स्त्रीतत्त्व की स्थिति इस तथ्य की द्योतक है कि उसके बिना साधना का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में जहाँ जीवात्मा को सखी-भाव से उपासना करने का उपदेश है, वहाँ इस मत का प्रभाव ढूढ निकालना कठिन नहीं है। कदाचित् इसी कारण अनेक विद्वानों ने राधाकृष्ण की भक्ति पर शाक्तमत का प्रभाव देखा है। कुछ अंग्रेज लेखकों ने तो "वैष्णवाइट शाक्त" शब्द द्वारा अपना अभिमत प्रकट भी किया है।[2]

काश्मीरीय शैवदर्शन के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुये महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने कल्याण के शिवांक में प्रेम-मार्गीय भक्ति-साधना पर उक्त दर्शन का प्रभाव बताया है। सांसारिक अभिमान निवृत्ति के अनेक उपायों के रहते हुए भी प्रेम को ही एकमात्र उपाय बताते हुये आपने इसे शैवदर्शन के आधार पर परवर्ती प्रेमलक्षणा-भक्ति पर घटित किया है। सूफियों के प्रेम-दर्शन का मूलाधार भी आपने यही स्थापित किया है। इस

---

१. श्री राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ ३-४।

2. Such moreover are the Radhabhallabis who date from the end of the sixteenth century and worship Krishna, so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify themselves with the friend, that is to say with Radha who have adopted the costume, manners and occupations of woman. These last two sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even entire communities of the Chaitanya, the Vallabhacharya and Ramandis.

The Hindu Religions of India—A. Barth, Page 236

सम्बन्ध में हम उनके लेख का कुछ अंश उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं—"ऊपर जो तीन सिद्धान्त लिखे गये हैं उनका स्वरूप आगम शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। तीन मार्ग ही त्रिविध उपास्य स्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, सम्भवोपाय और शाक्तोपाय के साथ इनका कुछ अंश में सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धान्त भारत में बहुत दिनों का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौंदर्यस्वरूप और चिरसुन्दर हैं। आनन्दस्वरूप और आनन्दमय है। सूफी लोग नररूप में इसकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी लोगों की काव्य-ग्रंथ माला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी सुन्दर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानन्द प्राप्ति का साधन मानते हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्त किशोरावस्था ही तो रसस्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत में पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत में रमणीमूर्ति श्रेष्ठ है। परन्तु सूफी लोग कहते हैं कि इस वस्तु में पुरुष-प्रकृति भेद नहीं है। वह अभेद तत्त्व है। यहीं क्यों, उनके गजल, रुबाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे किशोर वयस्क पुरुष किंवा किशोर वयस्का स्त्री के प्रसंग का निर्णय नहीं किया जा सकता। + + +। आगम भी क्या ठीक बात नहीं कहते ? नटनानन्दनाथ या चिद्वल्ली या कामकला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर उस प्रतिबिम्ब को 'मैं' समझता है, परमेश्वर भी इसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को दो 'देख' मैं पूर्ण हूँ इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णहंता है। इसी प्रकार परम शिव के संग से पराशक्ति का स्वान्तस्य प्रपंच उनसे निर्मित होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। सौंदर्य का स्वभाव ही यही है। श्री चैतन्य चरितामृत में आया है—

'सब हेरि आपनाए कृष्णेर आगे चमत्कार आलिंगिते मने उसे काम।'

यह चमत्कार ही पूर्णहंता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही शिव शक्ति सम्मिलन का प्रयोजक और कार्य-स्वरूप है—आदि रस या शृंगार रस है। विश्व सृष्टि के मूल में ही यह रस तत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शक्ति और है—त्रिपुरा सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौड़ीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर, कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुरा मत में सुन्दरी है। अथवा त्रिपुर-सुन्दरी है। + + +। 'सौंदर्य लहरी' के पंचम श्लोक और वामकेश्वर महातंत्र की 'चतुःशती' में भी यही बात कही गई है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्र की सोलह कलाएं हैं। सभी कलाएं नित्य हैं, इसलिए सम्मिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया जाता है। पहली पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त होता रहता है। सोलहवीं का नहीं। वही अमृता नाम की चन्द्रकला है। वैयाकरण इसी को पश्यन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आस्था है। मन्त्रशास्त्र में इसी को मंत्र या देवताओं का स्वरूप

कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुन्दरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौड़ीय सम्प्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित्य किशोर हैं—

'नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में स्वीकृत राधाकृष्ण उपासना का सम्बन्ध काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्ति-पूजा के साथ स्थापित किया गया है। राधा और कृष्ण के स्वरूप में भेद होने पर भी कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायों की आधारभूत मान्यता में अन्तर नहीं है अतः यह कहा जा सकता है कि राधा की कल्पना में, हो सकता है कि शाक्तमत का भी प्रभाव रहा हो। किन्तु यह उपपत्ति कल्पना पर ही आश्रित मानी जायगी।

कुछ विद्वानों ने बौद्धों के व्रजयानी शाखा के तांत्रिक मत की स्त्रीसाधना से राधा की उत्पत्ति बताई है, जो आंशिक प्रभाव-साम्य होते हुए भी स्वीकार्य नहीं हो सकती। सिद्ध-साधना को राधा की उत्पत्ति का मूल मानने वाले यह भूल जाते हैं कि सिद्ध-दर्शन में जिस कायासाधना का उपदेश है वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप में भोगवृत्ति पर आश्रित है। सिद्धों की कायासाधना यौगिक प्रक्रिया का रूपान्तर था जो मर्यादावादी आर्य पुरुषों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। सिद्धों की रहस्यात्मक प्रवृत्ति, उलटबासियाँ, गूढ़ शब्द-योजना आदि वैष्णव धर्म की सगुणोपासना प्रेमलक्षणा भक्ति के साथ सामंजस्य नहीं रखती अतः राधा की उत्पत्ति या राधाकृष्ण-केलि को सिद्धों की देन नहीं कहा जा सकता। सिद्धों में निर्गुणवाद के साथ अज्ञेयवाद भी प्रचलित था जो वैष्णव धर्म का कभी अंग नहीं बना। राधाकृष्ण की उपासना में शृंगारमूलक भावनाओं के कारण इसे सिद्धों की देन कहना एकांगी एवं पक्षपात-पूर्ण निर्णय है। हाँ, परवर्ती राधाभाव को भोग-शृंगार से लिप्त करने में आंशिक प्रभाव माना जा सकता है किन्तु राधा की उत्पत्ति में सिद्धों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई योग नहीं है।

राधा की कृष्ण के साथ देवता के रूप में आराधना का मूल कारण अभी तक विद्वानों ने यही निश्चित किया है कि राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी थी, उसकी उपासना शृंगार-प्रेम के मार्ग से आभीरों में प्रचलित थी। आर्यों ने इसके मोहक स्वरूप पर रीझ कर जैसे बालकृष्ण को अपना उपास्य बनाया वैसे ही कालान्तर में राधा को भी अपनी पूजा में ग्रहण किया। दूसरी मान्यता राधा के शक्ति रूप पर आश्रित है जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

राधा को शक्ति का प्रतीक मानने वाले तथा राधा का आध्यात्मिक रूप से विवेचन करने वाले कुछ विद्वान् राधा को महालक्ष्मी का स्वरूप भी कहते हैं, जो भगवान् कृष्ण की अन्तरंग महाशक्ति का ही रूप है। यह शक्ति ही सृष्टि-निर्माण, पालन और विनाश का

१—कल्याण—निर्वाक 'काश्मीरीय शैवदर्शन के
लेे० कविराज गोपीनाथ, गीता प्रेस गोरखपुर

कारण होती है। वृहद् गौतमीय तंत्र में इस निरूप का वर्णन करते हुए राधा को कृष्ण की वल्लभा कहा गया है :—

'नितत्त्व रूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा, प्रकृतेः परा ह्वाहं मापि मच्छक्तिरूपिणी, तयासार्धं त्वया न साथ देवता द्रुहाम्।'

आदि पुराण का प्रमाण प्रस्तुत करके यह भी संकेत किया जाता है कि राधा ही भगवान् कृष्ण को सम्पूर्ण रूप से जानती है क्योंकि वह उन्हीं का रूप है, अन्य देवतागण तो केवल अंश रूप की ही अर्चना करते हैं, 'जानाति राधिका नूनं अंशानर्चन्ति देवताः'। यदि राधा को कृष्ण की शक्ति ही मान लिया जाय तो प्रेमलक्षणा-भक्ति के क्षेत्र में कुछ भ्रामक स्थितियाँ उत्पन्न होंगी जिनका उल्लेख हमने आगे किया है।

ज्योतिषशास्त्र और राधातत्त्व

अनुसंधान और आविष्कार के इस वैज्ञानिक युग में राधातत्त्व का सम्पूर्ण विस्तार ज्योतिषशास्त्र में खोज निकालने का प्रयत्न हुआ है। ज्योतिषशास्त्रानुसार ही राधा और तद्विषयक विविध नामों की कल्पना की गई है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। श्री योगेशचन्द्र राय ने कृष्ण को सूर्य का अवतार सिद्ध करते हुए राधातत्त्व को भी ज्योतिष का ही प्रपंच बताया है।[1] श्रीकृष्ण सूर्य हैं तथा व्रज के अन्य गोपगण तारे हैं। श्रीकृष्ण की समस्त व्रजलीलाओं को भी नक्षत्रमंडल पर घटित करने की चेष्टा की गई है।

ज्योतिषशास्त्र के राधातत्त्व पर चरितार्थ करने से पूर्व विष्णु शब्द को सूर्यवाचक मानना चाहिए। उसके बाद प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या यह सूर्य की तीन गति हैं। संचरणशील सूर्य इन तीनों कालों में होता हुआ त्रिपाद बनता है। विष्णु के वामनावतार में त्रिपाद की कल्पना इसी सूर्य की त्रिकालगति पर अवस्थित कही जाती है। वैदिक वाङ्मय में सूर्य के अर्थ में विष्णु शब्द का प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है। कृष्ण विष्णु के अवतार हैं—विष्णु स्वरूप हैं अतः वे सूर्य स्थानीय हैं। राधा का वर्णन श्रीकृष्ण के साथ रासलीला प्रसंग में आता है। यह लीला नक्षत्र मंडल की सम्पूर्ण गति है। राधा विशाखा नक्षत्र है। कृष्ण यजुर्वेद में विशाखा और अनुराधा नामक दो नक्षत्रों का वर्णन आता है जिसमें अनुराधा का तात्पर्य है राधा के पीछे आने वाला। अतः विशाखा यथार्थ में राधा का पर्यायवाची ही है। अथर्ववेद में 'राधोविशाखे' पद में राधा का विशाखा अर्थ में स्पष्ट ही वर्णन है। ज्योतिषशास्त्र को राधातत्त्व पर चरितार्थ करने वाले विद्वानों की तो यही कल्पना है कि पहले राधा नाम ही प्रचलित रहा होगा किन्तु कालान्तर में किसी विशेष प्रयोजन से राधा के स्थान पर विशाखा नाम व्यवहार में आने लगा। कार्तिक मास की पूर्णिमा को सूर्य (कृष्ण) विशाखा (राधा) नक्षत्र में ठहरता है। उस दिन सूर्य तथा अन्य नक्षत्र एक साथ दृष्टिगत नहीं होते। सूर्य की किरणों में ही नक्षत्र समा जाते हैं। इस प्रकार रासलीला के दिन कृष्ण राधा के साथ विहार करते हैं, यह भाव भी ज्योतिषशास्त्रानुसार घट जाता है।

---

१. देखिये—भारतवर्ष (पत्र) माघ १३४० बंगाब्द।

राधा वृषभानु की पुत्री कही जाती है, इसका तात्पर्य है, वृषराशि की किरण। कृत्तिका वृषराशि में ठहरती है अतः राधा की माता का नाम कृत्तिका होना चाहिए किंतु पद्मपुराण में, 'कीर्तिदा' नाम मिलता है। सम्भवतः कृत्तिका यह परिवर्तित रूप हो। राधा के पति का नाम आयाणघोष है। आयाण की व्युत्पत्ति है—उत्तरायण दिन में जन्म धारण करने वाला व्यक्ति।

संस्कृत साहित्य में विशाखा राधा का नाम न होकर राधा की परम सखी का नाम है। अनुराधा (ललिता), भद्रा, ज्येष्ठा, चित्रा आदि भी राधा की सखियाँ मानी गई हैं। तारका भी एक सखी है। चन्द्रावली का पर्याय सोमभा नाम भी मिलता है। ये समस्त नाम नक्षत्रों से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। अतः राधा का यह समस्त प्रपंच ज्योतिषशास्त्र पर निर्भर है।

यही नहीं श्रीकृष्ण की पत्नियों के नाम भी नक्षत्रपरक हैं। वसुदेव की पत्नी रोहिणी, बलदेव की पत्नी रेवती, श्रीकृष्ण की बहिन चित्रा आदि सभी नक्षत्र हैं। राधा तत्त्व यथार्थ में इसी नक्षत्र विद्या के आधार पर आया था किन्तु पौराणिक काल मे इस रूपक को भूल जाने से भक्ति-क्षेत्र में ईश्वरीय शक्ति या श्रीकृष्ण-पत्नी के रूप में राधा को स्थान मिलने लगा।

उपर्युक्त मान्यता के विषय में हमें विशेष टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। ज्योतिषशास्त्र की पदावली के साम्य पर जो अनुसंधान किया गया है वह सर्वथा अप्रामाणिक न होने पर भी 'राधा' के स्वरूप-विकास में स्वीकार्य नहीं हो सकता, हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं। विगत डेढ़ सहस्र वर्षों से राधातत्त्व भक्ति-क्षेत्र का आराध्य तत्त्व रहा है अतः उसे नक्षत्र विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस हम नहीं करना चाहते। एक अनुसंधानारक कुतूहलपूर्ण मान्यता का संकेत करने के लिए हमने इसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

आलवार भक्तों द्वारा राधा का संकेत

राधाभाव के क्रमिक विकास में दक्षिण के आलवार भक्तों के योगदान पर भी इस प्रसंग में विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। वैष्णव आलवार भक्तों का काल ईसा की पांचवीं शती से नवम शती के मध्य का स्थिर किया जाता है। इन आलवारों में श्रीकृष्ण को ही पुरुष स्वीकार करके पूज्य देवता माना जाता था। भक्तगण अपने को नायिका (स्त्री) मानते थे। इन भक्तों के चार हजार पद श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध पाये जाते हैं। इनमें श्रीकृष्ण तथा एक प्रमुख गोपी का वर्णन है। कल्पना की जाती है कि यह प्रमुख गोपी राधा ही है। जिस प्रमुख गोपी का वर्णन है उसका नाम 'नाप्पिनाइ' है, राधा नाम कहीं नहीं है। 'नाप्पिनाइ' एक फूल का नाम है। इसके अतिरिक्त 'कुरवैकुट्ट', नामक तामिल नृत्य विशेष का भी इसी लीला-प्रसंग में उल्लेख है। श्रीकृष्ण इस नृत्य में स्वयं भाग लेते थे। यह नृत्य श्रीकृष्ण की रासलीला का समकक्ष प्रतीत होता है। अतः पांचवी-छठी शताब्दी में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण के आलवार वैष्णवों में रासलीला और राधाकृष्ण युगल

केलि विनोद का कोई न कोई रूप विद्यमान था जो परवर्ती काल में और व्यक्त तथा स्पष्ट होता गया। राधा का साक्षात् वर्णन आलवारों ने नहीं किया है।

शिलालेखों पर राधा

ईस्वी सन् के २०० वर्ष पूर्व के किसी शिलालेख पर राधा या कृष्ण के चरित्र अथवा लीला-सम्बन्धी कोई चित्र उत्कीर्ण हुए नहीं मिलते। ईसा की चौथी शताब्दी के आस-पास श्रीकृष्णचरित-सम्बन्धी शिलालेख या प्रस्तर मूर्तियाँ मिलना प्रारम्भ होती हैं। मन्दसौर के मन्दिर के द्वार के दो स्तम्भों पर जो दृश्य उत्कीर्णित है उसे कृष्णचरित से सम्बद्ध गोवर्द्धन लीला का दृश्य कहा जाता है। उसी पर माखन लीला, शकटासुर लीला, धेनुक लीला, कालियनागलीला के दृश्य भी मिलते हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि श्रीकृष्णचरित की ये लीलाएं जनता में प्रचार पा चुकी थीं तभी प्रस्तरों पर अंकित की गईं।

बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में जो मूर्ति मिली है उसे भी श्रीकृष्ण लीला से सम्बद्ध बताया जाता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार श्रीकृष्ण के साथ जो गोपी उत्कीर्ण की गई है वह और कोई नहीं राधा है और पांचवीं शताब्दी में राधा के साथ श्रीकृष्ण-चरित व्यापक होने लगा था। यदि मूर्ति वाली गोपी को राधा ही माना जाय तो राधा-पूजन का काल भी पीछे ले जाना होगा जो बहुत असंगत एवं अयुक्त नहीं है। महाबलीपुर में भी गोवर्धन लीला का उत्कीर्णित प्रस्तर खंड मिला है जो यह बताता है कि गोवर्धनली का व्यापक रूप से प्रचार हो गया था। बादामी की गुफाओं में श्रीकृष्ण लीलाओं का अ‍ङ्कन हुआ है जिनका काल ईसा की सातवीं शती है।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसा की छठी सातवीं शताब्दी तक राधा-भक्ति का उदय नहीं हुआ था। उनके मत में प्रेमलक्षणा-भक्ति पद्धति के प्रचारित हो जाने के बाद ही राधा का भक्ति क्षेत्र में प्रवेश हुआ।[1] यह मन्तव्य इस दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता कि जयदेव और विद्यापति के काल तक प्रेमलक्षणा-भक्ति भली भांति स्थिर नहीं हुई थी किन्तु राधाभक्ति तो जयदेव से पहले अवश्य प्रारम्भ हो गई होगी। आगे के पृष्ठों में हम राधा का विकास दिखाकर यह सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि राधा-कृष्ण-भक्ति पांचवीं शताब्दी के आस-पास फैलने लगी थी।

संस्कृत साहित्य में राधा

राधा का विस्तृत विवेचन तो पुराणों में ही मिलता है किन्तु पुराणों से पहले राधा शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में तथा श्रीकृष्ण के साथ संयुक्त देवी के रूप में साहित्यिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उनमें से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थों का संकेत उपस्थित करना हम इस

1. The cult of Radha worship does not appear to have yet arisen, for Radha is not mentioned even in the Bhagawat. But the amours of Krishna with the Gopis had become the leading doctrine of the Vaishnavas at this time.
—History of medieval Hindu India Vol. III C.V. Vaidya, Page 415.

प्रसंग में आवश्यक समझते हैं। प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गाहा सत्तसई (गाथा सप्तशती) में कृष्ण की ब्रजलीला और गोपियों का वर्णन है। गाहा सत्तसई ईसा की प्रथम शताब्दी की रचना है। पांचवी शताब्दी में रचित 'पंचतन्त्र' में भी राधा का संधान किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के उद्धरण स्पष्ट नहीं हैं केवल नामोल्लेख मात्र है किन्तु छानबीन से यही सिद्ध होता है कि ईसा की चौथी-पाचवी शताब्दी से पूर्व राधा का नाम जन सामान्य में प्रचारित नहीं हुआ था। इन ग्रन्थों में राधा सामान्य नाम के रूप में ही प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। उसका राधाभक्ति-तत्त्व से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। गाहा सत्तसई के जिस पद में यह आता है कि तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणों को दूर कर के अन्य गोपियों के महत्त्व को न्यून कर दिया है—(गाथा सप्तशती १-२९) वह पद अनेक विद्वानों की दृष्टि में प्रक्षिप्त है। और उसका काल चौथी-पांचवीं शती माना जाता है।[1] श्रीकृष्ण की ब्रजलीला का वर्णन सत्तसई में तीन स्थल पर हुआ है।

भट्टनारायण कृत वेणीसंहार (रचनाकाल ८वीं शताब्दी) में 'राधिका' का जिस रूप में वर्णन मिलता है वह रासपरायण कृष्ण प्रेमिका राधिका है और उसका परवर्ती भक्ति एवं शृंगार परक साहित्य से साक्षात् सम्बन्ध है। अतः इस नामोल्लेख को विशेष महत्व दिया जा सकता है। वेणीसंहार के श्लोक में कालिन्दी के पुलिनों में रासलीला परायण श्रीकृष्ण से कुपित होकर केलिक्रीड़ा का त्याग करके जाती हुई राधिका का कृष्ण जिस भाव से अनुसरण करते हैं वह परवर्ती साहित्य का विषय रहा है। अतः इस 'राधिका' शब्द को हम सामान्य उल्लेख मानकर छोड़ नहीं सकते।[2]

आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में भी राधा का वर्णन है। श्रीकृष्ण उद्धव से राधा की कुशल पूछते हुये जो संदेश प्रस्तुत करते हैं उसमें यमुनापुलिन पर स्थित लतावेश्म की ओर इंगित करके अपने हृदय के मधुरभाव को व्यक्त कर दिया है।[3] 'ध्वन्यालोक' में एक और श्लोक उद्धृत किया गया है जिसमें राधा का वर्णन है। यह श्लोक वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है। इस श्लोक में राधा का श्रीकृष्ण के वस्त्र पहनकर यमुना के किनारे पर उत्कंठापूर्वक गदगद कंठ से कृष्ण के विरह में गान का

---

१. "मुहमारुएण तं कण्हू गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥" गाहा सत्तसई १।२९

२. "कालिन्द्याः पुलिनेषु केलि कुपितामुत्सृज्यरासे रसं।
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्॥
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयं प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः॥"
वेणीसंहार अं० १, श्लोक १।

३. "तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनया तीरे लतावेश्मनाम्॥ —ध्वन्यालोक

उल्लेख है। इस श्लोक के भाव पर यदि विचार किया जाय तो यह ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है कि राधा श्रीकृष्ण के मथुरा में रहते समय नित्य उनके साथ यमुना के किनारे भ्रमण करती और लीला-परायण रहती थी। आज जब वे द्वारका चले गये हैं तो उनकी स्मृति में विह्वल हो गद्गद कंठ से गाती हुई जलचरों को भी व्याकुल बना देती है।[1]

त्रिविक्रम भट्ट ने अपने 'नलचम्पू' (दसवीं शताब्दी) में श्रीकृष्णचरित वर्णन के संदर्भ में राधा की कला-कुशलता का वर्णन किया है। यह वर्णन राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों का परिचायक है। कला-कौशल में चतुर राधा परम पुरुष मायामय केशिहन्ता के प्रति अनुरक्त है।[2]

वल्लभदेव काश्मीरी ने 'शिशुपाल वध' की टीका में किसी प्राचीन ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राधा और कृष्ण का वर्णन है। भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में किसी प्राचीन कवि के एक श्लोक को उद्धृत करते हुये राधा का रूप वर्णन किया है—"कनकानि कारा स्वच्छे राधापयोधरमंडले"—यह श्लोक अनेक सुभाषित संग्रहों में उद्धृत किया गया है। भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः इस काल में निश्चित रूप से राधा का स्थान श्रीकृष्ण की प्रेमिका के रूप में श्रीकृष्ण भक्ति का अवयव बनकर भी स्थिर होने लगा था।

धनञ्जय के 'दशरूपक' में भी राधा का नाम आता है और राधा के प्रणय-कोप का इसमें संकेत है।

'केनालोकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।'

अमृतवती नामक एक स्त्री का उल्लेख करते हुये राधा का नारायण के आकृष्ट न होने का वर्णन किया है। दसवी शताब्दी के 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में भी र सम्बन्धी अनेक श्लोकों का संग्रह मिलता है। अतः यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं दसवीं शताब्दी में राधा नाम अनेक रूपों में साहित्य में प्रविष्ट हो गया था।

क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतारचरित' में राधा का वर्णन करते हुये शृङ्गारपरक को अभिव्यक्त किया है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि इस काल में श्रीकृष्ण और रा के वर्णन-प्रसङ्गों में प्रेम के व्यापक रूप में दोनों का उल्लेख होने लगा था।

---

१. याते द्वारवतीं पुरीं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया,
कालिन्दीतटकुंजवंजुललतामालंब्य सोत्कंठया॥
उदगीतं गुरुवाष्पगद्गद्गलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभि जलचरैरुत्कंठमाकूजितम्॥ (ध्वन्यालोक से उद्धृत

२. निक्षितवंदग्धकलापरायात्मिका परपुरुषे।
मायाविनि कृतकंशिवधे रागं वध्नाति॥ नलचम्पू।

हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में राधा-विषयक दो श्लोक मिलते हैं वे किसी प्राचीन कवि के हैं। इन श्लोकों की व्यंजना भी शृङ्गारमयी है जो विशेष प्रवृत्ति का द्योतन करती है। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने 'नाट्य दर्पण' में भेज्जल कवि कृत नाट्यपरक ग्रंथ 'राधा विप्रलम्भ' का उल्लेख किया है। 'राधा विप्रलम्भ' नाट्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है किंतु इस संकेत के आधार पर यह कल्पना करना कुछ असंगत न होगा कि बारहवीं शताब्दी में राधा विप्रलम्भ भाव की जनता में जानकारी थी और इस भाव से राधा का सम्बन्ध जुड़ गया था। शारदातनय ने अपने 'भावविलास' ग्रन्थ में एक और नाटक का उल्लेख किया है जिसका नाम 'रामा राधा' है जो राधा से ही सम्बद्ध है। कवि कर्णपूर ने अपने अलंकार कौस्तुभ में कदर्म-मंजरी नाटिका का वर्णन किया है जो राधा से ही सम्बद्ध कही जाती है।

तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते राधा और कृष्ण के सम्बन्ध अधिक स्पष्ट और व्यक्त रूप में वर्णित होने लगे। प्रिया-प्रियतम या परिणीता राधा का रूप भी अनेक काव्य-नाटकों में उपलब्ध होता है। इस काल में श्रीकृष्ण ही 'राधाधव' नाम से व्यवहृत होने लगे थे।

प्राकृत पैंगल नामक प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रंथ में श्रीकृष्ण का वर्णन राधाप्रेमी के रूप में हुआ है। श्रीकृष्ण-राधा नौका-विहार करते हुए भी वर्णित हुए हैं।

अपभ्रंश साहित्य में भी राधा का वर्णन उसी रूप में हुआ है जिस रूप में संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों में। राधा-कृष्ण दोनों समवेत रूप में शृंगाररस की पृष्ठभूमि पर ही अंकित किये गये हैं अतः उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

गीतगोविन्द में राधा

राधा का विशद वर्णन प्रस्तुत करने वाले कवियों में गीत-गोविन्दकार जयदेव का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यथार्थ में राधा को काव्य के माध्यम से भक्ति-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। जयदेव ने जिस राधा का वर्णन प्रस्तुत किया है वह साम्प्रदायिक दृष्टि से किस कोटि में आती है यह निर्णय करना कठिन है। जयदेव ने राधा का वर्णन केवल काव्यानन्द के लिए न करके हरिस्मरण के लिए भी किया था अतः यह तो निश्चित रूप से मानना होगा कि उस काल में राधा का भक्ति-क्षेत्र में किसी न किसी रूप में पदार्पण हो चुका था। तभी तो जयदेव अपने गीतों के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

> यदि हरिस्मरणेसरसंमनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
> मधुरकोमलकान्तपदावली शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

गीतगोविन्द काव्य में राधा के रूप-सौन्दर्य-वर्णन पर कवि का ध्यान आदि से अन्त तक सतत बना रहा है। बारह सर्ग के इस मधुर काव्य का ध्येय राधाकृष्ण की भक्ति का वह रूप

प्रस्तुत करना है जो शृंगारमयी भावना से परिपूर्ण होने के कारण सहृदय जन को यमुना तट के निकुंजों में सम्पन्न होने वाली राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं का आनन्द दे सके। जयदेव ने राधा को शक्ति या महालक्ष्मी का कोई रूप नहीं दिया। जयदेव के काव्य में राधा प्रेमिका नायिका रूप में ही पाठक के समक्ष आती है। वह ऐसी प्रेमिका है जो दक्षिण नायक कृष्ण के चरित्र को भलीभाँति जानती हुई भी अपने हृदय के समस्त अनुराग और आकर्षण से उसे प्यार करती है, उसके लिए उन्मत्त की भाँति यमुना के पुलिन कुंजों में घूमती फिरती है। उसके मन में लोकलाज से उत्पन्न संकोच नहीं है। प्रगल्भा राधा शील की रक्षा के लिए प्रयत्नशील न होकर प्रेम पाने को उत्सुक है। विरह की दाहक घड़ियों में वह उस नायिका के समान आचरण करती है जो अपने चारों ओर के वातावरण से निरस्त होकर विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति में अश्रु-प्रवाह का आश्रय लेकर मान, मनुहार, विरह, आक्रोश, अनुनय सभी भावों का प्रदर्शन करती है। इस वर्णन में सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति न होकर राधा का मांसल अनुभूति पक्ष प्रबल हो गया है। परम्परा से तो जयदेव परकीयाभाव के साधक माने जाते हैं, परन्तु गीतगोविन्द के पदों में जयदेव की स्थिति परकीयात्व से भिन्न है। स्थूल शृंगार-लीला-वर्णन में कवि स्वकीया नायिका की मनःस्थिति के उद्घाटन करने में लीन प्रतीत होता है। कदाचित् इन वर्णनों का आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण के वे प्रसंग रहे हों जिनमें राधा का स्वकीयात्व स्पष्ट रूप से स्थापित करके उसे मांसल रूप में चित्रित किया गया है। इस मान्यता के दोनों पक्ष हैं। कुछ विद्वान् ब्रह्मवैवर्त पुराण को गीतगोविन्द से पहले की रचना मानकर गीतगोविन्द के कई श्लोकों पर इसका प्रभाव देखते हैं और दूसरे पक्ष में ब्रह्मवैवर्त बाद की रचना है और गीतगोविन्द से प्रभावित कही जाती है। कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि जयदेव के गीतों ने राधा को काव्य और भक्ति दोनों क्षेत्रों में पूर्ण आधार देकर उसे प्रेमिका, नायिका, आराध्या देवी आदि के पूज्य एवं प्रेमास्पद पदों पर समासीन किया।

पुराण साहित्य में राधा

राधाभक्ति का प्रादुर्भाव किसी भी युग में हुआ हो किन्तु उसका विशद व्यापक प्रचार पुराणों द्वारा ही स्वीकार करना होगा। संस्कृत साहित्य के काव्य, व्याकरण, कथा-आख्यान आदि में राधा का उल्लेख होने पर भी उसका स्वरूपाख्यान एवं सर्वांगीण वर्णन नहीं हो सका था। जयदेव को छोड़कर अन्य किसी कवि ने राधा को अपने काव्य का आधार बनाकर रचना नहीं की थी। इतना ही नहीं, राधा के आध्यात्मिक या दार्शनिक स्वरूप का वर्णन भी पुराणों से पहले नहीं मिलता। राधा के उद्भव और विकास की जैसी वस्तुपूर्ण कथाएँ पुराणों में मिलती हैं वैसी अन्यत्र नहीं हैं अतः राधा के स्वरूपाख्यान में पुराणों का सर्वाधिक योग है। किन्तु शक्ति के रूप में राधा के विविध रूपों का वर्णन पुराणों से ही आरम्भ हुआ।

वैष्णव सम्प्रदाय का मेरुदण्ड भागवत पुराण माना जाता है। किन्तु सम्पूर्ण भागवत पुराण में कहीं भी राधा नाम उपलब्ध नहीं होता। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की एक प्रिय

गोपी का वर्णन है जिसे आधार बनाकर राधा का संधान किया जाता है। उसी प्रकरण में श्रीकृष्ण का किसी विशिष्ट गोपी के प्रति अनुराग वर्णित है; उसमें राधित पद से दूरारूढ़ क्लिष्ट कल्पना द्वारा राधा का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

'अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद्रहः॥'
—भागवत पुराण १०. ३०. ३८।

श्री सनातन गोस्वामी ने उपर्युक्त श्लोक के 'अनयाराधितो' पद की व्याख्या भागवत की 'वैष्णवतोषिणी' टीका में करते हुये इससे राधा का संकेत ग्रहण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या में—नूनं 'हरिरयं राधितःइ राधा इतेह प्रदिताह—' लिखकर राधा से इसका सम्बन्ध जोड़ा है। कृष्णदास कविराज ने भी सनातन गोस्वामी का अनुगमन करते हुये राधा का अस्तित्व इसी पद में स्वीकार किया है। यद्यपि यह दूरारूढ़ क्लिष्ट कल्पना है फिर भी इसे वैष्णव सम्प्रदायों में स्वीकार किया जाता है इसलिये हमने इसका उल्लेख करना आवश्यक समझा। भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध में एक और श्लोक राधा से सम्बद्ध माना जाता है किन्तु उसकी व्याख्या से राधा अर्थ नहीं निकलता।

"निरस्त साम्यातिशयेन राधसा,
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।"
—भागवत पुराण २. ४. १४।

इस श्लोक में 'राधसा' पद का अर्थ ऐश्वर्य (विभूति) है। राधा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है अतः इसे राधा के साथ जोड़ना पद-पदार्थ के साथ अन्याय करना है।

प्रोफेसर विल्सन ने राधा के स्वरूप निर्धारण में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का आश्रय लेकर राधा की शक्ति का कृष्ण-निष्ठ होना सिद्ध किया है। वे राधा को कृष्ण की प्रेयसी मानते हैं और गोलोक में कृष्ण के साथ उसके रहने का पुराण के आधार पर ही वर्णन करते हैं।[1] उनका विश्वास है कि हिंदू-भक्ति-सम्प्रदायों में राधा की उपासना का उदय बहुत अर्वाचीन है। महाभारत में वर्णित राधा और पुराणों की राधा के भेद की ओर संकेत करते हुये उन्होंने पौराणिक काल की राधा को—जिसका नाम कहीं भी भागवत पुराण

1. Radha the favourite mistress of Krishna is the object of adoration to all the sects who worship that deity, and not unfrequently obtains a degree of preference that almost throws the character from whom she derives her importance into the shade.
Hindu Religions—by Prof. H. H. Wilson, Page 113.

'Radha continued to reside with Krishna in Goloke where she gave origin to gopis, or her female companions and received the homage of all divinities.'
Ibid—Page 114.

में नहीं है—भागवत के बाद में निर्मित ब्रह्मवैवर्त की देन कहा है।[1]

प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स ने वैष्णव भक्ति का उल्लेख करते हुए राधाकृष्ण की पूजा-उपासना को पौराणिक साहित्य की देन ठहराया है। राधा का स्वरूप उन्होंने कहीं स्थिर नहीं किया किन्तु राधा को उन्होंने "मानवात्मा की उस इच्छा का प्रतीक माना है जो सतत परमात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की होती है।" निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध बताते हुए आपने राधा को कृष्ण की स्वामिनी लिखा है और दोनों की एक साथ उपासना करने के विधान की ओर संकेत किया है।[2]

अंग्रेज विद्वान् जे० एन० फर्कुहर ने राधा का उद्भव और राधाभक्ति का प्रारम्भ भागवत पुराण से ही माना है। यद्यपि उक्त पुराण में राधा का नामोल्लेख नहीं है फिर भी प्रधान गोपी के रूप में जिसका वर्णन है वही 'राधा' है अतः यह सम्भव है कि उसी समय से राधा का भक्ति-क्षेत्र में प्रवेश हुआ हो। आपके मत में भी सर्वप्रथम राधा का नाम कहां आया यह अभी तक अज्ञात ही है। राध् धातु का अर्थ 'प्रसन्न करना' होने से आपने राधा नाम की कल्पना को स्वीकार कर लिया है किन्तु यह स्वीकृति ऐतिह्य द्वारा पुष्ट नहीं होती।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन साहित्य में राधा का विशद-व्यापक वर्णन देखकर पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी धारणा बनी कि जो शक्ति मानवात्मा तथा परमात्मा के बीच प्रेम सम्बन्ध स्थापित कराती है, वही राधा है, अतः वही उपास्य है।

वृन्दावन-लीलाओं में श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम वर्णित हुआ है वह चार प्रकार का है—सेव्य-सेवक प्रेम, मैत्रीभाव पूर्ण प्रेम, मातृत्व का वात्सल्य भाव पूर्ण प्रेम, और गोपियों का माधुर्य-शृंगार परिपूर्ण (कांताभाव) प्रेम। प्रथम कोटि के प्रेम में कृष्ण का ऐश्वर्य एवं महत्व

---

1. The adoration of Radha is a most undoubted innovation in the Hindu creed, and one of very recent origin...Even the Bhagawat makes no particular mention of her amongst the gopis of Brindaban and we must look to the Brahma Vaivart Puran as the chief authority of a classical character on which the presentations of Radha are founded.

   Hindu Religions, H. H. Wilson—Page 113

2. 'Krishna & Radha, as typical of the longing of the human soul for union with the divine—+ + +.'

   'Worship of the goddess Radha in conjunction with Krishna—'

   Religious Thought & Life in India Part I
   Monier Williams, Page 146-147.

3. We have seen above in the Bhagawat Puran, there is a Gopi whom Krishna favours somuch as to wander with her alone, and that the rest of the gopis surmise that she must have worshipped Krishna with peculiar devotion in a previous life to have thus won his special favour. This seems to be the source whence Radha arose, and it is probable that the name Radha comes from the root in the sense of conciliating, pleasing. She is thus the pleasing one. In what book she first appears is not yet known.

   An Outline of the Religious Literature of India
   —J. N. Farquhar, Page 237.

पष्ट रूप से प्रधान रहता है तभी तो सेवक के मन में महत्व के प्रति आकर्षण होता है। मैत्री भाव में भी श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य सुप्त नहीं होता, हां, उसके प्रति आतंक न रहकर गरिमा का भाव हो जाता है किंतु 'मेरे मित्र कृष्ण महान हैं' यह भाव निर्मूल नहीं हो पाता। मातृत्व के वात्सल्यभाव में माता अपने पुत्र कृष्ण को वत्सलता से पालती है किंतु कृष्ण शैशव में ही यशोदा को अपने विष्णु-रूप का परिचय देकर उसे सामान्य माता से भिन्न कोटि में पहुँचा देते हैं जो एक प्रकार से कृष्ण के गौरव का भाव मन में उत्पन्न करने वाला है। चतुर्थ कोटि के माधुर्य-मंडित शृंगार-परक प्रेम में कान्ताभाव की परिपूर्णता भेद-बुद्धि को विनष्ट करके गोपियों के मन में ऐसी समता उत्पन्न कर देती है जो प्रेम के परिपाक के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। यह चतुर्थ कोटि का प्रेम भागवत पुराण में गोपियों की रास-लीला में पल्लवित हुआ है। यह लीला-वर्णन ही गोपियों के माध्यम से राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से जोड़ देता है अतः भागवत पुराण के लीला-वर्णन प्रसगो को राधा-कृष्ण का वर्णन मानने की परम्परा चल पडी है। किंतु भागवत पुराण के पर्यालोचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस पुराण के रचना काल तक राधा को वह स्थान नहीं मिला था जो बाद के भक्ति सम्प्रदायों में दृष्टिगत होता है।

श्रीकृष्ण की शृंगारपूर्ण वृन्दावन लीलाओं का वर्णन सर्वप्रथम हरिवंश पुराण में हुआ है किन्तु इसमें राधाकृष्ण के युगलभाव का वर्णन नहीं है। विष्णु पुराण के अट्ठाईसवें अध्याय में भी संक्षेप में रासलीला का वर्णन है किन्तु राधा का नामोल्लेख नहीं है। इन दोनों पुराणों के लीला-वर्णन प्रसंग में राधा का नाम न आना इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि इनके रचनाकाल तक लीलाओं में राधा को प्रमुखता नहीं मिली थी। हां, ब्रह्म-वैवर्त्त, पद्म, वाराह और आदि पुराणों में राधा का वर्णन है। यथार्थ में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण ही राधा के विशद-व्यापक वर्णन के लिए उत्तरदायी कहा जाना चाहिए। इस पुराण के ब्रह्म खंड, प्रकृति खंड और कृष्ण-जन्म-खंड में राधा का वर्णन इतने विस्तार से हुआ है कि पाठक को अनेक प्रसंगों में मूलकथा का ध्यान न रहकर राधा की कथा ही मुख्य प्रतीत होने लगती है। पद्म-पुराण और वाराह-पुराण में भी राधा का वर्णन है किन्तु वहां इतना विस्तार नहीं है।

ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। रकार का उच्चारण कोटि जन्मों के अंधे, शुभाशुभ कर्म-फलों को दूर करता है, आकार गर्भवास, मृत्यु और रोगों से छुड़ाता है, धकार आयु की हानि से बचाता है और आकार भवबन्धन से मुक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार राधा नाम के और भी कई अर्थ माहात्म्य वर्णन पूर्वक लिखे गये हैं। इन वर्णनों को पढ़कर यह धारणा होती है कि इस युग में राधा को ही सर्वशक्तिमती मानकर पूजा-उपासना का क्रम प्रचलित हो गया था। रचना के कालक्रम में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के बहुत प्राचीन न होने से राधा-विषयक इस माहात्म्य-

वर्णन का महत्व भी स्वतः कम हो जाता है।[1]

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के ब्रह्मखंड के पंचम अध्याय में राधा की उत्पत्ति का विस्ता पूर्वक आख्यान की शैली से वर्णन है। यह उत्पत्ति अप्राकृतिक शैली से वर्णित हुई है अ उसको किसी वैज्ञानिक या ऐतिहासिक कसौटी पर परखना कठिन है। राधा की उत्पत्ति-कथ में लिखा है कि गोलोक में रासपरायण श्रीकृष्ण के पार्श्व से एक कन्या उत्पन्न होकर उनक पूजा में संलग्न हो गई। उसकी उत्पत्ति का कोई बाह्य कारण न होने से श्रीकृष्ण के प्राण से ही उत्पत्ति मानी गई और उसे श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी कहा गया। उत्पन्न होते ही षोडशी के रूप में अपने अनिंद्य सौन्दर्य से समस्त चराचर को मोहने वाली बनी और प्राणिमात उसकी ओर आकृष्ट होकर आने लगे। उसके रोम-कूपों से उसी के समान सौन्दर्यमयी अनन्त गोपिकाएं उद्भूत हुईं और तभी श्रीकृष्ण के रोमकूपों से असंख्य गोप तथा गोएं उत्पन्न हुईं। यह समस्त उत्पत्ति गोलोक में रासलीला के समय हुई थी अतः उसे दिव्य और नित्य माना गया। राधा की उत्पत्ति का यह एक रूप है, इसी प्रकार के और भी अनेक रूपों में उद्भ का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है।[2]

गोलोकोद्भवा यही राधा वृन्दावन धाम में अवतीर्ण हुई और व्रजमंडल में भक्तजन की आराध्या बनी। यहां भी उसे रासपरायण ही चित्रित किया गया है। वृन्दावन धाम में अवतीर्ण होने के लिए जिस प्रसंग की कल्पना की गई है वह भी इसी प्रकार की अलौकिक मान्यता पर केन्द्रित है। रमण की इच्छा से धावन करती राधा श्रीकृष्ण के समीप पहुंची, इसी कारण उसका नाम 'राधा' पड़ा। इसी लम्बे कथा-प्रसंग में श्रीदामा का शाप भी राधा के व्रज में उत्पन्न होने का कारण बताया गया है। 'राधावाराहकल्प' में लिखा है कि गोकुल में वैश्यवर वृषभानुगोप की कन्या के रूप में पैदा हुई। साथ ही रायाण नामक के साथ उसके विवाह का भी उल्लेख है। इस विवाह को अलौकिक कोटि में स्थापित

---

१. रैफोहि कोटि जन्माघं कर्मभोग शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवासं च मृत्युं च रोगमुत्सृजम्॥
धकारमायुषोहानिः आकारो भवबन्धनम्।
\+ \+ \+
रैफोहि निश्चलां भक्ति दास्यंकृष्णपदाम्बुजम्।
सर्वेप्सितं सदानन्दं सर्वसिद्धौघमीश्वरम्॥
धकारः सहवासंच तत्तुल्यं कालमेव च।
ददातिसार्ष्टि सारूप्यं तत्वज्ञानं हरेः स्वयम्॥
आकारस्तेजसोराशि दान शक्ति हरौ यथा।
योगशक्तिं योगमति सर्वकालं हरिस्मृतम्॥
—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, कृष्ण जन्म खंड, अध्याय ११।

२. द्रष्टव्य—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खंड, अध्याय ५।
" " " प्रकृति खंड, अध्याय २।

के लिए यह भी लिखा है कि राधा अपनी छाया को वृषभानुसुता में रख गई, और उसी छाया-राधा के साथ रायाण का विवाह हुआ। राधा स्वयं श्रीकृष्ण के पास निवास करती थी, उनकी छाया रायाण के पास थी। यह कल्पना भी राधा के दिव्य स्वरूप की स्थापना के उद्देश्य से की गई है। यथार्थ में इस प्रकार की आख्यान-मूलक अभिव्यक्तियों से राधा को लौकिक से पारलौकिक बनाया गया है।[१]

पद्म पुराण के उत्तराखंड प्रकरण में राधाष्टमी व्रत का वर्णन करते हुए राधा-पूजन का महत्त्व बड़े विस्तार से गाया गया है। यह वर्णन भावना-परक होते हुए भी परवर्ती राधा-पूजा या भक्ति में जिस रूप में गृहीत हुआ वह लौकिक ही बन गया। पद्म-पुराण के पाताल खंड के अन्तर्गत वृन्दावन माहात्म्य में भी राधाकृष्ण के 'युगल ध्यान' का वर्णन हुआ है।[२] पद्म-पुराण के राधा-विषयक एक श्लोक को रूपगोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उद्धृत किया है। यदि पद्म पुराण में राधा का उस काल में भी इतना विशद वर्णन होता तो ये दोनों महानुभाव अवश्य और भी सामग्री का चयन करते। अतः यह अंश प्रक्षिप्त एवं परवर्ती काल का है ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। फर्कुहर ने इस पुराण के अधिकांश भाग को सोलहवीं शती के बाद का रचा माना है।[3]

इन्हीं पुराणों में राधा के अनेक नामों का भी वर्णन है। उनमें से मुख्य सोलह नाम इस प्रकार हैं—राधा, रासेश्वरी, रासवासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्णप्राणाधिका, कृष्णप्रिया, कृष्णस्वरूपिणी, कृष्णवामांगसम्भूता, परमानन्द रूपिणी, कृष्णा, वृन्दावनी, वृन्दा, वृन्दावन विनोदिनी, चन्द्रावली, चन्द्रकान्ता और शतचन्द्रनिभानना।

'देवी भागवत' में राधा की पूजा और राधा-मंत्र का विस्तार से वर्णन है। मूल प्रकृतिरूपिणी चिन्मयी भुवनेश्वरी जब जगत् की सृष्टि कर रही थी उस समय प्राण और बुद्धि की पृथक्-पृथक् दो अधिष्ठात्री देवियां प्रादुर्भूत हुईं। प्राण की अधिष्ठात्री देवी का नाम 'राधा' और बुद्धि की देवी का नाम दुर्गा था। राधा की आराधना के लिए 'श्री राधायै स्वाहा'' यह षडाक्षर मंत्र लिखा है। मूल प्रकृति देवी के उपदेश से सर्वप्रथम यह मंत्र श्रीकृष्ण को रासमंडल में प्राप्त हुआ। 'देवी भागवत' के अनुसार राधा की पूजा किये बिना कृष्ण की पूजा का अधिकार नहीं है। कृष्ण क्षणभर को भी राधा के बिना नहीं रह सकते।[४]

तंत्र में राधा

'राधातंत्र' में महामाया की तपस्या में लीन वासुदेव का वर्णन है। यह तंत्र बहुत अर्वाचीन माना जाता है। इसमें राधा की जो उद्भव कथा दी गई है वह भी अलौकिक एवं

---

१. ब्रह्म वैवर्त—प्रकृति खंड, अध्याय ४, ८५।

२. पद्म पुराण—उत्तरा खंड—राधाष्टमी व्रत प्रकरण। अ० १६२-१६३।

„ „ —पाताल खंड—वृन्दावन माहात्म्य, अ० ८२।

3. An Outline of the Religious Literature of India—Farquhar, Page 232.

४—देवी भागवत, स्कंध ६, अध्याय ५०।

अप्राकृतिक सिद्धान्त पर आधृत है। कथा का संक्षेप इस प्रकार है—'महामाया के वरदान से 'आम्नायकल्पमाला' में पद्मिनी नाम की माला ही राधा नाम से प्रसिद्ध हुई। पद्मिनी देवी डिम्ब रूप धारण कर कालिन्दी में आई। उस डिम्ब को जल में तैरते देख वृषभानु ने ग्रहण कर लिया और अपनी पत्नी कीर्तिदा को दिया। उसी डिम्ब से राधा का आविर्भाव हुआ।'[1]

तंत्र-साहित्य में 'रुद्रयामल तंत्र, गौतमीय तंत्र तथा राधातापिनी उपनिषद् भी राधा के आविर्भाव की विचित्र एवं विलक्षण कथाओं से परिपूर्ण हैं। गर्ग संहिता में भी राधा के उद्भव का संकेत है किन्तु हमारा उद्देश्य विस्तार से सबको उद्धृत करना नहीं है। हमने सांकेतिक रूप से केवल प्रमुख स्थलों पर ही दृष्टिनिक्षेप किया है। यदि राधा-विषयक समस्त पौराणिक आख्यानों को उद्धृत किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की सामग्री एकत्र हो सकती है।

राधिकोपनिषद्

राधिकोपनिषद् में राधा के स्वरूप का वर्णन आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में किया गया है। उसका सारांश डा० हरवंशलाल शर्मा ने अपने 'सूर और उनका साहित्य' ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—

"ऊर्ध्व रेता सनकादि महर्षियों के द्वारा सर्वप्रथम देवता के पूछे जाने पर श्री ब्रह्माजी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, वे छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण, गोप और गोपियों के सेव्य, श्री वृन्दावन देवी से आराधित और श्री वृन्दावन के अधीश्वर हैं। यही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। इन्हीं श्री हरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्मांडों के अधीश्वर हैं। वे श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि बहुत सी शक्तियां हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान है। यही परम अन्तरंगभूत, श्रीराधा हैं। कृष्ण इनकी आराधना करते हैं; अथवा वे सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं इसलिए ये राधा कहलाती हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रससागर श्री विष्णु के एक शरीर से ही क्रीड़ा के लिए दो हो गये हैं। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है वह मूर्ख है। सन्धिनी शक्ति, धाम, भूषण, शैया और आसनादि तथा मित्रों और भृत्यादिकों के रूप में परिणत होती है। ज्ञानशक्ति को क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं और इच्छाशक्ति अन्तर्भूत माया शक्ति है। यह सत्व, रज और तमोगुण रूपा है तथा बहिरंग और जड़ है। क्रियाशक्ति को लीला शक्ति कहते हैं।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह उपनिषद अर्वाचीन है। सत्रहवीं शताब्दी से पहले की यह रचना नहीं हो सकती। जो राधाभाव वैष्णव भक्त कवियों ने सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में स्वीकार किया था वही इसमें प्रतिपादित किया गया है।

यथार्थ में पौराणिक आधार को ग्रहण करके ही राधा की उपासना मध्ययुगीन

१—राधा तंत्र, पटल ७–८।

२—सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ २६७।

वैष्णव-भक्ति में स्थान पा सकी है। इससे पूर्व कृष्ण-भक्ति में राधा को स्थान प्राप्त नहीं था। कुछ विद्वानों का तो यह भी अभिमत है कि माधुर्यभाव की उपासना के प्रवर्तित होने के बाद राधा को उसमें स्थान प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् माधुर्यभक्ति पर भी मुसलमान सूफी कवियों का प्रभाव देखते हैं।[1] कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट लक्षित होता है कि राधा की उपासना का समावेश होते ही माधुर्य-भाव की भक्ति में नवजीवन संचार हुआ और उसमें रस की निर्झरिणी प्रवाहित हो उठी। उसी के व्यापक प्रभाव में जयदेव आदि संस्कृत-कवि और भक्तिकालीन व्रजभाषा-कवि उत्पन्न हुए।

चंडीदास के काव्य में राधा

बंगाल के प्रसिद्ध भावुक कवि चंडीदास के गीतों में राधा का विलक्षण रूप चित्रित हुआ है। परकीया रूप से राधा का वर्णन कर चंडीदास ने सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय की भावना को ही अपने पदों में पल्लवित किया है। परकीया होने के कारण उसका प्रेममार्ग अनेक प्रकार के अवरोधों से आक्रान्त है। प्रेममार्ग का अनुसरण करती हुई भी वह कभी उसका निर्विघ्न रूप मन में नहीं आंक पाती। समाज की मर्यादा की रक्षा करते हुए कृष्ण का प्रेम पाना उसका लक्ष्य है; अतः पद-पद पर भय, आशंका, त्रास, लज्जा आदि भावों से वह घिरी रहती है। कभी कलंक से लाञ्छित होने का भय सामने रहता है तो कभी मिलन की आकांक्षा के कारण उद्विग्नता से वह अधीर हो उठती है। संयोग के क्षणों में भी उसे भावी वियोग के कारण आत्यन्तिक आनन्दानुभूति नहीं होती। चंडीदास ने जिस राधा की अवतारणा अपने गीतों में की है वह अत्यधिक कोमल, करुण एवं भावुक है। किसी वासना-कामना से प्रेरित होकर वह श्रीकृष्ण के पास नहीं आई वरन् अपने अन्तर में सुलगती हुई समर्पण की तीव्र अनल शान्त करने के लिए ही वह इस मार्ग पर अनजाने आ पहुँची है। यह कहा जाता है कि परकीया भाव में प्रेम अपनी चरम उत्कट स्थिति पर होता है अतः सद्-असद् विवेक नहीं रहता। किन्तु चंडीदास की राधा में अद्भुत संयम और संयम-अवहेला दोनों ही दृष्टिगत होते हैं। अपने आभ्यन्तर आन्दोलन को वह इन शब्दों में व्यक्त करती है—

> "घरें गुरुजन, ननदी, दासन, विलम्बें बाहिर है नू।
> अहा भरि भरि, संकेत करि, यतना यातना दिनू।"

चंडीदास ने राधा को प्रेम का पुनीत आदर्श माना है। कृष्ण के प्रति राधा का जो आसक्ति-भाव है वह संसार के समस्त जड़-जंगम से पृथक् होकर ऐकान्तिक रूप से कृष्ण में ही स्थिर हुआ है। परकीया होने पर भी उसे किसी और से—अपने सामाजिक बंधन के नाम पर विवाहित पति से भी—लेशमात्र परिचय नहीं है। इसीलिए कृष्ण में ही पति-भाव स्थापित करती हुई वह पुकार उठती है—"तुम मोर पति, तुम मोर पति, मन नाहि आन भय।" संसार के शाश्वत सम्बन्धों में जल और मीन का उदाहरण प्रसिद्ध है। राधा उसी

१—'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल-संस्करण सं० १९९६, पृष्ठ १७८।

उन्माद को अपने प्रेम-प्रसंग में उद्घाटित करती हुई कहती है :—

एमन पीरिति कभु देखि नाइ शुनि,
पराणे पराण बांधा आपनै आपनि।
दुहुँ कोरे दुहुँ कांदे बिच्छेद भाविया,
आध तिलना देखिलि जाय मे मारिया।
जल बिनु मीन जनु कबहुँ न जीये,
मानुषे एमन प्रेम कभुना देखिए॥

चंडीदास ने राधा का चित्र प्रस्तुत करते समय किसी गहन दार्शनिक भाव का आरोप नहीं किया है। परकीया नायिका का वह रूप रखा है जो उत्सर्ग और समर्पण के द्वारा अपने प्रियतम नायक में ही सब कुछ देखती और पा लेना चाहती है। यदि चंडीदास के अन्तर्मन में किसी गूढ़ आध्यात्मिक भावना का भार होता तो प्रेम की ऐसी दिव्य छटा उनके गीतों में कदापि प्रस्फुटित न होती। विरहासक्ति के द्वारा योगिनी राधा का जो रूप चंडीदास प्रस्तुत कर सके वह 'ब्रजबुलि साहित्य' का प्राणाधार है।

"चंडीदास की राधा एक विशुद्ध बंगाली कवि की मानस-प्रतिमा है—बंगाली कवि के चित्त में धृत प्रेम प्रतिमा है। प्रेम की प्रतिमा इस राधा को हम देखते हैं कि बंगाली कवि बंगाल को छोड़कर वृन्दावन नहीं चले गए, वृंदावन की भूमि दूर से आकर क्षण-क्षण पर बंगाली कवि की मनोभूमि में प्रतिष्ठित हुई है। × × ×। हमारे राधा-प्रेम में प्राकृत कहीं भी अस्वीकृत नहीं हुई है—प्राकृत ही धीरे-धीरे दिव्यभूमि में उद्भासित हुई है।"[1]

चंडीदास की राधा-कल्पना में एक विलक्षणता और दृष्टिगत होती है जो अन्यत्र कहीं नहीं है। समस्त पौराणिक साहित्य में राधा के पिता का नाम वृषभानु और माता का नाम कीर्तिदा या कलावती मिलता है। किंतु चंडीदास ने राधा के पिता का नाम सागर और माता का नाम पद्मा लिखा है। इस विपर्यय का कारण स्पष्ट है। चंडीदास की वैष्णव-भावना विष्णु और लक्ष्मी के शाश्वत सम्बंधों से दूर नहीं जाती; अतः वे राधा को भी लक्ष्मी ही समझकर उसके पिता का नाम सागर—अर्थात् समुद्र जहाँ लक्ष्मी का जन्म हुआ था, और लक्ष्मी की उत्पत्ति कमल से मानी जाने के कारण माता का नाम पद्मा मानते हैं। यह कल्पना विष्णु और लक्ष्मी का ही आधार लेकर चली है।

विद्यापति के पदों में राधा

विद्यापति, चंडीदास के समकालीन माधुर्यभाव के सरस कवि हैं। विद्यापति की पद-रचना का आदर्श जयदेव की कोमल-कांत पदावली के अनुसरण में ढूंढा जा सकता है। जयदेव ने राधाकृष्ण की केलि-लीलाओं से अपने काव्य का प्रारम्भ किया है किंतु विद्यापति ने राधा को वयःसंधि के देहली पर खड़ा करके मुग्धा भाव की अनुपम सृष्टि की है। यह वयःसंधि-प्रसंग काव्य की दृष्टि से जहाँ रस-सृष्टि में सहायक है वहाँ राधा के भोलेपन के

---

1. श्री राधा का क्रम-विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ ३१३।

चित्रण के साथ उसकी मन:स्थिति का भी आभास देता है। राधा को मुग्धावस्था में चांचल्य की साकार प्रतिमा बनाने के लिये, उसके व्यवहार में मादकता की सृष्टि करने के लिए यह आवश्यक था कि उसे इस वय:सन्धि में प्रस्तुत किया जाय। इस चित्रण के कारण विद्यापति की राधा में प्रेम की प्रखरता कम और विलास की मात्रा अधिक हो गई है। नवानुराग के लिए औत्सुक्य-विधान करके राधा को न तो नायिका पद से हटाया गया है और न उसे भक्ति-क्षेत्र के अनुकूल ही बनाने की ओर ध्यान दिया गया है। शील और आचरण की भारतीय मर्यादा का उल्लंघन उसके लिए सहज है। वह परकीया प्रतीत नहीं होती। मान, अभिसार, दूती, मिलन आदि प्रसंगों में वह स्वकीया के अधिकारों का पूरा-पूरा उपयोग करती है। अतः उसमें गाम्भीर्य की न्यूनता आ जाती है। अज्ञात दिशा में पंख फैलाकर उड़ने वाले पक्षी की भाँति उसकी स्थिति है। नवविवाहिता से भी उसकी समता हो सकती है। इसी कारण विद्यापति की राधा में शारीरिक पक्ष प्रधान माना जाता है। जो कुछ मन में है उस सबको व्यक्त करके वह अपने प्रियतम कृष्ण से सब कुछ पा लेने की उतावली में रहती है। कुछ पदों में गाथा सप्तशती के शृङ्गारपरक भावों की छाया है जो इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि विद्यापति ने अपने शृङ्गार-चित्रण में भक्ति की मर्यादा का नहीं वरन् संभोग शृङ्गार की रसमयी रचनाओं का आश्रय लिया है। कुछ विद्वान् विद्यापति के विरह-वर्णन को परकीया-भाव की अभिव्यक्ति मानते हैं। चैतन्य का विद्यापति के पदों पर रीझना भी उनके परकीया भाव के कारण समझा जाता है। किंतु यह बात तर्क और युक्ति की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। विद्यापति ने यदि अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह और लखिमादेवी को कृष्ण और राधा माना है तब परकीया-भाव कहाँ टिकता है। यदि कृष्णभक्ति के पक्ष में ही इन पदों को लगाया जाय तब भी जीवात्मा का क्षणिक वियोग ही मानना संगत होगा। परकीया भाव के लिए तो वहाँ भी गुंजायश नहीं है।

कुछ भी हो, विद्यापति ने राधा को साहित्यिक शैली से भक्ति-क्षेत्र में पहुँचाया है और शृङ्गार के उन्नयन की दिशा में अपनी शक्ति-सीमाओं के भीतर रहकर ही प्रयत्न किया है। 'विद्यापति और चंडीदास की राधा की तुलना कवि-कुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकार की है—"विद्यापति की राधिका में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, इसमें गम्भीरता का अटल स्थैर्य नहीं है, है केवल नवानुराग की उद्‌भ्रांत लीला और चांचल्य। विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पंख फैलाकर उड़ना चाहती हैं, पर अभी मार्ग का बोध नहीं। कुतूहल और अनभिज्ञतावश वे ज़रा अग्रसर होती हैं, फिर सिकुड़े, आँचल की ओट में अपने एकांत कोमल घोंसलों में फिर आती हैं। कुछ व्याकुल भी है, कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है, किंतु चंडीदास की राधा में जैसे नयन चकोर मोर जिते करे उतरोल' भाव नहीं है। कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र और कुतूहलपूर्ण हुआ करता है उससे इसमें कुछ भी कमी नहीं है। चंडीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर। दीनेश बाबू कहते हैं—विद्यापति-वर्णित राधिका कई चित्रपटों की समष्टि

है। जयदेव की राधा की भाँति इसमें शरीर का भाग अधिक है; हृदय का कम। परंतु विरह में पहुँचकर कवि ने भक्ति और विरह का गान गाया है। उसके प्रेम में बंधी हुई विलास-कलामयी राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है। विद्यापति की राधिका बड़ी सरल, बड़ी अनभिज्ञा है। चंडीदास की राधा प्रथम ही उन्मादिनी वेश में आती है, प्रेम के मलय समीर में उनका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रुसंपात, कितना दुःखनिवेदन, कितनी कातरोक्ति ! प्रेम के दुःख का परितोष है अभिमान, किंतु वह तो केवल आत्मवंचना है। चंडीदास की राधा में मान करने की क्षमता भी नहीं है। दसों इन्द्रियाँ तो मुग्ध हैं मन मान करे कैसे ? यह अपूर्व तन्मयता है।"[1]

वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधा

माधुर्य-भक्ति को स्वीकार करने वाले वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधा का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं और उनकी पत्नी के रूप में रुक्मिनी का नाम प्रसिद्ध है। रुक्मिनी के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य पत्नियों के नाम भी पुराण-ग्रंथों में पाये जाते हैं, फिर राधा का नाम ही क्यों कृष्ण के साथ इतने अधिक सम्मान और पूज्य बुद्धि के साथ ग्रहण किया जाता है—यह विचारणीय है। राधा को कृष्ण की वामांग-सम्भूता कहा जाता है और साथ ही उनकी 'ह्लादिनी शक्ति' भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओं की संचालिका है तो दूसरी ओर कृष्ण द्वारा आराध्या भी है। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकालना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कृष्ण के विष्णु-रूप की माधुर्य-भाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वर्य-मंडित ही न मानकर माधुर्य-मंडित भी माना गया और इस भाव की परिकल्पना ने राधा-भाव को पूर्ण विकास पर पहुँचाया। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव एवं शाक्त मत में भी राधा की रूपान्तर से कल्पना मिलती है किन्तु हम यहाँ केवल माधुर्य-भक्ति से सम्बद्ध, चैतन्य, निम्बार्क, और राधावल्लभीय सम्प्रदायों पर ही विचार प्रस्तुत करेंगे। अन्य सम्प्रदायों का विवरण इस संदर्भ में अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। सहजिया सम्प्रदाय भी अपने को वैष्णव ही कहता है किन्तु उसमें माधुर्य का रूप मर्यादा-विहित नहीं है। वामाचार-पद्धति के सम्मिश्रण से सहजिया वैष्णवों की भावना शाक्तमत के मेल में अधिक है, वैष्णवों की निष्ठा-भावना तथा भागवत-परम्परा का उसमें निर्वाह नहीं है। हाँ, राधा की परकीया भाव से उपासना की जो परिपाटी इस सम्प्रदाय में प्रचलित है उसका सारांश हमने चैतन्य सम्प्रदाय के अंतर्गत संक्षेप में प्रस्तुत किया है। सहजिया सम्प्रदाय की राधा-भावना का परवर्ती युग में अत्यन्त प्रभाव भक्ति-पद्धति पर दृष्टिगत होता है अतः उस पर हमने यत्किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा की है।[2]

---

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०१ से उद्धृत। (द्वितीय संस्करण)

2. The post-chaitanya Sahajia cult by Manindramohan Bose: Calcutta University Press 1927.

चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा

चैतन्य महाप्रभु के जीवन की प्रमुख घटनाओं में उनका राधाकृष्ण-प्रेम कदाचित् सबसे बड़ी घटना मानी जायगी क्योंकि इसी अद्भुत प्रेम ने उन्हें धार्मिक क्षेत्र में समर्थ क्रान्ति-दूत के रूप में प्रस्तुत किया है। चैतन्य के उद्भव काल में बंगाल, आसाम तथा बिहार में शाक्तमत का प्राबल्य था। शक्ति-पूजा के नाम पर जो भीषण एवं दुर्दान्त कृत्य हो रहे थे, जनता को उनसे विमुख करने में चैतन्य देव की कीर्तन, भजन और पद-गायन की परिपाटी ने चमत्कारपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। चैतन्य के विषय में प्रसिद्ध है कि वे स्वयं चंडीदास और विद्यापति के पदों का उन्मत्त भाव से गान करते हुए उनमें लीन हो जाते थे। उनकी तल्लीनता का आवेश भक्ति के निर्झर का उत्स बनकर उन्हें ही नहीं समस्त परिकर और परिवेश को भी उसी भक्तिरस में निमज्जित कर देता था। यह भी प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु को दक्षिण की यात्रा में दो ग्रंथ उपलब्ध हुए थे जिनका नाम ब्रह्म-संहिता और कृष्णकर्णामृत है। ये दोनों ग्रंथ चैतन्य महाप्रभु को परम प्रिय थे और वे उन्हें राधाभक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे। इन दोनों ग्रंथों में राधा का नाम ही नहीं वरन् राधा का वर्णन भी बताया जाता है। चैतन्य को राधा-भक्ति की जो परंपरा अपने से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा 'ब्रजबुलि' साहित्य से मिली थी उसे उन्होंने सर्वतोभावेन स्वीकार किया था और अपनी साधना से उसे नवीन रूप देकर व्यापक एवं सर्वजन-सुलभ बनाया था।

चैतन्य-सम्प्रदाय के 'प्रेमविलास' तथा 'भक्तिरत्नाकर' ग्रंथ में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है कि वृन्दावन में राधा की कृष्ण के साथ उपासना सोलहवीं शताब्दी से पहले प्रचलित नहीं थी। जब नित्यानन्द प्रभु की द्वितीय पत्नी जाह्नवी वृन्दावन गई और उन्होंने देखा कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ राधा की पूजा नहीं होती तब उन्होंने नयन-भास्कर नामक व्यक्ति से राधा की मूर्ति तैयार कराकर वृन्दावन में भेजी और वह मूर्ति जीव गोस्वामी के निर्देश पर श्रीकृष्ण के साथ स्थापित की गई। इससे पूर्व विष्णु की या बालकृष्ण की ही पूजा होती थी और उसी की मूर्ति रहती थी। इसमें कितना सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। राधा की पूजा से पहले बालकृष्ण की पूजा का प्रचार था यह तो सभी स्वीकार करते हैं, किंतु यह भी सत्य है कि राधाकृष्ण की युगल उपासना का रूप भक्ति-क्षेत्र में आठवीं शताब्दी में विदित था। अतः प्रेम-विलास ग्रंथ की उक्त चर्चा संदिग्ध ही समझनी चाहिए। प्रेम-विलास ग्रंथ वैसे भी प्रामाणिक कोटि का ग्रंथ नहीं है, उसमें प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य ही पाया जाता है।

परकीया-भाव

चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा का वर्णन परकीया कान्ताभाव से किया गया है। राधा का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करने वाले श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' ग्रंथों में जिस रूप में राधा का वर्णन किया है वह परवर्ती माधुर्य-भावपरक भक्ति-सम्प्रदायों में अनेक रूपों में स्वीकृत और समादृत हुआ है। राधा को

परकीया रूप में वर्णन करने का मुख्य प्रयोजन प्रेमाधिक्य दिखाना कहा जाता है ।[1] परकीया भाव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद भक्ति-सम्प्रदायों में पाये जाते हैं । परकीया भाव को प्रेम की चरम उत्कर्ष-स्थिति मानते हुए भी मर्यादावादी समाज में यह पद्धति सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं होती । परकीया भाव के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही तर्क-वितर्क उठते रहे हैं और इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं हो सका । जीव गोस्वामी ने किस रूप में परकीया भाव को ग्रहण किया था और परवर्ती काल में वह परमतत्त्व के रूप में क्योंकर स्वीकृत हुआ यह भी विवाद का प्रश्न बना हुआ है । डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रन्थ में इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"जीव गोस्वामी के परवर्ती काल में परकीयावाद परमतत्त्व के रूप में ही स्वीकृत हुआ है । परवर्ती काल के लेखकों ने जीव गोस्वामी को भी परकीयावादी सिद्ध करने की चेष्टा की है । हमने चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास कविराज के परकीया-तत्त्व समर्थन की बात लिखी है । परवर्ती काल के पंडित विश्वनाथ ने भी अपनी दार्शनिक दृष्टि से इस परकीया मत को प्रकट और अप्रकट दोनों लीलाओं में ही एक समान प्रमाणित करने की चेष्टा की है । यदुनन्दनदास के नाम से प्रचलित कर्णानन्द ग्रंथ में इस परकीयावाद की स्थापना जीव गोस्वामी का असल उद्देश्य है, यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है । परवर्ती काल में स्वकीया-परकीयावाद के सम्बन्ध में विचार-सभा हुई थी और उसमें युक्तितर्क के द्वारा परकीयावाद की ही प्रधानता स्थापित हुई थी ऐसे कुछ तथ्यों का पता चलता है । इन तथ्यों की प्रामाणिकता संशयातीत नहीं है ।"

"तत्त्व की दृष्टि के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से इस परकीयावाद की प्रतिष्ठा के बारे में दो प्रधान कारण मालूम होते हैं । पहला कारण है—बंगाल का वैष्णव धर्म और साहित्य मुख्यतः राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का आलम्बन करके रस-समृद्ध है । जयदेव के बाद चंडीदास और विद्यापति और उनके बाद के अगणित वैष्णव कवियों ने राधाकृष्ण की सूक्ष्म, असंख्य विचित्रताओं के साथ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं । इन सभी काव्य-कविताओं के भीतर से राधा का परकीयापन साहित्य में इस तरह से प्रतिष्ठित हो गया था कि तत्त्व की दृष्टि से उसे अस्वीकार करने या केवल श्रद्धा से ढक रखने की सूरत नहीं थी । परकीया को केवल कायिक मान लेने से तो राधाकृष्ण की प्रकट लीला (जो मुख्यतः वैष्णव साहित्य का उपजीव्य है) प्राणहीन हो जाती ।"

"लगता है कि राधा का आलम्बन करके इस परकीयावाद की प्रतिष्ठा के पीछे तत्कालीन एक विशेष प्रकार की धर्म-साधना का प्रभाव भी था । यह है नर-नारी के युगल रूप की साधना । हिन्दू-तंत्र, बौद्ध-तंत्र, बौद्ध-सहजिया आदि के अन्दर से नर-नारी की युगल साधना की धारा प्रवाहित थी । वैष्णव सहजिया में आकर इस धारा ने एक विशेष रूप ग्रहण किया था ।+++। सहजिया साधना में परकीया की इस प्रधानता ने परवर्ती काल

द्रष्टव्य

१. उज्ज्वल नीलमणि—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ७५ से ९६ तक ।
हरिभक्ति रसामृत सिन्धु—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ४२७ लहरी ५ ।

में वैष्णव धर्म की राधा के परकीयापन में विश्वास को और भी दृढ़ किया था, ऐसा प्रतीत होता है।"[1]

सहजियासम्प्रदाय में परकीया-भाव

परकीया-भाव को स्पष्ट करने के लिए हम चैतन्य के पश्चात् बंगाल में जो सहजिया सम्प्रदाय विकसित हुआ उसके परकीया-सम्बन्धी मन्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। सहजिया सम्प्रदाय का परकीया-भाव चैतन्य के परकीयाभाव से सर्वतोभावेन साम्य नहीं रखता। उनकी परकीया की परिकल्पना साधना-परक होने से नवीन दिशा का संकेत देती है किन्तु परकीयात्व के मूल भाव में उन्होंने चैतन्य से बहुत कुछ साम्य रखा है। अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में भी उन्होंने उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रंथों का आश्रय लिया है। श्री मणीन्द्रमोहन बसु ने अपने 'पोस्ट-चैतन्य सहजिया कल्ट' नामक ग्रंथ में परकीया-भाव का रूप स्थिर करते हुए चैतन्य के शिष्य वर्ग के ग्रंथों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि परकीयाभाव का मूल स्रोत चैतन्य के मत के सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों में ही है।

परकीया का शाब्दिक अर्थ है दूसरे की (स्त्री)। काव्यशास्त्र में परकीया का अर्थ है—

रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः॥

उज्ज्वल नीलमणि (हरिवल्लभा) पृष्ठ ५२।

परकीया वह स्त्री है जो इस लोक या परलोक को छोड़कर उस पुरुष के प्रेम में लिप्त है जिसके साथ वह विधिपूर्वक विवाहित नहीं है। इसके विपरीत स्वकीया उसे कहते हैं जो विधिपूर्वक एक पुरुष के साथ विवाहित है और जो अपने पति की इच्छाओं को पूर्ण करने में तत्पर रहती है :

'करग्रहविधिप्राप्ताः पत्युरादेश तत्पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह॥

—उज्ज्वल नीलमणि (हरिवल्लभा) पृष्ठ ४६।

परकीया-भाव को मानने वाले वेद और उपनिषद् से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में बौद्धमत में भी परकीया-भाव का अनुसंधान कर लिया गया है। इतना ही नहीं वेद-प्रामाण्य के लिए अथर्ववेद का यह मंत्र प्रस्तुत किया जाता है—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
यो जं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति॥

—अथर्ववेद—६, ५, २७-२८

अर्थात् परकीया के सम्पर्क से मनुष्य परलोक में भी वैसा ही जीवन व्यतीत करता

---

१. श्री राधा का क्रम-विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ २१५-१६।

परकीया-प्रेम शरीर के संस्कार के लिए विशेष रूप से अपनाया गया । परकीया-प्रेम मनुष्य के हृदय में रति जाग्रत कर उसे निर्मल बनाता है। यह रति ही प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग की अवस्था को पार कर महाभाव में बदल जाती है। रति सभी मनोभावों की जननी है। काम मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। हिंदू शास्त्र इसको तप द्वारा रोकने का आदेश देते हैं। वैष्णव ईश्वर का अनुभव करने के लिए इस शक्ति का उपयोग करते हैं। और तब लोभ और मोह कृष्णार्पित हो जाते हैं। स्त्री को भी अंधकारमय कहा गया है । महाभारत और योगवशिष्ठ रामायण में पूरा अध्याय ही स्त्री के दुर्गुणों पर लिखा गया है । साधक अपनी कमजोरी समझ कर ही स्त्री से दूर भागता रहा है। किंतु सहजिया का दूसरा मार्ग है। वे कुछ धार्मिक कृत्य करते हैं जो उनके शास्त्रों में लिखे हुए है। ऐसी रहस्य-साधना में एक यह है कि वे किसी सुन्दरी को चुनते हैं, उसके चरणों में चार मास तक उसे बिना छुए पड़े रहते हैं और उतनी ही अवधि तक उसके आलिंगन में बिना कामातुर हुए सोते हैं। इसे स्त्री-सहवास की क्रिया कहा जाता है। इस प्रकार तथा कुछ अन्य अभ्यास से काम शांत हो सकता है जैसा कि प्रायः योगी किया करते हैं किंतु सहजिया उक्त रीति के सुधारों को पूर्ण मानता है और इसी कारण उनके मत में परकीया का ग्रहण प्रामाणिक ठहराया जाता है।

परकीया के पक्ष में दूसरी महत्वपूर्ण युक्ति है कि इसके द्वारा उनका चित्त भी निर्मल हो जाता है जिन्हें समाज में आदर नहीं मिलता। भागवत के एक श्लोक की व्याख्या करते समय श्रीधर स्वामी लिखते हैं—"ईश्वर ने ही क्यों परकीया ग्रहण की जब कि वह वर्जित थी ? क्योंकि कुछ ऐसे भी जन होते हैं जिनकी इन्द्रियाँ वासना में सम्पृक्त होती हैं अतः इन लोगों के लिए धार्मिक विषयों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उन्हीं की रुचि के अनुकूल ईश्वर ने वृन्दावन में प्रणय-लीला की।"

परकीया को स्वकीया से उत्तम बताया गया है । स्वकीया का प्रेम यद्यपि रीति-रिवाजों से पुष्ट है, शास्त्र-सम्मत भी है किंतु उसमें किंचिन्मात्र भी नवीनता नहीं है। उसका प्रेम मुक्त नही है अतः वह नीरस हो जाता है । परकीया का अनुराग महदोल्लास का स्रोत है। मधुर रस के अतिरिक्त शांत, दास्य, सख्य और वात्सल्य रस भी इसी में मिलते हैं। ये पाँचो रस यद्यपि स्वकीया और परकीया दोनों में मिल सकते हैं किन्तु परकीया के वियोग की हूक स्वकीया की अपेक्षा अधिक कष्टकर होती है।

स्वकीया का सहवास अधिक रोमांचकारी नहीं होता क्योंकि शास्त्र-सम्मत होने से उसमें एकरसता बनी रहती है। किंतु परकीया सभी बंधनों से आबद्ध होने के कारण आकर्षक और सुखकर होती है।

परकीया की उत्तमता रति के वर्णानुकूल विभाजन से भी निश्चित की गई है। सामर्थ्य रति का अनुभव गोपियों ने कृष्ण-प्रेम में किया था अतः वह सामंजस्य रति से उत्तम है जो केवल पति-पत्नी में ही होती है। परकीया सामर्थ्य रति है। स्वकीया का प्रेम तो सामंजस्यमात्र है। "चंडीदास के अनुसार प्रत्येक को परकीया ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि वह सर्वोत्तम है। डा० डी० सी० सेन ने सहजिया स्त्री के कथन का इस प्रकार वर्णन किया है—"स्वकीया के सम्मुख सीता-सावित्री का आदर्श रहता है परम्परा के शास्त्रों के बंधन में बँध जाती है। उन

क के सुख का आग्रह रहता है किंतु परकीया प्रेम के क्षेत्र में सब कुछ भूल जाती है। लोग से भला-बुरा कहते हैं किंतु वह इन सबके प्रति उदासीन है। इस परीक्षा में उसकी विजय ती है जो बारहवर्णी सोने से अधिक पवित्र होती है। राधा ने इसी का अनुसरण किया । अतः, उसका प्रेम अप्रतिम है। प्रेम ही सब कुछ है, परकीया के प्रेम से गंभीर और कोई म नहीं। इस प्रकार के प्रेम के अनेक दृष्टांत प्रस्तुत किये जाते हैं। 'रत्नसार' के लेखक ने क कथा द्वारा परकीयात्प्रेम को सर्वोत्तम सिद्ध किया है। पूर्व अनुराग में आबद्ध होने पर ी जब राजकुमार और राजकुमारी का परिणय हो गया तब उनके प्रेम की तीव्रता घट ई। यह परिवर्तन परकीया से स्वकीया होने पर हुआ। इन सिद्धान्तों पर आश्रित धर्म ाधारण जन के लिये अत्यन्त आकर्षक हुआ इसलिए सहजिया को सर्वसाधारण लोक ने धिक ग्रहण किया जिनमें यह आजकल भी प्रचलित है।"[1]

जिस परकीया-भाव का हमने ऊपर की पंक्तियों में विवेचन किया है वह माधुरी भक्ति के वैष्णव सम्प्रदायों में स्वीकृत नहीं हुआ। यथार्थ में राधा के साथ इस प्रकार के परकीयात्व की स्थिति को कोई भक्त ग्रहण भी नहीं कर सकता। काय-साधना के लिए परकीया-भाव राधा-भाव के साथ किसी प्रकार का तादात्म्य नहीं रखता अतः दोनों को एक कोटि में रखकर परखने की भूल नहीं करनी चाहिए। दोनों का भेद स्पष्ट करने के लिए ही हमने इस विषयान्तर को स्वीकार किया है।

चैतन्य मत में राधा के कांता-भाव की स्वीकृति तो है किन्तु उसमें परिणय का संबंध नहीं माना गया, यही परोक्ष रूप से परकीयात्व की स्वीकृति है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने कांताप्रेम के उत्कृष्टतम रूप परकीया रति को स्थिर किया है—

"परकीया भावे अति रसेर उल्लास, व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास।
व्रजवधू गणेर एइ भाव निरवधि, तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥
—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद।

अब प्रश्न यह है कि इस सम्प्रदाय में राधा-माधव में से किसको प्रमुख माना जाता है। क्या गौड़ीय भक्ति में राधा का प्राधान्य चैतन्य के काल से इसी रूप में चला आ रहा है या परवर्ती काल में राधा का विशेष रूप से वर्णन हुआ। इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। षट्संदर्भ के अनुसार इष्टदेव का स्वरूप तो कृष्ण में ही स्थित होता है, राधा में नहीं। चैतन्य चरितामृत भी कृष्ण को ही इष्टदेव बताता है।

श्रीकृष्ण को परतत्त्व और अद्वय ज्ञान बताते हुए सर्व अवतारी और समस्त सृष्टि का प्रधान कारण कहा है। वे अनंत वैकुण्ठों के, अनंत अवतारों के और अनंत ब्रह्मांडों के आधार हैं। कृष्ण व्रजेन्द्रनंदन हैं, सच्चिदानंद-रूप हैं, सर्वैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् और समस्त रसों से पूर्ण हैं। वे ही एकमात्र तत्त्ववस्तु हैं। वे पूर्ण भगवान् हैं और व्रजेन्द्रकुमार

1. The Post-Chaitanya Sahajiya cult—by Manindramohan Bose Page 43.

हैं। वे व्रज में गोलोक सहित विहार करते हैं। वे अवतारी नहीं, स्वयं भगवान् हैं। अन्य अवतार उनके कला-अंशमात्र हैं।[1]

कृष्ण का यह अद्वय ज्ञान-तत्त्व वस्तु का स्वरूप ही प्रकाशपुञ्ज से ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन रूप धारण करता है।[2]

श्री सुशीलकुमार डे ने अपने शोध ग्रंथों में चैतन्य सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए जीव गोस्वामी के षट्संदर्भ ग्रंथ का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। 'श्रीकृष्ण सन्दर्भ' की विषयवस्तु को हृदयंगम कर लेने पर यह निर्धारण करना कठिन नहीं रहता कि चैतन्य के मत में राधा की प्रधानता नहीं है। भक्ति का आलम्बन श्रीकृष्ण हैं। उसी को रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथों में स्वीकार किया है और जीव गोस्वामी ने भी उसी मत का विस्तार किया है। शक्ति और शक्तिमान का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्यशक्ति ही माना है तथा ह्लादिनी शक्ति का वह सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'पूर्णात्मा' भागवत् कृष्ण ही है। राधा उनका अंशमात्र है जो भक्ति द्वारा स्वयं पूर्णात्मा में लीन होने की साधना करती है। शक्ति और शक्तिमान को यद्यपि इतना अभिन्न स्वीकार किया गया है; उनमें तात्त्विक दृष्टि से भेद होने पर भी प्रत्यक्ष में कोई भेद नहीं रहता। श्री राधा का प्रेम मादनाटक महाभाव तक उन्नत है, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में मादनाटक महाभाव की अभिव्यक्ति नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अखंड रस-रूप हैं, श्री राधा भी उसी तरह अखंड रस-वल्लभा हैं। श्रीकृष्ण जैसे स्वयं भगवान् हैं—वैसे श्री राधा भी स्वयं शक्ति-रूपा मूलकान्ता-शक्ति हैं। सोलहवीं शताब्दी में गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण से ऊपर स्थान नहीं मिला था। शनैः-शनैः व्रजमंडल की राधाविषयक भावना का इस सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। माधुर्य भाव का जो रूप शास्त्रीय था वह कालान्तर में स्थूल रूप में व्यावहारिक होता

---

१. स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्त्व।
पूर्ण ज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥ (चै० च० आदि लीला परि० २ पृ० ११)
\+ \+ \+
अद्वय ज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप। (चै०च० आ० परि० २ पृ० १४)
\+ \+ \+
ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान।
सर्व्व अवतारी सर्व्व कारण प्रधान॥ (चै० च० म० ली० परि० ८ पृ० १४०)
\+ \+ \+
पूर्ण भगवान् कृष्ण व्रजेन्द्रकुमार।
गोलोके व्रजेर सह करेन विहार॥ (चै० च० आ० परि० ३ पृ० १३)
अवतार सब पुरुषेर कला अंश।
स्वयं भगवान् कृष्ण सर्व्व अंश॥ (चै० च० आ० परि० २ पृ० ११)

२. अद्वय ज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान तिन तार रूप॥ (चै० च० आ० परि० ३ पृ० १८)

गया और इस सम्प्रदाय में राधा की प्रधानता भी बढ़ती चली गई। आज स्थिति यह है कि ब्रज के अन्य भक्ति-सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय में भी राधा की प्रधानता हो गई है।[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा का वर्णन रासलीला-प्रसङ्ग में गोपियों के अंतर्गत हुआ है। रासलीला को आध्यात्मिक दृष्टि से अन्योक्तिपरक अर्थ द्वारा समझने के लिए कृष्ण को परमात्मा और गोपी (राधा) को आत्मा कहा जाता है किन्तु रासलीला में गोपियाँ रस की सृष्टि या आविर्भाव की स्थिति सम्पन्न कराने वाली शक्ति का प्रतीक भी हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी जाती है। डा० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ सम्प्रदाय में गोपी का स्वरूप स्थिर करते हुए लिखा है—'नित्य गोलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के रास की गोपिकाएँ भगवान् की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति हैं। राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति है। एक से अनेक भगवान् की इच्छा शक्ति द्वारा अनेक अक्षर ब्रह्म रूप से सत्-रूप जगत् और चित् रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति हुई और स्वयं आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गोप-गोपी आदि गोलोक की आनन्दरूप शक्तियों की उत्पत्ति हुई। कृष्ण धर्मी है और गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। दोनों अभिन्न हैं सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। भगवान् की रसशक्तियों के बीच की रस की सिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी-रूपा है। भगवान् रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रसशक्ति-स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।'[2] इस वक्तव्य में राधा कृष्ण की अशस्वरूपा शक्ति के रूप में उनका अभिन्न रूप मानी गई है। यह स्पष्ट है कि गोपियों में स्वामिनी और प्रमुख होने पर भी राधा कृष्ण का अंश ही है। अंशी तो स्वयं भगवान् कृष्ण ही हैं।

अष्टछाप के कवियों ने गोपियों का तथा राधा का वर्णन ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा

---

1. "The Shaktimat in his infinite bliss sports with his own Shaktis; in other words the godhead realises himself in his own bliss. The Shaktis are accordingly represented in terms of human relationship considered in its emotional aspects, as his consorts or wives: and his devout yet sensuous attitude entirely humanises the deity; and his consorts and presents them in a loveable human relation to their associates and Devotees" ......Radha, who is his eternal consort and the greatest Bhakta, is represented as the highest form of his Hladini Shakti."

\+ + +

The Shaktis are non-different from the Bhagavat, in asmuch as they are parts or Amsha of the Divine Being; but the very fact that they are parts only makes the superlativeness of divine attributes *inapplicable to them, and there is thus an inevitable* difference.

'Vaishnava Faith & Movement in Bengal Dr. S. K. Dey—

—Page 214.

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५०५-६।

भागवतपुराण के आधार पर किया है। गोपी-भाव का जिन दो रूपों में विभक्त करके वर्णन किया गया है उनमें ईश्वर की आनन्दविधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति-रूपा गोपी प्रथम कोटि में आती है दूसरी गोपी वह है जो कान्ता-भाव से ईश्वर की भक्ति करके अपने को धन्य करती है। इनके रागानुगा तथा सिद्धभक्ता नाम भी दिये गये हैं।

सूरदास ने राधा का वर्णन आध्यात्मिक रूप में भी किया है। राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मानकर कहीं-कहीं अभेद रूप से अद्वैत की भी स्थापना की गई है।[1]

एक-दूसरे पद में जगत्-उत्पादिका शक्ति के नाम से भी राधा का वर्णन है। अष्टछाप के कवियों ने राधा के वर्णन में वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित शुद्ध दार्शनिक भाव ही तक अपने को सीमित न रखकर माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधा का जो रूप स्थिर हो रहा था उसे भी समेटा है। स्वकीया-परकीया की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों ने राधा को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। सूरदास ने स्पष्ट रूप से राधा का कृष्ण के साथ विवाह-वर्णन किया है।[2] नन्ददास ने रास पंचाध्यायी में गोपियों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें सिद्ध कोटि की पुनीत आत्मा कहा है।[3]

वल्लभाचार्य ने कृष्ण को अन्तरंग और बहिरंग दो शक्तियाँ मानकर बहिरंग में माया को स्थान दिया और अन्तरंग में संधिनी, संवित और ह्लादिनी को रखा। ह्लादिनी ही राधा है। गोपियों को राधा के अंग रूप में स्वीकार किया है। गोपियों के विभिन्न नाम-रूप गिनाने का भी यही कारण है। सूरदास ने गोपियों के नाम भी गिनाये हैं।

"यथा मधुरिमा नीरे स्पर्शनं भासते तथा।
गन्धः पृथिव्यामनघो राधिकेयं तथा हरौ॥

कहकर राधा की व्यापकता और कृष्ण से अभिन्नता भी स्थापित की गई है। राधा

---

१. सूरसागर—दशम स्कन्ध ना० प्र० सभा पद सं० १६८८ पृष्ठ ८४२

२. जाको व्यास वर्णित रास।
है गंधर्व विवाह चित दै सुनो विविध विलास॥
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्यो हृदय निवास।
नन्द सुत पतिदेव, देवी पुजै मन की आस॥
—सूरसागर—दशम स्कन्ध, पद सं० १६८६ पृष्ठ ६२६

३. धन्य कहत भई ताहि नाहि कछु मन में कोपी।
निरमत सर जे सन्त तिननि चूरामनि गोपी।
इक नोके आराधें हरि ईश्वरवर जोई।
ताते अधर सुधारस निधरक पीवत सोई।
—नन्ददास—रासपंचाध्यायी अ० २, पृष्ठ १०७।
(सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल)

वशवर्ती श्रीकृष्ण का भी कहीं-कहीं वर्णन हुआ है।[1]

सूर ने राधा को परकीया नहीं माना है अतः शुद्ध परकीया रूप में उनका वर्णन भी ही किया। हाँ, परकीया-भाव में जैसी मन.स्थिति होती है उसका वर्णन अवश्य किया है। लोक लाज कुल कानि' की मर्यादा के सामने आने से वह असमंजस में पड़ी हुई सोचती है क अब क्या करूँ। इस वर्णन में वह कृष्ण से इसी रूप में मिलती है जैसे परकीया नायिका छुक-छिपकर अपने प्रियतम से भेंटती है। मिलने के लिए नाना प्रकार के बहाने खोज लेना दोनों ओर से चलता है। विरहाकुलता में भी परकीयात्व का रूप ग्रहण किया है।

इसके बाद-स्वकीयाभाव का पूरा वर्णन है। यहाँ वह मानवती और गौरवशालिनी चित्रित की गई है। कृष्ण दक्षिण नायक है। राधा फिर भी अनन्य भाव से उन्हीं का ध्यान करती है। इस प्रसंग में सूर ने दम्पति विहार का वर्णन किया है। मान के साथ खंडिता का भी वर्णन है। मोहन का नाम सुनते ही राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो जाता है। मान के लिये विविध कारण सूरदास ने प्रस्तुत किये हैं। एक कारण यह भी था कि राधा को पता चल गया था कि कृष्ण अन्य नायिकाओं के पास रात में मिलने जाते हैं। एक बार मानवती राधा जब किसी तरह मान-मोचन में समर्थ न हुई तो कृष्ण ने दर्पण में पीछे से खड़े होकर नेत्र से नेत्र मिलाये। बस राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो गया। वसन्त और झूले के प्रसंग में राधा दम्पति-रूप में वर्णित हुई है।

राधा का अंतिम चित्र भ्रमरगीत के पदों में वियोगिनी राधा का है। इस वर्णन में राधा का प्रेम मुखर न होकर अन्तर्मुख, शान्त और गम्भीर है। यशोदा तथा गोपियाँ तो विलाप करती हैं किन्तु राधा गम्भीर सोच में मग्न, नीचा सिर किये, नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। वह कृष्ण के पास अपना संदेश न भेजकर व्रज के गोप-गायों का सन्देश भेजती है। हरि के वापस न आने पर अपने प्रेम में त्रुटि देखती है। माधव-माधव रटती हुई तद्रूप हो जाती है। गोपियों ने उद्धव से कहा था कि–अति मलीन वृषभानुकुमारी।' इस पद में राधा की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का बड़ा ही सटीक वर्णन किया गया है। उद्धव ने मथुरा पहुँचकर कृष्ण से राधा का जैसा रूप देखा था वैसा ही कहा।

राधा-माधव मिलन का अन्तिम दृश्य राधा-माधव अभेद स्थापित करने वाला गम्भीर

---

१. पुनि-पुनि कहति ब्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि।
धन्य नन्दकुमार धन्य तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोउ नवल जोरी कोककलानि जीति॥
हम विमुख तुम कृष्ण सगिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित *दुहिन एक सनेह*।
एक छिन बिनु तुमहि देखे स्याम धरत न धीर।
मुरलि मे तुम नाम पुनि-पुनि कहत है बलबीर॥
—सूरसागर ना० प्र० सभा, पद संख्या २४६०।

अर्थ का द्योतक है। यही दार्शनिक भाव वल्लभाचार्य को अभीष्ट था।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा का जो स्वरूप आज स्वीकृत किया जाता है वह प्रा में नहीं था। यद्यपि कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि राधाकृष्ण-भक्ति की युगल उपा का उदय इसी सम्प्रदाय में हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों में, जो दशश्लो तथा अन्य ग्रंथों पर आश्रित हैं, राधा को प्रमुखता प्राप्त नहीं थी। दशश्लोकी के अ श्लोक में स्पष्ट ही 'नान्यगतिः कृष्णपदारविन्दात्' कहकर श्रीकृष्ण के ध्यान करने का आ है। किन्तु 'अंगेतु वामे वृषाभानुजां' कहकर 'स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्' पद में राधा स्मरण भी किया गया है। इस राधाभाव को परवर्ती भक्तों ने पूरी तरह ग्रहण किया। इसी को मुख्यता देकर ब्रजभाषा के वाणी-ग्रंथों में विस्तार से उपस्थित किया। आज राधा की निम्बार्क-सम्प्रदाय में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की भावना में राधा स्वकीया है। स्वकीया-भाव को प्रतिपा करने के लिए पुराणों के विवध प्रसंगों को भी स्वपक्ष में उदाहृत किया जाता है। राया पत्नी राधा को यहाँ कोई स्थान प्राप्त नहीं। रायाण की कथा को यह कहकर असत्य ठहरा जाता है कि जिस छाया राधा का रायाण से परिणय हुआ था वह केवल मूर्खों के भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् की एक लीला थी। वस्तुतः राधाकृष्ण का नित्य दाम्पत सम्बन्ध है। यह दाम्पत्य अलौकिक एवं दिव्य होने से वर्णन का विषय नहीं बनता।

> नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्री राधाकृष्णयोर्मतः।
> पाणिग्रहण सम्बन्धो वर्ण्यते न च वर्ण्यते ॥
> रसत्वं रसिकत्वंच श्री युग्मे सुप्रतिष्ठितम्।
> दाम्पत्यंच तयोर्नित्यं तयात्वे कारणं मतः ॥[1]

शृंगार रस को इस सम्प्रदाय में भी वैष्णव भक्ति के माधुर्य पक्ष को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के समान प्रधान स्थान प्राप्त है। अतः शृंगार के संयोग पक्ष, केलि-आदि के सम्पादनार्थ कान्ताभाव में दाम्पत्य भाव से ही राधा-वर्णन हुआ है। शृंगार मूलाधार मानते हुए राधा में ही उसकी निष्पत्ति स्वीकार की जाती है :

> द्विरूपात्मको हि शृङ्गारालम्बन इयमेवतः।
> तत्रैकं तु रमारूपं द्वितीयं विष्णुरूपकम् ॥
> परमैव रमा राधा परमाह्लाद विग्रहा।
> विष्णुस्तु परमः कृष्णः परमानन्दविग्रहः ॥
> अतो राधाच कृष्णश्च दम्पती तु सनातनौ।
> रसाय परमं दर्व मधुरं मधुरं सुखम् ॥

1. श्री युग्म तत्त्व समीक्षा—ले० मनोरथ दास मैथिल, ब्रजमयूख, पृष्ठ २११।

शृङ्गारस्याधिदेवत्वमतस्तस्मिन्प्रतिष्ठितम् ।
यद्वस्तुनः पराकाष्ठा यस्मिन्देवेप्रतिष्ठिता ।
तद्वस्तुनोऽधिपो देवः स इत्येव व्यवस्थितिः ॥[1]

श्री भट्ट लिखित 'युगल शतक' और हरिव्यास देवाचार्य प्रणीत 'महावाणी' में राधा का स्वरूप माधुर्यभक्ति के सर्वथा अनुकूल और निकुंज-भावना को लक्ष्य में रखकर वर्णित हुआ है। वर्तमान युग में नित्यविहार की दृष्टि से राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त होना स्वाभाविक है; अतः राधाविषयक वाणी ग्रंथों में जो कुछ लिखा गया है वह सोलहवीं शताब्दी की भावना पर ही आश्रित है। राधा का दार्शनिक दृष्टि से जहाँ कहीं वाणी-ग्रंथों में विवेचन प्रारम्भ हुआ है वहाँ राधा शक्ति के रूप में ही आई है। महावाणी में राधाकृष्ण की नित्यविहार लीला का बड़े समारोह पूर्वक वर्णन मिलता है जो इस बात का निदर्शन है कि निम्बार्कीय मत में राधा की प्रतिष्ठा आराध्या देवी के रूप में स्वीकृत हो गई थी और राधा का स्मरण ही समस्त इच्छा-आकांक्षाओं का पूरक माना जाने लगा था। राधा का स्वरूप भी महावाणी के पदों में स्पष्ट किया गया है। महावाणी में राधा को ही इष्टाराध्या बनाकर उपासना के पद गाये गये हैं और उन पदों में उन्हीं हाव, भाव, विलास आदि का वर्णन है जो शृङ्गारपूर्ण पदों में प्राय होता है। महावाणी की शैली भी विविध पदमयी और रसमयी है। कहीं राधा का रूप वर्णित हुआ है तो कहीं स्वभाव की मोहकता का चित्र अंकित किया गया है।[2]

"प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्द स्वरूप।
तनु वृन्दावन जगमगै इच्छासखी अनुरूप ॥
कोटिन कोटि समूह सुख रस लिये इच्छा शक्ति।
प्राणेशहि प्रमुदावहो प्रमदावली अनुरक्ति ॥"

'युगल शतक' के दोहों में राधाकृष्ण का स्वरूप अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादित हुआ है। वर्तमान समय में राधा को ही इस सम्प्रदाय में भी प्रमुख स्थान मिला हुआ है।

---

१. श्री युग्म तत्त्व समीक्षा—ले० भगीरथ झा मैथिल, पृष्ठ २३६।

२ "एक मैं कृपा सुदृष्टि चहौं।
सौंह तिहारी मोंहि अहो जिय जो मैं रालि कहौं।
जब तुम चितवत मो तन के तन तब सब सुखहि लहौं।
श्रीहरि प्रिया नाउं तेरे बिन और कछू न चहौं ॥"
[महावाणी पद ४४, पृष्ठ १५६। प्रकाशक—व० ... [illegible] ...वन।]
"जोई जोई करति तुम प्यारी सोई-सोई मो मन माने।
अहो बिहारिन सौंह तिहारी उर प्रतीति अति आने।
जब तुम नेक रखाई चितवति
श्रीहरि प्रिया स्वामिनो ...

यह व्रजभक्ति की इस पद्धति का परवर्ती प्रभाव ही समझना चाहिए। युगल शतक के दोहों का व्रजलीला, सेवासुख, सहज सुख, सुरत सुख और उत्सव सुख आदि में वर्गीकरण कदाचित् आधुनिक है किन्तु उनमें राधाकृष्ण के युगलभाव की दिव्य छटा का वर्णन आद्योपान्त इंगित होता है। दोहों में राधा का माहात्म्य तो है ही, कृष्ण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का भी वर्णन है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को उस अनादि वस्तु का नित्य रूप स्वीकार किया गया है जो इस अतिम ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर अपनी नित्यक्रीड़ा से आनन्द की अभिव्यक्ति करती रहती है। यह अवाङ्मनसगोचर होने पर भी अनुभवैकगम्य है। निर्गुण, निर्विशेष और निराकार रूप में उसका कहीं वर्णन नहीं किया गया, और न उसे केवल योगियों की निर्विकल्प समाधि का विषय ही माना गया। भक्त-रूप जीव जब अपने निज रूप (सहचरी) को प्राप्त कर उसके दर्शन में प्रवृत्त होता है, तभी वह माधव के साथ केलिक्रीड़ा-निरत अपनी आनन्ददायिनी दिव्य छटा की आभा बिखेरती हुई निकुंज-रंध्रों से देखी जा सकती है। वह दर्शन भौतिक न होने पर भी निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण और भवबन्धनों को उच्छिन्न करने वाला है। आस्तिक दर्शनों में जिस प्रकार भगवान् को सच्चिदानन्द-स्वरूप मानकर उसकी शक्ति का वर्णन किया जाता है और कतिपय वैष्णव सम्प्रदायों में उसी सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म की 'ह्लादिनी शक्ति' का राधा नाम से व्यवहार किया जाता है, वैसा 'शक्ति' और शक्तिमान् का भेद इस सम्प्रदाय में नहीं है। यहाँ तो राधा स्वयं आनन्दस्वरूप है। निरतिशय आनन्द का नाम ही राधा है। राधा नित्यभाव है। उसका विहार भी नित्य है, रास भी नित्य है। यह भाव किसी बाह्य लौकिक कर्म, ज्ञानादि से अवगत नहीं होता; अतः इसे ज्ञानकर्मादिसंस्पर्श शून्य कहते हैं। केवल प्रेमभाव, हितभाव ही राधा के स्वरूप-ज्ञान का मार्ग है, वह स्वयं राधा-भाव का ही नाम है। वह श्रीकृष्ण की उपासिका, आराधिका नहीं, वरन् श्रीकृष्ण की उपास्या, आराध्या है। वैसे दोनों क्रीड़ा के लिए प्रिया-प्रियतम रूप हैं, श्रीकृष्ण की एक राधा है और राधा के एक कृष्ण। यहाँ न

---

१. राधे नेंक निहारि करि पिय को हिय भायो जु।
भामिनि कोमल कमल से, पाँयन चलि आयोजु॥ २८।
गोर श्याम अति सोहनी, जोरी परम उदारि।
अलिजन आरति करत हैं, छविहि निहारि निहारि॥४६।
राधे तेरे रूप की पटतर कहिए काहि।
सर्वस तजि रसवश भये नैंन कोर तन चाहि॥ ६५।
जित-जित भामिनि पग धरें तित-तित भावत लाल।
करत पलक निज पाँवड़े, रूप विमोहित बाल॥ ६६।
—श्रीभट्ट लिखित युगलशतक; प्रकाशक, श्री व्रजबिहारीशरण, वृन्दावन।

कोई साधक है, न कोई साधना है और न कोई साध्य है। दोनों ही 'श्रीतत्त्व' के रूप हैं। दोनों एक हैं और एक होकर ही दो बने हुए हैं। परस्पर तत्सुखिभाव से रसास्वादन के लिए नित्य प्रेमलीला करते हैं, विहार करते हैं और उसी में लीन हैं। उनका साम्राज्य ही विचित्र है। कामना-वासना-विहीन नित्य विहार में लीन रहने वाली राधा इस सम्प्रदाय में सर्वोपरि विराजमान हैं।[1]

श्री हितहरिवंश जी ने अपने ग्रंथों में राधा का स्वरूप-निर्धारण करते हुए उसे 'रस-रूप' कहा है। आर्ष पदावलि में 'रसोवैस.' द्वारा जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है और 'नेति-नेति' कहकर जिस दिव्य वस्तु का अनिर्वचनीयत्व स्थिर किया जाता है श्री हरिवंश जी के मत में वही तत्त्व 'राधा' है। इसलिए अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में वर्णित स्वकीया-परकीया कान्ताभावपूर्ण राधा को यहाँ स्थान नहीं है।

'हित चौरासी' में श्री हितहरिवंश जी ने राधा का वर्णन विभिन्न स्थितियों के आधार पर किया है। ये चौरासी पद तथा स्फुट वाणी के भी अधिकांश पद राधा-वर्णन से ही संबंध रखते हैं। इन वर्णनों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में उन पदों को स्थान मिलेगा जो राधा के नेत्र, वदन, कपोल, वक्षस्थल, अधर, नाभि, चरण आदि विभिन्न अंगों की रूप-छवि प्रस्तुत करते हैं। दूसरे भाग में वे पद हैं जिनमें राधा की मनःस्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से वर्णन किया गया है; तीसरे भाग के पद नित्य-विहार और रासलीला से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

'हित चौरासी' के जिन पदों में राधा की रूप-छवि का वर्णन है वे भी राधा के स्वरूप को प्रतिपादित करने में सहायक हैं। बाह्य-रूप-चित्रण के माध्यम से कवि ने उस दिव्य रूप का आभास दिया है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त करने वाला है। राधा को सौंदर्य की सीमा बताते हुए कवि ने उसे 'व्रजनवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करति अघ ग्रीवां' कहा है—तथा रूप को व्यापक बनाने के लिए देवलोक, भूलोक, रसातल कहीं भी उसके रूप की समता नहीं पाई है।[2] वाह्य प्रसाधनों से युक्त, षोडश शृंगार से मंडित राधिका का वर्णन

१—यत्पाद.म्बुरुहैक रेणुकणिकां मूर्घ्नानिधातुं नहि,
प्र.पुंब्रह्म शिवादयोऽप्यधिकृति गोप्यैक भावाश्रयाः।
सापि प्रेमसुधा रसाम्बुधिनिधि राधाविसाधारणी,
भूता कालगतिक्रमेण वलिना हे दैव तुभ्यं नमः॥
राधासुधानिधि—श्लोक सं० ७२।

२—देखो माई सुन्दरता की सीवां।
व्रज नवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करत अघ ग्रीवां।
जो कोऊ कोटि कलप लगिजीवें रसना कोटिक पावें॥
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवें।
देवलोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मत डरिये।
सहज माधुरी अंग अंग की कहि कासे पटतरिये।

शृंगारपरक भावना से करते हुए उसे मदन को अपने भृकुटि-विलास से जीतने वाली कहा गया है।[१] रूपवर्णन में नेत्रों का वर्णन सबसे अधिक पदों में है। नेत्रों में जिस ज्योति तथा सौंदर्य की कल्पना की गई है वह सामान्य न होकर असाधारण तेज, दीप्ति, कान्ति से परिपूर्ण है। रीतिकालीन कवियों ने नेत्र-वर्णन को 'नखशिख' का प्रधान विषय बनाया था। हितहरिवंश जी का एक पद नेत्रवर्णन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है, उसकी छाया बाद के अनेक कवियों में दृष्टिगत होती है।[२] नेत्रवर्णन के लिए 'हित चौरासी' के पद विशेष रूप से पठनीय हैं।

रसमार्ग में 'रूप' को आकर्षण का केन्द्र स्थिर किया गया है। रस-रूपी रस्सी के दो छोर हैं। पहला सिरा है राग जो साधक के मन में उत्पन्न होता है और उसी के पास रहता है। दूसरा छोर जो उसे आकृष्ट करता रहता है—प्रियाजी का रूप है। इस रूप-छवि-दर्शन के लिए साधक का राग सतत वर्धमान रहता है। रस की रस्सी का यह दूसरा छोर इतना निर्मल और पवित्र होता है कि साधक कभी कामुकता के पंक में नहीं फँसता और उसे पकड़ पाने के लिए अपनी समस्त रागपूर्ण साधनाओं से अपने को योग्य बनाता है।

राधा की मनःस्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से चित्रण करने वाले पद हित-चौरासी में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। राधा की मनःस्थिति को लौकिक शैली से प्रस्तुत करके

(जैश्री) हितहरिवंश प्रताप रूपगुण वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रू-विलास बस मधुरिव दिन विथकित रस सागर।
—हित चौरासी—पद संख्या ५२।

१—रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये मृगज लोचन् उबटि अंग सिर खोरी,
गंड पंडीर मंडित चिकुर चन्द्रिका मेंदिनी कबरि गु थित सुरंग डोरी।
श्रवन ताटंक के चिबुक पर विन्दु दै कंसुभि कंचुकी दुरे उरज फल कोरी।
वलय कंकन दोति नखति जावक जोति उदर गुनरेख पट नील कटि थोरी।
सुभग जघन स्थली क्वनित किंकिनि भली कोक संगीत रससिन्धु झकझोरी।
विविध लीला रचित रहसि हरिवंश हित रसिक सिर मौर राधारमन जोरी।
भृकुटि निर्जित मदन मंद सस्मित वदन किये रस विवस घनश्याम पिय गोरी॥
—हित चौरासी—पद संख्या ६७।

२—खंजन मीन मृगज मदमेटत कहा कहौं नैनन की बातें।
सुनि सुन्दरी कहाँ लौं सिखई मोहन वसीकरन की घातें।
बंक निशंक चपल अनियारे अरुण स्याम सित रचे कहाँते।
डरत न हरत परायो सर्वस मृदु मधुमिव मादिक दृग पातें॥
नेक प्रसन्न दृष्टि पूरण कर नहिं मौतन चितयो प्रमदातें।
हितहरिवंश हंस कुल गामिनि भावे सो करहु प्रेम के नातें।
—हित चौरासी, पद सं० ७१।

राधा की कृपा, प्रियतम के प्रति अमृत-रस की वर्षा करने का भाव, प्रस्फुटित किया गया है।[1] मोहनलाल के रस में मतवाली राधा केलि-क्रीड़ा करने के बाद जिस आनंद का अनुभव कर रही हैं वह उस आनंदानुभूति का प्रतीक है जो श्रुतियों में अनिर्वचनीय मानी जाती है।[2]

राधा को परात्पर तत्त्व और सर्वशक्तिमती मानने से उसके शक्ति रूप में उपास्य होने का सन्देह होना सम्भव है। किन्तु शक्ति की आराधना की परिपाटी और उसके स्वरूप को समझ लेने पर इस सन्देह के लिए अवकाश नहीं रहता। शक्ति की आराधना के लिए तांत्रिक पद्धति में जिन लौकिक कृत्यों का विधान है वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नहीं है। शक्ति की आराधना करने वाले उसे 'जगज्जननी माता' के रूप में उपास्य मानते हैं। माता के चरणों में श्रद्धावनत होकर उसके वात्सल्य की कामना करते हैं। शक्ति अपने पुत्रों को प्रसन्न होकर वरदान देती है; मातेश्वरी शक्ति का ऐश्वर्यजनित रूप भक्तों के आगे आतंकपूर्ण होकर आता है, उसके प्रति भयमिश्रित भावना के साथ भक्त उसकी कृपाकांक्षा से आगे बढ़ता है। किन्तु राधा की कल्पना कहीं भी माता के रूप में नहीं है। रस-सृष्टि के के लिए मातृत्व-पूर्ण वात्सल्य की अपेक्षा न होकर प्रिया के कृपा-कटाक्ष की ही कामना की जाती है। राधा के जिस रूप का दर्शन नित्यविहार में सहचरी (जीवात्मा) को काम्य होता है वह भय, उद्वेग, आतंक आदि किसी लोमहर्षक भाव से युक्त न होकर प्रेम, स्नेह, आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण हर्ष-पुलक से सहचरी को प्रफुल्लित करने वाला है। उसकी आराधना के लिए न तो कोई कृच्छ् साधना की अपेक्षा है और न किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता। शक्ति को प्रसन्न करने के लिए जिन वीभत्स कृत्यों का तांत्रिक ग्रंथों में प्रतिपादन है उनका लवलेश भी राधा-भाव के क्षेत्र में गृहीत नहीं होता। फलतः राधा और

१—आज सम्हारत नाहिंन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यों सुरत समुद्र झकोरी।
आलस वलित अरुन धूसर मषि प्रकट करत दृग चोरी।
पिय पर करुन अमीरस बरसत अधर अरुनता थोरी॥
+ + +
—हित चौरासी, पद सं० ७०

२. मोहनलाल के रसमाती।
वपु गुपति गोवत कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती।
देखि संभार पीत पट ऊपर कहाँ चूनरी राती।
टूटी लर लटकत मोतिन की नख विधु अंकित छाती।
अधर बिंब खंडित मषि मंडित गंड चलत अरुमाती।
अरुण नैन घूमत आलस जुत कुसुम गलित लटपाती॥
आजु रहसि मोहन सब लूटी विविध आपुनी थाती।
हित हरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली मुसकाती।
—हित चौरासी—पद सं० २०।

शक्ति को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य ने इसी कारण शक्ति और शक्तिमान् के रूप में राधा और कृष्ण का कहीं वर्णन नहीं किया। चैतन्य और वल्लभ मत में राधा की उपासना ह्लादिनी शक्ति के रूप में हुई है। उनके मत में भी शक्ति का तात्पर्य शाक्त मत वाला भाव नहीं है किन्तु शक्ति और शक्तिमान् को पृथक् स्वीकार कर लेने से राधा की स्थिति श्रीकृष्ण की तुलना में वैसी ऊँची नहीं ठहरती जैसी राधावल्लभीय मत में है।

आराध्या राधा

माधुर्यभाव की भक्ति-पद्धति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सामान्यतः 'राधाकृष्ण' भक्ति का उल्लेख प्रायः सभी कृष्ण-भक्तिपरक सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है किन्तु उसके स्वरूप एवं साध्य-साधन शैली में इतनी व्यापक विभिन्नता है कि 'राधाकृष्ण' शब्द से विभिन्न-कोटिक पारमार्थिक आशय का ग्रहण होता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधाकृष्ण-भक्ति को अन्य सम्प्रदायों की भाँति किसी दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि के विवेचन द्वारा स्थापित नहीं किया गया। मस्तिष्क या बुद्धि की सूक्ष्म छानबीन न करके इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश ने हृदय-संवेद्य रस को अपनी भक्ति-पद्धति का आधार बनाया। इसीलिए इस सम्प्रदाय की पद्धति को रस-पद्धति या रस-दर्शन कहा जाता है। इस रस की चरम परिणति 'नित्यविहार' में ही सम्भव है। 'नित्यविहार' शब्द इस सम्प्रदाय का एक गूढ़ाभिप्राय-व्यंजक शब्द है जो 'रस', 'आनन्द' या 'हित' के चरमोत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह एक विलक्षण कोटि का रस है जो साहित्य-शास्त्र तथा भक्ति-शास्त्र में वर्णित विविध रसों से सर्वथा पृथक् एवं नूतन है।

विभिन्न कृष्णभक्तिपरक वैष्णव सम्प्रदायों में श्रुति-प्रतिपादित 'रसो वै सः'—रस रूप परम ब्रह्म—को ही श्रीकृष्ण-तत्त्व स्वीकार किया गया है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, तंत्रादिकों में इस श्रीकृष्ण तत्त्व का 'परब्रह्म' के रूप में वर्णन करते हुए इसे अलक्षित तत्त्व मानकर अचिन्त्य और अतर्क्य समझते हुए 'नेति-नेति' कहकर निगूढ़ बताया है। यह श्रीकृष्ण-तत्त्व इन सम्प्रदायों में रूप, शृंगार, माधुर्य, अनुराग और रस की परावधि है। इससे परे कुछ और नहीं।

किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'रसो वै सः' की परावधि श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नहीं की गई। राधा का साम्प्रदायिक स्वरूप प्रतिपादित करते हुए हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीकृष्ण भी यहाँ दिव्य किशोरी राधा के चरणों में विलुंठित होकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। अतः अनिर्वचनीय इष्ट या साध्य तत्त्व की स्थिति श्रीकृष्ण में नहीं अपितु राधा में होती। इस भाव की विवृति बड़े स्पष्ट शब्दों में श्री हितहरिवंशजी ने अपने 'राधासुधानिधि' नामक ग्रंथ में की है। वे कहते हैं—'जिनका सुन्दर मोरपंख निर्मित मुकुट श्री राधा के चरण-कमलों में लोटता रहता है तथा जो विविध केलि-महोत्सव से उल्लसित हैं उन श्यामल मोहनमूर्ति श्रीहरि की मैं वन्दना करता हूँ। वन्दनीय हरि राधा के चरणारविन्द

की कामना करते हैं, राधा के आदेश-निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है।'[1]

हरि-आराधनीया राधा ही हितहरिवंशजी के मत में इष्ट-आराध्या है। उसी के रूप-दर्शन की बलवती स्पृहा सहचरी-रूप जीवात्मा की सबसे प्रबल कामना है। श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा को आराध्या और सेव्या मानकर राधासुधानिधि में वे पुनः कहते हैं कि जो मधुर एवं उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीलाकला की परावधि, श्रीकृष्ण की भी आराधनीया तथा अनिर्वचनीया एवं शासनकर्त्री हैं, जो ईश्वर रूप श्रीकृष्ण की शची तथा परम सुखमय तनुधारिणी, परा और स्वतन्त्रा हैं वे वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।[2]

श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिये और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे 'परतत्व' न मानकर राधा को 'परतत्त्व' रूप में स्थापित किया गया है तथा श्रीकृष्ण राधा की चाटुकारी और स्तुति करके अपने को कृतार्थ समझते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं जिस राधा का नाम जपते हैं, सखीगण के मध्य में जिसका गुणानुवाद करते हैं, प्रेमाश्रुपूर्ण वदन से जिसका बार-बार उच्चारण करते हैं, वही राधामृत मेरा जीवन है।[3] यह उक्ति श्री हितहरिवंशजी के आभ्यन्तर उद्‌गार को ध्वनित करती हुई राधा के जिस दिव्य स्वरूप का बोध कराती है वह इस तथ्य का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय में इष्ट या साध्य कोटि में श्रीकृष्ण परतत्त्व नहीं वरन् 'राधा' ही परात्पर तत्त्व है। 'हित चौरासी' में भी इसी प्रकार के भाव स्थान-स्थान पर श्री हितहरिवंशजी ने व्यक्त किये हैं। राधा के कृपाकटाक्ष की कामना करते हुये वे कहते हैं—'नेकु प्रसन्नदृष्टि पूरन करि नहिं मो तन चितयो प्रमदा तें।'

राधा के उपर्युक्त वर्णन को पढ़कर यह शंका होना स्वाभाविक है कि अन्य सम्प्रदायों तथा पुराणों में वर्णित राधा का स्वरूप भी तो यही है, फिर राधावल्लभ

---

१. रसघन मोहन मूर्ति विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरण विलोडित, रुचिरशिखण्डं हरि वन्दे।

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० २००

२. प्रेम्णः सन्मधुरोज्वलस्य हृदयं शृंगारलीलाकला
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुख तनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा
श्री वृन्दावन नाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७८

३. देवानामथभक्तमुक्तसुहृदामत्यन्त दूरं च यत्
प्रेमानन्द रसं महा सुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः।
प्रेम्णाकर्णयते जपत्यय मुदा गायत्ययालिष्वयं
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ६६

सम्प्रदाय में नवीनता क्या है ? इस शंका के समाधान के लिये पहले तो हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि राधा का जैसा महत्त्व, स्वरूप, स्थान, पद यहाँ स्थापित किया गया है वैसा अन्यत्र कहीं और नहीं हुआ। पुराणादि ग्रन्थों तथा अन्य सम्प्रदायवादियों में राधा को कृष्ण की आराधिका बताया गया है। यहाँ वह कृष्णाराध्या है। उनका रूप सामान्य मानव के लिये ही अलक्षित नहीं वरन् स्वयं श्रीकृष्ण के लिये भी वह अलक्षित है।[1] यह मन्तव्य किसी अन्य सम्प्रदाय में स्थिर नहीं किया गया। इसीलिए श्री हितहरिवंशजी ने अपनी मान्यता को दूसरों से पृथक् रखते हुये तथा अन्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए उन्हें स्वीकार नहीं किया है।

संक्षेप में, श्री हितहरिवंशजी की आराध्या इष्टदेवी राधा परात्पर तत्त्व श्रीकृष्ण की भी आराध्या है तथा अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित राधा से भिन्न एवं स्वतन्त्र है। वह एक साधारण गोपी नहीं वरन् रस की अधिष्ठात्री एवं प्रेममूर्ति है। वह वृषभानु के घर में कृपा परवश प्रकट होती तो है किन्तु उनकी चरणरज ब्रह्मेश्वरादि दुर्लभ तथा सर्वार्थ सार सिद्धिदात्री है।[2] इनके अंग-अंग से उज्ज्वल प्रेमरस का तथा लावण्य कृपापूर्ण वात्सल्य सार का अम्बुधि प्रवाहित होता रहता है। ये माधुर्य साम्राज्य की एकमात्र भूमि और रस की एकमात्र सीमा है। ये राधा वेदों से भी परम गुप्त अनुपम निधि है।[3] इनके पदनख की छटा की एक किरण से घनीभूत प्रेमामृत समुद्र की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। इनकी चरण-कृपा से मुक्ति तुच्छ हो जाती है और समस्त विभव प्राकृत से हो जाते हैं। राधा के इस अलौकिक दिव्य स्वरूप का वर्णन श्री हितहरिवंशजी ने हित चौरासी के निम्नलिखित पद में बड़ी सरस शैली से किया है—

सुनि मेरो वचन छबीली राधा, तैं पायो रससिन्धु अगाधा।
तू वृषभान गोप की बेटी, मोहनलाल रसिक हँसि भेंटी।

---

१. ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह पदारविन्द श्रीमत्पराग परमाद्भुत वैभवायाः।
सर्वार्थसार रस वर्षिकृपार्द्र दृष्टेस्तस्या नमोस्तु वृषभानुभुवो महिम्ने॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० २

२. यो ब्रह्मरुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य
सद्योवशीकरण चूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ३

३. प्रत्यंगोच्छलदुज्ज्वलामृत रस प्रेमैक पूर्णाम्बुधिः
लावण्यैक सुधानिधिः पुरु कृपा वात्सल्य साराम्बुधिः।
तारुण्य प्रथम प्रवेश विलसन्माधुर्य साम्राज्य भूः
गुप्तः कोपि महानिधिर्विजयते राधा रसैकावधिः।
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १३५-१३६

जाहि विरंचि उमापति नाये; तापे तू बनफूल बिनाये।
जो रस नेति नेति श्रुति गायौ ; ताकौं तैं अधर सुधा रस चाख्यौ।
तेरो रूप कहत नहिं आवै ; हितहरिवंश कछुक जस गावै॥
—हित चौरासी पद सं० १८

श्री हितहरिवंशजी की रचनाओं में इस राधा-रूप आराध्य तत्त्व का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि हमने इस प्रसंग में अन्य महानुभावों की वाणियों को उद्धृत करना अनावश्यक समझा। यथार्थ में 'आराध्य तत्त्व' की स्थापना प्रवर्त्तक द्वारा ही होती है। परवर्ती शिष्य-परम्परा में तो उसी का अनुमोदन,समर्थन आदि सम्भव है ; अतः यहाँ आदि आचार्य के प्रमाण ही राधा को आराध्या सिद्ध करने में प्रस्तुत किये गये हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण ही रसिक किशोर रूप में एकमात्र नित्यविहारी पुरुष हैं। उनकी परा प्रकृति श्री राधा हैं जो चित्-अचित्-विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्ति-रूपा हैं। सारा चराचर जगत् इन्हीं रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है। श्री राधा प्रकृति रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जीवरूपा सखियाँ ही उनकी सहचरियाँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। भागवत-पुराण में इसीलिए कहा है—'एतेचांश कलाः पुंस. कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' पद्मपुराण में भी यही भाव दूसरे शब्दों में व्यक्त हुआ है—'विष्णुर्महान् यस्य कला विशेषो गोविन्दमादि पुरुष तमहं भजामि।' श्रीकृष्ण को यहाँ मूर्तिमान शृंगार मानकर उनकी उपासना के भावों में से मधुर और शृंगार को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। श्रीकृष्ण के वर्णन के लिए उनके तीन रूपों का वर्णन प्राय. सभी वैष्णव सम्प्रदायों में मिलता है—श्री वृन्दावनविहारी कृष्ण, मथुरावासी कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण। मथुरा और द्वारका में श्रीकृष्ण का स्वरूप ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य, शक्ति आदि भावों से परिपूर्ण है। वे ब्रह्मनिष्ठ योगी और कर्त्तव्यनिष्ठ क्षत्रिय के रूप में रहते हैं किन्तु वृन्दावन में उनका रूप सर्वथा नूतन माना जाता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, पराक्रम को अन्तर्लीन कर प्रेम और माधुर्य की साक्षात् मूर्ति बन वे गोप-गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे राधापति होकर रसराज शृंगार के सौन्दर्य-मंडित रूप का विस्तार करते हैं। ब्रजमंडल के माधुर्यभक्ति-परक सम्प्रदायों में यही रूप गृहीत हुआ है। यहाँ नित्य किशोर कृष्ण को ललित केलिलीलाओं का विधायक मानकर उनको कान्ताभाव का स्रष्टा कहा गया है। ब्रजरस और ब्रज विहार में जिस श्रीकृष्ण का वर्णन गौड़ीय आदि सम्प्रदायों में किया गया है वे गोपियों के पति न होकर उपपति हैं। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को उपपति रूप में स्वीकार नहीं किया गया। श्रीकृष्ण जिस परिवेश और जिन परिकरों में रहते हैं वे भी स्व और पर के भेद से रहित हैं, वे सदा एकरस होकर नित्यविहार की लीला में लीन रहते हैं। राधासुधानिधि में इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन मिलता है—

यद्वृन्दावन-मात्र गोचरमहो यन्नश्रुतीकं शिरो—
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम्।
यत्प्रेमामृतमाधुरी रसमयं यन्नित्य कैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७१।

अर्थात् जो केवल वृन्दावन में ही दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नहीं, जिसका वर्णन करने में श्रुति शिरोभाग (उपनिषद्) भी समर्थ नहीं जो शिव, शुक आदि के ध्यान में भी नहीं आता, जो प्रेमामृत-माधुरी से परिपूर्ण और नित्यकिशोर है, उस कृष्ण के रूप को देखने के लिए मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।

अर्चावतार के रूप में श्रीकृष्ण को नित्यविहारी राधावल्लभ-रूप में यहाँ ग्रहण किया जाता है। राधावल्लभ साम्प्रदायिक नाम है जिसमें राधा के वल्लभ प्रिय (कृष्ण) की उपासना का निर्देश इस बात का संकेत करता है कि इस सम्प्रदाय में उस कृष्ण की उपासना है जो राधा की स्वयं आराधना करता है। सेवकजी ने अपने एक पद में कहा है—

राधावल्लभ भजत भजि भलौ भलौ सब होइ।
त्रिविध ताप नासहिं सकल सब सुख सम्पति होइ॥
सब सुख सम्पति होइ, होइ हरिवंश चरण रति,
होइ विषय विघनाश, होइ वृन्दावन बस गति।
होइ सुहृद सासंग होइ रस रीति अगाधा॥
होइ सुजस जग प्रकट होइ पद प्रीति सुराधा॥

—सेवक वाणी, दसवाँ प्रकरण, पद सं० ९।

'हित चौरासी' में श्रीकृष्ण के रूप का राधा से पृथक् स्वतंत्र वर्णन नहीं के बराबर है। यों तो प्रत्येक पद में राधामाधव की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन है किन्तु कृष्ण का विशिष्ट स्वरूपाख्यान हित महाप्रभु ने नहीं किया। हाँ, पद संख्या ६३ में 'मोहन मदन त्रिभंगी, मोहन मुनि मन रंगी' कहकर विस्तार से कृष्ण की रूप, छवि, शक्ति-सौन्दर्य, शील का चित्र अंकित किया है जिस का भाव इस प्रकार है :

'मोहन (कृष्ण) मदन (कामदेव) का भी संमोहन करने वाले ललित त्रिभंगी हैं। वे मुनियों को भी आनन्दित करने वाले हैं। मुनिमन-मोहन गोपाल गुणों में गम्भीर और परम आनन्द की मूर्ति हैं। उनके माथे पर मुकुट, कानों में मणिमय कुंडल और वक्षस्थल पर सुन्दर वनमाला शोभित है। वे मोहन मनमोहक वंशी बजा रहे हैं और वंशीरव से व्रज वनिताओं को बुला रहे हैं। व्रजवनिताएँ कृष्ण के पास सब बंधुबांधवों को त्याग कर आईं और उन्होंने काम-ताप का नाश किया। तदुपरान्त कृष्ण ने व्रज-वनिताओं के साथ कदम्ब वृक्ष के नीचे रास रचना की। इस रास के दृश्य ने सबको आकृष्ट कर लिया। पशु-पक्षी, लता-गुल्म, गिरि-निर्झर सभी मुग्ध होकर इस लीला को देखने लगे। श्रीकृष्ण का यह रूप सबको मनोमुग्धकारी प्रतीत हुआ।' आदि

प्रेम-सर्वस्व तथा प्रेम करने के उचित अधिकारी एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं और कोई

प्रेम का रहस्य न तो जानता है और न प्रेम करने का योग्य अधिकारी है ; ध्रुवदास जी कहते हैं :—

> एकै प्रेमी एक रस, श्री राधावल्लभ आहि।
> भूलि कहै जो और ठौं झूठो जानों ताहि॥

संक्षेप में, इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया गया वरन् प्रेम का आधार मानकर उनका वह रूप वर्णित किया गया है जो राधा के कृपाकटाक्ष की आकांक्षा रखकर नित्यविहार में लीन रहता है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण को इस सम्प्रदाय में उपास्यदेव तो माना गया है किन्तु राधा के अनुपग से ही उसकी उपासना है। प्रधान पद राधा का है। इसी कारण राधावल्लभ रूप में तो स्वतंत्र कृष्ण का कोई अस्तित्व नहीं माना गया। नित्यविहार की स्थिति में प्रियतम के रूप में कृष्ण का स्थान है अतः हमने सांकेतिक रूप से यह परिचय लिखा है।

सहचरी का स्वरूप

सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। प्रत्येक जीव शरीर धारण करके अपने को सांसारिक प्राणी के रूप में मानता है किन्तु वह अपने यथार्थ-तात्विक रूप में सहचरी ही है। जब तक वह जीव रूप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है किन्तु जब उसके ऊपर श्रीराधा की कृपा होती है तब वह सहचरी रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दुःख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनंद को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य-विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है। यों तो संसार के समस्त प्राणिमात्र जीव कोटि में होने से सहचरी कहे जा सकते हैं किन्तु प्रत्येक को सहचरी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सहचरी या सखी बनने के लिए अपने निज रूप की प्रतीति या बोध अनिवार्य है। सहचरी स्त्री-पुरुष-रूप-लिंगभेद विवर्जित है। किसी भी जाति के साथ उसकी सीमित परिकल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार 'राधावल्लभ' परम अव्यक्त, अगोचर पुरुष अनिर्वचनीय है वैसे ही सहचरी भी अनिर्वचनीय है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि किशोर पुरुष के अतिरिक्त समस्त जीव रूप संसार प्रकृति का ही रूप है। इस प्रकृति-रूप से पृथक् होने पर सहचरी-रूप की प्राप्ति होती है और सहचरी होने पर वह लौकिक उपाधियों से निर्विशेष होकर अपने निजरूप में स्थित होता है।

सहचरी या सखी के समकक्ष 'गोपी' शब्द का प्रयोग भक्ति-सम्प्रदायों में प्रचलित है। 'गोपीभाव' और 'सखीभाव' का साम्य परिलक्षित होने पर भी इनमें तात्त्विक भेद है। बहुधा इस तात्त्विक भेद को विस्मृत कर दोनों को एक ही समझ लिया जाता है। इसलिए दोनों के व्यावर्त्तक धर्म जानना आवश्यक है। राधासुधानिधि में सखी का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

> 'राधाकेलि कलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने,
> वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुत रसे प्रेमैकमत्ताकृतिः।

निम्बार्क सम्प्रदाय में सखी का स्वरूप दशश्लोकी में निम्न प्रकार

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरोपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।

राधा के स्मरण में उसे सहस्रों सखियों से परिवेष्टित कहा गया है स्वकीया ही हैं और उसी रूप में श्रीकृष्ण के साथ विहार करती हैं । श्री शतक' नामक ग्रन्थ में राधा का स्वरूप, नित्यविहार और सहचरीस्वरूप व से प्रतिपादन किया है । यह ग्रंथ भावना में राधावल्लभीय पद्धति से साम्य का वर्णन इसमें उसी रूप में है—

निरखि हिताई दुहुन की हाव भाव हिय धारि ।
सजि आरति वारति सबै प्रातमुदित सहचारि ॥
उझकति सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास ।
नव कुंज रस पुंज छवि श्यामाश्याम निवास ॥[1]

मूलतः निम्बार्क मत में सखी का स्वरूप युगलशतक की सहचरी किन्तु रस मार्ग का प्रवर्तन होने पर रसोपासना के अंगभूत सखी का स्वीकृत हुआ । 'महावाणी' में तो रसोपासनानुकूल सहचरी वर्णित हुई है ।[2]

विभिन्न सम्प्रदायों की गोपी-सखी का संकेत हमने यहाँ इसलिए

(पिछले पृष्ठ का शेष)

"The Sakhi is an important person in the Rasa-S theology of Chaitanyaism. Without her the blissful erc Krishna and Radha is not nourished, nor does it expa has access to the sport except the privileged Sakhis devotees who imitate (through Raganuga mode) thei Hence the devotional fancy of the faithful Vaishnava way of the Gopis and thinks on the sport, day and n fested in various erotic forms."

—Vaishnava Faith & Movement in Bengal: Dr. S.K. De,

१—युगल शतक—श्रीभट्ट कृत दोहा, सं० ३८, ७४ ।

२—सखीनां द्विविधत्वं तु कश्चित्तु मनीषिणः ।
सेवा मात्र पराः काश्चित्कान्त भाव विवर्जिताः ॥
कान्तभावान्विताः काश्चिद्युगलसेवान्विताऽपि च ।
श्रीदेव्यामेककान्तत्वमपि कंचिद्वदन्ति हि ॥
केचित् द्विविधत्वेऽपि रूपभेदेन मन्यते ।
शोभा भेदेन भेदस्य सर्वतायपि सम्भवात् ॥
—श्री युग्मतत्व समीक्षा—पंडित मनोरथ भा मैथिल,

मोहिनी मदन गोपाल की बांसुरी।
माधुरी श्रवन पुट सुनत सुन राधिके
करत रतिराज के ताप को नासुरी।
सरद राका रजनि विपिन वृन्दा सजनि
अनिल अति मंद सीतल सहित बासुरी।
—हित चौरासी, पद सं० २६

तेरे हि। संग माई बनते स्याम पठाई
हरति कामिनि घन कदन काम को॥
काहे को करत बाधा सुन री चतुर राधा
भेटि क भेटि री माई प्रगट जगत भी॥
—हित चौरासी, पद सं० ५८

नित्यविहार-परायण ये सखियाँ अन्य सम्प्रदायों में वर्णित
पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। इनके मन में श्रीकृष्ण के प्रति रति
ये श्रीकृष्ण से मिलन, आलिङ्गन आदि की कोई आकांक्षा लेकर रासविलास
होतीं। अपनी आराध्या की किंकरी जान यदि श्रीकृष्ण इनके प्रति
व्यक्त भी करें तो भी ये उस प्रकार की वासना अपने मन में सहेजती न
और मन का यह उदार 'तत्सुखिभाव' ही इनको सामान्य गोपिगण से पृथक्
है। हित चौरासी के पदों में यह भाव अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से वर्णित

आज बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन बेनु बजायो,
कल कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।
जुवतिन मंडल मध्य स्यामघन सारंग राग बजायो,
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस सिन्धु बढ़ायो॥

\+ \+ \+

सकल उदार नृपति चूड़ामनि सुख वारिद बरसायो।
परिरम्भन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायो॥
—हितचौरासी, पद सं० ३६

यही भाव राधासुधानिधि के कई श्लोकों में व्यापक विस्तार के साथ
ये सखियाँ स्पर्धा, ईर्ष्या, जलन, डाह आदि किसी प्रकार के दुर्भाव

---

१. कदा रासे प्रेमोन्मद रसविलासेऽद्भुतमये
दिशोर्मध्ये भ्राजन्मधुपति सखीवृन्दवलये।
मुदान्तः कान्तेन स्वरचित महालास्य कलया
निषेवे नृत्यन्तीं व्यजन नव ताम्बूल सकलैः॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं०

आकृति का ध्यान करके उनके मन की स्थिति विचित्र हो जाती है।' विदग्धता के तो इतने उदाहरण उपलब्ध होते हैं कि उन्हें उद्धृत कर भाव का विशद वर्णन राधासुधानिधि के अनक श्लोकों में हुआ है।'

राधावल्लभ सम्प्रदाय में सहचरी को विभिन्न कोटियों में परि 'अन्तरंग सखी' का वर्णन अवश्य है ; जो निज रूप में आकर राधा में स्थान पाने की अधिकारिणी बन जाती है वही अन्तरंग बनती है। नाम वा विधान यहाँ नही है। नित्यविहार में इन सखियों का उ मात्र है। उसी में इन्हें अनिर्वचीय आनन्दोपलब्धि होती है अतः किसी इनके मन में आती ही नहीं। स्मरण रहे कि गोपीभाव के साथ सहच दोनों का क्षेत्र और ध्येय पृथक् होने से नित्यविहार में भी भेद ही रहत

रसोपासना में वृन्दावन

वैष्णव भक्तों ने वृन्दावन को श्रीकृष्ण का धाम होने के कारण से बढ़कर माना है और उसका माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए उन आधान स्वीकार किया है जो अपनी रज के स्पर्शमात्र से भक्त के जन्म- धोकर उसे भगवान् के निकट पहुँचा देता है। वृन्दावन में भगवद्भक्ति नृत्य करती रहती है ऐसा भागवतपुराण में कहा गया है—'धन्यं वृन्दाव यत्र च।' 'श्रीमद्भागवतपुराण' में वृन्दावन के माहात्म्य का वर्णन श्र आदि ने अनेक स्थान पर किया है। वृन्दावन को दिव्य धाम माना गया वर्णन में समस्त गुणों का कीर्त्तन किया गया है। परम ज्ञानी उद्धव की आकांक्षा करते हैं ताकि गोपियों की चरण-रेणु का स्पर्श कर कृतार्थ

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
—श्रीमद्भागवत

१. काहे को मान बढ़ावत है बालक मृगलोचनि।
हौंव बरनि कछु कहि न सकत इक बात सकोचनि।
मत्त मुरलि अंतर तव गावत आगृत संग तवाकृति सोचनि।
हित हरिवंश महामोहन पिय आतुर विढ बिरहज दुख मोचनि।
—हित चौरासी, प

२. यदं ते पत्राणि किमपि कुचयोः कर्त्तुमुचितं
पदं ते कुंजेषु प्रियमभिसरन्त्या अभिमतौ।
दृशौ कुंअभिद्धं स्तव निभृतकेलि कलयितुं
यदा दीने राधे वदरि भविता किं सुभदिनम्॥ —राधासुधानिधि, श्ल

भी मन में स्थान नही देतीं। इनकी कैतव-रहित प्रीति की व्यंजना उस समय भली भाँति होती है जब ये 'सुरतोपरान्त' युगल सरकार की सेवा में आनन्द पुलकित होकर लीन होती हैं। उनका हृदय राधा-माधव के निभृत निकुञ्ज में मिलन से इतना प्रमुदित है कि वे आत्मविभोर होकर मतवाली होकर नाचने लगती है।[1]

आज अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर॥
—हित चौरासी, पद सं० ३१

लालजी (श्रीकृष्ण) को राधा के पास ले जाने के लिए सखियाँ जिन युक्तियों का प्रयोग करती हैं वे उनकी विदग्धता और वाक्पटुता का सुन्दर निदर्शन है। 'हित चौरासी' में इस भाव को व्यक्त करने वाले चार-पाँच बहुत सुन्दर पद श्री हरिवंश जी ने लिखे हैं। सहचरी राधा से कहती है—हे मानिनी राधा तू कुंज कुटीर में क्यो नहीं चलती? कोटि-कोटि वनिताओं के होते हुए भी तेरे विना कुँवर (श्याम) मदन-पीड़ा से व्याकुल हैं।[2] दूसरे एक और पद में राधा को समझाती हुई सखी कहती है—"हे मृगलोचनि! तू व्यर्थ ही मान क्यों बढ़ाती है? मैं भय और संकोचवश तुझसे श्याम की बात कह नहीं सकती। मुरली बजाते हुए तेरी

---

१. प्रातः पीतपटं कदा व्यपनयाम्यन्यांशु कस्यार्पणात्
कुंजे विस्मृत कंचुकीमपि समानेतुं प्रधावामि वा।
बध्नीयां कबरीं पुनश्चिम गलितां मुक्तावली मंजये
नेत्रे नागरि रंगकैरवपि दधाम्यंङ्ग व्रणं वा कदा॥
—राधासुधानिधि, श्लोक संख्या ७५।

कदा वा प्रोद्दाम स्मरसमरसरम्भरभस,
प्रस्वद्स्वेदाम्भः प्लुतलुलित चित्राखिलतनू।
गतौ कुंजद्वारे सुख मरुतिसंवीज्य परया,
मुदाहं श्रीराधा-रसिक तिलकौ स्यां सुकृतिनी॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १६२।

२. चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुँवरि कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर।
गद-गद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर।
क्वासि-क्वासि वृषभानुनंदिनी बिलपत विपिन अधीर।
बंसी विसिख व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर॥
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर।
हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत बज्र को पंजर सुरत सूर रणधीर॥
—हित चौरासी, पद सं० १७।

वर्णन दिव्यधाम के रूप में विस्तार से किया गया है। वृन्दावन में ॰ कल्पना की गई है। यहाँ के वृक्ष कल्पद्रुम के समान मनोरथ पूर्ण करने व मणिमय है। असंख्य विहग तथा गायें वहाँ विचरण करती हैं और नाना भूमि है। केलिकुंजों का बाहुल्य है। वृन्दावन का रूप ब्रह्म के समान सुन्द वर्णन कर सकता है, वह वर्णनातीत और परम सुन्दर है।[1]

बृहद् ब्रह्मसंहिता के द्वितीय अध्याय में वृन्दावन का वर्णन र पाया है। उसमें कहा गया है कि वृन्दावन की भूमि चिन्तामणि निर्मि जल अमृत के समान है। वृक्ष सुरद्रुमसन्निभ हैं, सदा किशोर रहने वाले त से वृन्दावन आवेष्टित रहता है। वह बड़ा रहस्यमय और गुह्य है। हरि नित्य क्रीड़ा करते हैं।[2] इस वृन्दावन वर्णन में वृन्दावन व्यापक अर्थ में ग्र वृन्दावन को समस्त ब्रज का पर्याय मान कर उसका वर्णन है। ऐसा प्रतीत में ब्रज और वृन्दावन का भेद किसी सूक्ष्म आधार पर नहीं किया गया तथा वृन्दावन तीनों को कई स्थलों पर एक ही मानकर वर्णन कर दिया ग ब्रजमंडल की समवेत भावना लेकर यह हुआ है। वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायों का संयुक्त वर्णन देखने में आता है। भावना के सम्बन्ध में भी सूक्ष्म वृन्

वत्सै वत्सरीभिश्च तत्र क्रीडति माधवः।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः।

—स्कंद पुराण (वैष्णव ।

१—महावृन्दावनं तत्र केलि वृन्दावनानिच।
वृक्षाः कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली॥
क्रीड़ा विहंग लक्षां च सुरभीणामनेकशः।
नाना चित्रविचित्र श्रीरासमंडल भूमयः॥
केलि कुंज निकुंजानि नाना सौख्य स्थलानि च।
प्राचीरच्छत्र रत्नानि फणाः शेषस्य भान्त्य हि॥

—नारद पंचरात्र (श्रुतिविद्या सं

२—श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्द रसाश्रयम्।
भूमिश्चिन्तामणिस्तोयममृतं रसपूरितम्॥
वृक्षा सुरद्रुमास्तत्र सुरभीवृन्द मंडितम्।
सदाकिशोररूपैश्च तद्गृहीतवर्णैर्युतम्॥
वृन्द यः पावनं यस्मात् तस्मात् वृन्दावनंस्मृतम्।
गुह्याद्गुह्यतमं गुह्यं गोलोके तत्प्रतिष्ठितम्॥
तत्र गोविन्दरूपेण स्वयं क्रीडति राधिका।
एवं वृन्दावनंविद्धि गोवर्धनसमन्वितम्॥

—बृहद् ब्रह्मसंहिता, अध्याय

पद्मपुराण के पाताल खंड के द्वितीय अध्याय में वृन्दावन माहात्म्य का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। यह वर्णन दिव्य वृन्दावन का है अतः उसमें अलौकिक वैभव की स्थिति स्वाभाविक है। वृन्दावन धाम को गुह्य से गुह्य, परमानन्द दाता, अद्भुत रहस्यों से परिपूर्ण, सर्वशक्तिसम्पन्न, विष्णु को भी अत्यन्त दुर्लभ, ब्रह्मांड के ऊपर स्थित धाम बताया है। गोलोक से वृन्दावन को श्रेष्ठ ठहराते हुए निरस्तसाम्यातिशय भगवद्धाम कहा है। वृन्दावन को शाश्वत कहकर प्रकृति के स्थूल रूप से पृथक् कर दिया है। प्रायः सभी पुराणों में वृन्दावन को नित्यधाम मानकर ही उसका वर्णन है। यह नित्यधाम पृथ्वी-स्थित आधुनिक वृन्दावन नहीं है अपितु प्रतीकपरक वृन्दावन का ही वर्णन पुराणों में किया गया है। स्कन्दपुराण के वैष्णव खंड में भगवन्माहात्म्य-वर्णन करते हुए भगवान् शाण्डिल्य ब्रज का रहस्य बताते हैं—यह ब्रज समस्त भूमंडल में व्याप्त है, गुणातीत परब्रह्म भी इसमें व्याप्त रहते हैं अतः यह भी ब्रज कहा जाता है। जिस प्रकार तालाब में कमल निर्लेप भाव से स्थित रहता है उसी प्रकार भूमंडल पर यह ब्रज भी किसी प्रकार के कालुष्य को ग्रहण किये बिना अनाविल और शुद्ध बना रहता है।[2] नारद पंचरात्र में भी वृन्दावन का

गुह्याद्गुह्यतरं पुण्यं परमानंद कारकम्।
अत्यद्भुतं रहःस्थानं रहस्यं परमं पदम्॥
दुर्लभानां च परमं दुर्लभं मोहनं परम्।
सर्वशक्तिमयं देवि सर्वस्थानेषु गोपितम्॥
सात्वतां स्थानमूर्द्धन्यं विष्णोरत्यन्त दुर्लभम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम्॥
गोलोकैश्वर्यंच यत्किंचिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्।
वैकुंठ वैभवं यद्वै द्वारका तां प्रतिष्ठितम्॥
यद् ब्रह्म परमैश्वर्यं नित्यं वृन्दावनं श्रियम्।
कृष्णधाम परं तेषा, वन मध्ये विशेषतः

\+ + +

नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यंरासरसोत्सवम्।
रहस्यं परमं गुह्यं पूर्णं प्रेम रसात्मकम्॥
शून्ये स्थितं निराधारं ध्रुवमेवेश्वरेच्छया,
नित्यं वृन्दावनं नाम रहस्यं परमं परम्॥

—पद्मपुराण, पाताल खंड, द्वितीय अध्याय
(वृन्दावन माहात्म्य प्रकरण)

२—व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते।
गुणातीतं परब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते॥
ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवी समाश्रितम्।
हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम्।

वर्णन विस्तार के रूप में विस्तार से किया गया है। वृन्दावन में अनेक केलिस्थलों की कल्पना की गई है। वहाँ के वृक्ष कल्पद्रुम के समान मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं और चिन्तामणि मण्डित हैं। मनोहर विहंग तथा गायें वहाँ विचरण करती हैं और नाना प्रकार की रत्नमयी भूमि है। केलिकुंजों का बाहुल्य है। वृन्दावन का रूप इन्द्र के समान सुन्दर है, कौन उसका वर्णन कर सकता है, वह वर्णनातीत और परम सुन्दर है।[1]

बृहद् ब्रह्मसंहिता के द्वितीय अध्याय में वृन्दावन का वर्णन उत्कर्षपूर्ण रूप में आया है। उसमें कहा गया है कि वृन्दावन की भूमि चिन्तामणि निर्मित है और वहाँ का जल अमृत के समान है। वृक्ष सुरद्रुममणि हैं, सदा किशोर रहने वाले वत्स और सुरभियों से वृन्दावन आवेष्टित रहता है। वह बड़ा रहस्यमय और गुह्य है। हरि वहाँ राधा के साथ नित्य क्रीड़ा करते हैं।[2] इस वृन्दावन वर्णन में वृन्दावन व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। यहाँ वृन्दावन को समस्त ब्रज का पर्याय मान कर उसका वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों में ब्रज और वृन्दावन का भेद किसी सूक्ष्म आधार पर नहीं किया था। गोकुल, गोवर्धन तथा वृन्दावन तीनों को कई स्थलों पर एक ही मानकर वर्णन कर दिया गया है। इसलिए ब्रजमंडल की समवेत भावना लेकर यह हुआ है। वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार का संयुक्त वर्णन देखने में आता है। भावना के सम्बन्ध में भी सूक्ष्म वृन्दावन को ही एक

वत्सैं वत्सरीभिश्च तत्र क्रीडति माधवः ।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ।

—स्कंद पुराण (वैष्णव खंड)

१—महावृन्दावनं तत्र केलि वृन्दावनानि च ।
वृक्षाः कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली ॥
क्रीड़ा विहंग लक्षां च सुरभीणामनेकशः ।
नाना चित्रविचित्र श्रीरासमंडल भूमयः ॥
केलि कुंज निकुंजानि नाना सौख्य स्थलानि च ।
प्राचीरच्छत्र रत्नानि फणाः शेषस्य भान्ति हि ॥

—नारद पंचरात्र (श्रुतिविद्या संवाद)

२—श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्द रसाश्रयम् ।
भूमिश्चिन्तामणिस्तोयममृतं रसपूरितम् ॥
वृक्षा सुरद्रुमास्तत्र सुरभीवृन्द मंडितम् ।
तरुणीतरुणैर्युतम् ॥
तस्मात् वृन्दावनंस्मृतम् ।
गोलोके तत्प्रतिष्ठितम् ॥
स्वयं क्रीडति राधिका ।
गोवर्धनसमन्वितम् ॥

—बृहद् ब्रह्मसंहिता, अध्याय २ ।

ग्रहण किया गया है। वृन्दावन भावना का विषय बनकर अपने स्थूल भौतिक रूप को जैसे खो बैठा है। "भगवदाकार से आकारितवृत्ति पर भगवत्तत्त्व का प्राकट्य होता है, उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस प्रकार साभास, अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिए जो महानुभाव, वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी वैकुंठ, कारण-तत्त्वस्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्ति-बल से कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।"[1]

भक्ति-स्तोत्र-ग्रंथों में वृन्दावन

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने 'वृन्दावन महिमामृत' नाम से वृन्दावन-शतक लिखा है। यह ग्रन्थ वृन्दावन का पार्थिव-अपार्थिव स्वरूप प्रस्तुत करता हुआ भक्त की वृन्दावन-भावना को व्यापक रूप से उद्घाटित करता है। वृन्दावन-महिमा पर इससे सुन्दर दूसरा स्तोत्र ग्रंथ अद्यावधि नहीं लिखा गया। प्रबोधानन्दजी की भावना ही भक्ति-सम्प्रदायों की वृन्दावन विषयक भावना है अतः हम संक्षेप में उनके वृन्दावन-वर्णन पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। यह अनुश्रुति से चला आ रहा है कि श्री प्रबोधानन्द जी ने वृन्दावन महिमा गान करने के लिए सौ-सौ श्लोकों के सौ शतक लिखे थे। हमारे देखने में सम्पूर्ण सौ शतक नहीं आये हैं, अठारह शतक हमने देखे हैं। हो सकता है कि सम्पूर्ण शतक कहीं अब भी सुरक्षित हों। वृन्दावन की महिमा-गान करते हुए प्रथम शतक के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट कहा है कि 'स्वयं शेष भी वृन्दावन महिमामृत-रूपी-समुद्र के पार जाने में असमर्थ है—तब अन्य साधारण जन तो इस का वर्णन करने का साहस भी भला कैसे कर सकते हैं।[2]

वृन्दावन को दिव्य प्रकाश का धाम मानकर सांसारिक अज्ञानांधकार से बचने का कारण बताया गया है। कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं विद्युत-समूह की प्रभा को जीतने वाली महादीप्तिमती वृन्दाटवी जिस किसी के चित्त में एक बार भी उदित हो जाती है फिर उसके मन में स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, विषय-वासना के लिए स्थान नहीं रहता।[3] इसलिए

---

१. भगवत्तत्त्व—ले० श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी), पृष्ठ १६०।

२. शेषोऽपियस्य महिमामृत वारिराशेः,
पारं प्रयातुमनलम्बत तत्र केऽन्ये।
किन्त्वल्पमप्यहमति प्रणयाद्विगाह्य,
स्यां धन्य धन्य इति मे समुपक्रमोऽयम् ॥
—वृन्दावन महिमामृत प्रथम शतक, श्लोक २।

३. वृन्दाटवी यदि रवीन्द्वहुताश विद्युत्
कोटि प्रभा विभवकारि महाप्रभाढ्या।
आत्मप्रभा सकृदपि प्रतिभातिचित्ते,
वित्तैषणादि नहि तस्य मनस्युदेति ॥
—वृन्दावन महिमामृत शतक प्रथम, श्लोक ३७।

किसी भी बन्धन में पड़कर वृन्दावन से दूर नहीं रहना चाहिए। यहाँ तक कि यदि वृन्दावन-वास करने के लिए वेदाज्ञा को भी भंग करना पड़े तो निर्भय होकर उसका उल्लंघन कर देना चाहिए। गुरुजनों का आदेश भी यदि वृन्दावन-वास के मार्ग में बाधक हो तो उसका निस्संकोच अतिक्रमण कर देना कर्त्तव्य है। वृन्दावन वास के लिए किसी भी प्रसंग को ध्यान में नहीं लाना चाहिए। जितना शीघ्र सम्भव हो वृन्दावन के लिए साधक प्रस्थान कर दे।[1] वृन्दावन पहुँचकर यदि मदनमोहन (कृष्ण) के द्वार पर साधक को कुक्कुरी का भी स्थान मिले तो वह भी श्लाघ्य है। अन्य स्थानो पर लक्ष्मी बनकर रहना भी श्रेयस्कर नहीं है।[2] यदि वृन्दावन में तृण बनकर भी रहने का सुअवसर प्राप्त हो तो मुट्ठी में आई हुई बैकुंठ-लक्ष्मी की ओर आँख उठाकर भी साधक नहीं देखना चाहता। वृन्दावन में यदि उसकी घोरतर निम्न दशा हो जाय तब तक भी वह समस्त प्राकृत-अप्राकृत ऐश्वर्यों की कामना नहीं करता। यदि वृन्दावन के जीव साधक का स्वागत न करें और उसे पीड़ा भी दे तो भी साधक को वहीं रहना चाहिए।[3]

श्री रसिकोत्तंस ने अपने 'प्रेमपत्तनम्' ग्रन्थ में वृन्दावन को दिव्य-धाम का रूप देकर माधुर्य-भक्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रेमपत्तन (वृन्दावन) की स्थिति गगन में वर्णित की गई है। प्रेमपत्तन की टीका में लिखा है—'तन्नगरं च लीलापरिकरात्मक नित्यसिद्धा सुकृजन निवासस्थानं श्री वृन्दावनान्तर्गत मण्डलमेव भगवतः प्रकाशविग्रहे वृन्दावने वनं मे देह रूपम्।'

---

१. न वेदाज्ञाभंगे कुरु भयमपेनापि वचन,
गुरूणां मन्येथाः प्रविश महि लोकापवदनौ।
कुटुम्बादेरीर्ने द्रवत कृपया मो भवसितो,
प्रसह्यत्रानेहैर्वृन्दावनमनु हठाग्नि तरसखे ॥
—वृन्दावन शतक प्रथम, श्लोक ५२।

२. वरमिह वृन्दारण्ये कुक्कुरी मदनमोहन द्वारि।
नापि सम्पादि रमाऽप्यन्यस्थितिनाऽन्यत्र रमादिशाम् ॥
—वृन्दावन शतक द्वितीय, श्लोक ६०।

३. यदि वृन्दावन विपिनमपि तृणतामेत्य वसामि।
न तदा वैकुण्ठलक्ष्मीमपि करनिहितां निभालये ललिताम् ॥
सर्वं दुःखदशा घोरा यदि वृन्दावनेऽस्तु मे।
प्राकृताप्राकृताशेषविभूतिरपि नाथ्यतः ॥
दुर्जनैश्च महाक्लेशमनुभवन्तुम्।
[illegible] वृन्दावनेऽस्तु मे।
वृन्दावन शतक, चतुर्थ श्लोक ६०, ६१, ६२।

ग्रहण किया गया है। वृन्दावन भावना का विषय बनकर अपने स्थूल भौतिक रूप को जैसे खो बैठा है। "भगवदाकार से आकारितवृत्ति पर भगवत्तत्त्व का प्राकट्य होता है, उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस प्रकार साभास, अव्याकृत एवं साभास परमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिए जो महानुभाव, वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी वैकुंठ, कारण-तत्त्वस्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्ति-बल से कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।"[1]

भक्ति-स्तोत्र-ग्रंथों में वृन्दावन

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने 'वृन्दावन महिमामृत' नाम से वृन्दावन-शतक लिखा है। यह ग्रन्थ वृन्दावन का पार्थिव-अपार्थिव स्वरूप प्रस्तुत करता हुआ भक्त की वृन्दावन-भावना को व्यापक रूप से उद्घाटित करता है। वृन्दावन-महिमा पर इससे सुन्दर दूसरा स्तोत्र ग्रंथ अद्यावधि नहीं लिखा गया। प्रबोधानन्दजी की भावना ही भक्ति-सम्प्रदायों की वृन्दावन विषयक भावना है अतः हम संक्षेप में उनके वृन्दावन-वर्णन पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। यह अनुश्रुति से चला आ रहा है कि श्री प्रबोधानन्द जी ने वृन्दावन महिमा गान करने के लिए सौ-सौ श्लोकों के सौ शतक लिखे थे। हमारे देखने में सम्पूर्ण सौ शतक नहीं आये हैं, अठारह शतक हमने देखे हैं। हो सकता है कि सम्पूर्ण शतक कहीं अब भी सुरक्षित हों। वृन्दावन की महिमा-गान करते हुए प्रथम शतक के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट कहा है कि 'स्वयं शेष भी वृन्दावन महिमामृत-रूपी-समुद्र के पार जाने में असमर्थ है—तब अन्य साधारण जन तो इस का वर्णन करने का साहस भी भला कैसे कर सकते हैं।[2]

वृन्दावन को दिव्य प्रकाश का धाम मानकर सांसारिक अज्ञानांधकार से बचने का कारण बताया गया है। कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं विद्युत-समूह की प्रभा को जीतने वाली महादीप्तिमती वृन्दाटवी जिस किसी के चित्त में एक बार भी उदित हो जाती है फिर उसके मन में स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, विषय-वासना के लिए स्थान नहीं रहता।[3] इसलिए

---

१. भगवत्तत्व—ले० श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी), पृष्ठ १६०।

२. शेषोऽपियस्य महिमामृत वारिराशेः,
पारं प्रयातुमनलम्बत तत्र केऽन्ये।
किन्त्वल्पमप्यहमति प्रणयाद्विगाह्य,
स्यां धन्य धन्य इति मे समुपक्रमोऽयम्॥
—वृन्दावन महिमामृत प्रथम शतक, श्लोक २।

३. वृन्दाटवी यदि रवीन्दुहुताश विद्युत्
कोटि प्रभा विभवकारि महाप्रभाढ्या।
आत्मप्रभा सकृदपि प्रतिभातिचित्ते,
वित्तंपणादि नहि तस्य मनस्युदेति॥
—वृन्दावन महिमामृत शतक प्रथम, श्लोक ३७।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन

राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस वृन्दावन की स्वीकृति है और जिसका वाणी-ग्रंथों में अत्यधिक वर्णन है वह कल्पना द्वारा चित्रित सूक्ष्म वृन्दावन नहीं है। यह भौतिक वृन्दावन ही अपने कुंज, लता, गुल्मों से वेष्टित होकर श्री राधा-कृष्ण की रास स्थली बनता है, नित्य-विहार का आधार बनता है और इस कारण प्राकृतिक होते हुए भी राधाकृष्ण के नित्य संयोग के कारण नित्य और शाश्वत बन जाता है। श्री हितहरिवंशजी ने इसी भौतिक किन्तु नित्यवृन्दावन का राधासुधानिधि के अनेक श्लोकों में वर्णन किया है। अपने मन को सम्बोधित करके वे कहते हैं कि हे मेरे मन ! तू समस्त महत् चेष्टाओं को दूर ही से छोड़कर प्रीतिपूर्वक वृन्दाटवी का अनुसरण कर—'वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद्वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः'। भक्त को उस बैकुंठ से क्या प्रयोजन जहाँ उसकी परमाराध्या राधा नहीं है। भक्त तो वृन्दावन भूमि से मधुर आशा बनाये रखना चाहता है क्योंकि इसी भूमि में उसे सुख प्राप्ति होती है—

> किंवा वैकुंठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा।
> किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावन भुवि मधुरा कोटि जन्मान्तरेऽपि ॥[1]

भक्त अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के लिए वृन्दावन भूमि को ही परम पुनीत मानकर प्रार्थना करता है कि क्या यह सम्भव होगा कि मैं श्री राधा के चरण-युगलों का ध्यान करता हुआ इस वृन्दावन में ही अपना शरीर त्यागकर अपने को धन्य बनाऊँ।[2]

वृन्दावन को राधा-केलि-कलाओं का साक्षी, प्रकट उज्ज्वल रस परिपूर्ण तथा परम पावन मानकर यहाँ वास करने की आकांक्षा इस प्रकार व्यक्त की गई है—

> राधाकेलि कलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने।
> वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुतरसे प्रेमैकमत्ताकृतिः ॥[3]

वृन्दावन नित्यविहार में उत्पन्न होने वाली परम रसमाधुरी का एकमात्र कारण है; अतः राधा-माधव के बिना बैकुंठ भी इसकी समता नहीं कर पाता। श्री हितहरिवंशजी ने इस भाव को बार-बार विविध शैलियों से व्यक्त किया है।

> किं ब्रूमोन्यत्र कुंठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुंठे,
> राधामाधुर्य वेत्तामधुपतिरथतन्माधुरीं वेत्ति राधा।
> वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा,
> तद् द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिका किंकरीभ्यः ॥[4]

हित चौरासी के पदों में भी वृन्दावन का वर्णन हुआ है। वृन्दावन को प्रणाम करते हुए श्री हितहरिवंशजी कहते हैं :

---

१. राधासुधानिधि—श्लोक २१६।
२. " — " २६१।
३. " — " २६६।
४. " — " १७५।

मति रति युवति पतिर्यत्पालयिता मधुर मेच को राजा।
गगने विलसति नतरं नैकशिरोमन्दिरं नाम ॥[1]

रसिकोत्तंस का प्रेमपत्तन नाममात्र को वृन्दावन है, यथार्थ में वह एक नित्य केलिस्थल का द्योतक कराने वाला भाव है। किसी स्थूल भौतिक स्थान का वर्णन उनके ग्रन्थ में नहीं है। इस सूक्ष्म वृन्दावन के रास वृन्दावन और गोप्स्य वृन्दावन नामक दो भेद भी किये जाते हैं जो भाव-विशेष के आधार पर स्थिर किये गये हैं।

'चैतन्य चरितामृत' में इस दिव्य वृन्दावन का उल्लेख आया है और उसे समस्त धामों से श्रेष्ठ बताया गया है। कृष्ण के विभु-रूप तथा अवतार-रूप के लिए व्योम-लोक आदि की कल्पना की जाती है, उनके बाद द्वारका, मथुरा और गोकुल का वर्णन है। इनमें गोकुल को ब्रजलोक धाम होने के कारण श्रेष्ठतम माना है। उसके बाद गोलोक मे श्वेत द्वीप वृन्दावन को गिनाया है। इसका क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट न होने पर भी वृन्दावन का सर्वाधिक माहात्म्य तो स्पष्ट ही है—

ताहार उपरि भागे कृष्ण लोकख्याति।
द्वारका, मथुरा, गोकुल त्रिविधत्वे स्थितिः
सर्वोपरि श्री गोकुल ब्रजलोकधामा।
श्री गोलोक श्वेत द्वीप वृन्दावन नाम ॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्ण तनु सम।
उपर्यधो व्यापिछे नाहिक नियम ॥[2]

पुराणों के आधार पर वृन्दावन को कल्पवृक्ष से युक्त चिन्तामणि-निर्मित भूमि वाला भी कहा गया है—

चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमयवन, चर्मचक्षु देखें तारे प्रपंच मन।
प्रेमनेत्र देखे तार स्वरूपप्रकाश, गोपी संगे जाहाँ कृष्णेर विलास ॥

उपर्युक्त उद्धरणों में वृन्दावन का जैसा वर्णन है वह भौतिक वृन्दावन के दृश्य-स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला नहीं है। इन वर्णनों में भावनापरक दिव्य वृन्दावन का ही उल्लेख है। प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों में वृन्दावन के विषय में ऐसी ही दिव्य धारणा रही है। भौतिक वृन्दावन को लेकर विवेचन नहीं किया गया। 'भावुकों ने ब्रजतत्त्व को हिततम वेद वेद्य प्रेमतत्त्व का स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्व के ब्रजधाम स्वरूप देह में श्री ब्रज नवयुवतिजन इन्द्रियरूपिणी हैं। मनःस्वरूप रसिकेन्द्र वर्ग मूर्धन्यमणि श्री ब्रजराज किशोर हैं तथा प्राणरूपा प्रज्ञा के स्थान में ब्रजनवयुवति कदम्ब मुकुटमणि श्री राधा हैं।'[3] भौतिक वृन्दावन का विशद वर्णन प्रस्तुत करके इसी वृन्दावन के स्थूल रूप पर आस्था रखने का आग्रह केवल राधावल्लभ सम्प्रदाय में पाया जाता है।

---

१. प्रेमपत्तनम्—रसिकोत्तंस रचित, पृष्ठ ६, श्लोक ६।
२. चैतन्य चरितामृत—पृष्ठ २०१।
३. श्री भगवत्तत्त्व, ले० स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी), पृष्ठ १५६।

"हम कब होहिंगे ब्रजवासी ।
ठाकुर नन्द किशोर हमारे ठकुरानी राधा-सी ।
सखी सहेली कब मिलिहैं वे हरिवंशी, हरिदासी ।
बंसीवट की सीतल छँयाँ, सुभग नदी जमुना-सी ।
जाको वैभव करत लालसा, कर मीडत कमला सी ।
इतनी आस व्यास की पुजवौ वृन्दाविपिनविलासी ॥"[1]

वृन्दावन आ जाने पर वे वृन्दावन की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं :—

धनि धनि वृन्दावन की धरनि ।
अधिक कोटि वैकुण्ठ लोक तैं, सुक नारद मुनि बरनि ।
जहाँ स्याम की बाम केलि कुल धाम, काम मन हरनि ॥

+ + +

जहाँ महीरुह राज विराजत सदा फूल फल फलनि ।
तहाँ व्यास बसि ताप बुझायौ अंतरहित की जरनि ॥

अगले पद में पुनः इसी पार्थिव वृन्दावन का वर्णन है—

छबीली वृन्दावन की धरनि ।
सदा हरित सुखभरित मोहनी मोहन परसति करनि ।
धवल धेनु छवि नवल ग्वाल फबि सोभत द्रुम की जरनि ॥[2]

+ + +

व्यासजी ने वृन्दावन-सम्बन्धी लगभग दो दर्जन पद लिखे हैं और प्रत्येक पद में भौतिक वृन्दावन की छवि अंकित करके भक्त को इसी वृन्दावन में वास करने की प्रेरणा दी है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन का क्या महत्व और स्थान है यह जानने के लिए व्यासजी के पद सबसे अधिक स्पष्ट और सीधे हैं। वृन्दावन के वृक्ष, बेल, गुल्म, निर्झर, लता सबको व्यासजी ने अपने लिए उपास्य माना है। व्यासजी की वाणी का साक्षात् प्रभाव रसखान के कुछ पदों पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

ध्रुवदास जी ने भी वृन्दावन का यही स्वरूप, जो भूमंडल पर अपनी लौकिक शोभा के साथ उपस्थित है, स्वीकार किया है। नित्यविहार में धाम के रूप में वृन्दावन का जैसा सुन्दर वर्णन ध्रुवदास जी के पदों में मिलता है वैसा अन्यत्र कम ही देखने में आता है। ध्रुवदास जी नित्यविहार के व्याख्याता महानुभाव हैं अतः आपके पदों में वृन्दावन का रूप भी उसी भावना के साथ प्रायः अंकित हुआ है।

'वृन्दावन लीला' में ध्रुवदासजी ने ११६ दोहों में वृन्दावन का वर्णन किया है। उनमें से कुछ दोहों को हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

वृन्दावन द्युतिपत्र की उपमा को कछु नाहिं ।
कोटि कोटि वैकुण्ठ हू तेहि सम कहे न जाहिं ॥

१—व्यासवाणी—पद संख्या २५६। २. व्यासवाणी पद सं० ११, ७।

प्रथम यथामति प्रणऊँ श्री वृन्दावन अतिरम्य।
श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य॥
वर यमुना जल सींचत दिन ही शरद वसन्त।
विविध भाँति सुमनस के सौरभ अलिकुलमंत॥
अरुण नूत पल्लव पर कूजित कोकिल कीर।
निर्तत करत सिखी कुल अति आनंद अधीर॥
बहत पवन रुचिदायक शीतलमंद सुगंध।
अरुण नील सित मुकुलित जहँ तहँ पूषन बंधु॥
अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज।
सेवत सगन प्रीति जुत दिन मीनध्वज पुंज॥
रसिक रास जहाँ खेलत श्यामा श्याम किशोर।
उभै बाहु परि रंजित उठे उनीदे भोर॥[1]

सेवकवाणी में वृन्दावन के वैभव का वर्णन अनेक पदों में सेवकजी ने किया है। यह वर्णन दिव्य वृन्दावन का न होकर भूमंडल पर स्थित इसी भौतिक वृन्दावन का है। वृन्दावन का यह वैभव श्री हरिवंश जी को उपलब्ध है अतः सेवकजी इसी भौतिक वृन्दावन की ओर इंगित कर रहे हैं।

श्री वृन्दावन वैभव जितो, बरनत बुद्धि प्रमानौं कितो। तितो सबै हरिवंश को।[2]

'श्री वृन्दावन नव-नवकुंज। श्री हरिवंश प्रेमरस पुंज। श्री हरिवंश करत नित केलि।'[3]

'श्री वृन्दावन वास रास रस भूमि जहाँ। पुलिन मंजुल तहाँ क्रीड़त श्यामा श्याम।'

पुलिन मंजुल परम पावन त्रिविध तहाँ मारुत बहै।
कुंज भवन विचित्र शोभा मदन नित सेवत रहै॥[4]

नित्यविहार के विधायक तत्त्व के रूप में वृन्दावन-महिमा का सेवक जी ने विशद वर्णन नहीं किया है किन्तु उनके वृन्दावन-वर्णन का प्रयोजन वही है।

व्यासजी ने दिव्य और भूमंडल-स्थित वृन्दावन का अन्तर स्पष्ट करते हुए अपनी वाणी में सर्वत्र भौतिक वृन्दावन का ही वर्णन किया है। इसी वृन्दावन वास की बलवती कामना उनके मन में रही है और इसके पूर्ण होने पर वे समस्त वैभव को हस्तगत हुआ मानते हैं। जब तक वे वृन्दावन-वास का अधिकार नहीं पा सके हैं तब तक यही कहते हैं कि—

---

१. हित चौरासी—पद सं० ५७।
२. श्री सेवकवाणी—श्री हितजस विलास प्रकरण पृष्ठ ४१।
३. श्री सेवकवाणी—श्री हित वाणी प्रकरण पृष्ठ ५१।
४. श्री सेवकवाणी—श्री हितमंगल गान प्रकरण पृष्ठ ६२।

विवेचन की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसमें वृन्दावन का रूप निम्न भाँति वर्णित हुआ है :—

अखिल धाम लीलात्मक ज्ञेयरूप हरिवंश।
ध्येय रूप वृन्दाविपिन सेवकगिरा प्रशंस॥

वृन्दावन को प्रकट (भौतिक) मानते हुए लाड़िलीदासजी सुधर्म-बोधिनी में लिखते हैं :—

प्रगट महल वृन्दाविपिन महिली श्यामा श्याम।
नर नारी सब टहलिनी सेवत आठौं याम॥
प्रकट भाव आवेश सों कीजे विजै सुभाय।
वृन्दावन रस रीति में तब उपजे चित चाव॥
वृन्दावन रस खेत में भाव प्रभाव को रार।
एक मिलावें वस्तु को एक करे संसार॥[1]

संक्षेप में, राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन को भूमंडल पर स्थित और लता-गुल्म-परिवेष्टित सौन्दर्य-निकेत माना जाता है। इसी वृन्दावन में राधाकृष्ण अपना नित्यविहार करते हैं। नित्यविहार के चार उपकरणों में इस वृन्दावन का भी स्थान है। आगे के पृष्ठों में हम नित्यविहार का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं, वहाँ वृन्दावन के महत्व और उपयोग का भी संकेत करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सम्प्रदाय में वृन्दावन को कल्पना पर निर्भर सूक्ष्म या आध्यात्मिक नहीं माना गया है। भौतिक रूप में भी यह वृन्दावन नित्य और शाश्वत रहता है। यही इसकी विशेषता समझनी चाहिए। वृन्दावन, राधा-माधव को क्रीड़ा-स्फुरण प्रदान करने वाला है अतः राधा-माधव भी इसके अधीन रहते हैं, वृन्दावन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रहता है। इस भावना का आधार पौराणिक है और सभी वैष्णव सम्प्रदायों में यह समान भाव से स्वीकृत है किन्तु भूतल-स्थित वृन्दावन का स्थूल रूप अन्य सम्प्रदायों में इस कोटि तक मान्य नहीं है यही राधावल्लभ सम्प्रदाय की वृन्दावन-विषयक मान्यता में विशेषता है।

नित्यविहार का स्वरूप

रसमार्गीय उपासना-पद्धति को स्वीकार करने वाले वैष्णव सम्प्रदायों में नित्यविहार शब्द पर्याप्त प्रसिद्ध है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस ग्रंथ में और किन अर्थों में हुआ यह जानने के लिए चैतन्य-सम्प्रदाय, निम्बार्क-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय की उपासना पद्धति का अनुशीलन आवश्यक है। चैतन्य सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रंथों में व्रजरस तथा निकुंजलीला-रस का वर्णन तो हुआ है किन्तु साम्प्रदायिक उपासना-सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए उसका पर्यवसान नित्यविहार की एकान्त स्थिति को ध्यान में रखकर समीचीन नहीं बैठता। श्री रूपगोस्वामी के 'निकुंज रहस्यस्तव' ग्रंथ में व्रजरस को ही व्यापक रूप में निकुंजलीला के रूप में वर्णित किया है। चैतन्य सम्प्रदाय की 'व्रजरस एवं

१—सुधर्म-बोधिनी—श्री लाड़िलीदास कृत, पृष्ठ २।

यह आशा धरि चित्त में कहत यथामतियोर।
वृन्दावन सुख रंग को काहुन पायो ओर ॥
लता लता सब कल्पतरु, पारिजात सब फूल।
सहज एक रस रहत हैं झलकत यमुना कूल ॥
वृन्दावन वैभव जितो तितो कह्यो नहिं जात।
देखत सम्पति विपिन की कमलाहू ललचात ॥
वृन्दावन के वास को जिनको नाहिं हुलास।
माता मित्र सुतादितिय तजि ध्रुव तिनको वास ॥
खंड खंड ह्वै जाइ तन, अंग अंग सत टूक।
वृन्दावन नहिं छांडिये छांडिवो है बड़ो चूक ॥
वृन्दावन को नाम रटि वृन्दावन को देखि।
वृन्दावन सों प्रीति करि वृन्दावन उर लेखि ॥
तजि कै वृन्दाविपिन कों और तीर्थ जे जात।
छांड़ि विमल चिन्तामणि कौड़ी को ललचात ॥[1]

लौकिक वृन्दावन का उपर्युक्त दोहों में जो रूप ध्रुवदासजी ने चित्रित किया है वह साम्प्रदायिक भावना का परिणाम है। किन्तु नित्य दिव्यधाम वृन्दावन भी ध्रुवदास जी की कल्पना में था ऐसा उनके अन्य दोहों से विदित होता है। नित्य वृन्दावन का वर्णन निम्नांकित दोहों में द्रष्टव्य है—

आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ॥
वृन्दाविपिन सुहावनो रहत एकरस नित्य।
प्रेम तरंग रंगे तहां एक प्रान द्वै मित्त ॥
प्रेम सिन्धु वृन्दाविपिन जाको अन्त न आदि।
जहां कलोलत रहत नित युगल किशोर अनादि ॥[2]
नित्य सहज वृन्दाविपिन नित्य सखी ललितादि।
नित ही विलसत एक रस युगल किशोर अनादि ॥[3]
वैभव सब ऐश्वर्यता ठाढ़ी सेवत दूरि।
परसत पावत कबहुं नहिं श्री वृन्दावन धूरि ॥[4]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'सुधर्मबोधिनी' नामक वाणी-संग्रह को धार्मिक सिद्धान्त

---

१. वृन्दावन लीला—ध्रुवदास रचित (ब्यालीस लीला) पृष्ठ १६-२२।
२. " " " " " " २०।
३. बृहद् वावन पुरान की भाषा—ध्रुवदास रचित—पृष्ठ ४२।
४. नेह मंजरी लीला—ध्रुवदास रचित—पृष्ठ २०४।

इस (रसमार्गी) काव्य को पढ़ने का अधिकार उन्हीं को है जो वास्तव में वैषयिक वासनाओं से छूटना चाहते हैं और जो तन, मन से कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ चुके हैं, बालक या श्रद्धाहीन लोगों को इस काव्य को पढ़ने का अधिकार नहीं ।[1] वल्लभ-सम्प्रदाय में मधुर भक्ति के आधार पर जो शृङ्गारपरक भावना व्यक्त हुई उसका आधार क्या था ? क्या वह नित्य विहारपरक भावना थी या दास्य, सख्य, और वात्सल्य से ऊपर उठने का उपक्रममात्र ? श्री डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने शोधपूर्ण 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ में इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि—'राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के प्रेमशृङ्गार की संयोगलीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार की भक्ति को उस सम्प्रदाय में 'परम माधुरी भाव' कहा गया है । अष्टछाप-भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास जी ने भी राधाकृष्ण की युगल लीलाओं की उपासना सखा-सखी भाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनों सम्प्रदायों की छाया, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पड़ी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप काव्य में हमें सखी भाव से की गई युगल भक्ति के पद भी बड़ी संख्या में मिलते हैं ।"[2]

वल्लभ-सम्प्रदाय के शृंगार-परक वर्णन को डा० गुप्त ने राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास के प्रभाव में स्वीकार किया है । हम भी उक्त मत से पूर्णतया सहमत हैं। इस सम्बन्ध में इतना और निवेदन करना है कि अष्टछाप के कवियों में वात्सल्य भाव की प्रधानता होने तथा रूप-माधुरी के स्थूल एवं बाह्य चित्रण की ओर प्रवृत्ति होने से सूक्ष्म एवं तात्विक नित्यविहार न तो उन्हें अभीष्ट था और न वह अपनी समग्र भावना में सम्भव हो हुआ । हाँ, व्रजरस के जैसे सजीव और सांगोपांग चित्र अष्टछाप के भक्त महानुभाव अंकित कर सके वैसे हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं । यथार्थ में, व्रजलीला तक ही इनकी भावना थी और उसी के पूर्ण परिपाक में इनकी शक्ति का उपयोग हुआ । राधा के स्वकीया भाव की स्वीकृति भी नित्यविहार के लिए उस कोटि तक सहायक नहीं हो सकती थी जिस कोटि के विहार को श्री हितहरिवंश और श्री स्वामी हरिदासजी ने प्रतिपादित किया था ।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रंथों में भगवान् कृष्ण और राधा का जो स्वरूप स्वीकृत है उसे यदि सम्प्रदाय का प्रतिपाद्य माना जाय तो नित्यविहार की निष्ठा के लिए वहाँ भी पूरा अवकाश नहीं है । निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों के आश्रय हैं । 'दशश्लोकी पर भाष्य करते हुए श्री हरिव्यासदेवाचार्य कहते हैं—'उनका सच्चिदानन्दात्मक विग्रह है । व्रजधाम में नित्य स्थित हैं । व्रज में वे द्विभुज हैं, और द्वारावति में चतुर्भुज हैं । यही व्रजकृष्ण जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति

1. हितभट्ट निन्दक नास्तिक हरिपरमंवहिर्मुख ।
   तिनसों कबहुं ना कहै, कहै तो माहिन नहीं सुख ॥
   —रास पंचाध्यायी, नन्ददास कृत, पृष्ठ १८२।
2. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—भाग २, पृष्ठ ६४३-६४४
   —डा० दीनदयालु गुप्त ।

व्रजपरिकर' की भावना का उल्लेख करते हुए 'श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त-रत्न-संग्रह' नामक ग्रंथ में लिखा है—

'व्रज में श्रीकृष्ण की नरलीला है, गोप अभिमान एवं गोपवेश हैं। व्रज में वे चारों भावों के लीलारस का आस्वादन करते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। उनकी स्वरूप शक्ति ही प्रत्येक भावानुकूल लीला परिकर के रूप में आत्म प्रकट कर विराजती है। + + + । मधुर भाव में वात्सल्य से भी अधिक ममता है। श्री राधा आदि व्रज गोपीगण मधुर भाव के परिकर हैं। श्री राधिका ह्लादिनी शक्ति की मूर्तिविग्रह हैं। इनका अभिमान है कि श्रीकृष्ण इनके प्राणवल्लभ हैं, वे उनकी प्रेयसी हैं। श्रीकृष्ण भी तदनुरूप मानते हैं। इस अभिमानमूलक भावानुकूल के निजांग द्वारा भी श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं।'[1]

व्रज-प्रेम—'समस्त व्रज परिकर श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्यमय प्रेम सहित श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। इनका प्रेम विशुद्ध माधुर्यमय है, उस पर ऐश्वर्य का कोई भी प्रभाव नहीं है। द्वारका मथुरा में भी दास्यादि उक्त चारों भाव हैं। वहाँ ये भाव ऐश्वर्य-मिश्रित हैं। परिकरों के भाव भी ऐश्वर्य द्वारा संकुचित हैं। + + + । श्रीकृष्ण के व्रज परिकरों में दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य, वात्सल्य से मधुरभाव के परिकर वर्ग का वैशिष्ट्य है। प्रेयसी वर्ग में अखण्डरसवल्लभा श्रीराधिका के रूप-गुण-माधुर्य तथा रस परिवेशन परिपाटी सर्वातिशायी है।'

व्रजरस में जिन चार भावों का समावेश चैतन्य सम्प्रदाय में स्वीकृत किया गया है और व्रज-परिकर में जिनको स्थान मिला है, शुद्ध नित्यविहार में उनको स्थान नहीं प्राप्त होता। दास्य, सख्य, वात्सल्य भाव भी नित्यविहार में नहीं समाते। हाँ, यह व्रजरस निकुंज लीलारस की ओर अग्रसर होने की सरणि अवश्य है किन्तु ध्येय नहीं। अतः गौड़ीय सम्प्रदाय में हम शुद्ध नित्यविहार भावना की स्थापना नहीं पाते हैं।

'वल्लभ सम्प्रदाय' में माधुर्य भक्ति का समावेश होने के उपरान्त निकुंजलीला-वर्णन प्रारम्भ हुआ। अष्टछाप के कवियों ने लीला वर्णन के प्रसंगों में शृंगार-भावना को स्थान देते हुए व्रजरस से आगे निकुंजरस का वर्णन किया किन्तु जिन नित्य तत्त्वों के द्वारा 'नित्यविहार' सम्पन्न होता है उनमें राधा, माधव, तथा सहचरी की स्थिति उस उदात्त कोटि तक नहीं वर्णित हुई जैसी 'नित्यविहार' की एकान्त एवं शुद्ध परिकल्पना में होनी चाहिए। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने 'शृङ्गार मंडन' ग्रंथ में रस-मार्ग का निर्देश किया है किन्तु वे इस मार्ग को अनधिकारियों के लिए निषिद्ध बताकर बचने का संकेत देते रहे।[2] इस भाव के अनुकूल ही श्री नन्ददास ने भी अपनी रासपंचाध्यायी में कहा है कि

१—श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्नसंग्रह—मूल लेखक—(बंगला)
(हिन्दी रूपान्तर)—श्री राधागोविन्दनाथ, पृष्ठ ६७-६८।

२. भावयेत्सिकास्वैरं पश्यन्निवरमहर्निशम्।
एतत्तादृगनभिज्ञः पाषाणोऽपि वैष्णवः॥ —श्री विट्ठलनाथ कृत शृङ्गार मंडन।

में नित्यविहार बहुत व्यापक रूप से वर्णित हुआ। श्री सेवकजी, व्यासजी, ध्रुवदासजी, नेही नागरीदासजी, अनन्य अलीजी, चाचा वृन्दावनदासजी आदि अनेक महानुभावों ने इसे अपनी-अपनी निष्ठा और भावना के आधार पर गाया। कहना न होगा कि स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा में भी भगवत रसिक जैसे रसज्ञ भक्त हुए जिनकी पीयूषवर्षिणी वाणी ने नित्यविहार को इतना संवेद्य रूप दिया कि उनकी पदावली का-सा मोहक चमत्कार अन्यत्र कम देखने में आता है।

साम्प्रदायिक दृष्टि से 'नित्यविहार' शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्त्विक व्यंजना का द्योतन कराने वाला है। उसे अनिर्वचनीय रसदशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य निभृत निकुंज में प्रिया-प्रियतम (राधामाधव) अविच्छिन्न भाव से—सतत, शाश्वत रति-क्रीड़ा में संलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीड़ा बिना किसी बाह्य या आन्तरिक अन्तराय के अनवरत चलती रहती है। अपनी इस केलि-क्रीड़ा से वे दर्शक-सहचरी रूप जीवात्मा को—दर्शनमात्र से अमित आनन्द प्रदान करते हैं। सहचरी इस केलि को निकुंज रंध्रों से देखकर ही अपनी कृतार्थता मानती है। इस निकुंज लीला में न तो निकुंजान्तरगमन सम्भव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही।[1] चैतन्य, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय के वर्णनों में मान, विरह, कोप तथा निकुंजान्तरगमन का वर्णन होने से उसे एकांत, विशुद्ध नित्यविहार नहीं कहा जा सकता।

'नित्यविहार' सम्पन्न होने के लिए राधावल्लभ सम्प्रदाय में चार नित्य तत्त्व स्वीकार किए गये हैं। इन चारों के समवेत रूप को ही नित्यविहार कहा जाता है। ये चार तत्त्व हैं—नित्यकिशोरी राधा, नित्यकिशोर कृष्ण, नित्यकिशोरी सहचरी और नित्य-धाम वृन्दावन। श्री लाड़लीदासजी ने 'सुधर्मबोधिनी' नामक ग्रंथ में नित्यविहार के अंगों का वर्णन इस प्रकार किया है—

> गौर, श्याम, सहचरि, विपिन चार नाम मिलि एक।
> श्री हरिवंश सरोजपद गहि अनन्य व्रत टेक॥[2]
> गौर, श्याम, सहचरि, विपिन चार वर्ण हरिवंश।
> नाम धाम अरु जहाँ लौं ते सब इनके अंश॥[3]

पुराणों में भी श्रीकृष्ण के वृन्दावन-विहार का वर्णन है, वह गोपीरमण और गोपियों का व्रजविहार है, उसमें स्वकीया-परकीया भाव की स्वीकृति रहती है; साथ ही मिलन-विरह

---

१. विच्छेदाभास मानादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनाद्वो,
चंचत्कल्पाग्नि कोटि ज्वलितमित भवेद्बाह्यमभ्यन्तरं च।
गाढ स्नेहानुबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुत प्रेममूर्त्योः।
श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद् द्वयं धाम जाने॥
—राधासुधानिधि—श्लोक १७१।

२. सुधर्म बोधिनी, (अप्रकाशित) श्री लाड़लीदास कृत, पृष्ठ १०

३. " " " " " पृष्ठ १२

राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी-स्वरूप शक्तियों से परिवेष्टित रहते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं।'[1] दशश्लोकी में श्रीकृष्ण को ही आराध्य कहा गया है और वे ही इस संसार के नियामक हैं। नित्यविहार की स्थिति सम्पादन करने के लिए उन्हीं कृष्ण को राधा के साथ संयुक्त करके जब वर्णित किया जायगा तब 'नान्य गतिः कृष्णपदारविन्दात्' ही मानना समीचीन होगा जो एकान्तविहार-भावना की दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं है। निम्बार्क सम्प्रदाय की ब्रजभाषा की वाणियों में 'नित्यविहार' का वर्णन उसी शैली से हुआ है जैसा श्री हितहरिवंश और स्वामी हरिदास ने किया। किन्तु इस सम्प्रदाय की वाणियाँ अर्वाचीन होने से प्रमाणकोटि में नहीं आती। 'महावाणी' और 'जुगल शतक' में नित्यविहार का विशद वर्णन है और उसकी भावना, शैली, रूप, विधि सब कुछ सम्पूर्ण है। जब तक इन दोनों वाणियों को श्री हरिवंश से पहले का प्रमाणित न कर दिया जाय तब तक इन्हें हम पुरातन मान्यता की कोटि में नहीं रख सकते। शोधात्मक अनुशीलन से 'महावाणी' ग्रंथ तो पुराना प्रतीत नहीं होता जबकि इसे ब्रजभाषा का आदि ग्रंथ अर्थात् तेरहवीं शताब्दी का बताया जाता है। 'युगल शतक' का समय भी सम्वत् १६५२ है। भाषा, शैली, विषय-वस्तु के आधार पर इसे सत्रहवीं शती से पूर्व का नहीं माना जा सकता।

स्वामी हरिदास को निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार करने वाले निम्बार्की सज्जन 'नित्यविहार' को अपने यहाँ प्रचलित सिद्ध करते हैं। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि स्वामी हरिदासजी ने विशुद्ध कोटि का नित्यविहार गाया है। हाँ, स्वकीया की भावना उसमें अवश्य है जिसे स्वामीजी भी छोड़ नहीं सके। नित्यविहार के चारों अंगों में सखी या सहचरी का रूप-विधान स्वामीजी ने जिस शैली से किया वह बहुत सुन्दर है। इसी कारण उनके अनुयायियों ने सखी—सम्प्रदाय नाम से स्वामीजी का सम्प्रदाय स्थिर किया है।

जिस तात्त्विक अर्थ में आज नित्यविहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि में, उसका मूलाधार श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी के 'हित चौरासी' और 'राधासुधानिधि' नामक दो ग्रंथ ही हैं। इन्होंने नित्यविहार को सबसे पहले सूक्ष्म भावनापरक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया। 'राधासुधानिधि' में तो नित्यविहार में लीन राधा-माधव (प्रियाप्रियतम) की केलि-क्रीड़ाओं को देखने की उत्कट आकांक्षा वाली सखियों की मोहक अभिव्यक्तियों का ताँता बंधा हुआ है। 'हित चौरासी' में विहारदशा के सांगोपांग चित्र अंकित किये गये हैं। हितहरिवंशजी की पद्धति का अनुसरण करके उनकी शिष्य-परम्परा

---

1. 'उपास्यस्य कृष्ण स्वामिनो रूपं सच्चिदानन्द विग्रहं स्वमहिमसंव्योमपुर शब्दित ब्रजादि नित्यपदस्थितं ब्रजे द्विभुजं गोपवेषं द्वार्वत्यां चतुर्भुजं च।'

—दशश्लोकी निम्बादित्य, टीका—हरिव्यासदेव, पृष्ठ ३८।

'वृषभानुजा विशिष्टं कृष्णस्यस्वरूपे सदोपासनीयं नितरामेकान्तभावेन श्रवणादिभिर-नुकलनीयमित्यर्थः।'

—दशश्लोकी निम्बादित्य, टीका—हरिव्यासदेव, पृष्ठ ३२।

वृन्दावन राधा-रूप होकर भी लीला के लिए केवल प्रेमधाम है। इसके निभृत निकुंज में प्रेमरस-निमग्न एवं परस्पर का सम्मोहन करने वाले, अलौकिक छवि वाले युगल विहार करते हैं। इस रस की अधिष्ठात्री देवी हैं श्री राधा जो साक्षात् प्रेमरूपा एवं रससिन्धु विमल सार सम्भारित हैं। इस वृन्दावन के वेतस कुंजों में वह सारतर रहस्यपूर्ण धन छिपा हुआ है जो स्वयं श्रीकृष्ण के लिए भी अगम्य और दुरूह है। वास्तव में श्री राधा की कृपा के बिना वृन्दावन सबके लिए अगम्य है। राधा के चरणारविन्द में किंकरी रूप से रहने वाले ही इस धाम का यथार्थ रहस्य समझ सकते हैं।

वृन्दावन क्रीडास्फुरण प्रदान करने वाला है अतः राधा-माधव वृन्दावन के अधीन हैं—वृन्दावन सर्वथा सर्वतंत्र स्वतंत्र है।

इस प्रकार चतुर्व्यूहात्मक नित्यविहार के चारों अंगों का परिचय पा लेने के बाद विहार-स्थिति में रतिकेलि-क्रीड़ा से जिस आनन्द की अनुभूति होती है तथा सहचरी रूप जीवात्मा उस विहार का दर्शन-चिंतन करके जिस रूप में प्रमुदित होती है उसका भी संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले संकेत कर चुके हैं कि निकुंज लीला को रस के नाम से व्यवहृत किया जाता है और वह निकुंज रस ही इस सम्प्रदाय का अंतिम प्रतिपाद्य है। वही ध्याता, ध्येय और ध्यान सबका अंतिम फल है। श्री राधावल्लभलाल की स्थिति तभी सम्भव होती है जब राधा और माधव अपने स्वरूप को विभोर दशा में एकदम विस्मृत करके एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं—स्थूल उदाहरण में जिस प्रकार लता और तरु आपस में इतने हिलमिल जायें कि उनका पृथकत्व सम्भव न रहे वैसे ही राधा और माधव मिलकर तादात्म्य भाव से एक हो जायें तभी विहार की चरम परिणति समझनी चाहिए। प्रेमावली लीला में ध्रुवदास जी ने इसी भाव को कहा है—

> रूप बेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम तमाल।
> द्वै मन मिलि एकै भये, श्री राधावल्लभ लाल॥

प्रेमावली लीला (ब्यालीसलीला)—पृष्ठ १७३।

श्रीहितहरिवंशजी ने पंद्रह-बीस पदों में नित्यविहार का बड़ी व्यापक शैली से वर्णन किया है। विहार के लिए निभृत निकुंज स्थल को स्वीकार कर उसकी शीतल छाया का भी वर्णन है और रासलीला के माध्यम से भी विहार वर्णित हुआ है। इन वर्णनों में काव्य का चरम उत्कर्ष होने के साथ साम्प्रदायिक दृष्टि से विहार-भावना का भी सांगोपांग निरूपण दृष्टिगत होता है। हम यहाँ विहार-सम्बंधी समस्त पदों का उल्लेख न करके उदाहरणार्थ केवल दो-तीन पदों का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। नित्यविहार में लीन राधा-कृष्ण के प्रणय का सुन्दर वर्णन देखिए—

> आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
> अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥
> विद्रुम फटिक विविध निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।
> कोमल किसलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी।

आदि के लिए भी अवकाश रहता है। जो भाव नित्य नहीं है उसमें इस प्रकार के क्षणिक परिवर्तन सम्भव होगे ही। किन्तु नित्यविहार स्व और पर भेद-विवर्जित आत्मरति है।

गौर श्याम सहचरि विपिन सम्पत्ति नित्य विहार।
चारनि के उर में लसत हित गुरु परम उदार॥
उघर लड़ावत तासु को बूड़ि जाति तिहि माहि।
विगलित वेद्यान्तर जु रस सो अखंड विलसाहि॥
उर्द्धगति है, आत्म क्रीड़ है, आत्म रति है॥[1]

श्रीकृष्ण की आत्मा राधा और उनकी अंशभूता सखियों के साथ यह विहार नित्य वृन्दावन धाम में 'नित्य मिलन दशा में पूर्ण विरह के साथ' सम्पन्न होता है। इस विरोधाभास को हम 'मिलन विरह' के वर्णन में स्पष्ट कर चुके हैं।

श्री हितहरिवंशजी के मत से स्वकीया और परकीया तथा मिलन-विरह आदि भाव 'नित्यविहार' की सृष्टि के लिए अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन तो है किन्तु विरह का उद्वेलन और नित्य स्मरण नहीं। परकीया में विरह तो है किन्तु मिलन-सुख की चिर-आनन्दानुभूति नहीं। अतः नित्यविहार को इन उपाधियों से रहित और स्वत.पूर्ण कहा गया है।

जैसा हमने पहले लिखा है कि नित्यविहार के विधायक चार अंग हैं—श्री राधा (प्रिया), श्रीकृष्ण (प्रियतम), सहचरी (समाज) और धाम (वृन्दावन)। वृन्दावन जो भूतल पर स्थित होकर भी सर्वोपरि है, नित्य एकरस आनन्दमय और प्रेम से ओतप्रोत है। यहाँ शुद्ध माधुर्य रस की कैशोर लीला नित्य होती रहती है। वृन्दावन को धाम के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसका स्वरूप इसी लोक में मानना हरिवंशजी को अभीष्ट है। राधासुधानिधि में भूतल-स्थित वृन्दावन को दिव्य और सर्ववैभव-सम्पन्न वर्णन करते हुए इसे सर्वत्यागपूर्वक ग्रहण करने का आदेश है। यह वृन्दावन श्रीराधा के करों से स्पर्श की गई पल्लव-वल्लरी से मंडित और राधापदचिह्नों से विभूषित है। यह राधा कुंजकेलि का नित्यकानन है। वृन्दावन के नवल मंदिर में तीव्र प्रेम के उन्माद से उन्मादित, रतिकेलि-कलाओं के कौतुकपूर्ण रस-स्वरूप एवं आनदमय किशोराकृति युगल (प्रिया-प्रियतम) विराजमान रहकर अपनी रसक्रीड़ा सम्पन्न करते हैं।

यह वृन्दावन मधुर एवं रसकेलि का धाम क्यो है? इसलिए कि इसमें विदग्धनागरी-मणि श्रीराधा एवं *रसिक-शेखर श्रीकृष्ण कभी मान से, कभी पुलकायमान शरीर द्वारा* नृत्य से, कभी सुरत केलि चातुरी के प्रकाश से नाना प्रकार की आनंददायिनी क्रीड़ाएँ किया करते हैं। यह वृन्दावन साक्षात् राधा रूप है। राधा और वृन्दावन का साम्य स्थापित करते हुए राधासुधानिधि में कई श्लोकों में श्रीहितहरिवंश जी ने यह भाव व्यक्त किया है कि श्री राधा की रोमराजि वृन्दावन की यमुना है, अगो की दीप्ति-प्रभा वृन्दावन का बंधूक पुष्प है। नाभिविवर्त ही वृन्दावन के सरोवर हैं, वक्षोज ही वृन्दावन के पुष्प-गुच्छ हं; भुजाएँ वृन्दाविपिन की लताएँ हे, नूपुरों की गुंजार मधुप का गुंजन है; आदि।

---

१. सुधर्म बोधिनी—श्री लाड़िलीदास—पृष्ठ २१

१. प्रेमानन्द रसैकवारिधि महा कल्लोलमालाकुला,
व्यालोलारुण लोचनाञ्चल चमत्कारेण सञ्चिन्वती ।
किंचिन् केलिकला महोत्सवमहो वृन्दाटवीमन्दिरे,
नन्दत्यद्भुत काम वैभवमयी राधा जगन्मोहिनी ॥

—राधासुधानिधि, श्लोक ६९ ।

२. वृन्दारण्य निकुंज सीमनि नव प्रेमानुभाव भ्रम—
भ्रूभंगी लव मोहित व्रज मणिर्भक्तैक चिन्तामणिः ।
रसामृतस्रवमणिः प्रोद्दाम विद्युल्लता,
ज्योतिश्चवेति कापि रमणी चूडामणिर्मोहिनी ॥

—राधासुधानिधि, श्लोक ७० ।

मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर झोरी ॥
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीबो बंधन मोचत डोरी ॥

\+ \+ \+

हित चौरासी—पद सं० ७

विपिन घन कुंज रतिकेलि भुज मेलि,
रुचि श्याम श्यामा मिले शरद की जामिनी ।
हृदै अति फूल सम तूल पिय नागरी,
करनि कर मत्त मनों विविध गुन रामिनी ॥
सरस गति हास परिहास आवेश बस,
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी ॥
(जैश्री) हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे,
प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी ॥

हित चौरासी—पद सं० ४६

'हित चौरासी' के पद संख्या तीस में नित्यविहार की वह स्थिति चित्रित की गई है जिसमें सुरत आदि के क्षणों में प्रिया-प्रियतम, रति-केलि-क्रीड़ाओं के द्वारा पारस्परिक प्रणय-शृंगार को व्यक्त करने में लीन हैं। इस पद को लौकिक दृष्टि से शुद्ध शृंगार का पद कहा जायेगा और उन्हीं काम-कलाओं पर यह विकसित भी हुआ है किन्तु नित्यविहार की अलौकिक कल्पना करने पर इस पद का उत्कर्ष कई गुना बढ जाता है।

देखत नवनिकुंज सुनि सजनी लागत है अति चारु।

\+ \+ \+

श्रवन सुनत प्रापक रति राधा पद अम्बुज सुकुमार ॥

हित चौरासी—पद सं० ३०

स्फुट वाणी में निकुंज के द्वार पर खड़े हुए प्रिया-प्रियतम की उस रूप-छवि को अंकित किया गया है जो प्रणयालाप के क्षणों में सब कुछ विस्मृत करके आनन्द-विभोर बना देने वाली है।

दोउ जन भीजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारें ठाढ़े अम्बर लपटे गातन,
ललिता ललित रूप रस भीजी बूंद बचावत पातन,
(जैश्री) हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवति रतिरस घातनु।

रिमझिम वर्षा होने पर भी कुंज के द्वार पर खड़े जुगल को विहार की रसमयी स्थिति का ज्ञान है और वे रति-रस की घात लगाने में मस्त हैं।

रास भी नित्यविहार की एक स्थिति है। रासलीला का आध्यात्मिक रूप बहुत प्राचीन माना जाता है। लीला के विविध रूपों में रास का विशेष महत्व इसीलिये है कि उस में विहार के उपयुक्त आनन्द की उत्पत्ति सम्भव है। हितचौरासी में रासलीला-सम्बन्धी सात-आठ पद हैं जिनमें विभिन्न प्रकार से विहार वर्णित हुआ है—इस संबंध में निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

इसके अतिरिक्त दसवें प्रकरण के चौदहवें पद में तथा ग्यारहवें प्रकरण के दूसरे पद में रास रूप में नित्यविहार गोया गया है। सेवकजी की नित्यविहार-सम्बन्धी आस्था इसी से प्रकट है कि वे इस रस को ही सब कुछ मानकर अपनी बात कहते हैं। जहाँ यह निकुंज रस नहीं वहाँ प्रीति भाव का लेश भी नहीं।

ब्यालीसलीलाकार श्री ध्रुवदासजी ने तो अपने विशाल ग्रंथ में विविध शैलियों से नित्यविहार का वर्णन किया है। उनकी कई लीलाओं का आधार और उद्देश्य ही नित्य-विहार-वर्णन है। ध्रुवदासजी की विशेषता यह है कि वे विस्तार करते हुए वस्तु को इतना स्पष्ट करते जाते हैं कि भ्रम और सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। यदि प्रारम्भ से अंत तक ब्यालीसलीला के उद्धरण नित्यविहार की सिद्धि में प्रस्तुत किये जायें तो निश्चय ही एक स्वतंत्र विशाल ग्रंथ तैयार हो जायगा। किंतु हम यहाँ कतिपय विशिष्ट स्थलों से चुने हुए उदाहरण ही प्रस्तुत करेंगे। वृहद् बावनपुरान की भाषालीला में ध्रुवदास जी कहते हैं—

एक रंग रुचि एक रस, अद्भुत नित्य विहार।
जहाँ किशोरी लाड़िली, करी लाल उरहार॥
नित्य लाड़िली लाल दोउ, नित वृन्दावन धाम।
नित्य सखी ललितादि निज, सेवत श्यामा, श्याम॥
नित्य सहज वृन्दाविपिन, नित्य सखी ललितादि।
नित ही विलसत एक रस, जुगल किशोर अनादि॥ पृष्ठ ४०

नित्यविहार की तुलना में उन्होंने अन्य समस्त रसों को हेय ठहराया और किशोर रस को ब्रज-वनिताओं के लिए साध्य कहा है और इससे आगे बढ़कर जुगलकिशोर विलास (नित्यविहार) को ललितादिक नित्य सहचरियों के लिए बताया है।

अद्भुत बाल चरित्र को, जो यशुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस ब्रज जुवतिन के हेत॥
—भजनाष्टक लीला, पृष्ठ ६१

सर्वोपर है मधुर रस युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास॥
यापर नाहिंन भजन कछु नाहिंन है सुख और।
प्रेम मगन विलसत दोऊ परम रसिक सिरमौर॥
नौतन बंस किशोर छबि बरसत जिहि उर नित्त।
पौगंड बाल लीलाहिंहूँ भावत नहि तेहि चित्त॥
—भजनसतलीला, पृष्ठ ७१-७४

इस रस को ध्रुवदासजी सर्वसाधारण के लिए विहित नहीं मानते। उनकी धारणा है कि यह इतना जटिल और दुर्बोध है कि जो रसमार्गी नहीं है वह इसका आनन्द लेना दूर इसे समझ ही नहीं सकेगा। अतः इसे अनधिकारी व्यक्ति से गोप्य ही रखना ठीक है।

है। यथार्थ में सम्पूर्ण ग्रन्थ ही राधा के महत्त्व-प्रदर्शन और नित्यविहार-वर्णन के उद्देश्य से लिखा गया है। 'राधासुधानिधि' पर हमने स्वतन्त्र रूप से अष्टम अध्याय में विचार किया है—वहाँ विस्तार से इस विषय को लिखा है।

श्रीहितहरिवंश जी के प्रथम व्याख्याता भाष्यकार शिष्य श्री सेवकजी ने भी नित्यविहार का बहुत विस्तार से अपनी वाणी में वर्णन किया है। प्रथम प्रकरण में विविध प्रकार की भक्ति-पद्धतियों का संकेत देकर अंत में अपनी नित्यविहार-पद्धति के विषय में सेवक जी लिखते हैं—

अब निज धर्म आपुनौ कहत। तहाँ नित्य वृन्दावन रहत।
बहुत प्रेमसागर जहाँ—साधन सकल भक्ति जातनौ॥
निज वैभव प्रकटत आपनौ—मनौ एक रसना कहा।

इसके बाद समस्त द्वितीय प्रकरण 'हित विलास' में नित्यविहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

श्री हरिवंश नित्य वर केलि
जूथ-जूथ जुवतिनु के घने। मध्यकिशोर किशोरी बने।
गर्न कवन रति प्रति बढ़ी।
नित-नित लीला नितनित बास, मुनुहु रसिक हरिवंश विलास
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥
+ + +
जो रस रीति सबनते दूरि, सो सब विश्व रही भरि पूरि।
मूर सजीवन कहि दई॥

सेवक वाणी के सातवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक नित्यविहार का वर्णन हुआ है। सेवकजी ने हित चौरासी को अपना उपजीव्य बनाकर उन्हीं पदों के भावों को अपनी भाष्य-शैली से पल्लवित किया है। इस प्रकरण के पद संख्या ७ और ६ बहुत स्पष्ट और विशद हैं।[1]

सेवकवाणी-सप्तम प्रकरण—

[1] विपिन नितंत रसिक रसरासि दंपति
अति आनन्द बस, प्रेममत्त निश्शंक क्रीड़त।
चंचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरंग व्रीड़त॥
भटकत पट चूड़ाकिनि चटक लटकत लट मृदु हास
चटकत पद उघटत शब्द मटकत भृकुटि विलास॥ ७॥
नवल-नवल सुख चैन ऐन आपने आपु बस।
नियम लोक मर्याद भंजि क्रीड़त रंग रस॥
सुरत प्रसङ्ग निशंक करत जोइ जोइ भावत मन।
ललित अंग अति भंग भाइ लज्जित सु कोकगन॥
अद्भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दास सेवक जियत।
विस्तरित सुरत भावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत॥ ६॥

कर तल्लीनता की परम सीमा पर प्रेम-निमग्नित बने रहें :—

मेह मोर नैननि की सैननि में रहे भीजि,
कौन रंग बाढ़्यो जहाँ बोलिबोऊ भार री।
प्रति ही प्रासक्त सखी रही मोहि जोहि ताहि,
हितध्रुव प्रानिन को यहै है अहार री॥

—आनन्द दशा विनोद लीला, पृ० २२१।

ध्रुवदासजी ने लीलाओं के अतिरिक्त पदावली नाम से फुटकर पद भी लिखे हैं जिन में 'वन विहार समय' शीर्षक से नित्यविहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पद-संख्या ६६ में ध्रुवदासजी ने नित्यविहार के चारों अंगों का निर्देश करते हुये इसकी स्थापना करके ग्रन्थ समाप्त किया है—

नित्य किशोरी नित्य किशोर, नित वृन्दावन नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद, नित आनन्द बरषत चहुँ ओर॥
नित्य विहार नितहि शृंगार, पल पल पावत सुखको सार।
नित्य सखिनुकें यहो अहार, नित्य सुरत रत करत विहार॥

—ध्रुवदास कृत—पदावली—६६ (ब्यालीसलीला, पृ० ३५)

श्री हरिराम व्यास की रचना में भी नित्यविहार को प्रमुख स्थान मिला है। व्यास-वाणी के पूर्वार्द्ध भाग में सिद्धांतों की स्थापना की गई है और उत्तरार्द्ध में शृंगार-रसविहार का वर्णन। व्यासजी के नित्यविहार-वर्णन में सैद्धान्तिक सूक्ष्म भेद का अभाव है। कई स्थलों पर आपने ब्रजरस और निकुंजरस को समान रूप से लिखा है। रूप-छवि वर्णन करने में भी व्यासजी ने काव्य-शैली को अधिक महत्व दिया है। निकुंज की केलि-क्रीड़ाओं में जो विभोर दशा और तल्लीनता होनी चाहिए उसे व्यास जी ने उतनी पराकाष्ठा तक नहीं लिखा, फुटकर ब्रजलीला रस के पदों में नित्यविहार की वह स्थिति दृष्टिगत नहीं होती जो उनके 'शैया विहार रस' तथा 'सुरतान्त रस' में विद्यमान है। रसोद्गार रस का वर्णन करते हुये व्यास जी कहते हैं—

वन की कुंजनि कुंजनि केलि,
विविध वरन वीथिन महँ वीथी, विगसति नव द्रुमवेलि।
तिनि पर सहज सेज पर श्यामा श्याम विराजति खेल।
अंगन कोटि अनंग रंग छवि सुरत सिन्धु महँ भेल,
मुख विधु वारिज पर लट लटकति अंसनि पर भुज मेल।
मादक अधर सुधा मधु पीवति जीवति नवल नवेलि।
जोवन जोर किशोर जगे रस निशि भोरहि अवहेलि।
व्यास स्वामिनिहि सेवत मोहन, निज वैभव पग पेलि।

—व्यासवाणी उत्तरार्द्ध—पृष्ठ २२२।

व्यासजी ने नित्यविहार के अन्तर्गत उन अनेक दशाओं को समेट लिया है जो लौकिक जगत् में शृंगार रस के द्वारा व्यक्त की जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री व्यास

यह रस परस्यो नाहिं जिन तिनहिं न नेक जताइ ।
जैसे धन को धनी ध्रुव, राखत दूरि दुराइ ।
—आनन्दलता लीला, पृष्ठ २३५ ।

महा गोप्य अद्भुत सरस, चिंतत रहौ मन मांहि।
या रस के रसिकन बिना, सुन ध्रुव कहिवो नाहि ।।
—रस रत्नावली लीला, पृष्ठ १६७ ।

रति-प्रसंग में विहार की दशा का वर्णन श्री ध्रुवदासजी ने अनेक लीलाओं में विस्तारपूर्वक किया है। लौकिक दृष्टि से विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सुन्दर योजना देखकर आपके कवित्व की भूरि-भूरि सराहना करनी पड़ती है। एक कवित्त में विहार-वर्णन इस प्रकार हुआ है—

नवल रंगीले लाल रस में रसीले अति
छवि सों छबीले दोऊ उर धुरि लागे हैं ।
नैननि सों नैन कोर, मुख-मुख रहे जोर,
रुचि कौन ओर छोर ऐसे अनुरागे हैं ।
परे रूप सिंधु मांझ जानत न भोर सांझ,
अंग-अंग मैन रंग मोद मद पागे हैं ।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कँहूं,
जद्दपि लड़ैती लाल सब निसि जागे हैं ।।
—रस मुक्तावली लीला, पृष्ठ १४६ ।

अलबेली सुकुवांरी नैननि के आगे रहे,
जब लगि प्रीतम के प्रान रहैं तन में ।
यह जिय जानि प्यारी रंच कौन होत न्यारी,
तिनही के प्रेम रंग रंग रह्यो मन में ।
परम प्रवीन गोरी हाव-भाव में किशोरी,
नये-नये छवि के तरंग उठें छिन में ।
हित ध्रुव प्रीतम के नैन मीन रस लीन,
खेलिवो करत दिन प्रति रूप बन में ।।
—आनन्द दसा विनोद लीला, पृष्ठ २२६ ।

ध्रुवदासजी ने नित्यविहार की सभी स्थितियों का सांगोपांग चित्रण करने का प्रयत्न किया है। उनका-सा व्यापक विशद वर्णन किसी और ने नहीं किया। आपकी सबसे बड़ी सावधानी यह है कि आपने ब्रजरस और निकुंजरस को मिलाकर नहीं लिखा अपितु दोनों का पार्थक्य हृदयंगम करके निकुंज रस द्वारा नित्यविहार ही कहा है। नित्यविहार की सबसे अधिक विभोर दशा को समझने के लिये ध्रुवदासजी की नेहमंजरी लीला, आनन्द दसा विनोद लीला, रहस्य लता लीला, प्रेमलता लीला, रसानन्द लीला और प्रेमावली लीला पठनीय है। नित्यविहार दशा के वर्णन में यही सर्वश्रेष्ठ स्थिति है कि नित्यकिशोर राधामाधव सब सुध-भूल

होने पर भी अवश्य किसी गूढ़ आशय के आधार पर सम्प्रदाय में गृहीत हुआ है। यह केवल कामकेलि-वर्णन न होकर उस दिव्य उपासना तत्व का ही रूप है जो भक्ति-सम्प्रदायों में अपनी-अपनी मान्यता के आधार पर सृष्टि का आदि तत्व कहा गया है। दूसरा विचार यह भी मन में आता है कि लौकिक-शृंगार भावनाओं को सब कुछ मानकर उन्हें ही जीवन का आराध्यभाव मान लिया गया। निश्चय ही कोई विचारक इस दूसरे मत के साथ नहीं होगा। जिन महानुभावों ने नित्यविहार को लौकिक रति भाव के द्वारा गाया वे न तो कामुक विलासी व्यक्ति थे और न भोगेच्छा की तृप्ति के लिये इसे साधन मानने की भूल कर सकते थे। एक ओर श्री हितहरिवंशजी जैसे गृहस्थ इस रस-पद्धति की आराधना करने में लीन थे तो दूसरी ओर उसी काल में विरक्त स्वामी हरिदासजी का भी नित्यविहार मान्य सिद्धांत था। विरक्त और गृहस्थ दोनों समानभाव से इसमें अपनी साधना की चरम परिणति देखते रहे। और उनके बाद भी अनेक महात्माओं ने इस नित्यविहार को स्वीकार किया। अतः इस वर्णन को लौकिक काम-शृंगार वर्णन तो कहा ही नहीं जा सकता।

परम तत्त्व ब्रह्म, जीव और जड़ प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए इस नित्यविहार-वर्णन को सम्प्रदाय में कोई स्थान प्राप्त नहीं। कहीं इसके आध्यात्मिक आरोप या रूपक का संकेत भी देखने में नही आया। किंतु इस क्रीड़ा का रहस्य अवश्य प्रतीक शैली से आध्यात्मिक होना चाहिए अन्यथा इसकी व्यापकता सिद्ध नही हो सकेगी। खींचतान द्वारा कोई आध्यात्मिक अर्थ निकालने का हमारा आग्रह नही है किन्तु हमारी यह धारणा है कि इसके पीछे परमशक्ति का दिव्य रहस्य छिपा हुआ है। हमारी दृष्टि में, राधा और माधव की नित्य क्रीड़ा या विहार उनके ('परात्पर वस्तु' के) आनन्द-स्वरूप के उदघाटन की क्रिया है। लौकिक जगत् में जैसे अपने आभ्यन्तर आनन्द की प्राप्ति के निमित्त बाह्य शारीरिक चेष्टायें आवश्यक होती हैं वैसे ही उस 'परात्पर शक्ति' को भी राधा और माधव रूप में बाह्य केलि-विनोद द्वारा अपने आनन्द का उद्घाटन करना होता है। सहचरीगण (जो जीव का ही निज रूप है) इस लीला को देखकर आनन्दित होते हैं। वह दिव्य वस्तु विहार के लिए किसी एक विशिष्ट क्षण को नही चुनती अपितु निरन्तर सृष्टि के आदि से अन्त तक उसी में लीन रहती है। सहचरी पर जब इसकी कृपा होती है तब वह भी इस लीला के विहार रूप में लीन होने की अधिकारिणी हो जाती है। राधा और कृष्ण को इसीलिए एक दिव्य वस्तु के दो रूपों में माना गया है। श्री हितहरिवंश जी ने हित चौरासी के प्रथम पद में ही दोनों की एक-रूपता का स्पष्ट संकेत दे दिया है—'जैश्री हित हरिवंश हंस हंसनी, सांवल गौर कहो कौन करें जल तरंगनि न्यारे।' श्री ध्रुवदास जी ने एक ही वस्तु को प्रमुखता देकर उसी की इच्छा का ही यह सब खेल माना है। उपनिषदों के 'एकोऽहं बहुस्याम्' की ध्वनि निम्न दोहों में दृष्टिगत होती है—

एकै पुरुष किशोरहै दूजो नाहिन कोइ।
जाकी इच्छा सहज ही, यह कौतुक सब होइ॥
रूप माधुरी देखि कछु विवस भये मुरझाइ।
ताही रुचि को चाह अति रहे ललचाइ लुभाइ॥

जी ने राधावल्लभीय उपासना-पद्धति को स्वीकार करने से पहले ब्रजरस और ब्रजलीला का गान किया था। ब्रजरस-गान करने का दूसरा कारण यह भी है कि नित्यविहार-वर्णन के लिए जिन क्रमिक स्थितियों से होकर गुजरना होता है उनमें ब्रजरस का स्थान है। एक प्रकार से अवतारलीला, ब्रजलीला आदि को हृदयंगम कर लेने के बाद ही नित्यविहार की उच्चभूमि पर पहुँचने का अधिकार प्राप्त होता है। जो साधक किसी दिव्य कृपा-शक्ति के प्रभाव से सीधे उस भूमि पर पहुँच जाते हैं उनके लिए बीच की स्थितियाँ आवश्यक नहीं समझी जातीं। एक तीसरा कारण और हो सकता है—चाचा वृन्दावनदास ने अपने 'ब्रजप्रेमानन्द सागर' में ब्रज-लीला-वर्णन का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह लीला वर्णन बाह्य होने पर भी 'देहली दीपक-न्याय' से अन्तरंग कोटि के साधक के लिये आभ्यन्तर गूढार्थ की व्यंजना करेगा और बाह्य लीलाओं में अनुरक्त रहने वाले साधक को बहिर्जगत् की वस्तुओं द्वारा आमोद प्रदान करने वाला होगा। इसी कारण रसिक-समाज में इस कोटि के वर्णन भी समादृत होते रहे हैं। कुछ भी हो, हमारी दृष्टि में शुद्ध नित्यविहार के वर्णन जो सैद्धान्तिक मान्यता पर स्थित है, इन वर्णनों से उच्चकोटि के ठहरते हैं।

ब्रजलीला-वर्णन में कृष्ण के जो रूप प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिकांश अवतार धारण करने वाले, ऐश्वर्य-विभूषित हैं। माधुर्य-मंडित चित्रों में भी नित्य-मिलन की भावना पर बल नहीं रहता इसी कारण राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का वह रूप गृहीत नहीं हुआ। श्री लाल स्वामी ने अपने पदों में यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—

नन्दकुमार की लीला अपार औतार अनेक गने नाँहि जाहीं।
नित्य विहार विलास अभंग सुअंग अनंग तृषा न बुझाहीं ॥
लाड़िलीलाल महाप्रभुता विलसै सरसै अति हीं मनमाहीं।
पुंजभरे सुख सेज सरोज निकुंज के आँगन आवत नाहीं ॥
प्रेम परावधि राधिकाजू अभिअन्तर भाव अखंड रहाहीं।
बिखरी मन मोहन लम्पट कौ विथुरी लट संपुट पक कराहीं ॥
दरसैं परसैं रस में बरसैं अतिसैं तरसैं न तृपित्त कराहीं।
पुंज भरे सुख सेज सरोज निकुंज के आँगन आवत नाहीं ॥[1]

+ + +

प्रेमी अनन्य भजन्न न होइ जो अन्तरजामी भजै मन में,
जो भजि देख्यो जसोदा को नन्दन विश्व दिखाई सबै तन में।
श्री हरिवंश सु नाद विमोहीतै शुद्ध समीप मिलो छिन में,
अब यामें मिलौनी मिलै न कछू जब खेलत रास सदावन में ॥

—सेवक वाणी—प्रकरण, ८ छन्द ५।

'नित्यविहार' के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर दो प्रकार के विचार मन में उठना स्वाभाविक है। पहला विचार तो यह है कि यह नित्यविहार शृंगारपरक कामकेलि-वर्णन

१—रास छद्म विनोद (अप्रकाशित ग्रंथ, पृष्ठ १२८ से उद्धृत।)

षष्ठ अध्याय

भक्ति के वाह्य विधान

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति के बाह्य विधान अर्थात् कर्मकांड की वैसी कठोरता नहीं है जैसी अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में पाई जाती है फिर भी सेवा-पूजा सम्बन्धी विधि-विधान के कुछ निश्चित नियम हैं। उन्हीं का इस अध्याय में विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

नवधा भक्ति का विधान सभी वैष्णव सम्प्रदायों में है। अपनी-अपनी धार्मिक भावना के अनुकूल नवधाभक्ति के परिपालन में यत्किंचित् परिवर्तन हुआ है, किन्तु भक्ति की प्रारम्भिक स्थिति में सभी सम्प्रदायों में भक्त के लिए यह पद्धति अनिवार्य रही है। रसमार्गीय भक्ति में नवधा भक्ति की वैसी कट्टरता और अनिवार्यता आगे चलकर अपेक्षाकृत कम हो जाती है। नवधा भक्ति के क्रमिक रूपों का भी इतना आग्रह नहीं रहता, साधक अपने अभ्यास के लिए यथोचित मार्ग स्वीकार करके नवधा का पालन करने में स्वतन्त्र हो जाता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय शुद्ध रसमार्गीय भक्ति-सम्प्रदाय है अतः यहाँ नवधा की कठोरता का कहीं वर्णन नहीं मिलता; भक्ति-पथ का अभ्यास करने के लिए इसे प्रारम्भिक सरणिमात्र मानकर ग्राह्य बताया गया है; यह भक्ति का साध्य या ध्येय न होकर साधन मात्र है।

भक्ति के बाह्य विधानों में सेवा-परिचर्या का विधान भी परवर्ती ग्रंथों में हुआ है। हितहरिवंशजी के ग्रंथों में बाह्य विधान का कोई उल्लेख नहीं है। इसीलिए नवधा के लिए भी आग्रह का अभाव है। हितजी के जीवन-काल में प्रथम पाटोत्सव सम्वत् १५६१ में हुआ। उस समय श्री राधावल्लभजी का विग्रह विधिपूर्वक स्थापित किया गया। फलतः उसी समय यह आवश्यकता भी अनुभव की गई होगी कि मन्दिर में अर्चा-पूजा, आरती, अष्टयाम सेवा आदि का विधान भी किन्हीं निश्चित नियमों के आधार पर स्थिर किया जाय। मन्दिर में विग्रह स्थापित करते समय पाटोत्सव सम्पन्न करने का विधान भी स्थिर किया गया होगा। उस समय श्री राधावल्लभजी का जो विग्रह स्थापित किया गया वह अन्य मन्दिरों से सर्वथा नूतन था। मन्दिर में श्री राधाजी की कोई मूर्त्ति स्थापित नहीं की गई, केवल श्रीलालजी का विग्रह

काम वासना बढ़ी उर यह उपजी अति आइ।
खेले ऐसे रूप संग, वनिता को तन पाइ॥
तिन प्रति तब बानी भई यह प्रभु लीन्ही मानि।
प्रकट होहु ब्रज जाय तुम, हमहूँ प्रकटे आनि॥[1]

'वृहद बावन' पुरान की भाषा लीला में उपयुक्त प्रकरण जिस अर्थ का
है वह परात्पर तत्त्व का रहस्य बताने के लिए पर्याप्त है। कहा जाता है कि
ध्रुवदासजी ने 'वृहद बावन पुराण' से ग्रहण किया था, साम्प्रदायिक भाव यह
उसे अपनी लीलाओं में स्थान देने से यह मानना होगा कि उन्हें भी यह अभिप्रे

'नित्यविहार' को साधक के लिए जिस उच्च मनोभूमि पर अवस्थित
कहा गया है वह निश्चय ही रति-क्रीड़ा मात्र न होकर किसी दिव्य आनन्द के
रूपक है। उसे हृदयंगम करके उदात्त भावना का विषय बनाया जा सकता है।
रस का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए ध्रुवदासजी कहते हैं :—

मधुर ते मधुर अनूप ते अनूप अति,
रसनि को सार सब सुखनि को सार री।
विलास को विलास निज प्रेम की है राजै दसा,
राजै एक छत दिन विमल बिहार री।
छिन छिन तृषित चकित रूप माधुरी में,
भूलें सेई रहैं कछु आवै न विचार री।
अमहूं को विरह कहत जहाँ डर आवै,
ऐसे हैं रंगीले ध्रुव तन सुकुमार री॥[2]

---

1. वृहद बावनपुरान की भाषालीला; ब्यालीसलीला; श्री ध्रुवदास पृष्ठ ४१
2. हित शृंगारलीला—ब्यालीस लीला—ध्रुवदास कृत पृष्ठ १२६।

४—राधा-कृष्ण अहर्निश निकुंजलीला-परायण नित्यविहार रत रहते हैं अतः राधा को मूर्त रूप में विहार-दशा में प्रकट करना समीचीन प्रतीत नहीं होता; अतः गद्दी-सेवा द्वारा भक्त के समक्ष नित्यविहार-रत राधा की मानस-भावना प्रस्तुत की जाती है, प्रत्यक्ष विग्रह उपस्थित नहीं किया जाता।

उपर्युक्त चारों कारणों को हम अन्तिम सत्य मानकर नहीं लिख रहे हैं। सम्भव है इनके अतिरिक्त भी कोई और विशेष सांकेतिक कारण गद्दी-सेवा-स्थापना में रहा हो। किन्तु साम्प्रदायिक ग्रंथों में कोई कारण स्पष्ट रूप से लिखा नहीं है।

नाम-सेवा

नाम-सेवा भी राधा के अमूर्त रूप की सेवा का ही दूसरा प्रकार है। इस सेवा से तात्पर्य यह है कि लताकाष्ठ किंवा पाषाण पर 'श्रीराधा' नाम लिखकर उसे रासमंडल आदि पवित्र स्थलों पर स्थापित कर दिया जाता है और उसकी सेवा-परिचर्या उसी श्रद्धाभक्ति के साथ होती है जैसे मन्दिर में स्थित श्री राधावल्लभ जी के विग्रह की। श्री हितहरिवंश जी ने जो रासमंडल बनवाया था उसी पर सबसे पहले नाम-सेवा स्थापित की थी। यह रासमंडल आज भी गोविन्दघाट के पास विद्यमान है। श्री हितहरिवंशजी की भजन-स्थली मानसरोवर में भी नामसेवा ही स्थापित है। श्री हरिवंशजी के सुपुत्र गोस्वामी वनचन्द्रजी ने बाद ग्राम में रासमंडल बनवा कर वहां भी नाम सेवा स्थापित की। राधावल्लभ सम्प्रदाय में नाम-सेवा का प्रचार श्री हितहरिवंशजी के समय से चला आ रहा है। मन्दिर या विशाल भवन के अभाव में (अनाच्छादित) खुले हुए रासमंडलादि स्थलों में नाम-सेवा का प्रचार कई सुविधाओं को ध्यान में रखकर किया गया था। राधावल्लभजी का कोई चित्रपट उस काल में उपलब्ध न था अतः नामसेवा द्वारा पवित्रतापूर्वक उन्हें अपने पास रखा जा सकता था। भावुक भक्त को यात्रा आदि के समय नाम-सेवा का ही आश्रय लेना पड़ता था। अतः लता-काष्ठ आदि पर अंकित 'नाम-सेवा' की परिपाटी का पर्याप्त प्रचार हुआ। रासमंडलों पर जहाँ नाम-सेवा होती है वहाँ उसके ठीक सामने एक सिंहासन भी होता है जिस पर रासलीला के समय जुगल सरकार विराजते हैं।

समाज

जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के गुणानुवाद के लिए कीर्तन की प्रणाली है उसी प्रकार यहाँ समाज की व्यवस्था है। वल्लभ सम्प्रदाय में पुजारी ही मुखिया कहाता है जो कीर्तन करता है वह कीर्तनिया कहाता है। किन्तु यहाँ समाज का प्रधान गायक मुखिया कहाता है। प्रधान गायक का शेष समाजी अनुगमन करते हैं। अन्तरंग में प्रिया-प्रियतम जो लीला करते हैं और सखियाँ उस समय जिस भाव का वर्णन करती हैं, बहिरंग समाज में उसी भाव का पद समाजी गाते हैं।

सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सवों के अवसर पर नाना प्रकार की राग-रागिनियों का विधान है। नित्यविहार की जिस लीला में सम्बद्ध पदों का गान होता है और उसमें जिस वेश-विन्यास का वर्णन होता है उसी के अनुकूल श्रीजी का शृंगार किया जाता है। समाज में गान करने के लिए समस्त उत्सवों के अनुसार पदों का चयन किया हुआ है। वे ही पद

स्थापित किया गया। इसका कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह नवीनता इस स
अपनी विशेष पद्धति समझी जानी चाहिए।

गद्दी-सेवा

श्री राधावल्लभजी का वर्तमान युग में एक ही प्रधान मन्दिर है जिसका उ
विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। लाल पत्थर का प्राचीन मन्दिर पुरातन विग्रह के अ
उतना मान्य नही है। नये मन्दिर का पुरातन विग्रह के कारण महत्व बढ़ना स्वाभ
इस मन्दिर में सम्वत् १५६१ के समय से श्री जी का जो विग्रह चला आ रहा है
है, उसमें केवल वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण का ही विग्रह है। श्री राधा की—जो इस स
इष्टाराध्या हैं—कोई मूर्ति स्थापित नही की गई। श्रीकृष्ण के वाम भाग में वस्त्रनिर्मि
है जिसके ऊपर 'श्रीराधा' नाम स्वर्णपत्र पर अंकित किया हुआ रखा है। इस गद्दी
राधा का पद एवं गौरव प्राप्त है और इसी को गद्दी-सेवा नाम से व्यवहृत किय
इस गद्दी-सेवा का वर्णन श्री हितहरिवंशजी ने स्वयं नही किया किन्तु परवर्ती
अवश्य इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है।[1]

इस गद्दी-सेवा का स्वरूप और अभिप्राय किसी ग्रंथ में स्पष्ट नही वि
साम्प्रदायिक मतवादों के आधार पर जो निष्कर्ष हम निकाल सके हैं वे इस प्रका

१. श्री हरिवंशजी के मतानुसार राधा का स्वरूप 'अनिर्वचनीय जैसा'
निराकार न होते हुए भी उनकी प्रतिमा में उन समस्त गुणों का आधान कदाचित्
हो पाता जो उनके श्रीस्वरूप में स्वीकार किये जाते हैं। अतः राधा के मूर्त्त रूप
करके केवल सांकेतिक शैली से ही उनके ध्यान कराने की यह नूतन प्रक्रिया हो स

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्थान गुरु का भी है, गुरु की भ
के लिए उनकी गद्दी में पूज्य बुद्धि रखना भी एक कारण बताया जाता है। गुरुभ
स्थापना का कारण हो सकता है।

३—राधा स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा आराध्या हैं अतः जागतिक समाज को
समान आराधक बनने के निमित्त प्रेरणा देना भी गद्दी-सेवा का प्रयोजन हो सकत

---

१. प्रभुश्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी।
रीझि लड़ैती कुंवरि आपुनी पद्धति ओपी।
मंत्र राज रस निकर माहिली सम्पति दीनो।
करवर भाल विसाल कृपा अति विनमित कीनो॥

—चाचा वृन्दावनदास कृत 'हरिवंश सहस्रनाम', पृष्ठ ११-१२

'श्री प्रियाजी की सुन्दरवस्त्रादिक ते गादी सेवा रखनी। कंठ में सुवर्ण क
नाम सेवा धरावनी। वाही गादी को सुन्दर वस्त्र, मोती माला इत्यादिकते शृ
सखी भाव को मन में रखनो।'

श्री सेवादर्पण, लेखक प्रियादास पटना वाले,
प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा,

जाती है वह मंगला आरती कहाती है । श्रीजी को जागरण कराने के लिये सुन्दर गावे ।"[1]

मंगला भोग के बाद श्रीजी प्रातःकालीन भ्रमण के लिए जाते हैं । वहां पुष्प-चय शृंगार, कन्दुक-क्रीड़ा आदि करते हैं । मंगला भोग में माखन मिश्री आदि हो चाहिये ।[2]

२—शृंगार—"छः घड़ी दिन चढ़ेते बारह घड़ी पर्यन्त दिन चढ़ें तब लग शृंगा समय है ', दो घड़ी दिन चढ़े पाछें श्री जोरी जू पुष्पवाटिका में बाग की रचना देखि को आवें ।"

१—द्रष्टव्य—'राधावल्लभ जू को अष्टप्रहर सेवा विलास' (हिन्दी)

प्रकाशक—गो० हित रूपलालजी अधिकारी वृन्दावन ।

मंगला के समय जागरण पद—

प्रात समै दोऊ रसलम्पट सुरत जुद्ध जयजुत अति फूल ।
श्रमवारिज घन बिन्दु वदन पर भूषन अंगहि अंग विकूल ॥
कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावलि वदन कमल मानो अलि भूल ।
(जैश्री) हितहरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन बैन कटि, शिथिल दुकूल ॥

—हित चौरासी पद सं० ३

आज अति राजति दम्पति भोर ।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किसोर ॥
अंसनि पर भुज दिये विलोकति इन्दु वदन विधि ओर ।
करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर ।
छुटी लटन लाल मन करष्यो ये याके चित चोर ॥
परिरंभन चुम्बन मिलि गावत सुर मंदर कलघोर ।
पग डगमगत चलित वन विहरत रुचिर कुंज घनखोर ।
हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर ॥

—हित चौरासी पद सं० ३१

२—मंगला आरती के पद—

नन्द के लाल हर्यो मन मोर ।
हौं अपने मोतिन लर पोवति कांकरि डारि गयो सखि भोर ।
बंकबिलोकनि चाल छबीली रसिक सिरोमनि नन्दकिसोर ।
कहु कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर ।
इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भये नैन चकोर ।
(जैश्री) हितहरिवंश रसिक रस जुवती तू लै मिलि सखी प्रान अकोर ।

—हित चौरासी, पद सं० ११

उत्सव के समय गेय समझे जाते हैं जो प्राचीन परम्परा से चले आ रहे हैं। इसमें यथासमय सुन्दर पदों का समावेश होता रहता है। यह पद-संग्रह 'वर्षोत्सव' कहाता है। ऋतुओं के अनुसार छह वर्षोत्सव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। वर्षोत्सवों की अनेक प्रतियां लेखक ने स्वयं भिन्न-भिन्न स्थानों में देखी हैं। वर्षोत्सवों के अनुशीलन से यह विदित होता है कि किन-किन महानुभावों ने किस काल में पद-रचना की और कब उनका समावेश वर्षोत्सवों में हुआ।[1]

अष्टयाम-सेवा

१—मंगला, २—शृङ्गार, ३—राजभोग, ४—उत्थापन, ५—सन्ध्या, ६—शयन ७—शैया समय।

अष्टयाम सेवा के उपर्युक्त समय-विधान में आरती तथा भोग का सविस्तर वर्णन साम्प्रदायिक ग्रंथों में है। अष्टयाम सेवा के समय जो पद गाये जाते हैं उनका चयन भी किया हुआ है। हमने प्रत्येक समय के गेय पदों में से चुनकर एक-दो पद साथ में लिखे हैं।[2]

१—"मंगला—ढ़ै घड़ी रात्रि रहे अरु ढ़ै घड़ी चढ़े तक मंगला समय है।" भक्त स्वयं स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त होकर, मंदिर का परिमार्जन करे। तदनन्तर श्रीजी को शयन से उठावे, उनका मुख प्रक्षालनादि करावे। तदनतर प्रातःकाल का कलेवा (प्रातराश) उनके सामने प्रस्तुत करे। इस भोग को मंगला भोग कहते हैं। इस समय जो आरती की

---

१. वर्षोत्सवों की तालिका—

क— श्री राधावल्लभजी के मन्दिर के समाज में उपयोग में आने वाले कई वर्षोत्सव हैं। गोस्वामी श्री रूपलाल जी, गोस्वामी बाबा वंशीदास जी, बाबा तुलसीदास जी के पास वर्षोत्सवों का अच्छा संग्रह है। इसी वर्ष बाबा तुलसीदास जी ने एक विशाल वर्षोत्सव पद-संग्रह प्रकाशित कराया है।

ख—बरसाना में एक प्राचीन प्रति है जिसमें वर्षोत्सव लिखे हैं, वृषभानु बाबा के मन्दिर में है। बठैनगाँव, कोसी, नन्दगाँव, जाव (ग्राम) आदि में भी प्रतियाँ हैं।

ग—चार ग्राम के मन्दिर में वर्षोत्सवों की प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इन वर्षोत्सवों के अध्ययन से भक्त महानुभावों के रचना-काल का ऐतिहासिक क्रम भी स्थिर करने में सहायता मिलती है। यदि दो-चार प्राचीन वर्षोत्सव प्रकाशित कर दिये जावें तो साम्प्रदायिक उत्सवों के अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

२—द्रष्टव्य—'अष्टयाम सेवाविधि.' राधायामलतंत्र से संकलित (संस्कृत)
प्रकाशक—गो० हित करमालजी अधिकारी वृन्दावन।

चाहिए । भोजन के समय कुछ पद-गायन द्वारा मनोरंजन भी किया जाय ।[1] कम से कम आधा घण्टा तक भोजन का थाल रखकर भावना की जाय, थाल उमार कर ताम्बूल आदि रखा जाय । भोजनोपरांत कुछ देर तक चौपड़ आदि क्रीड़ाएँ भी होनी चाहिए । तदनन्तर विश्राम-शयन की वेला है । विश्राम से पूर्व राजभोग आरती की जाय और पद गाये जावें ।[2]

४. उत्थापन—'छह घड़ी दिन पाछिले सौं लेकर सायंकाल पर्यन्त सौं सन्ध्या समय है ।'

उत्थापन समय में विश्राम-शयन से उठना होता है । उत्थापन के निमित्त वीणा वाद्यादि बजावे और जागने पर मुख-प्रक्षालन कराकर स्वल्प भोजन की सामग्री मेवा फल आदि रखे । इस समय उत्थापन की धूप आरती होती है ।[3] तदनंतर भ्रमण के लिए बन-बिहार को जावें । बन-बिहार के समय उद्यान में पुष्प-चयन, कन्दुक-क्रीड़ा, नौका-बिहार, *नृत्य-गान आदि की भावना की जाती है ।*

धूप आदि तथा आरती का पद गान होने के बाद क्रमानुगत पद गाये जाते हैं उनमें नौ पद प्रसिद्ध हैं ।

५. सन्ध्या-सायंकाल के समय बन-बिहार से लौटने पर सन्ध्या समय का भोग होता है । यह भोग भी स्वल्प भोजन के ही अन्तर्गत है । इसमें नाना प्रकार की मिठाइयाँ आदि

---

१. भोजन कुंज में चलि आये ।
जैसो ऋतु तैसो बैठक में हित सौं ले बैठाये ।
भूषन वसन उतारि उचित पुनि ओलाई पहिराये ।
कुरला करि रूमाल पौंछि तब निज दासी निज नैन सिराये ।

२. राजभोग आरती का पद—
नवल घनश्याम नवल वर राधिका,
नवल नव कुंज नवकेलि ठानी ।
नवल कुसुमावली नवल सिज्या रचित,
नवल कोकिल कीर भृङ्ग गानी ।।
नवल सहचरि वृन्द नवल वीना मृदंग,
नवल सुर ताल नव राग बानी ।
नवल गोपीनाथ हित नवल रस रीति सौं,
नवल हरिवंश अनुराग दानी ।।

३. उत्थापन समय की धूप आरती का पद—
श्री राधा मेरे प्रानन हूँ ते प्यारी,
भूले हूँ मान न कीजै सुन्दरि हौं तो सरन तिहारी ।
नेकु चितै हँसि बोलिये जू खोलिये घूंघट सारी ।
कृष्णदास हित प्रीति रीति बस भरि लई अंकम वारी ।।

श्रीजी को स्नानकुंज में ले जाकर उबटन आदि लगाकर स्नान कराया जाय। सुन्दर वस्त्र-विन्यास, शृंगार तथा तिलक आदि किया जाय। इसके बाद धूप आरती[1] की जाय। धूप आरती के बाद शृंगार भोग के लिये दही-मिष्ठान्न आदि का भोजन कराया जाय; भोग के उपरांत शृंगार आरती करे। इस आरती में विशिष्ट पदों का गान होना चाहिये।[2] भोग के बाद नाना प्रकार के कौतुक होते हैं। कभी सखियाँ नृत्य दिखाती हैं, कभी कोई सुन्दर पदार्थ भेंट करती हैं, कभी दर्पण दिखाती हैं। नृत्य-गान आदि भी होता है।

जागरण, स्नान, शृंगार, प्रसाधन आदि कृत्यों में सर्वप्रथम वंशी की सेवा करनी चाहिए, फिर प्रियाजी की और तत्पश्चात् लाल जी की। इस क्रम को ध्यान में रखने का विधान है।

आभरणों में प्रियाजी के सिर पर चन्द्रिका और लालजी के सिर पर शिखिपिच्छ, कलगी, सिरपेच पहरावे। मुकुट का धारण पूर्णिमा तथा एकादशी को होता है। प्रातः-काल मुकुट श्री प्रियाजी धारण करती हैं सायंकाल श्रीलाल जी।

३—राजभोग—"बारहघड़ी दिन चढ़े पीछे राजभोग समयो लागैं छह घड़ी पाछिलो दिवस रहे तब लग है।"

दोपहर के भोजन का समय राजभोग कहाता है। इस राजभोग में चावल, कढ़ी, दाल, शाक, रोटी, रायता तथा अन्य पकवान रहते हैं। यह दिन का मुख्य भोजन समझना

१—धूप आरती के पद—

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई,
सील सिंगार गुन सबनिते आगरी।
कमल दच्छिन भुजा बाम भुज अंस सखि,
गावती सरस मिलि मधुर सुर राग री।
सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित,
मिलत नवकुंज बर स्याम बड़ भाग री॥

—हित चौरासी, पद सं० २५

२. शृङ्गार आरती के पद—

बनी श्री राधा मोहन की जोरी।
इन्द्र नीलमनि स्याम मनोहर सातकुंभ तनु गोरी।
भाल बिसाल तिलक हरि कामिनि चिकुरचन्द्र बिच रोरी।
गज नायक प्रभु चाल गयदिनि गति वृषभानु किसोरी।
नील निचोल जुवति, मोहन पट पीत अरुन सिर खोरी।
(जैश्री) हित हरिवंश रसिक राधा पति सुरत रंग में बोरी॥

—हित चौरासी, पद सं० ९

भोजन में पक्का भोजन जैसे, पूरी, कचोरी, मोहन भोग, हलुआ, रबड़ी आदि रहते हैं भोजन होने के बाद शयन आरती होती है।[2] शयन आरती के बाद श्री जी के शैया पधारने की भावना की जाती है। शैया पर जाने के बाद केलि-क्रीड़ा प्रारम्भ होती है। हा विनोद आदि होते हैं। यह लीला मध्यरात्रि तक जारी रहती है।

(७—शैया—'आठ घड़ी रात्रि गये पाछे सेज्या समय विचारे घड़ी बीस को सेज समय है।')

हास-परिहास परायण युगल परिश्रान्त होने पर निकटस्थित शैया भोग की साम ग्रहण करें। इस भोग को 'मनीसीषी भोग' भी कहते हैं। इस भोग के बाद प्रभात त निद्रामग्न रहें।[3]

---

१. शयन समय के भोग के पद—

नवल नवेली अलबेली सुकुमारी जूकों,
रूप पिय प्राननि कौ सहज अहार री।
विजन सुभाइन के, नेह घृत सौंज बनी,
रोचक रुचिर हैं अनूप अति चारु री।
नैनन की रसना तृपित न होत क्यों हू
नई नई रुचि 'ध्रुव' बढ़त अपार री।
पानिप कौ पानी प्याइ पान मुसकाइ ख्याइ,
राखे उर सेज स्वाइ पायौ सुखसार री।
—ध्रुवदासजी

२. शयन आरती के समय का पद—

नागरी निकुंज ऐंन किसलय दल रचित सैंन,
कोक कला कुसल कुंवरि अति उदार री।
सुरत रंग अंग-अंग हाव-भाव भृकुटि भंग,
माधुरी तरंग मथत कोटि मार री।
मुखर नुपुरनि सुभाव किंकिनी विचित्र राव,
विरमि विरमि नाथ वदत वर विहार री।
लाड़िली किशोर राजहंस हंसिनी समाज,
सींचत हरिवंस नैन सरवस सार री।
—ध्रुवदासजी

३. शैया समय के पद—

लड़ैती जू के नैनन नींद घुरी।
आलस बस, जोवन बस, मद बस, पिय के अंस ढुरी।
पिय कर परस्यो सहज चिबुक कर बांकी भौंह मुरी।
'बाबरी सखी' थो 'व्यास' सुवन बल देखत लतनि दुरी।
(बाबरी सखी का पद)

रहती है। स्वल्प भोजन के बाद पदों का गान होता है।[1] इसके बाद सन्ध्या आरती होती है; इसमें भी आरती के पद गाये जाते हैं।[2] आरती के बाद रासलीला इसी समय होती है। रासलीला इस समय होनी आवश्यक है और समयों पर भी यथारुचि हो सकती है। नृत्य, वाद्य, संगीत आदि भी होना आवश्यक है।

(६—शयन—'छह घड़ी रात्रि गये ताईं सन्ध्या समय भयो ता पाछें शयन समय घड़ी दोय बोय को है।')

शयन समय में रात्रिकालीन भोजन की समस्त सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इस

---

१. सन्ध्या भोग के समय के पद—

रहौ कोऊ काहू मनहिं दियें,
मेरे प्राननाथ श्री श्यामा सपथ करौ तृन छियें।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हियें।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन बिहार रस पियें।
खोये रतन फिरत जे घर घर कौन काज ऐसे जियें।
हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिनु या रजहिं लियें॥

—स्फुटवाणी पद सं० २०

हरि हम कब होंगे ब्रजवासी।
ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधा सी।
सखी सहेली नीकी मिलिहैं हरिवंशी, हरिदासी।
वंशीवट की सीतल छाया सुभग बहै जमुना सी।
जा वैभव की करत लालसा कर मींडत कमला सी।
इतनी आस 'व्यास' की पुजिवौ वृन्दाविपिन विहारी।

—व्यासवाणी, पद २२६

२. सन्ध्या समय की आरती—

आरती कीजे स्याम सुन्दर की, नन्द के नन्दन राधिका वर की।
भक्ति करि दीप प्रेम करि बाती, साधु संगत करि अनुदिन राती।
आरती ब्रज जुवति जूथ मनभावे, स्याम लीला हरिवंश हित गावे।
सखि चहुँ ओर चंवर कर लीयें, अनुरागन सौं भीनें ही पें।
सनमुख बीन मृदंग बजावें, सहचरि नाना राग सुनावें।
कंकन थार जटित मन सोहैं, मध्यवर्त्तिका त्रिभुवन मोहैं।
घंटानाद कह्यौ नहिं जाई, आनन्द मंगल की निधि माई।
जयति जयति जोरी सुखरासी, रूपलाल हित चरन निवासी॥

—श्री रूपलालजी की वाणी (हस्तलिखित)

कातिक बदि तिथि द्वँज कौ सरद समय पुनि होय।
मावस दीपोत्सव प्रकट ग्रद्भुत रचना होय ॥८॥
कातिक सुदि प्रतिपदा सुदिन वनविहार प्रति प्यार।
तेरस पाटोत्सव सुखद तिलकोत्सव सु विचार ॥९॥
इह विधि उत्सव यें सकल हित पद्धति के जानि।
श्री हित जू हित कुल तिलक जन्म दिवस सुखखानि ॥१०॥
माधव सुदि एकादसी श्री जू जन्म प्रसिद्ध।[1]

उपर्युक्त उत्सवों के ग्रतिरिक्त ग्रन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति यहाँ व्रतोपवास
विधान नहीं है। व्रत प्रवृत्ति एवं निवृत्ति भेद से दो प्रकार के होते हैं तथा ध्येय के वि
से व्रत तीन प्रकार के माने जाते हैं—नित्य, नैमित्तिक ग्रौर काम्य। नित्य व्रत प्रायः स
वैष्णव सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित हैं। नैमित्तिक व्रत किसी ग्रह-नक्षत्र ग्रादि
प्रदोष से यथासमय ग्राते हैं ग्रथवा किसी घटना विशेष से भी नैमित्तिक व्रतों का सम्ब
होता है। काम्य व्रत किसी ग्रभिलाषा, कामना ग्रादि की पूर्ति के निमित्त रखे जाते
किन्तु श्री हितहरिवंश जी ने प्रारम्भ से ही व्रतों को ग्रपनी साधना से दूर रखा है। व्रत
उपवास की मर्यादा का प्रचार भी ग्रत्यधिक है, किन्तु इस सम्प्रदाय में भागवत पुराण प्रति
पादित 'एकादशी व्रत' का भी विधान नहीं पाया जाता। श्री व्यासजी, सेवकजी ग्रादि
स्पष्ट रूप से इसका खंडन किया है। व्रती के व्रत-कथा सुनने का विधान ग्रन्य सभी वैष्ण
सम्प्रदायों में है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में उसकी भी ग्रावश्यकता नहीं समझी गई
ग्राधुनिक युग में कतिपय राधावल्लभीय वैष्णव इन व्रतों के प्रति निष्ठा रखते हुए देखे जा
हैं, यह ग्रन्य वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव ही समझना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से व्रतोपवा
का इस सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं है।

तिलक ग्रौर कंठी

इस सम्प्रदाय का तिलक भाल के प्रदेश नासिका से ऊर्ध्व भाग ग्रर्थात् त्रिकुटी प्रदे
तक रहता है। दो सीधी पतली रेखाएँ भाल स्थल से सिंहासन ग्रर्थात् बिन्दु पर्यन्त तक ग्राती
हैं ग्रौर बीच में काली बिन्दी रहती है। तिलक की सीधी रेखाग्रों को कृष्ण का ग्रौर श्याम
बिन्दी को राधा स्थानीय माना जाता है; 'तिलकं कृष्णरूपेण बिन्दुरूपेण राधिका।'
तिलक के लिए कुछ लोग व्रजरज या राधा-कुंड की रज को श्रेष्ठ समझते हैं। कुछ विद्वानों
के मत में रोली का तिलक इस सम्प्रदाय में सर्वाधिक सौभाग्य-सूचक माना जाता है। उनके
कथनानुसार पाटोत्सव, जन्माष्टमी राधाष्टमी ग्रादि उत्सवों पर श्रीजी के शृंगार में रोली
का ही तिलक होता है जो तेज ग्रौर वर्चस्व का सूचक है।[2]

---

1. "समय प्रबंध" गो० कमलनयन कृत (हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ १० से उद्धृत)
2. The sect mark of the Radha Vallabhis is made in the front of a loop, the round portion below meeting near the eye-brows. —Monograph on the Religious Sects in India among the Hindus—by D. A. Pal, Page 51.

साम्प्रदायिक नैमित्तिक उत्सव

राधावल्लभ सम्प्रदाय में नैमित्तिक उत्सवों की परम्परा श्री हितहरिवंश जी के समय से ही चली आ रही है। पाटोत्सव के बाद श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में इन उत्सवों के बड़े समारोह के साथ मनाये जाने का वर्णन वाणी-ग्रंथों में पाया जाता है। वर्तमान समय में जो उत्सव प्रचलित हैं उनकी संख्या बढ़ गई है। आचार्य-कुल के गोस्वामियों के जन्मोत्सव भी इनमें सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्राचीन उत्सवों में प्रमुख रूप से दस उत्सवों का ही वर्णन पाया जाता है। श्री लाड़लीदास जी ने अपने सैद्धान्तिक ग्रंथ 'सुधर्म बोधिनी' में दस प्रकार दशोत्सव का वर्णन किया है—

फागु, डोल, चन्दन बसन, तीज हिंडोलें भूल।
सरद, पाट उत्सव, तहाँ गुरु पूजा रस मूल॥
दीपमालिका प्रतिपदा, वन विहार चित चाह।
खिचरी और वसन्त ये अपने दस उत्साह॥[1]

श्री गोस्वामी कमलनयनजी ने अपने 'समय प्रबंध' ग्रन्थ में सोलह उत्सवों का वर्णन किया है। 'समय प्रबन्ध' के उत्सव बीजक में इस प्रकार इनका उल्लेख है—

दोहा— माह सुदी तिथि पचमी, उत्सव खेल वसन्त।
फागुन सुदि तिथि दूंज तें, खेलि होलिका अन्त॥1॥
चैत वदी तिथि प्रतिपदा होलिका अन्त प्रभात।
होरी डोल विचित्र अति, भूल फूल हरपात॥2॥
चैत सुदी एकादशी, फूल डोलि तिथि होय।
सुदी तृतीया बैसाख की चन्दन यात्रा सोय॥3॥
ज्येष्ठ सुदी एकादसी जलविहार दिन जान।
सावन सुदि तिथि तीजतें पावस डोल बखान॥4॥
तेरह दिन भूलत नवल पूनो सों सुखरासि।
पवित्रा अङ्ग पहरावहीं एकादसी उजास॥5॥
पूनो रक्षा बाँधिकें पुनि भूलहि मनफूल।
भादों तिथि बदि अष्टमी जन्म दिवस अनुकूल॥6॥
भादों सुदि तिथि अष्टमी प्रियाजन्म सुखरासि।
आश्विन सुदि तिथि पूनो प्रकट सरद रास अलियासि॥7॥

आलस नैन आवत घूमि।
खसित भुज पिय अंसते सम्हराय कर दे चूमि।
लाल चुटकी दे जगावत खुले ताकत भूमि।
वृन्दावन हित रूप घूंघट बदन पै रह्यो भूमि॥
—श्री चाचा वृन्दावनदास की वाणी।

1. सुधर्म बोधिनी, श्री लाड़िलीदास कृत—पृष्ठ 72।

सप्तम अध्या

रासलीला का स्वरूप और महत्त्व

माधुर्य-भक्ति-निष्ठ वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन उनके सौन्दर्य, शक्ति और शील को व्यक्त करने के लिए स्वीकार किया गया है। इन लीलाओं के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों प्रकार से अर्थ करके भक्तजन भगवान् के स्वरूप को हृदयंगम करते हैं। इनमें रासलीला का स्थान आध्यात्मिक महत्त्व की दृष्टि से मूर्धन्य समझा जाता है। रासलीला मानसिक भावना के साथ-साथ लौकिक धरातल पर अनुकरणात्मक होकर दृश्य-लीला का रूप धारण करती है अतः उसके प्रभाव की परिधि अन्य लीलाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाती है।

भागवत पुराण के दशमस्कंध के (उनत्तीस से तैंतीसवें तक) पाँच अध्यायों को 'रासपंचाध्यायी' कहते हैं। इन पांच अध्यायों को भागवत का प्राण कहा जाता है। 'रासपंचाध्यायी' में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की अन्तर्प्रेरणा का तथा शारदीय पूर्णिमा की विभावरी का बहुत ही सरस एवं काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। ज्योंही श्रीकृष्ण के मन में रास प्रारम्भ करने का विचार आया, समस्त वन-प्रान्त अनुराग की लालिमा से अनुरंजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने अपनी प्रिय वंशी उठाई और उसका वादन प्रारम्भ किया। वंशी-रव को सुनते ही गोपियाँ अपने तन-मन की सुधि भूल, समस्त कार्य-कलाप को बीच में ही छोड़, भाग खड़ी हुई और श्रीकृष्ण के समीप वन-प्रदेश में पहुँच गई। श्रीकृष्ण ने बड़े सहजभाव से उन्हें पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर वापस लौट जाने को कहा किन्तु गोपियों ने किसी मर्यादा को स्वीकार नही किया और अपनी टेक पर दृढ़ बनी रहीं। तब कृष्ण ने आनन्द-पुलक परिपूर्ण हो उनके साथ मंडलाकार स्थित होकर रास रचाया। इस रास में कृष्ण और गोपियों का मिलन, संयोग शृंगार के धरातल पर विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के साथ वर्णित किया गया है जिसे पढ़कर सामान्य पाठक को भ्रम होना सहज है कि यह लीला काम-प्रेम की शृंगारमयी लीला है, इसका कोई आध्यात्मिक धरातल नहीं है। किन्तु रासलीला के मर्म को समझने के लिए उसके तात्त्विक आशय की अवहेला

साम्प्रदायिक दृष्टि से दीक्षा लेने के उपरान्त कंठी धारण करना अनिवार्य है। 'निज मंत्र' ग्रहण करने के बाद ही दीक्षित व्यक्ति वैष्णव समाज का अंग बनता है। कंठी दो लड़ी होती है जिनमें छोटे-छोटे तुलसी दल के मनके होते हैं। मनकों की संख्या का कोई विधान नही है केवल दुलड़ी होना आवश्यक है। 'दुलड़ी' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह जुगल ध्यान का द्योतन कराती है। इसी अन्तर्निहित जुगल भावना के आधार पर दुलड़ी का विधान हुआ है। मनकों का सूत्र साधारण ही होता है किन्तु आजकल धनीवर्ग के वैष्णव लोग स्वर्ण-सूत्र में भी मनका पिरोकर कंठी धारण करते देखे जाते हैं।

तुलसी पूजन, अश्वत्थ-पूजन आदि का कोई विधान इस सम्प्रदाय में नही है। आधुनिक युग में तुलसी-पूजन यत्र-तत्र देखने में आता है किन्तु इसे राधावल्लभीय भावना का आभ्यन्तर अंग नही समझना चाहिए। यह भी अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव ही है।

क्रिया सर्वापि संयात्र परं कामो न विद्यते ।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेति तास्तथा ॥
कामेन पूरितः काम. संसारं जनयेत्स्फुटम् ।
कामभावेन पूर्णस्तु निष्काम. स्यात् न संशयः ॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।
अत एतच्छ्रुतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ॥
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते ।
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ॥[1]

भागवत पुराण में इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहा है कि यह लीला का रूपी हृदय-रोग का नाश करने वाली है ।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

—भागवत पुराण, दशम स्कंध, अ० ३३, श्लोक ४० ।

अर्थात्, जो व्यक्ति श्रद्धान्वित होकर व्रज-बालाओं के साथ की गई भगवान् विष्णु इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में पराभक्ति प्राप्त क शीघ्र ही मानसिक काम-रोग से मुक्त हो जायगा । अतः स्पष्ट है कि इस रासलीला को क लीला न मानकर विजय-लीला ही मानना चाहिये । राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासल को इसीलिए 'कामजयीलीला' कहते हैं ।

श्री सनातन गोस्वामी ने भी रासलीला को काम-विहीन ही माना है और ह्लादि शक्ति का अनादि विलास कहा है । 'ह्लादिनी शक्ति विलास लक्षण परमप्रेममयूयंवैया रि नतु काममयीति ।'

रास के लक्षण की स्थापना करते हुये कहा जाता है कि "सर्वशक्तिमान् परिपू परतत्व की पराख्या की शक्ति के साथ अनादि सिद्ध रिरंसा की जो उत्कंठा है और उस उत्कं के साथ जो चिद्विलास है उसी को रास कहते हैं । इस लीला में अपूर्व नृत्य, गीत, वाद्य आ का आयोजन तथा विविध भावों का योग रहता है ।"[2]

इस रासलीला को दो रहस्यों में विभाजित किया जाता है—अन्तरंग और बहिरंग अन्तरंग रहस्य का अभिप्राय आनन्दरस का आस्वादन करना है और बहिरंग का अभिप्रा काम को पराजित करना है । इसलिए जब तक काम को पूर्ण रूप से विजय न कर ले त

१. भागवत की सुबोधिनी टीका, रास प्रकरण की कारिका—"अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय", पृष्ठ ५०३ से उद्धृत ।
२. कल्याण—श्री रासलीला रहस्य ले० आचार्य मदनमोहन गोस्वामी, अगस्त १९३१— वर्ष ६ । पृष्ठ १९१ ।

नहीं की जा सकती। वैष्णव भक्तों ने इस रासलीला को ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग की सरणि माना है—शृंगार या काम-चेष्टा का आधार उसमें गृहीत ही नहीं हुआ। इस रासलीला में उपास्य काम-विजयी है, इसीलिये इसके द्वारा काम-विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है।

रासलीला के मूल उद्देश्य को विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी निष्ठा और भक्ति-भावना के अनुसार नाना रूपों में वर्णित किया है किन्तु भागवत वर्णित रास-पंचाध्यायी को शृङ्गारपरक लौकिक काम-वासना का प्रेरक किसी ने नहीं माना। श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में रास-प्रकरण के आरम्भ में कहा है—

'ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते।'

"भगवान् ने ब्रज में लीलाएँ इसलिए की कि मुक्त जीवों का, ब्रह्मानन्द से उद्धार होकर उन्हें भजनानन्द मिले। इस प्रकार लौकिक विषयानन्द तथा काव्यरस से इतर रसरूप श्रीकृष्ण (रसोवैसः) के संसर्ग की लीलाओं में जो रस समूह मिले वह रास है। और यह रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरद् रात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप में स्थित बताया गया है।" "रासक्रीड़ा द्वारा मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नहीं—'रास क्रीडायां मनसो रसोद्गमः नतु देहस्य।'[1]

'वल्लभ सम्प्रदाय में रास के तीन रूप माने जाते हैं : १—नित्य रास, २—अवतरित रास या नैमित्तिक रास, ३—अनुकरणात्मक रास, यह दो प्रकार का होता है, (क) भावनात्मक या मानसिक, (ख) देहात्मक। गोलोक में अथवा निजधाम वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्द-विग्रह से अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रस-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि और अनन्त है। यही भगवान् का नित्य रास है।'[2]

रासलीला में शृङ्गारमयी चेष्टाओं और काम-क्रीड़ाओं का अत्यधिक वर्णन देखकर इसे अश्लील समझने की शंका का निरास करते हुए श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी की कारिकाओं में स्पष्ट रूप से यह भाव व्यक्त किया है कि कृष्ण के रास में काम की समस्त चेष्टाएँ तो हैं परन्तु उनमें काम नहीं है। गोपियों के लौकिक काम का शमन और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम श्रीकृष्ण द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती तो उससे संसार उत्पन्न होता, परन्तु यहाँ तो गोपी और कृष्ण दोनों में लौकिक काम का अभाव है; और साथ ही संसार से निवृत्ति है। इस रासलीला में किसी मर्यादा का भंग भी नहीं हुआ। इससे तो गोपियों को स्वरूपानन्द की मुक्ति ही मिली है। इसलिये इस लीला के सुनने से लोक निष्काम ही बनता है अर्थात् अपने काम की आहुति भगवान् में कर देता है। भगवान् का चरित्र सर्वथा निष्काम है, इससे काम का उद्बोध ही नहीं होता।'

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४६७ से उद्धृत।
२. „ „ „ पृ० ४६८ से उद्धृत।

गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं। यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन हो
भारतीय संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।"[1]

रासलीला का एक आध्यात्मिक अर्थ यह भी किया जाता है कि भगवान् की लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। भागवत पुराण में कहा है कि जैसे बालक प्रतिबिम्ब को दर्पण-मणि आदि में देखकर क्रीड़ा करता है वैसे भगवान् रमापति ने ह आलिंगनादि द्वारा व्रजसुन्दरियों के साथ प्रेम किया। भगवान् ने आत्माराम होकर भी अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक्-पृथक् रह कर क्रीड़ा की। इसलिए कुछ लोग लीला के अभिनय या अनुकरण के पक्ष में नहीं है।[2]

वेद और रासलीला

रासलीला का आध्यात्मिक प्रतीकार्थ मानने वाले कुछ विद्वानों ने वेद में भी दूरा कल्पना द्वारा रासलीला की खोज की है और शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के रूप में इसे ठहरा है। रासलीला के स्वरूप का विचार प्राचीनकाल से ही होता आया है। लीला समस्त रूप भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं—इस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए ही रा लीला का प्रसंग है। गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं और जिस प्रकार शब्द और अर्थ का नि सम्बन्ध है उसी प्रकार ऋचा-रूपी गोपियों का और भगवान् का सम्बन्ध भी नित्य है। इ का नाम 'नित्य रासलीला' है।

'भगवान् परमात्मा है और गोपियां प्रकृति हैं, अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं—यह मा कर भी रासलीला का रहस्य समझा जा सकता है। रासलीला ब्रह्मानुरूप का रहस्य प्रक करती है परमात्मा के साथ अनेकों संबध बाँधकर जीवात्मा भगवत्स्वरूप प्राप्त करता है। य सम्बन्ध काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और भक्ति से सिद्ध होता है। अतएव रासलीला जीवात्मा का परमात्मा के साथ घनिष्ठ संबंध प्रकट करती है।'

'ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं वही आगे भक्ति-सम्प्रदायों में कृष्ण के लिये प्रयोग किये गये हैं। कृष्ण वैदिक विष्णु एवं सूर्य के विकसित रूप हैं। सूर्य अखिल चराचर विश्व की आत्मा है अतएव वे विश्व के आधार और मध्यबिन्दु बने हुए हैं तथा विश्व के चारों ओर फिरते है। इसी बात को श्रीकृष्ण की रासलीला का स्वरूप दिया गया है। रासलीला तो जीव तथा विश्व का परमात्मा के साथ सम्बन्ध प्रकट करती है।'

'कृष्ण सूर्य हैं और गोपीजन किरण हैं। सूर्य की किरणें सूर्य में रहती हैं, सूर्य से बाहर निकलती हैं और फिर सूर्य मे प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य गोलाकार है और सर्वदा गतिमान है। यही सुन्दर रहस्य रासलीला में सिद्ध किया गया है।'

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ २०८।
२. 'कल्याण—रासलीला' ले० रामदयाल मजूमदार, वर्ष ६, अगस्त १९३१, पृष्ठ १८४।

तक रासलीला देखने का अधिकारी नहीं होता।

रासपंचाध्यायी को निवृत्तिपरक बताते हुये श्रीधर स्वामी ने लिखा है—'श्रृंगाररस-कथापदेशेन विशेषतोनिवृत्तिपरेयं पचाध्यायी।'

रासलीला का प्रतीकार्थ

रासलीला के विभिन्न प्रतीकार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रतीकार्थों की स्वीकृति नहीं है। यहाँ राधा और कृष्ण की अन्तरंग लीला के ही एक रूप को रास के रूप में ग्रहण किया जाता है। किन्तु जो प्रतीकार्थ प्रचलित हैं उनका संक्षेप में हम यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

ब्रह्मविद्या को आधार मानकर चलने वाले ज्ञानमार्गी रासलीला में भी 'तत्त्वमसि' का विधान पाते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण 'तत्' पदार्थ हैं और गोपांगनाएँ 'त्वं' पदार्थ हैं। इन दोनों का परस्पर संश्लेष हो तो क्या वह काम-लीला होगी? यथार्थ में अन्तरंग दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत संयोग ही है।"[1]

योगशास्त्र के आधार पर रास का प्रतीकार्थ इस प्रकार समझा जा सकता है। अनाहत नाद ही भगवान् की वंशीध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं, कुल-कुण्डलिनी ही श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह सुरम्य वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहाँ पहुँच कर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य करती हैं।[2]

आत्मशक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं को ही लीला का आध्यात्मिक अर्थ मानने वाले विद्वान् कृष्ण, गोप, गोपी, वंशी आदि सभी अवयवों का तात्त्विक अर्थ लगाते हैं—

"गो का अर्थ है इन्द्रिय। अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ इन्द्रियों की रक्षा करने वाला। + + + । कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं जो वंशी-ध्वनि से, संगीत आदि स्वरों से, गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन एक प्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने के तैयारी करती हैं वैसे ही गोपियाँ वंशीध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रासलीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है। अतः पूर्ण मग्नता की दशा नहीं आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे कृष्ण-रूपी आत्मज्योति अन्तर्हित होती है आत्ममग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इसीलिए आवश्यक मानी गई है। अहंकार के नष्ट होते ही पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं,

---

१. श्री भगवतत्त्व—श्री करपात्रीजी, पृष्ठ २१८।

२. कल्याण—रासलीला में आध्यात्मिक तत्त्व—ले० श्री बलदेवप्रसाद मिश्र, वर्ष ६। अगस्त १९३१, पृ. १९४।

महत्त्व की होती है—अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कट उत्कंठा, दोष-दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया में निरन्तर एक साथ रहने के कारण ये तीनों गौण हो जाती हैं। + + + ।'

'भगवान् की इस दिव्यलीला के वर्णन का यही प्रयोजन है कि जीव गोपियों के अहैतुक प्रेम का, जो कि श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिए था, स्मरण करे और उसके भगवान् के रसमय दिव्यलीला-लोक में भगवान् के अनन्त प्रेम का अनुभव करे। हमें रास का अध्ययन करते समय किसी प्रकार भी शंका न करके इस भाव को जगाये चाहिए।"[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासलीला

प्रतीकार्थों के आधार पर यदि रासलीला का मर्मोद्घाटन किया जाय तो वह प्राकृत ठहरेगी ही नहीं। इसलिए इसमें किसी प्रकार की मर्यादा के अतिक्रमण का या वासना का प्रश्न भी नहीं उठेगा।

रासलीला के सम्बन्ध में ब्रज के भक्ति-सम्प्रदायों में यह मतवाद प्रवर्तित है कि के गोपों को अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से कृष्ण ने यह रास रचा भगवत्-स्वरूप दर्शन के लिए जो विभिन्न दशाएँ वर्णित की जाती हैं रासलीला उनमें दशा है। पाँचवीं तक पहुँचने पर साधक अपनी 'देहसुधि' भूल जाता है, 'पाँचे भूले देह सुधि' तब कहीं 'छठी भावना रास की' प्राप्त होती है।

रासलीला के प्रयोजन और उद्देश्य के सम्बन्ध में और भी विचार उपलब्ध होते हैं राधावल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार यह लीला श्री लालजी (श्रीकृष्ण) प्रेमतत्त्व (हित तत्त्व के) विकास के लिए करते हैं। इस लीला में एक ही 'श्रीतत्त्व' श्रीकृष्ण और गोपी रूप आविर्भूत होता है। यह शुद्ध, अनाविल, निरतिशय आनन्दपूर्ण प्रेम-लीला है इसलिए प्रेम के लौकिक रूप के सम्मुख रखकर शृंगारमयी भावनाओं का प्रस्फुटन इस लीला का आवश्यक तत्त्व बनता है। केवल यही ध्यान रखना चाहिए कि निर्विशेष प्रेमरस का आलम्बन जब लौकिक नायक-नायिका न होकर भगवान् होते हैं तब वह परम पवित्र माना जाता है। लौकिक दृष्टि से वर्णित होने के कारण इसमें नायक-नायिका का आरोप कर लिया जाता है और उसके बाद स्वकीया-परकीयात्व का भी आधान स्वयं हो जाता है। वस्तुतः ये गोपियाँ जिनका रासलीला में वर्णन है—स्वकीया-परकीया-भाव निर्विशेष ही थीं किन्तु सांसारिक दृष्टि से उन्हें स्वकीया-परकीया भेद द्वारा वर्णित किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को ही परमाराध्य एवं पति मानने के कारण यथार्थ में सभी नायिकाएँ (गोपियाँ) स्वकीया ही थीं किन्तु यदि उनमें से कुछ को अन्य पुरुषों के साथ विवाहिता माना जाय तो परकीयात्व भी

---

१. देखिए—श्रीमद्भागवत महापुराण (गीता प्रेस गोरखपुर) द्वितीय खंड, दशम स्कन्ध ३३ की पाद टिप्पणी—पृष्ठ ३१०-३१६ तक।
—टिप्पणी लेखक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार।

'इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन तत्वचिन्तकों ने रासलीला की तात्विक भावनाओं का वर्णन किया है। रासलीला की भावना काव्य-दृष्टि से तथा तत्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त भव्य और सुन्दर है। अतएव इसका स्थान साहित्य और तत्वज्ञान के इतिहास में चिरन्तन है।'[1]

रासलीला के दिव्य-रूप की स्थापना करते हुए श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ने श्रीमद्भागवत पुराण के रास-पंचाध्यायी प्रकरण के सम्बन्ध में बड़े मार्मिक विचार व्यक्त किये हैं। रासलीला में श्रीकृष्ण और गोपियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी बड़ी सुन्दर शैली से प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग में से कुछ पंक्तियाँ हम पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं :—

'जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन और उद्दीपन के रूप से क्रीड़ा करे—उसका नाम रास है।' भगवान् की यह दिव्यलीला भगवान् के दिव्य धाम में दिव्य रूप से निरन्तर हुआ करती है। + + + रास पंचाध्यायी में वंशीध्वनि, गोपियों के अभिसार, श्रीकृष्ण के साथ उनकी बातचीत, रमण, श्री राधा के साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियों के द्वारा दिये हुए वसनासन पर विराजना, गोपियों के कूट प्रश्न का उत्तर, रासनृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वनविहार का वर्णन है—जो मानवी भाषा में होने पर भी वस्तुतः परम दिव्य है। + + +

"भगवान् का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। यह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादान-रहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इस प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत् की, भगवान् की स्वरूपभूता अन्तरंग शक्तियाँ हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्य की लीला स्थूल शरीर, स्थूल मन से परे है। आवरण भंग के अनन्तर अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।"

"गोपियाँ श्रीकृष्ण की स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्ण के स्वरूप को भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत् की वस्तुओं में उनका हिस्सेदार दूसरा जीव हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। + + + श्रीकृष्ण की दृष्टि से—जो कि वास्तविक दृष्टि है—कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूप-भूता अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बात को जानती थीं और स्थान-स्थान पर उन्होंने ऐसा कहा भी है। ऐसी स्थिति में 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है वहाँ औपपत्य और जारभाव की कल्पना ही कैसे हो सकती है। गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं, परन्तु उनमें परकीया-भाव था। परकीया होने में और परकीया-भाव होने में आकाश-पाताल का अन्तर है। परकीया-भाव में तीन बातें बड़े

१. देखिये—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—रासपंचाध्यायी—भागवत
ले० गोविन्दलाल हरगोविंद भट्ट, पृष्ठ ९६९-९७।

रासलीला-स्थली के विषय में राधावल्लभ सम्प्रदाय का स्पष्ट सिद्धान्त है कि वह वृन्दावन ही है अन्य गोलोक आदि नहीं। हाँ, भावनागत रासलीला के लिए किसी भी अन्य स्थल की कल्पना की जा सकती है। स्थूल वृन्दावन का माहात्म्य स्वीकार करने वाले इस सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की समस्त लीलाएँ यहीं घटित हुई हैं और आज भी रासलीला इसी धाम में नित्य होती हैं। ब्रजलीला की पराकाष्ठा ही रासलीला में है। रासपंचाध्यायी में गोलोक में ही रासलीला का होना वर्णित है किन्तु भक्ति-सम्प्रदायों में वृन्दावन को ही मुख्यता प्रदान की जाती है क्योंकि इस भूमि का माहात्म्य गोलोक, ब्रह्मलोक आदि से भी बढ़कर माना जाता है। श्रीहितहरिवंश जी ने अपने रास के पदों में ब्रज को ही रासस्थल कहा है।[1]

रासलीला का रहस्य उद्‌घाटित करते हुए स्कन्दपुराण में शांडिल्य ऋषि का राजा परीक्षित और राजा ब्रजनाथ से जो सम्वाद आता है वह मनोयोगपूर्वक पठनीय है। ब्रजभूमि की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए शांडिल्य ऋषि ने ब्रज को ब्रह्म का ही रूप ठहराया है। उस व्यापक ब्रज में कृष्ण को देहधारी बताया है और उन्हें आत्मराम कहा है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और उनकी आत्मा हैं श्री राधा। श्री राधा को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण रासलीला रचते हैं। इस लीला में सत्व-रज-तम गुणों के द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है। यह लीला दो प्रकार की है—वास्तवी और व्यावहारिकी।

"सर्ग स्थित्यप्यया यत्र रजः सत्वतमोगुणैः।
लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी॥
वास्तवी तत्स्वसंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगाक्वचित्॥

वास्तवी लीला सब जीवों के हृदय में होती है, परन्तु व्यावहारिकी लीला देखे बिना वास्तवी लीला किसी की समझ में नहीं आती। साथ ही वास्तवी लीला के समझे बिना व्यावहारिकी लीला का रस भी पवित्र भाव से आस्वादन नहीं किया जा सकता। इन दोनों लीलाओं का पारस्परिक गहन सम्बन्ध है।[2]

---

१. आज बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन बेनु बजायो।
कलकंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो॥
जुवतिनु मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायो।
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस सिंधु बढ़ायो।
विविध विसद वृषभानु नन्दिनी अंग सुघंग दिखायो।
× × ×
बरषत कुसुम मुदित नभनायक इन्द्र-निसान बजायो।
हितहरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायो॥
—हित चौरासी, पद सं० ११।

२. कल्याण—रासलीला, लेखक—रामदयाल मजूमदार, वर्ष ६, अगस्त १९३१, पृष्ठ १७७।

माना जा सकता है। रासपंचाध्यायी की गोपियाँ सर्वत्यागपूर्वक श्रीकृष्ण में रत हुई थीं अतः उन्हें स्वकीया ही कहा जाना चाहिए। श्री हितहरिवंशजी ने राधा को दुलहन और कृष्ण को दूलह बनाकर रास में स्वकीयात्व का ही भाव व्यक्त किया है।[1]

लीला का दूसरा प्रयोजन राधावल्लभीय दृष्टि से जीवों का कल्याण है। सांसारिक जीव शृंगार और प्रेम के पथ पर चलता हुआ केवल 'काम' में ही अपने भोग-विलास की इतिश्री समझ बैठता है जिसके फलस्वरूप ससार के आवागमन के बन्धन में पुनः-पुनः फँसता रहता है। इस लीला द्वारा वह काम-विजय की भावना पोषित करके काम-जय-रूप फल को प्राप्त करता है। श्रीकृष्ण और गोपीगण के उत्कृष्ट प्रेम को अपने लिए उपास्य मानकर चलने से काम-जय रूप फल प्राप्ति सम्भव है।

राधावल्लभीय मत में रासलीला का तृतीय प्रयोजन यह है कि श्रीकृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा को प्रमुदित रखना ही उनका परम ध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओं को रास में एकत्र कर प्रकारान्तर से इष्टदेवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा-कौतुक है। इस लीला में 'तत्सुख सुखित्व' भाव की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण अपने आमोद का विस्तार करते हैं। इस 'तत्सुखसुखित्व' का पर्यवसान भी लोक-कल्याण में ही होना है। अतः इस लीला की भावना करना ही पर्याप्त नहीं अपितु इसका भौतिक रूप में अनुकरण करना भी अभीष्ट है। अनुकरण द्वारा राधा के प्रति कृष्णानुराग का स्वरूप सांसारिक जीवों को भी व्यक्त हो जाता है।

---

१. खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु।
अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु।
थेई-थेई बचन मिथुन मुख निसरत सुनि-सुनि देह दशा किन भूलहु।
+ + +
अति लावन्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम सम तूलहु,
भृकुटि विलास हास रस बरषत हित हरिवंश प्रेम रस भूलहु।
हित चौरासी, पद सं० ६२।

वंश रस नाद मोहित सकल सुन्दरी,
आनि रति मानि कुल छांड़ि कानी।
बाहु परिरम्भ, नीवी उरज परसि हँसि,
उमगि रतिपति रमित रीत जानी।
जूथ जुवतिनु खचित, रासमंडल रचित,
गान गुन नित्त आनन्द दानी।
तत्त थेई-थेई करत, गतिव नौतन धरत,
रास रस रचित हरिवंश बानी॥
—सेवक वाणी—प्रकरण श्री हितवाणी, पद सं० ३।

सब-कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियों के साथ—गोकुल की बालाओं के साथ—भ जो ब्रज प्रान्त में बोली जाती है, गायन हुआ।' ग्रोटन महोदय ने रासलीला के पदों की पर मुग्ध होकर उनका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। ब्रज भाषा के पद-लालि उन्होंने अपने विवरण में भूरि-भूरि प्रशंसा की है। एक विदेशी के लिए रासलीला नृत्य, गायन, संगीत और पद के कारण मोहक सिद्ध हुई यह कम आश्चर्य की बात नह

तीसरे अंग्रेज सज्जन ग्राउस हैं जिन्होंने 'मथुरा मेमायर्स' नामक अपने ग्रंथ में का विस्तार के साथ वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'रास अलिखित धार्मिक रू जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएँ व्यक्त होती हैं। यह मध्यकालीन योरो 'मिरेकिल प्लेज' के समरूप है। † † † जिस दृश्य को बड़े सौभाग्य से मैं देख सका वह ि का दृश्य था जो सकेत में व्यक्त किया गया था। † † † दृश्य अत्यन्त मनोहारी था और की लीला में भी किसी प्रकार के अविचार का आभास नहीं था।'

इन तीनों अंग्रेज विद्वानों के अभिमतों का पर्यालोचन करते हुए श्री नारविन हेवन ने लिखा है कि—'भारतीय नाट्य के अन्धकार युग से रासलीला क्यों अप्रभा अक्षत रही ? इसके कई कारण हो सकते हैं किन्तु दो कारणों का उल्लेख निस्संकोच ि जा सकता है। प्रथम तो यह कि रासलीला अन्ततः धार्मिक रूपक है। भारतवर्ष के प्राचीन नाटक—यह सत्य है कि नाम से तो धार्मिक हैं किन्तु रासलीला में केवल रूढ़ि लिए ही धर्म की छाया नहीं रहती वरन् वह नितान्त भक्तिपूर्ण भावावेशों का समीकरण इसके दर्शक भी भक्त-हृदय होते हैं जो अपने इष्टदेव का लीलामृत पान करने के इच्छु होते हैं, ऐन्द्रिय आमोद-प्रमोद ग्रहण करने वाले नहीं। इस प्रकार रासलीला सामूहि उल्लास के कुप्रभाव से सदा सुरक्षित रही है।"[1]

सोलहवीं शताब्दी में रासलीलानुकरण

रास के आध्यात्मिक रूप का वर्णन करने के बाद रासलीला के लौकिक अनुकरण सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। ब्रजभूमि के तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों रासलीला का उल्लेख मिलता है। जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है कि वल्लभ सम्प्रदा में अष्टछाप के कवि सूरदास और नन्ददास ने रासलीला का विस्तृत वर्णन किया है रासपंचाध्यायी में रास के स्थूल कथानक की पृष्ठभूमि पर ही शृंगारपरक शैली से रास के आध्यात्मिक मर्म का उन्होंने उद्घाटन किया है। किन्तु उनके वर्णनों में अनुकरणात्मक रास का संकेत नहीं मिलता और न यही कहीं कहा गया है कि अष्टछाप के कवियों के लीला पदों या कथानकों के आधार पर 'अभिनेयरास' होते थे। रासमंडल स्थापना का भी कहीं संकेत नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि वल्लभ सम्प्रदाय ने रास को श्रीमद्भागवत पुराण की शैली पर शुद्ध आध्यात्मिक भाव से ही स्वीकार किया था, उसका लौकिक अनुकरणात्मक

१. देखिये—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ—श्री नारविन हुईन हेवन लिखित 'रासलीला के विदेशी दर्शक' लेख—पृ॰ ७११-१३।

रासलीला के स्वरूप-निर्णय के बाद यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि यह लीला प्रतीक-रूपक और शुद्ध भावनापरक आध्यात्मिक है तो इसका अभिनय-अनुकरण करना युक्तिसंगत नहीं। भगवान् की गूढ़ लीला का संसारी जीव किस प्रकार अनुकरण कर सकते हैं। किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि यदि केवल स्मरणात्मक शैली से इस लीला की मानसिक भावना मात्र की जायगी तो केवल उन्हीं भक्तों को इसका लाभ प्राप्त होगा जिनका कल्मष-हीन मानस भगवान् की भावना करने योग्य, पवित्र हो गया है। साधारण कोटि के संसारी भक्त इस लीला की मानस-भावना नहीं कर पायेंगे और यह गूढ़-गहन दार्शनिक अनुभूति मात्र रह जायगी। राधावल्लभ सम्प्रदाय में दार्शनिक गूढ़ता को बचाकर प्रेम की स्निग्ध भूमि पर राधाकृष्ण के नित्यविहार की स्थापना की गई है, क्योंकि प्रेमी भक्तजन भी अनुकरणात्मक लीला में पावन प्रेमरस का आस्वादन कर तृप्त हो सकते हैं। अतः इस लीला का अनुकरण विधेय माना गया है। श्री वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने भावनापरक रासलीला का ही अधिकांश में वर्णन किया है, क्योंकि उन्हें अभिनयात्मक लीला में त्रुटियों के समावेश का भय था। रासपंचाध्यायी के प्रसंगों को लेकर नन्ददास आदि भक्तों ने बड़े ही मनोमुग्धकारी लीला-चित्र अंकित किये हैं किन्तु स्थूल अनुकरण पर विशेष बल नहीं दिया। श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी ने भी अपनी कृति 'हित-चौरासी' में भावनापरक लीला का ही वर्णन किया है किन्तु उनके समय में लीला का अनुकरण उन्हीं के प्रयत्नों से प्रारम्भ हो गया था इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। श्री स्वामी हरिदास तथा श्री हरिराम व्यासजी रासलीला के अनुकरण में सहायक थे और इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में रासलीलानुकरण होता था। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अनुकरण पहले से चला आ रहा था उसी को हितहरिवंशजी ने पुनर्जीवित किया। सम्भव है यह मान्यता निर्मूल न हो किन्तु वृन्दावन में रासलीलानुकरण की परम्परा का हितहरिवंशजी से पहले प्रवर्तित होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। रासलीलानुकरण के सम्बन्ध में अनेक विवाद प्रचलित हो गये हैं, उनका विवेचन आगे की पंक्तियों में प्रमाण पुरस्सर किया जायगा।

रासलीलानुकरण के सम्बन्ध में हम विदेशी अंग्रेज विद्वानों का अभिमत, श्री नारविन हर्बन हेवन लिखित लेख के आधार पर यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जेम्स टाड लिखित 'दि एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ़ राजस्थान' में हमें तत्कालीन रासलीला का आँखों देखा वर्णन उपलब्ध होता है। रासधारियों के कृत्य के विषय में वे लिखते हैं—'वे प्रायः किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं। मथुरा में रास-सम्बन्धी शिक्षा पाते हैं जहाँ एक बड़ा भूभाग उनकी आजीविका का साधन है। शरद ऋतु में वे देश के विभिन्न भागों में, हिन्दू राजाओं के दरबारों में रास करने के लिए निकल पड़ते हैं। गायकों के अतिरिक्त चार अभिनेता भी होते हैं और सब सुन्दर-वदन होते हैं।'

रासलीला का वर्णन करने वाले दूसरे अंग्रेज सज्जन ब्रोटन हैं। उन्होंने रासलीला का बड़ी आलंकारिक भाषा में सविस्तार वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'रास बैले (समूह-नृत्य) के समान हुआ। इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था, किन्तु

जी का परलोकगमन बहुत समीप ठहरता है। स्वामीजी जैसे उच्चकोटि के महात्म
लेकर मथुरा जाने का जो प्रयोजन लिखा है वह भी अधिक बुद्धिगम्य और युक्ति-संगत
नहीं होता।[1]

अपनी इस बात की पुष्टि में ब्रह्मचारी जी ने राधाकृष्ण रासधारी लिखित 'रास स
को प्रमाण माना है। किन्तु राधाकृष्ण रासधारी ने अपनी पुस्तक में रासलीलानुकर
श्रेय घमण्डदेव जी को नहीं दिया है। केवल एक कल्पित कथानक का वर्णन देकर
स्वामी-मतानुयायी किन्हीं आचार्यजी को मूल प्रवर्तक बताया है। घमण्डदेवजी को
शिष्य-प्रशिष्य बनाने का आदेश मात्र उस कथा में आया है, उन्हें लीलानुकरण का प्र
नहीं माना गया।[2]

ब्रह्मचारी बिहारीशरणजी ने स्वामीजी के साथ मथुरा जाने और वहाँ विश्रा
पर पहुँचते ही श्री घमडदेवजी के चमत्कार का वर्णन किया है। घमंडदेवजी ने सू
समान चमकते हुए मुकुट का दर्शन कराया। इस मुकुट-दर्शन का अर्थ स्वामी हरिदास
एकत्र राजाओं को यह बताया कि इस दर्शन का तात्पर्य है 'रासलीलानुकरण का आविष्कार

'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' पुस्तक के लेखक श्रीकृष्णदास कु
सरोवर वाले बाबाजी ने ब्रह्मचारी बिहारीशरणजी की एक और भयंकर ऐतिहासिक
सम्बन्धी भूल की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—

'बिहारीशरणजी लिखते हैं—"और जब आमेर का राजा मानसिंह मुकुट दे
को करहला में घमंडीदेवजी के पास आया तो पहले स्वामी हरिदासजी तथा रूप सन
के दर्शन कर पीछे करहला गया।" यह भी बिल्कुल मिथ्या है। क्योंकि रूप, सनातन
ब्रज में आगमन काल सम्वत् १५७४ है। जब १५६५ सम्वत् में घमडदेवजी का देहान्त
चुका था तब १५७० सम्वत् में उनकी करहला में स्थिति और मानसिंह का आगमन कैसे
सकता है। राजा मानसिंह का वृन्दावन आना १६४७ सम्वत् है। १५६५ में तो मान

---

१. श्री सुदर्शन पत्रिका, किरण १, प्रकाश ४, पृष्ठ २३ (वृन्दावन)।

२. राधाकृष्णदास लिखित 'राससर्वस्व' पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। उक्त क
हमने श्रीकृष्णदास कुसुम सरोवर द्वारा लिखित 'रासलीलानुकरण और श्रीनाराय
भट्ट' नामक पुस्तिका से ग्रहण की हैं। इसमें भी सार रूप में यह कथानक लिखा
—रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, पृष्ठ ३८-३९

३. देखिए 'सुदर्शन पत्रिका', किरण १, प्रकाश ४, पृष्ठ २१ (वृन्दावन)।
"तहाँ स्वामी एवं घमडदेवजी ने, विश्रामघाट पर बहुत ही अ
आकाश के शून्य स्थान में चमकते हुए सूर्य के समान मुकुट का दर्शन कराया
अलौकिक मुकुट का दर्शन कर नृप समाज में अत्यन्त प्रसन्नता हुई। तब राजा
ने प्रार्थना की कि—महाराज ! हमारे लिये कुछ सेवा की आज्ञा करो। तब स्वा
जी ने इस दर्शन का प्रयोजन 'रासलीलानुकरण आविष्कार' बताकर बावन राजा
से स्वीकृत स्वरूप ताम्रपत्र ले घमंडदेवजी को दी।"

उन्होंने कहीं वर्णन नहीं किया। किन्तु यह तो अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि सोलहवीं ाब्दी से पहले ही रामलीलानुकरण देश के अन्य भागों में प्रारंभ हो गया था। जैन रास- ला तो बहुत प्राचीन है किन्तु ब्रजमंडल में विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द पहले रासलीलानुकरण का कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता।

रासलीलानुकरण के प्रवर्त्तन के संबंध में तीन मत हमारे सुनने और पढ़ने में आये हैं। नों मतवादों के पीछे साम्प्रदायिक आग्रह भी हो सकता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से काल- र्णय करके यदि तीनो मतों की विवेचना की जाय तो आदि-प्रवर्तक की शोध दुष्कर ो है। हम तीनों मतों पर क्रमशः विचार व्यक्त करेंगे :—

१—निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री घमडदेवाचार्य को रासलीलानुकरण का ादि प्रवर्तक ठहराते हैं। इस सबंध में ब्रह्मचारी बिहारीशरण ने 'निम्बार्क माधुरी' की मिका में,[1] 'सुदर्शन'[2] पत्र में तथा 'मुकुट की लटक'[3] पुस्तिका में अपने विचार व्यक्त किये । उनकी स्थापना है कि रासलीलानुकरण के आदि प्रवर्त्तक श्री घमडदेव श्री हरिव्यास ाचार्य के शिष्य थे। उनका आविर्भाव काल संवत् १४५९ के लगभग है। संवत् १५६५ के ासास निज अगार कीर्ति को छोड़ करहेला ग्राम में निकुंजधाम को पधारे। जन्म तथा मृत्यु- वत् स्थिर करने के बाद 'मुकुट की लटक' में उन्हें सवा चार सौ वर्ष प्राचीन भी बताते हैं ो जन्म सवत् से पूरे सौ वर्ष का अन्तर उत्पन्न करने वाली बात है। इसके साथ ही बादशाह कबर का शासनकाल भी लेखक ने इसी प्रसंग में जोड़ कर अपनी ऐतिहासिक गलती को कट कर दिया है। एक ही व्यक्ति के तीन विभिन्न काल कैसे हो सकते हैं जबकि उन्हें १०६ र्ष की आयु का माना गया है।

'सुदर्शन' पत्रिका में अपने रास-विषयक लेख में ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने आगे लेखा है कि श्री घमडदेव जी स्वामी हरिदास जी तथा कतिपय अन्य सन्त-महंतों को संग लेकर मथुरा गये। स्वामीजी के जीवन-वृत्त पर अभी तक प्रामाणिक रूप से कोई प्रकाश नहीं पड़ा है फिर भी जो अनुश्रुति परम्परा से चली आ रही है यदि उसे स्वीकार किया जाय तो निधुवन में स्वामीजी का आगमन-काल और ब्रह्मचारी जी द्वारा निश्चित घमडदेव

१—बरसाने में भाद्रमास के शुक्ल पक्ष में नवमी से चतुर्दशी तक एक मेला होता है, इसमें श्री घमंडदेवाचार्य के द्वारा प्रकटित रासलीला बरसाने-स्थित रासमण्डली पर हुआ करती है।

—निम्बार्क माधुरी—भूमिका पृष्ठ ग—घ० बिहारीशरण, वृन्दावन।

२—'सुदर्शन' (निम्बार्क सम्प्रदाय का धार्मिक पत्र, वृन्दावन) प्रथम प्रकाश—चतुर्थ किरण, पृष्ठ १९।

३—"प्रायः सवा चार सौ वर्ष के लगभग प्राचीन काल में अकबर बादशाह के शासना- न्तर्गत निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री घमण्डदेव नामक नैष्ठिक ब्रह्मचारी विरक्त वैष्णव हुए।"

—मुकुट की लटक, ले० ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ १—२।

श्री घमंडदेवजी को रासलीलानुकरण का मूल प्रवर्तक सिद्ध करने के लि
की सटक' और 'सुदर्शन' पत्रिका की जिन बातों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनका नि
साथ ही साथ हो गया है क्योंकि उनमें वदतोव्याघात दोष है। बाबा कृष्णदास, कुसुम
ने भी अपनी रासलीलानुकरण में सविस्तार उनका खंडन किया है।

श्री घमंडदेव यदि रासलीला-प्रवर्तक होते तो नाभाजी अपने भक्तमाल
विषय में कुछ संकेत देते या प्रियादास जी अपनी टीका में ही कुछ चर्चा करते।
भक्तमाल में तो इनका नाममात्र को परिगणन है, रास-विषयक कोई उल्लेख नहीं
ध्रुवदासजी ने अपनी भक्त-नामावली-टीका में इनका वर्णन किया है और
रासोपासना की चर्चा करते हुये वंशीवट पर वास करते हुये श्यामा-श्याम के गान की

---

१. भक्तमाल—नाभाजी कृत, छप्पय ४८८, पृष्ठ ६१३।
"वृन्दावन की माधुरी इन मिल आस्वादन कियो।
घमंडी युगल किशोर भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़ व्रत लियो॥"

टिप्पणी—

नाभाजी के इस छप्पय में 'घमण्डी' का केवल नाम है। रास-विषयक कोई उ
नहीं। इन बारह व्यक्तियों में रास-प्रेमी दो महात्माओं के चरित्र पर प्रियादासजी
भक्तमाल की टीका के कवित्त ३७३ में प्रकाश डाला है। ये दो महानुभाव हैं अली भग
और वीठल विपुल। अली भगवान् को रासमंडल पर रास विहार देखकर सुधि भूलि ग
प्रश्न यह है कि कौन से रासमंडल पर अली भगवान् ने रास देखा? उत्तर स्पष्ट है
वृन्दावन के सब से प्राचीन रासमण्डल का ही यहाँ उल्लेख हुआ है जिसे श्री हितहरि
जी ने सं० १५९१ में चीरघाट के समीप बनवाया था और जो आज भी वृन्दावन
स्थित है।

प्रियादास का कवित्त—

अलि भगवान्, राम सेवा सावधान मन,
वृन्दावन आये कछु औरे रीति भई है॥
देखे रासमंडल में विहरत रस रास,
बाढ़ी छवि प्यास दृग, सुधि बुधि गई है॥
नाम धरि रास औ बिहारी, सेवा प्यारी लागी,
लगी हिय माँझ, गुरु सुनी बात नई है॥
विपिन पधारे आप, जाये पग धारे सीस,
'ईश मेरे तुम' सुख पायो कहि दई है॥
—कवित्त ३७३, पृष्ठ ६१४।

का जन्म भी नहीं हुआ था और रूप सनातन बंगाल से वृन्दावन नहीं आये थे।[1]

विवेचन

उपर्युक्त युक्ति और प्रमाणों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात है श्रीघमंडदेवजी का आविर्भाव-काल और वृन्दावन-वास का समय। ब्रह्मचारी बिहारीशरणजी ने उनको हरिव्यासदेवाचार्य का शिष्य बताया है और उनका जन्म सम्वत् १४५६ के लगभग ठहराया है। यह किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधृत नहीं कहा जा सकता। इतिहास-प्रसिद्ध है कि श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी श्री भट्टजी के शिष्य थे। श्री भट्टजी रचित 'युगलशतक' के अन्त में उसका जो रचनाकाल दिया हुआ है वह सम्वत् १६५२ ही विद्वानों ने स्थिर किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्राचीन हस्तलिखित पोथी में भी 'राग' पाठ है और तदनुसार जुगलशतक का रचना-सम्वत् १६५२ ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु तथा अन्य इतिहास-लेखकों ने श्री भट्ट का जन्म संवत् १५९५ के लगभग माना है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय में जुगलशतक का रचना सम्वत् १३५२ माना जाता है। किन्तु १३५२ सम्वत् स्थिर करने वाले विद्वान् यह भूल जाते हैं कि उस समय व्रजभाषा का उद्भव और विकास किस कोटि तक हुआ था। यह विद्यापति का रचनाकाल है जब अपभ्रंश तथा शौरसेनी के प्राचीन रूप ही भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे। व्रजभाषा का जैसा परिमार्जित रूप युगलशतक में है वैसा तो सत्रहवीं शताब्दी से पहले कदापि सम्भव नहीं हो सकता। श्री भट्टजी के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध ही है कि वे केशव काश्मीरी के शिष्य थे। केशव काश्मीरी और चैतन्य महाप्रभु की भेंट का विवरण प्राचीन भक्तमाल में है। प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में इसका उल्लेख किया है। चैतन्य महाप्रभु का समय सम्वत् १५४२ से १५९० तक है। इसी बीच में केशव काश्मीरी रहे। अतः श्री भट्टजी का समय उसी परम्परा में स्वीकार करना ऐतिहासिक क्रम के साथ चलना है। 'युगल शतक' का रचनाकाल यदि १६५२ संवत् है तो श्री भट्ट जी इसके आसपास संवत् १६६० तक जीवित रहे होंगे। श्री हरिव्यासदेवजी का आविर्भाव यदि १६२० के समीप मानकर उन्हें लम्बी आयु का भी माना जाय तो श्री घमंडदेव जी १६६० के समीप कभी इनके शिष्य हुए होंगे। निश्चित रूप से एक सम्वत् को जन्मकाल न बताकर हम केवल उनके जीवन-काल का समय ही स्थिर कर सकते हैं। उनके आधार पर यदि १६६० के लगभग घमंडदेव जी का काल स्थिर होगा, जो ब्रह्मचारी बिहारीशरणजी के इतिहास-विरुद्ध काल से लगभग सवा दो सौ वर्ष बाद का ठहरता है। इतने पीछे उत्पन्न हुए घमंडदेव जी को रासलीलानुकरण का मूल प्रवर्त्तक कैसे माना जा सकता है।

---

1. रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट—पृष्ठ ४१।
   लेखक—कृष्णदास कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा।
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१०।

लिए चलने लगे। ब्रज में तीर्थ-समूह कर फिर राधाकुण्ड में अपने गुरु के पास वास किये। और वहीं 'ब्रजभक्तिविलास' प्रभृति सप्त ग्रंथ निर्माण किये। ब्रजभक्ति विलास की सम्पूर्ति समय १६१० सम्वत् है फिर वहाँ से ऊंचे गाँव जाकर रहने लगे। श्री बलदेवजी वहाँ जाकर प्रकट हुए। कुछ रोज बरसाना में श्रीजी प्रकट हुई। आप श्रीजी को प्रकट कर प्रिय शिष्य श्री नारायणदास श्रोत्रिय को सेवा का भार अर्पण किये स्वयं बलदेवजी की सेवा करने लगे। श्रीजी का प्रादुर्भाव काल सम्वत् १६२६ में आषाढ़ सुदी २ का है। उसी दिन से अभी तक सब गुसाईं लाड़िलीजी का व स्वामी का पाटोत्सव मनाते हैं। स्वामी नारायणदासजी पहले एक झोंपड़ी में सेवा करते थे। पीछे विहाल मन्दिर बन जाने पर श्रीजी को पधराय कर सेवा करने लगे। + + +। फिर हरि आज्ञा से मनोहर ब्राह्मण बालकों को प्रियाजी प्रभृति का वेष बनाकर रासलीलानुकरण द्वारा रसिक भक्तों को कृतार्थ कर दिये। श्री स्वामी हरिदासजी, नाभाजी प्रभृति महानुभाव रसिकों का आगमन होता था। संकेत में राधारमण मूर्ति का साक्षात् दर्शन हुआ। उनके आदेशानुसार समस्त भागवत की रसिकाह्लादिनी टीका बनाये। बूढ़ी लीला भी होने लगी। जो कि अब तक भाद्र मास में हो रही है। आप वैष्णव मंडली को लेकर ब्रजयात्रा व वनयात्रा करने चले। ब्रजयात्रा भी उनसे चली है। उनने जयात्रा व वनयात्रा के लिए दो अद्भुत ग्रंथ बनाये। एक 'ब्रजभक्तिविलास' और दूसरा 'वृहत्व्रजगुणोत्सव'। + + +। आप जन्माष्टमी के दिवस पुत्र दामोदर भट्ट गोस्वामी को गद्दी का समस्त भार देकर शिष्यमंडली और वैष्णवमंडली की उपस्थिति में त्रिवेणी के मध्य में गये और अन्तर्धान हो गये। यह समय १७०० सम्वत् से कुछ पहले अनुमान किया जाता है।"[1]

यदि इस विवरण को श्री नारायण भट्ट का प्रामाणिक जीवन-वृत्त स्वीकार कर लिया जाय तो इसमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम जन्म सम्वत् १५८८; द्वितीय ब्रज आगमन काल १६०२; तृतीय ब्रज में रासलीलानुकरण के लिये ब्राह्मण बालकों को प्रियाजी का वेश बनाकर सम्वत् १६२६ में निकालना।

इस विवरण का फलितार्थ स्पष्ट है कि सम्वत् १६२६ से पहले ब्रज में रासलीलानुकरण नहीं होता था। किन्तु वृन्दावन में सम्वत् १५९१ में जब रासमंडल की स्थापना का अनेक वाणियों में तथा श्रीहितहरिवंश चरित्र में उल्लेख है तो यह कैसे माना जा सकता है कि श्री नारायण भट्ट ने इतने बाद के काल में अनुकरण का प्रवर्त्तन किया। श्री हरिवंशजी का देहावसान काल सम्वत् १६०९ है। उनके काल में श्री हरिराम व्यास का रासलीला की कथा का नाभाजी ने भी उल्लेख किया है जिसे हम विस्तार से इसी प्रकरण में आगे दे रहे हैं।

तब यह प्रश्न विचारणीय है कि श्री नारायण भट्ट की अनुकरण-प्रवर्त्तक के रूप में ख्याति कैसे हुई और नाभाजी के छप्पय आदि का क्या तात्पर्य है? इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि नाभाजी ने रासलीला प्रवर्त्तक होने का कोई संकेत नहीं दिया, हाँ, मथुरा-मंडल के गोप्य स्थलों में प्रकट करने की बात कही है। (स्मरण रहे वृन्दावन के गोप्य स्थलों के

---

१. 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट'
लेo—श्रीकृष्णदास, कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा—पृ० २३-२६ तक।

पता बताई है।[1] रासलीलानुकरण का या करहेला गाँव में रहने आदि का संकेत भी नहीं है। श्री घमंडदेव रचित कोई वाणी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है अतः यह कहना भी कठिन है कि उन्होंने स्वयं इस विषय में कोई संकेत प्रस्तुत किया। फलतः श्री घमंडदेव को रासलीलानुकरण का प्रवर्त्तक नहीं माना जा सकता।

श्री घमंडदेव के प्रवर्त्तक होने की बात सिद्ध न होने पर स्वामी हरिदासजी को रासलीला का प्रवर्त्तक कहा जाता है जो आंशिक रूप से सत्य होने पर भी पूर्णतया युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। स्वामी हरिदासजी विरक्त साधु थे। रासलीलानुकरण के लिये पार्थिव साधन जुटाना और रंगमंच की भूमिका में आना उनकी साधुवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है। 'केलिमाल' पुस्तक के सम्पादक आचार्य छबीलेवल्लभ गोस्वामी ने स्वामीजी को रासलीला-प्रवर्त्तक लिखा है। "कहा जाता है कि रासलीला का प्रारम्भ भी श्री स्वामीजी ने ही किया था। श्री स्वामी हरिदासजी एवं वल्लभाचार्य महाप्रभु ने मंत्रणा करके माथुर चतुर्वेदियों के आठ बालक माँगकर मथुरा में विश्राम घाट पर रासलीला का सर्वप्रथम आयोजन किया। इसमें श्री स्वामीजी ने श्री राजेश्वरी का शृङ्गार किया और श्री वल्लभाचार्य जी ने श्री श्यामसुन्दर को सजाया। इस रासलीला का मुकुट श्री स्वामीजी ने घमंडदेवजी को प्रदान किया। और करहला जाकर रासलीला मंडली का संगठन करने की उन्हें प्रेरणा दी। श्री घमंडदेव जी द्वारा ही रासलीला का प्रचार हुआ।[2]"

२—रासलीलानुकरण के प्रवर्तन का श्रेय कुछ विद्वान् श्री नारायण भट्ट को देते हैं। श्री नारायण भट्ट महोदय चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी परम विद्वान् तैलंग ब्राह्मण थे। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आपने शताधिक ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में रचना की थी। आपके रचित अनेक ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। श्री नारायण भट्ट को रासलीलानुकरण का प्रवर्तक मानने के पक्ष में नाभाजी कृत भक्तमाल का छप्पय, प्रियादास टीका का कवित्त और ध्रुवदास जी कृत भक्तनामावली का दोहा प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन प्रमाणों पर विचार करने से पूर्व हम श्री नारायण भट्ट जी की जन्म-तिथि तथा जीवन-काल पर विचार करना उचित समझते हैं। उनका जीवन-काल स्थिर हो जाने पर उनके द्वारा रासलीलानुकरण के प्रवर्त्तन पर गवेषणात्मक दृष्टि से विचार सम्भव होगा।

श्रीकृष्णदास कुसुम सरोवर लिखित 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' पुस्तक में आपका जन्म सम्वत् १५८८ ठहराया है। तथा ब्रज-आगमन-काल १६०२ सम्वत् स्थिर किया है। इन दोनों सम्वतों का आधार गोस्वामी जानकीप्रसाद रचित 'नारायण भट्ट चरितामृत' है। इसी पुस्तक के आधार पर अन्य जीवनवृत्त भी सकलित करके लिखा गया है। "कुछ रोज भक्तिशास्त्र का अध्ययन कर महापराक्रमी होकर तीर्थ-समूह का उद्धार करने के

---

१. घमंडी रस में घमडि रह्यौ वृन्दावन निज धाम।
बंसीवट तट वास किय, गाये श्यामा श्याम॥
—ध्रुवदास कृत, 'भक्तनामावली लीला'।

२. श्री केलिमाल—सम्पादक, आचार्य छबीलेवल्लभ गोस्वामी, पृ० १७ (वृन्दावन)

श्री नारायण भट्ट के विषय में 'मथुरा मेमायर्स' के लेखक अंग्रेज विद्वान् ग्राउस ने भी अपना विवरण प्रस्तुत किया है और उन्हें रासलीला तथा वनयात्रा का संस्थापक ठहराया है। ग्राउस महोदय ने ईस्वी सन् १८८० में अपना ग्रंथ लिखा। उस समय तक व्रजमंडल में जो अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हो गई थीं उन्हीं को मानके आधार मानकर अपनी बात कही है, किसी अनुसंधान के आधार पर नहीं।[1] बाबा कृष्णदास (कुसुम सरोवर) ने तो श्री नारायण भट्ट को वैष्णव व्रजयात्रा का भी प्रवर्तक बताया है जो व्रजयात्रा के सुप्रसिद्ध इतिहास का सर्वथा तिरस्कार करके लिखा है। वैष्णव व्रजयात्रा 'वल्लभ सम्प्रदाय' की है और अभी तक उसी अविच्छिन्न परम्परा में वल्लभ कुल के द्वारा नियंत्रित होकर चलती है। श्री वल्लभाचार्य की चौरासी बैठकें व्रज में प्रसिद्ध हैं जहाँ श्री वल्लभाचार्य ने भागवत-कथा पढ़ी थी। उन्हीं स्थानों पर होती हुई यह यात्रा आज भी जाती है।

श्रीकृष्णदास ने अपनी पुस्तक में चैतन्य सम्प्रदाय के कतिपय अन्य विद्वानों के भी प्रमाण श्री नारायण भट्ट के पक्ष में प्रस्तुत किये हैं किन्तु हम उन पर इसलिये विचार करना अनावश्यक समझते हैं कि वे बहुत अर्वाचीन लेखक हैं तथा उनका ऐतिह्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

श्री नारायण भट्ट के संबंध में उपर्युक्त पंक्तियों में जो विचार-विमर्श किया गया है उसका निष्कर्ष यही है कि श्री नारायण भट्ट ने अपने जीवनकाल में दो महान् कार्य किये, एक तो मथुरा-मंडल के अनेक गोप्य स्थलों का प्राकट्य और दूसरा रासलीला का अनुकरण करवा कर उसका प्रचार करना, प्रवर्तन या लीलानुकरण प्रारंभ करने का श्रेय आपको देना ऐतिहासिक साक्ष्य की अवहेलना करना है। श्री नारायण भट्ट से पहले वृन्दावन में श्री हितहरिवंशजी, स्वामी हरिदास जी तथा श्री हरिराम व्यास जी का रासलीलानुकरण तथा रास-मंडल स्थापना का अनेक वाणी ग्रंथों में वर्णन उपलब्ध होता है। श्री नारायण भट्ट ने रासलीलानुकरण के प्रचार में अवश्य ही सर्वाधिक योग दिया जिसके कारण उनको इस कार्य के संबंध में यश भी मिला। निस्संदेह अनुकरण के प्रचार के लिए वे यश और ख्याति के पूर्णतया अधिकारी हैं।

३—अब तीसरा मत भी विचारणीय है। तीसरे मत के समर्थक हैं राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी, जो यह दावा करते हैं कि वृन्दावन में जो सबसे प्राचीन रास-मंडल उपस्थित है वह श्री गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा सवत् १५६१ में स्थापित किया गया था। इस रास-मंडल पर गोस्वामी जी के जीवनकाल में रासलीला होती थी और स्वामी हरिदास

---

1. The Vaishnava culture thus first developed into its present form under the influence of Rupa and Sanatana, the celebrated Bengali Gossins of Brindaban. It was disciple Narain Bhatta, who first established the Banjatra and Raslila, and it was from him that every lake and grove in the circuit of Braj received a distinctive name in addition to the same seven or eight spots, which alone are mentioned in the earlier Puranas.

—A District Memoir of Mathura by Growse, Page 89

प्राकट्य की बात नहीं कही)।[1] प्रियादासजी ने अपनी टीका के कवित्त में 'ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकट किए' अवश्य कहा है जो रास-विषयक अभिरुचि का द्योतक है।[2] श्री ध्रुवदासजी ने भी भक्तनामावली में 'ठौर-ठौर रचना करी प्रकट कियो संकेत' कहा है जो रास की रचना करने का ही रूप माना जाता है।[3] इन तीनों महानुभावों के संकेतों से यह तो स्पष्ट है कि श्री नारायण भट्ट रासलीला में विशेष अभिरुचि रखते थे और जहाँ-तहाँ रासलीला करवा कर रसिक जनों को तृप्त करते थे। श्री नारायण भट्ट की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं। हमारी भी उक्त उल्लेखों के आधार पर यह धारणा बन गई है कि उस काल में आप रासलीला के सबसे प्रबल प्रचारक रहे होंगे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सोलहवीं शताब्दी में प्रवर्तित लीला का आपने प्रारम्भ किया। लीलानुकरण तो सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वृन्दावन में प्रारम्भ हो गया था, जब तक श्री नारायण भट्ट दक्षिण देश से व्रजभूमि में पधारे भी नहीं थे, अतः हम उन्हें आदि प्रवर्तक कैसे स्वीकार कर सकते हैं।

---

१. गोप्य स्थल मथुरा मंडल जिते वाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रकट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति सुधा को सिन्धु सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य कृष्ण लीला को भाजन।
ज्ञान स्मारत पक्षको नाहिन कोउ खण्डन किये।
व्रजभूमि उपासक भट्टसों रचिपचि एकै किये॥

—भक्तमाल नाभाजी कृत—छप्पय ८७।

२. भट्ट श्री नारायणजू भये व्रज पारायण
जाय जाई गाँव तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावै इहाँ प्रभुका स्वरूप है जू
लीला कुंड धाम श्याम प्रकट दिखाये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकास किये
जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा ते कही चल्यो वेनो पूछें वेनो कहाँ
ऊँचे गाँव आइ खोदि सीतलं दिखाये हैं।

—भक्तमाल टीका प्रियादास कृत, कवित्त सं० १५५।

३. भट्ट नारायण अति सरस व्रजमंडल सों हेत
ठौर-ठौर रचना करी प्रकट कियो संकेत॥

—भक्तमाल नामावली—ध्रुवदास कृत पद सं० १२।
(ब्यालीस लीला में प्रकाशित)

जाता है जो इस तथ्य का द्योतक है कि इसी दिन रासमंडल पर नाम-सेवा की स्थापना और लीलानुकरण प्रारम्भ हुआ था।[1]

लीलानुकरण के लिए रासमंडल-स्थापना का उल्लेख परवर्ती अनेक महानुभावों ने अपनी वाणियों में किया है। चाचा वृन्दावनदासजी की 'हित वन्दन पत्रिका' में से हम कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके रासमंडल स्थापना का अंकन करना आवश्यक समझते हैं क्योंकि रास में गाई जाने वाली सर्वाधिक लीलाएं श्री चाचा वृन्दावनदासजी ने ही लिखी हैं—

सेवा कुंज जु प्यारी ठौर, जहाँ नित विहरं श्यामल गौर।
आज्ञा दे मन्दिर बनवायौ, तहाँ हित हाथणु भोजन पायो॥
मन्दिर भोग धरत हो जैसे, सेवा कुंज धरो नित ऐसें।
रजनी यहाँ आवं नाहिं कोऊ, यामें नित सन्तत हम दोऊ॥
धीर घाट पै रच्यो जु मंडल, हम नित रास रमत है उहपल।
लीला ठौर बिताएं अपने, कोउ परतिच्छ कोउ है सपने॥

—चाचा वृन्दावनदास लिखित, हितवन्दन पत्रिका, पद सं० १२६ से १२८ तक।

श्री हितहरिवंशजी के समकालीन व्यासजी के सम्बन्ध में जो इतिवृत्त मिलता है उसमें उनका रासलीलानुकरण-परायण होना स्थान-स्थान पर वर्णित है। वाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के साक्ष्य के आधार पर व्यासजी का रासलीला-प्रेम सिद्ध होता है।

श्री भगवत मुदित ने अपने रसिकमाल में व्यासजी का वर्णन करते हुए लिखा है—

'रास विलास महोत्सव पागे, श्री गुरु साधुन सेवन लागे।'[2]

नाभाजी अपने भक्तमाल में व्यासजी का वर्णन करते हुए एक कथा का संकेत देते हैं। कथा इस प्रकार है—एक बार रासमंडल पर प्रत्यक्ष रासलीला (अनुकरण) हो रही थी। प्रिया-वेषधारी राधाजी का नृत्य करते समय नूपुर छूटकर उंगली से अलग गिर पड़ा। उस समय व्यासजी ने अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसके सूत्र में नूपुर पिरोकर प्रियाजी के चरण में पहना दिया। सामाजिकों ने पवित्र जनेऊ के तोड़ने पर आपत्ति उठाई तो व्यासजी ने कहा कि इसका भार ढोते-ढोते जन्म व्यतीत हुआ, आज इसका परम सौभाग्य है जो श्री प्रियाजी के चरणों में पहुँचकर कृतार्थ हुआ। साथ ही यह भी कह दिया कि हमारी तो कोई जात-

---

१. सेव्य राधिकावल्लभ छाप, अति उत्सव हित जुत जु प्रताप।
थापन थापक श्री हरिवंश, सब मिलि कीनौ तिलक प्रशंस॥२८
सेव्य नामसेवा सुख मूल, सदाचार सम्पति अनुकूल।
विधि अरु अविधिन वह कछु जानें, परिपाटी पद्धति पहिचानें॥२६
कातिक वदी द्वितीया को रास-मंडल वेष स्वरूप प्रकाश।
निरवूपित सवसों जु अविरुद्ध, नित्यविहार सार सुख शुद्ध॥ ३०
मान अमानिनि दे रस बरसौ, मधुर स्वभाव चित्त आकर्ष्यो॥३१
—जयकृष्णजी की वाणी (हस्तलिखित प्रति)

२. भगवत मुदित कृत—रसिक माल, पद सं० ३८।

जो तथा हरिराम व्यासजी इन लीलाओं में सम्मिलित होकर आनन्दलाभ करते थे। राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्य रास के साथ भौतिक पृथ्वीमण्डल पर—अनुकरण द्वारा लीला करने का विधान है।[1] इसलिये जहाँ रास का वर्णन आया है वहाँ सब जगह केवल आध्यात्मिक रास से ही प्रयोजन नहीं है। नित्य रास, जैसा विहार या निकुंजलीला में स्वीकृत किया जाता है, वैसा ही सांसारिक प्राणियों के दर्शनार्थ वृन्दावन के रासमण्डलों पर भी होता है जिसमें ब्रजवासी ब्राह्मणों के बालकवृन्द प्रिया-प्रियतम का वेश धारण करके लीलाएँ करते हैं।

श्री व्यासजी ने, जो हितहरिवंश जी के शिष्य और समकालीन थे उनकी बधाई लिखते हुए स्पष्ट कहा है—

> नमो-नमो जै श्री हरिवंश।
> रसिक अनन्य वेणु कुल मंडन, लीला मानसरोवर हंस।
> नमो जयति श्री वृन्दावन रास विलास प्रशंस।
> आगम निगम अगोचर राधे, चरण सरोज व्यास अवतंस ॥[2]

श्रीभगवत मुदित और श्री उत्तमदासजी ने अपने रसिकमाल में श्री हरिवंश चरित्र लिखते हुए उन्हें 'रासकेलिरस रसिकन दीनो' कहकर स्मरण किया है। उत्तमदासजी हरिवंश-चरित्र लेखकों में बहुत प्राचीन हैं और उनकी वाणी को प्रामाणिक समझा जाता है।[3]

गोस्वामी कुंजलालजी के शिष्य जयकृष्णजी ने (सं० १७७०) अपनी वाणी में रास-लीलानुकरण पद्धति का विवरण तथा रासमंडल स्थापना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कार्तिक वदी द्वितीया को श्री हरिवंशजी ने नाम-सेवा की स्थापनापूर्वक रासमंडल बनाया। यह तिथि आज भी सम्प्रदाय में रासमंडल पर नामसेवा की तिथि मानी जाती है। समस्त सम्प्रदायों में शरद-पूर्णिमा को रासोत्सव दिवस मनाया जाता है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में दो दिन बाद कार्तिक वदी द्वितीया को दूसरा शरदोत्सव मनाया

१—"रासलीला करें तो वेष ब्रजवासी के बालक होहि उनके उच्छिष्ट में अरु गुरु के उच्छिष्ट में ग्लानि न करे। ज्यों सरूप त्यों वेष, पहले युगल आगे पनवारो राखे, तब सब सखि वेष आगे धरें।"

—हस्तामलक—(हस्तलिखित प्रति)
—गोस्वामी दामोदरवरजी कृत (जन्म सं० १६३४)

२. व्यासवाणी—(पूर्वार्द्ध) पद संख्या—३।

३ मंडल चैन घाट जंह कीनो, रास केलि रस रसिकन दीनो।

—उत्तमदास कृत वाणी—चौपाई सं० १५० (हस्तलिखित प्रति)

सोई घटी, सोई दिन, सोई पल, सोई छिन ।
जबही मिलत मेरो प्यारे के प्यारे ।
\+ \+ \+
सोई व्यास सोई दास त्रास तजि, हरि
भजि, रास दिखावै सोई प्राण हमारे ॥[1]

इसमें उसी को भक्त कहा गया है जो हरिभजन करके प्रत्यक्ष रास दिखाता है ।

राधावल्लभ के गुन गाइ लेहु ।
\+ \+ \+
पावन पुलिन रासमंडल में मन दै तनहि नचाइ लेहु ।
गद्‌गद् स्वर कोमल पुलकित चित्त आनन्द नीर बहाइ लेहु ।[2]

इस पद में रासमडल में होने वाली रासलीला का वर्णन है जिसमें मन ही नहीं वरन् 'तन का नचाना' गद्‌गद् स्वर' 'पुलकित कोमल चित्त होकर आनन्दाश्रु बहाना' सब अनुकरणात्मक रास के लिए ही व्यासजी ने लिखा है । इस पद के प्रत्येक शब्द की व्यंजना भावनात्मक रासपरक न होकर लौकिक जगत् में प्रत्यक्ष रूप से घटित लीला पर आधृत है ।

जाके मन बसै वृन्दावन ।
\+ \+ \+
ताके व्यास रासरस बरषत बहि गई कामिनि कंचन ।[3]

यहाँ भी रासलीला के दर्शन से कामिनी और कंचन की कामना के दूर होने की बात कही गई है ।

सोई जननी जो भक्तिहि जावै ।
\+ \+ \+
सोई व्यास जो रास करावै ।[4]

यहाँ 'रास कराना' शुद्ध लौकिक लीलानुकरण का ही भाव है । व्यास से तात्पर्य मंडली के प्रधान श्री हरिवंशजी से है । अतः रास निर्माण उनका कार्य बताया है ।

जो हौं सत्य मुकुल कौ जायो ।
\+ \+ \+
रासविलास जहाँ होते तहँ मलि या गौरिस गायो ।[5]

इस पद में गौरी-वन्दना करने वालों को शाप दिया गया है । उनकी पुत्री के विवाह

---

1. व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद संख्या—२२८
2. " " " " २१७
3. " " " " १७४
4. " " " " १७१
5. " " " " १२०

पांत नहीं, हम तो रसिक हैं, हमें यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण मत समझो। इस कथा को प्रियादास जी ने सविस्तर अपनी टीका में लिखा है।[1]

नाभाजी ने अपने छप्पय में जिस 'महत् सभा' का उल्लेख किया है यह उन्हीं महानुभावों की है जो उस समय रासलीला में बैठकर आनन्द-लाभ करते थे। इनमे हरिवंशजी, नरवाहन जी, बीठलजी, मोहनदासजी, नाहरमलजी, व्यासजी आदि का वर्णन अन्यत्र भी आता है। हरिवंशजी का समस्त परिकर ही इस महत् सभा में समाविष्ट था।

व्यासजी ने अपनी वाणी में रासलीलानुकरण पर जो लिखा है उसे हम आभ्यन्तर साक्ष्य के रूप में ग्रहण करके व्यासजी की रास-विषयक मान्यता पर प्रकाश डालेंगे। व्यासजी रासलीला का संकेत देते हुए कहते हैं—

व्यास जहाँ प्रभु को भजन होते रासविलास।
ते कामिनि बस ह्वै गये, ऊत पितर के दास।[2]

इस साखी में जिस रास की ओर सकेत है वह भावनात्मक नित्यविहार वाला रास न होकर अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास ही है।

कुंजनि कुंजनि रसमय लूट।
दस दिसि निसि बासर वृन्दावन चन्द वृन्द सब छूट।
+ + +
रसिक अनन्य कहाइ अनत बसि ,राजा राउन पूट।[3]

इस पद में व्यासजी ने व्रज से बाहर जाकर रासलीला द्वारा राजा-रईसों से धन लेने वाली मडली पर आक्षेप किया है। जयमल नामक एक भक्त की रासमंडली राजस्थान के मेड़ता नामक नगर में गई थी जिसका उल्लेख हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

नैनन देख्यौ सोई भावै।
जोई कपट लोभ तजिकै श्री राधावल्लभ के गुन गावै।
रसिक अनन्य भक्त मंडल की मीठी बात सुनावै।
ताकै चरण शरण ह्वै रहिए, दिन प्रति रास दिखावै।
श्यामाश्याम करै सोई जो, व्यासदास सुख पावै।[4]

इस पद में जिस रसिक-मंडल द्वारा मीठी बात सुनाने और रास दिखाने की बात कही गई है वह भी भावनापरक रास से सम्बन्ध नहीं रखती। रसिक-मंडल में हरिवंशजी स्वामी हरिदासजी आदि की ओर ही व्यासजी का सकेत है। प्रतिदिन होने वाले रास से तात्पर्य चीर घाट वाले रासमंडल के प्रत्यक्ष अनुकरणात्मक रास से ही है।

---

१. भक्तमाल—नाभादासकृत छप्पय पृ० सं०
२. व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद सख्या—साखी
३. „ „ „ „ २४२
४. „ „ „ „ पद संख्या २३२

आचार्य द्वारा स्थापित होकर ज्यों की त्यों चली आ रही है। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है कि रासलीलानुकरण के आदि प्रवर्तक होने पर भी उसके सबसे प्रबल पोषक और समर्थ प्रचारक श्री नारायण भट्ट जी हैं अतः उनके द्वारा इसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि अवश्य हुए होंगे जो आज भी स्वीकृत हो सकते हैं। इसका श्रेय उन्हें मिलना ही चाहिए।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री हरिराम व्यास के अतिरिक्त अन्य सज्जनों द्वारा रास-लीलानुकरण का उल्लेख अनेक वाणियों में उपलब्ध होता है। भगवत् मुदित ने अपने 'रसिकमाल' में जयमल का चरित्र लिखा है और उन्हें रासलीला प्रेमी बताया है। कहते हैं कि जयमल श्री हरिवंश जी के शिष्य थे और दीक्षा लेने के बाद मेड़ता में रहकर रासलीला कराते थे। इनका जन्म सम्वत् १५३० के आसपास ठहरता है सम्वत् १६१० में आप ८० वर्ष के थे।

श्री हरिवंश रजु धर्म दृढ़, जयमल भक्त अनन्य।
स्वारथ परमारथ विषै, तासम लख्यौ न अन्य॥
कथा कीरतन सुमरन भाव, रास विलास महोत्सव चाव॥

—भगवत् मुदित कृत, रसिकमाल।
(जयमल चरित्र से उद्धृत)

दूसरे एक और सज्जन मोहनदासजी का उल्लेख गोविन्द अली तथा चाचा वृन्दावनदास की वाणियों में मिलता है। कहते हैं कि मोहनदासजी तथा उनके पुत्र माधुरीदासजी रासलीला करते थे। ये कामा के रहने वाले थे। प्रियाजी का वेष धारण कर उनके पुत्र रासलीला में अनुरक्त रहते थे। आप गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य थे। गोस्वामी दामोदरवरजी का रासमंडल वर्तमान वल्लीगंज में था, ऐसा भी वृन्दावन में प्रसिद्ध है। किन्तु वर्तमान समय में वल्लीगंज में भवन मात्र है, कोई रासमंडल नहीं है।

गोविन्द अलीजी ने (सम्वत् १८४०) मोहनदास के विषय में अपनी वाणी में इस प्रकार परिचय लिखा है—

श्री हित मोहनदास विप्र कामा के वासी,
सुत माधुर्य सरूप सकल गुन गन के रासी।
प्रिया वेष अति फबै रासमंडली बनाई,
मिटे त्रिगुन विस्तार रहे हरिवंश सहाई।
रसिकन मुख ऐसी सुनी सर्वस महाप्रसाद को,
श्री दामोदरवर कृपा तें पगे भावना रास को॥

उपर्युक्त विवरणों के द्वारा यह सिद्ध करना कठिन नहीं कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासलीलानुकरण की परिपाटी अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और वर्तमान समय में रासधारियों द्वारा जो लीलाएँ खेली जाती हैं उनमें भी अधिकांश राधावल्लभीय भक्तों द्वारा लिखित हैं। चाचा वृन्दावनदासजी ने तो अनेक लीलाएँ रास के उद्देश्य से ही लिखी हैं और उन्हीं का प्रायः हेर-फेर करके वर्तमान युग में अनुकरण भी होता है।

में उनके घर वालों ने रास को छोड़कर गणेश-वन्दना की थी ऐसा उनके जीवन-वृत्त में आता है। उसी की ओर इस पद में संकेत किया गया है।

अब न कछु कर नैं रहनैं है वृन्दावन।

\+ \+ \+

मिलि हैं हितललितादिक दासी रास में गावत सुनिमन।[1]

इसमें हितहरिवंशजी तथा ललिता सखी के द्वारा स्वामी हरिदासजी का रासलीला में गाते हुए मिलने की ओर सकेत किया है।

उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त निम्न संख्यांकित पदों में भी व्यासजी द्वारा रास का प्रत्यक्ष वर्णन देखा जा सकता है—

द्रष्टव्य पद—१८७, १६१, १३४, १२०, १०६, ६५, ६१, २०, १५, ६।

व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध)

व्यासजी ने अपनी वाणी में श्री हरिवंशजी तथा स्वामी हरिदासजी का गुणगान करते हुये दोनों को रास-परायण बताया है। स्वामी हरिदासजी को उन्होंने रासलीला में पद गायक भी कहा है।

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।

× × ×

सेवा सावधान अति जान सुघर गावत दिन रास।[2]

संक्षेप में, व्यासजी ने जिस रूप में रास का वर्णन अपनी वाणी में प्रस्तुत किया वह इस बात का प्रमाण है कि उनके समय में व्रजभूमि में रासलीलानुकरण प्रारम्भ हो गया था। इस अनुकरण के लिए वृन्दावन में रासमंडल की स्थापना हो चुकी थी। अतः श्रीनारायण भट्ट को जो सम्वत् १६०२ में व्रज में पधारे और जिन्होंने सम्वत् १६२६ में श्रीजी के प्राकट्य करने के बाद रासलीलानुकरण के लिए प्रियाजी का वेष धारण कराके ब्राह्मण बालकों को प्रवृत्त किया, लीलानुकरण का आदि प्रवर्त्तक कैसे कहा जा सकता है। श्री घमंडदेव का काल तो इनके भी चालीस-पचास वर्ष बाद स्थिर होता है तब उनके आदि प्रवर्त्तक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

रासलीलानुकरण में प्रचलित कतिपय लीलाओं तथा परम्पराओं के आधार पर भी आदि प्रवर्त्तक की स्थापना की जाती है। कोई 'बूढ़ी लीला' में परकीया भाव की स्थापना करते हैं तो दूसरे मुकुट के उद्भव होने और पूजे जाने की बात कहते हैं।[3] इन परम्पराओं का प्रचलन इस बात से साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं रखता कि आदि काल से ये सब किन्हीं विशिष्ट

---

१. व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद संख्या—१०६

२. " " " " ७०

३. रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट—पृष्ठ ३५-३७ तक।

—लेखक—बाबा कृष्णदास कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा।

"उस समय (सोलहवीं शती में) वृन्दावन के लताकुञ्जों में स्थित साधुओं के पर्ण कुटीर साहित्य के उद्भट कृष्णभक्त आचार्यों के आवास बन रहे थे। स्वामी वल्लभाचा और हितहरिवंशजी के पर्णकुटीरों में भक्तों की भीड़ लग गई थी। प्रसिद्ध गवैया तानसे के गुरु स्वामी हरिदासजी भी वहीं आकर बस गये थे।+++। इन आचार्यों में ए आचार्य ऐसे थे जो राधाजी के परम उपासक थे। वे महात्मा राधिकाजी के ऐसे भक्त हु कि उनके सम्प्रदाय का नाम ही राधावल्लभ सम्प्रदाय पड़ गया। यह थे महात्मा हितहरिवंश जिनका जन्म सम्वत् १५५९ विक्रमी में हुआ था और जो सांसारिक व्यवहार त्यागकर वृन्दावन के एक लता कुन्ज में नित्य-प्रति ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि इस सूक्ष्म तत्वदर्शी महात्मा को सेवा कुञ्ज में नित्य राधिकाजी के साथ कृष्ण का रास-बिहार दृष्टिगोचर होता था। कभी-कभी ये महात्मा महारास का दर्शन किया करते थे।

एक दिन रासविहार का प्रसंग छिड़ा। भक्तों में स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि आचार्य जी को वृन्दावन में भगवान् कृष्ण का जो रासविहार दिखाई पड़ता है वह किस प्रकार का है। साधकों की दृष्टि से तो यह नितान्त अदृश्य रहता है। आचार्य हितहरिवंशजी ने घमंडीलाल (घमंडदेव) महात्मा को बुलाया, उनको और स्वामी हरिदासजी को कुछ निर्देश किया। रासलीला में दृष्टिगोचर होने वाली राधाकृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंशजी ने किया। इस प्रकार रासमंडल की तैयारी हुई।

स्वामी हरिदास जी संगीत के धुरन्धर विद्वान् थे ही हितहरिवंशजी के पद 'आज वन नीको रास बनायो' में प्रस्तुत किया गया। अन्य महात्माओं ने भी संगीत में योग दिया। हितहरिवंशजी से साथ श्री वल्लभाचार्य तथा गदाधर भट्ट जी भी थे, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने ब्रजभाषा में सर्वप्रथम कृष्ण रासमंडल रचाया जिसमें नृत्य, संगीत और नाट्य को ही स्थान मिला।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में श्री हितहरिवंशजी को ब्रज में रासमंडल का संस्थापक, रासलीला-नुकरण का प्रवर्त्तक तथा शिरोमणि आचार्य सिद्ध किया गया है। विद्वान् लेखक ने घमंडदेव *गदाधर भट्ट, वल्लभाचार्य आदि के सहयोग*—सम्पर्क का उल्लेख भी इस प्रकरण में किया है किन्तु उनके लिए परम्परागत अनुश्रुति के अतिरिक्त कोई ऐतिह्यपरक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी श्री हितहरिवंशजी के रासलीला-प्रवर्त्तक होने की बात लेखक को सब प्रकार मान्य है।

अतः राधावल्लभीय मत से रासलीलानुकरण उनके यहाँ सम्वत् १५९२ से ही प्रारम्भ ाना जाता है। इसका प्रमाण इनके यहाँ का प्राचीनतम रासमंडल है। उससे पुराना रास-डल दूसरा और कोई व्रजभूमि में नही है।

हमने वर्तमान काल में होने वाली रासलीलाओं का अध्ययन करने के लिए अनेक रास-ीलाओं को स्वयं उपस्थित होकर देखा और उनकी भाषा, अभिव्यंजना, धार्मिक भावना तथा भिनेय शैली का विधिवत् अनुशीलन किया है। भाषा की दृष्टि से तो ये लीलाएँ शुद्ध व्रजभाषा के भाव में हैं। सभी सम्प्रदायों के आचार्यों के पद इसमें उपलब्ध होते हैं। श्री हितहरिवंशजी, वामी हरिदासजी, व्यासजी, भगवतरसिकजी, हरिव्यासदेवाचार्य जी, अनन्य अली जी, ाचा वृन्दावनदासजी आदि अनेक महानुभावों के पदों का जोड़-तोड़ ही वर्तमान रास की ात्मा है। 'वचनिका' के लिए वर्तमान युग की बोली का प्रयोग होता है जिसका श्रेय किसी क महात्मा को नहीं है। अधिकांश रासमंडलियाँ निम्बार्क सम्प्रदाय की हैं। बंगाली वैष्णवों ा रास पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु परकीया-भाव की लीलाओं में नारायण भट्ट का भाव माना जा सकता है। गौड़ीय साधुओं ने व्रजभाषा में न तो विशेष पद रचना की और न ोई लीला ही लिखी। उनका क्षेत्र मुख्यत: संस्कृत और गौण रूप से बँगला भाषा ही रहा। ज में बसने पर भी बंगीय टोल सदा से व्रजभाषा से पृथक् रहा है; विपुल साहित्य-सृजन करने ाले विद्वानों ने सदा संस्कृत और बँगला को ही स्वीकार किया है। नारायण भट्ट जी ैलंग ब्राह्मण थे; 'रागसागरोद्भव' में श्री राधाचरण गोस्वामी ने उनके कुछ पदों का ाना लिखा है किन्तु उनका लिखा व्रजभाषा साहित्य अद्यावधि हमारे देखने में नहीं ाया। उनकी शताधिक रचनाओं में संस्कृत को ही स्थान मिला है—व्रजभाषा वहाँ भी ुप्त है।

फलतः उपर्युक्त तीनों मतों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री नारायण भट्ट और श्री घमंडदेवाचार्य से पहले वृन्दावन में रास का प्रवर्तन हो गया था। श्री हरिवंश जी, श्री स्वामी हरिदासजी तथा श्री हरिराम व्यास अपने समय में रासलीलाओं में सम्मिलित होते थे। यदि रासमंडल (स्थान विशेष) की स्थापना को ही प्रारम्भ माना जाय तो इसका श्रेय श्री हितहरिवंशजी को है, यदि गान-वाद्य को श्रेय दिया जाय तो स्वामी हरिदास जी इसके अधिकारी हैं। इतना तो अवश्य ही मानना होगा कि विरक्त स्वामी जी के लिए लीला की सामग्री जुटाना, साज-शृंगार तैयार कराना अपेक्षाकृत अधिक झंझट का काम था। यह तो गृहस्थ गोस्वामियों के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अतः जब तक श्री हितहरिवंश जी से पहले किसी और महानुभाव द्वारा रासमंडल-निर्माण और रास-प्रवर्तन का प्रमाण न मिले उन्हीं को इसका प्रवर्तक मानना अधिक न्याय-संगत होगा।

सोलहवीं शताब्दी में व्रजमंडल में रासलीलानुकरण के सम्बन्ध में डा० दशरथ ओझा ने अपने शोध-ग्रंथ 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' में हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष के समान ही अपना अभिमत व्यक्त किया है। हम उनके ग्रंथ से प्रासंगिक पंक्तियाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं—

उत्तरार्द्ध

★

[साहित्य-खंड]

लिखा है। यह नाम उन्होंने क्यों और कैसे दिया इसका कोई प्रमाण नहीं दिया।[1] इसी प्रकार कहीं-कहीं 'वृन्दावन शत' नामक ग्रंथ का रचयिता भी हितहरिवंशजी को लिखा गया है। यथार्थ में ये दोनों ग्रन्थ श्री ध्रुवदास रचित हैं। इनका अपने समय में अत्यधिक प्रचार था। वृन्दावन शत की पन्द्रह हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों की सूचना खोज-रिपोर्टों में दी गई है। इसके अतिरिक्त वृन्दावन में और भी पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं जो इस बात की साक्षी हैं कि यह ग्रंथ किसी समय अत्यधिक समादरणीय था। हो सकता है कि उसी समय किसी लिपिक ने भ्रमवश राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम इसके लेखक के रूप में दे दिया हो।

श्री हरिवंशजी रचित पदों के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद उठे हैं। कुछ ऐसे पद वल्लभ सम्प्रदाय के वर्षोत्सवों में तथा राधावल्लभीय वर्षोत्सवों में मिलते हैं जिनमें 'जै श्री हितहरिवंश' छाप स्पष्ट रूप से है। इस छाप को देखकर ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि कदाचित् ये पद इन्हीं के होंगे। इस प्रकार के पदों की संख्या दस-बारह है, जिनमें छह पद तो वल्लभ कुल के वर्षोत्सवों में हैं और शेष राधावल्लभीय वर्षोत्सवों में। इन पदों का यथार्थ रहस्य यह है कि ये श्री हितहरिवंशजी की रचना न होकर उनको भेंट में दिये गये विभिन्न भक्तों के पद हैं। पद भेंट करने की प्रणाली प्राचीनकाल से चली आ रही है, उसी का पालन करने के लिए समय-समय पर भक्तगण श्रद्धाबुद्धि से यह समर्पण करते रहे हैं और उस पद में श्रद्धेय का नाम या छाप रखकर अपने कर्त्तृत्व को बिल्कुल तिरोहित कर लेते हैं। ऐसी दशा में यदि परम्परा द्वारा या पद की शैली, भाव या अभिव्यंजना से तथ्य का पता न चले तो कालान्तर में उनके रचयिता के विषय में सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत में जिन पदों का हम संकेत कर रहे हैं वे भाषा, भाव-व्यंजना और समर्पण-शैली के कारण स्पष्ट ही बताते हैं कि उनके प्रणेता कोई भावुक महानुभाव थे जिन्होंने श्री हरिवंशजी के चरणों में समर्पण करने के निमित्त उनकी रचना की थी।

हमने जिन चार ग्रंथों और दो पत्रों को श्री हितहरिवंशजी की रचना माना है उनके विषय में भी ऐकमत्य नहीं है। समय-समय पर साम्प्रदायिक संकीर्णता और कटुता के कारण इन ग्रंथों के विषय में भी सन्देह-शंका उपस्थित होती रही है किन्तु हम इन्हें सर्वतोभावेन हित महाप्रभु की रचना मानते हैं अतः प्रत्येक ग्रंथ के सम्बन्ध में युक्ति, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करेंगे और तदुपरान्त काव्य-समीक्षा।

१—राधासुधानिधि

यह संस्कृत में लिखा हुआ एक स्तोत्र-काव्य है जिसमें २७० श्लोक हैं। राधा की वन्दना, उपासना, प्रशस्ति, सेवा, पूजा, भक्ति, सामीप्य, सौन्दर्य आदि के विविध वर्णनों से परिपूर्ण यह ग्रंथ अपनी इष्ट अनन्यता के लिए साम्प्रदायिक भक्ति-काव्यों में श्रेष्ठतम स्तोत्र-काव्य समझा जाता है। इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख अनेक ग्रंथ और भारतीय

1. His principal work in Hindi is the Chaurasi Pad or Premlata.
Hindi literature by F. E. Keay Page 77.

प्रथम अध्याय

श्री हितहरिवंश रचित साहित्य

गोस्वामी हितहरिवंशजी रचित दो हिन्दी ग्रंथ, दो संस्कृत ग्रंथ और दो गद्य-पत्र अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं। हिन्दी ग्रंथों में हित चौरासी और स्फुटवाणी हैं; संस्कृत ग्रंथों में राधासुधानिधि तथा यमुनाष्टक हैं तथा विट्ठलदासजी को लिखे गये दो गद्य-पत्र हैं। उपर्युक्त सभी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

इन ग्रंथों का विस्तारपूर्वक विशद विवेचन हम इसी अध्याय की अगली पंक्तियों में करेंगे। किन्तु इस प्रसंग में हम उन ग्रंथों की चर्चा करना पहले आवश्यक समझते हैं जो भ्रमवश श्री हितहरिवंशजी रचित कहे जाते हैं। श्री गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी (श्री हरिवंशजी के सुपुत्र) रचित 'आशास्तव' तथा 'श्री राधा अनुनय विनोद काव्य' को किसी-किसी सज्जन ने श्री हरिवंश-रचितबताया कहा है। यथार्थ में इन दोनों ग्रंथों का हरिवंशजी से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन ग्रंथों की रचना आदि का पूरा विवरण साम्प्रदायिक वाणियों में मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि ये ग्रंथ श्री हरिवंशजी के सुपुत्र गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी द्वारा रचे गये थे।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में हस्तलिखित पुस्तकों के विवरण में 'प्रेमलता' नामक एक ग्रंथ का रचयिता श्री हितहरिवंश को ठहराया है।[1] अंग्रेज विद्वान् एफ. ई. के. ने अपने 'हिन्दी लिटरेचर' नामक ग्रंथ में हितचौरासी को ही प्रेमलता नाम से

---

१. संख्या १५५ ए प्रेमलता—रचयिता—हितहरिवंश, कागज देशी—पत्र ३६। आकार १०×६ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ २४, परिमाण अनुष्टुप ६१८, रूप प्राचीन, लिपि—नागरी लिपि; काल—सं० १८२४, ईसवी १७६७। प्राप्तिस्थान—दीनानाथ पाठक, ग्राम पचौली, डा० जलेसर, जि० एटा।
हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का चौदहवाँ वार्षिक विवरण—(सन् १९२९-१९३१) सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

रहो कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राण नाथ श्री श्यामा शपथ करौं तृण छिये॥
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा वनविहार रस पिये॥

—स्फुट वाणी, पद सं० २०।

निकुंज में राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला का वर्णन करते हुए राधासुधानिधि और हित-चौरासी में प्रणय-कोप के भाव का समान रूप से वर्णन किया गया है। यह भाव-साम्य आकस्मिक न होकर एक ही प्रणेता की भावधारा की सहज गति का परिचायक है। राधासुधानिधि के एक श्लोक का भाव है कि 'निकुंज-लीला में सुरत-संग महोत्सव में सम्मिलित होने पर भी प्रियतम के उर-प्रदेश के कौस्तुभमणि में अपना प्रतिबिम्ब देखकर राधा कुपित हो गई और उसने प्रियतम का हाथ झटक दिया।' 'हित चौरासी' में यही भाव यों व्यक्त हुआ है—'निकुंज-लीला में रत राधा ने हरि के उर-प्रदेश के मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो यह विभ्रम विकल होकर मानवती हो गई।' इन दोनों भावों की समानता इस तथ्य की ओर संकेत करने वाली है कि ये रचनायें एक ही महानुभाव की हैं।[1]"

हितहरिवंशजी ने अपनी राधा-विषयक एकान्त निष्ठा का परिचय निम्न श्लोक में बड़ी दृढ़ता के साथ दिया है।

यत्र तत्र मम जन्म कर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथवा।
राधिका-रतिनिकुंजमंडली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

—रा० सु० नि०, श्लोक सं० २६७।

श्री प्रबोधानन्द जी की धामनिष्ठा प्रसिद्ध है, वे अपनी अनन्य धामनिष्ठा के समक्ष विभिन्न प्रकार की एकान्त निष्ठा का दूसरा रूप कैसे प्रस्तुत कर सकते थे। २७० श्लोक के इस काव्य में राधा को छोड़कर किसी और भाव, वस्तु या व्यक्ति का वर्णन ही नहीं है अतः इस ग्रंथ को उसी की रचना मानना चाहिए जिसकी इष्टाराध्या राधा हो। निर्विवाद है कि

---

1. संगत्यापि महोत्सवेन मधुराकारां हृदि प्रेयसः
स्वच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तुभमणौ सम्भूत शोकाकुला।
उत्क्षिप्य प्रिय पाणिमेव विगलद्बाष्पाकुला मानिनी
[illegible] ॥

—रा० सु० निधि, श्लोक सं० १५६।

आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
हरि उर मुकुर बिलोकि अपन पौ बिभ्रम बिकल मान जुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी॥

—हित चौरासी, पद सं० [illegible]

विद्वानों ने किया है। इंडिया आफ़िस के हस्तलिखित ग्रंथों के सूचीपत्र में इसका उल्लेख है और उसमें इसके प्रणेता का नाम श्री हितहरिवंश दिया है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में चैतन्य सम्प्रदाय वालों ने यह मत प्रकट किया था कि यह श्री प्रबोधानन्द सरस्वती की रचना है। भक्ति प्रभा आफिस, हुगली से यह ग्रंथ दो भागों में 'श्री राधा रस सुधानिधि' नाम से प्रकाशित भी हुआ। ग्रन्थ के आदि और अन्त में श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु की वन्दना का एक-एक श्लोक जोड़कर इसे गौड़ीय सम्प्रदाय की रचनाओं में सम्मिलित कर लिया गया। श्लोक संख्या २७२ कर दी गई और रचयिता श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ठहराये गए। किन्तु इतने विपर्यास के बाद भी ग्रन्थ की स्थिति में क्या कोई परिवर्तन हुआ? क्या विद्वानों ने इसे चैतन्य सम्प्रदाय की सम्पत्ति स्वीकार किया और क्या परम्परा से चली आती हुई स्थिर मान्यताओं को निर्मूल करने में इस प्रयास से कोई फल निकला?

हम इस सम्बन्ध में ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्य तथा उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों और टीकाओं के बहि:साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध करेंगे कि 'राधासुधानिधि' मूल रूप में २७० श्लोकों का स्तोत्र-काव्य है और इसके रचयिता श्री हितहरिवंशजी हैं, अन्य कोई महानुभाव नहीं।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही लिखा है कि राधासुधानिधि ग्रंथ अपनी इष्ट अनन्यता के लिये विख्यात है। राधा ही इस ग्रन्थ में इष्टाराध्या के रूप में वर्णित हुई हैं। श्री हित-हरिवंशजी की इष्टाराध्या राधा ही हैं अतः उन्ही की पूजा-उपासना, वन्दना-प्रशस्ति के लिये उन्होने अपनी भावना के अनुरूप इसकी रचना की है। अन्तःसाक्ष्य के लिये हम राधासुधानिधि के उन श्लोकों को उपस्थित कर सकते हैं जिनमें राधा को ही इष्टाराध्या कहा गया है और उनकी भाव-वर्णन शैली वही है जो हित चौरासी के पदों की है।

राधा के बिना कृष्ण की आराधना का निषेध राधावल्लभ सम्प्रदाय में ही किया गया है। यहाँ राधा के बिना कृष्णोपासना की कल्पना भी नहीं है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए राधासुधानिधि में कहा है कि "जो लोग राधा के चरणों का सेवन छोड़कर गोविन्द के संग-लाभ की चेष्टा करते हैं वे मानो पूर्णिमा तिथि के बिना ही पूर्ण सुधा-कर का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। वे अज्ञ यह नहीं जानते कि श्यामसुन्दर के रति-प्रवाह की लहरियों का बीज यही श्रीराधा है। आश्चर्य है कि ऐसा न जानने से ही वे अमृत का महान् समुद्र पाकर भी उसमें से केवल एक बूंद मात्र ही ग्रहण कर पाते हैं।[1]"

स्फुटवाणी में हितहरिवंशजी ने अपनी राधा-अनन्यता का वर्णन बड़े स्पष्ट रूप से निम्न पद में किया है—

---

१. राधा दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्द संगाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचः परिचयं राकां बिना कांक्षति।
किंचश्याम रतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७९।

परन्तु इसका अनुष्टुप छन्दों में परिमाण आँका जाय तो अठारह सहस्र श्लोक भागवत पुराण के समान होगा। यदि कहें कि २७० श्लोक के लघु-काय ग्रंथ की इतनी बड़ी टीका संस्कृत वाङ्मय में अब तक नहीं हुई तो अत्युक्ति न होगी। इसी से टीकाकार ने इसी को संक्षेप में मध्य व्याख्या की और फिर भी मनःतुष्टि नहीं हुई तो अति संक्षिप्त लघु व्याख्या लिखी।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य की प्रकाशित सूची—'साहित्य रत्नावली' नामक पुस्तक में कुछ और टीकाओं का उल्लेख है—[1]

१—श्री स्वामिनीशरण	ब्रजभाषा पद्य	हस्तलिखित	१८ वीं शती
२—गो० मनोहरवल्लभ	"	"	१९ वीं शती
३—गो० कृपालाल जी	"	"	१९ वीं शती
४—गो० लाड़िली लाल जी	"	"	२० वीं शती
५—श्री गो० युगलवल्लभ जी	"	"	२० वीं शती
६—श्री भोलानाथ जी	"	"	२० वीं शती

इनके अतिरिक्त और भी टीकाएँ अवश्य लिखी गई होंगी ऐसा अनुमान इसलिए किया जाता है कि कुछ टीकाओं में पूर्ववर्ती टीकाओं का कहीं-कहीं संकेत है। रसकुल्याटीका का तो पर्याप्त उपयोग हुआ है। इन डेढ़ दर्जन टीकाओं का अस्तित्व इस बात का प्रबल प्रमाण है कि राधासुधानिधि राधावल्लभ सम्प्रदाय में परम्परा से श्री हितहरिवंशजी की कृति के रूप में समादृत होती चली आ रही है और आज भी इसका पठन-पाठन इस सम्प्रदाय में खूब होता है। किम्वदन्ती तो यह है कि राधासुधानिधि पर अब तक ४० टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

प्राचीन प्रतियाँ

राधावल्लभीय वैष्णवों के पास राधासुधानिधि की जो हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें २७० श्लोक हैं तथा सबने इसके रचयिता का नाम गोस्वामी हितहरिवंश ही दिया है। इन प्राचीन प्रतियों का विवरण भी हम प्रकाशित "राधासुधानिधि" की भूमिका से ही उद्धृत कर रहे हैं।[2]

१—श्री बनवारीलालजी पचौरी (अलीगढ़) के पास सम्वत् १७५७ वि० की हस्तलिखित प्रति है। इसमें श्री हितहरिवंशजी का नाम रचयिता के रूप में दिया हुआ है।

२—श्री बाबा बैजनाथजी (झाँसी) वर्तमान निवास-स्थान वृन्दावन। आपके पास सं० १७८९ वि० की हस्तलिखित प्रति है, इसमें भी श्री हितहरिवंश का नाम रचयिता के रूप में दिया हुआ है।

३—श्री गोस्वामी वृन्दावनवल्लभजी (वृन्दावन) के पास आज से २६० वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपस्थित है। इसमें भी रचयिता का नाम हितहरिवंश ही है।

---

१. 'साहित्य रत्नावली' सम्पादक—किशोरीशरण 'अलि'—पृष्ठ ७७, ७८, ७९, ८०, ६४, ७२।

२. राधासुधानिधि—(प्रकाशित) अनुवादक—बाबा हितदास, भूमिका पृष्ठ १४।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री स्वामी हितहरिवंशजी ने ही सर्वप्रथम राधा को इष्ट, गुरु और आराध्या स्वीकार किया था अतः यह स्तोत्र-काव्य भी उन्ही की कृति है।

टीकाएँ :

बहि:साक्ष्य के लिए सबसे बड़ा प्रमाण परम्परा और इतिहास है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विगत चार सौ वर्ष से राधासुधानिधि को हितहरिवंशजी की रचना माना जाता आ रहा है। गोस्वामी कृष्णचन्द्रजी ने इसी के अनुकरण पर 'राधा उपसुधानिधि' की रचना की थी। उनके बाद राधावल्लभीय गोस्वामियों तथा शिष्य साधुओं ने इस ग्रंथ पर निरन्तर टीका और भाष्य लिखे हैं। इन टीकाओ का सक्षिप्त विवरण हम यहाँ प्रकाशित राधासुधानिधि की भूमिका से उद्धृत करते हैं।[1]

१—श्री तुलसीदास	ब्रजभाषा पद्य हस्तलिखित	सं० १७०० वि०
२—श्री सन्तदास	ब्रजभाषा पद्य ,,	१८ वी शती विक्रमी
३—श्री वृन्दावनदास	,, ,,	१६ वीं शती विक्रमी
४—श्री नरोत्तमजी	संस्कृत प्रकाशित—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	सं० १८३० वि०
५—श्री हितदास	संस्कृत अन्वय, ब्रजभाषा पद्य हस्तलिखित	सं० १८३२ वि०
६—श्री हरिलाल व्यास	संस्कृत-रसकुल्या, हस्तलिखित	सं० १८६० वि०
७— ,, (संक्षेप)	मध्य व्याख्या ,,	,,
८— ,, (अति संक्षेप)	लघु व्याख्या ,,	,,
९—श्री लोकनाथ	ब्रजभाषा पद्य ,,	सं० १९०० वि०
१०—श्री लड़ैतीलाल	ब्रजभाषा पद्य प्रकाशित	सं० १६२८ वि०

साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण कुछ व्यक्ति तो इस ग्रंथ को हित जी का मानने को तैयार ही नहीं थे पर उन्हे पता नही कि राजा पृथु की तरह अनेक टीकाकार महानुभावों ने अनेक बार इस कामदुहा से अमृत निकाला है और इसी सुधानिधि से श्री हरिलाल व्यास ने रसकुल्या (नद) निकाल कर साहित्य-भाण्डागार को भर दिया है—साहित्य-रत्न पारखियों का ध्यान इस विशाल टीका की ओर हम आकर्षित करना चाहते हैं कि वे इस श्री राधासुधानिधि नामक महान् टीका ग्रंथ-सागर के रस-रत्नो को भी तो देखें। लेखक श्री हरिलाल ने दूसरा पुराण लिख कर अपने व्यास नाम को कितना सार्थक कर दिखलाया। यह संस्कृत की रसकुल्या टीका—चाचा वृन्दावनदास के गुरु श्री रूपलाल के सुपुत्र श्री किशोरी लाल के कृपापात्र (शिष्य) श्री हरिलाल व्यास जी की टीका है। यद्यपि टीका संस्कृत गद्य में है

---

१. श्री राधासुधानिधि—अनुवादक—बाबा हितदास, भूमिका पृष्ठ १५। वृन्दावन से प्रकाशित।

इस प्रकरण को पढ़कर यह तो निश्चित हो ही जाता है कि राधासुधानिधि रचयिता श्री हरिवंश गोस्वामी और वृन्दावन महिमामृत के प्रणेता श्री प्रबोधानन्द सरस्व दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। रसिकोतंस जी के समय में भी इन दोनों की कृतियों का बोध और राधासुधानिधि के साथ प्रबोधानन्दजी का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था। य ये दोनों ग्रंथ किसी एक ही महानुभाव की रचना होते तो पृथक्-पृथक् नाम से उनका एक ग्रंथ में उल्लेख क्यों होता।

श्री डा० सुशीलकुमार डे ने अपने शोधग्रंथ—'वैष्णव फ्रेथ एंड मूवमेंट इन बंगाल' राधासुधानिधि का उल्लेख करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रमाणपूर्वक यह लिखा है कि य स्तोत्र-काव्य व्यास के पुत्र श्री हितहरिवंश रचित है। इसको चैतन्य सम्प्रदाय वालों ने हठा अपना ग्रंथ कहा है। यथार्थ में राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश ही इसके रच यिता थे। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में आपने लिखा है कि इस ग्रंथ की जो प्राचीन हस्त लिखित प्रतियाँ मिलती हैं उनमें इसके प्रणेता का नाम सब जगह हितहरिवंश ही दिया हुआ है। अतः इस ग्रंथ को प्रबोधानन्द रचित कहना असत्य है। चैतन्य की वन्दना के जो दो श्लोक इस में संयुक्त कर लिये गये हैं वे प्राचीन पोथियों में उपलब्ध नहीं होते अतः इन्हें भी प्रक्षिप्त ही मानना होगा।[1] इंडिया आफिस के 'केटेलाग तथा बोडेलिन के केटेलाग में इस ग्रन्थ को श्री हितहरिवंश रचित ही लिखा गया है। अतः इस ग्रन्थ को चैतन्य सम्प्रदाय वाले किसी प्रकार भी अपने मत का नहीं कह सकते। यदि वे ऐसा करने का साहस करते हैं तो निश्चित ही यह दूसरे सम्प्रदाय ग्रंथ को हड़पने का कार्य है जिसे विद्वन्मण्डली स्वीकार नहीं करेगी।"

इस प्रकार डा० सुशीलकुमार डे ने अपनी शोध द्वारा इस रहस्य का पूरी तरह उद्घाटन करके सत्य को सबके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

राधासुधानिधि का प्रतिपाद्य

राधा को इष्टाराध्या के रूप में प्रस्तुत करना ही इस स्तोत्र-काव्य का प्रमुख ध्येय है। सखी (जीवात्मा) की एकमात्र यही कामना है वह अपनी आराध्या राधा को विविध

1. The Stotra Kavya, named Radha-Ras-Sudhanidhi Printed in two parts from the Bhakti Prabha office Hugli (1924-25) is wrongly ascribed to Prabodhanand. The first and the last verses of the printed text pay homage to Chaitanya, but these verses are missing in the Mss. noticed by Eggeling (India Office Catalogue vii p. 1461-65) Aufrecht (Bodleian Catalogue p. 131 No. 23)). Harprasad Shastri (Descriptive Catalogue of ASB Collection. vii p. 230 and notices, 2nd series i p. 381), while the work is uniformly ascribed in these and other Mss. to Hitharivamsha son of Vyas. It is obviously a case of appropriation by the Chaitanya sect of a work composed by Hitharivamsha of the Radhavallabhi sect."
—*Early History of the Vaishnava faith and Movement in Bengal* by Dr S. K. De. page 99.

उपरिलिखित प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के उपलब्ध होने से भी यह सिद्ध होता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में चिरकाल से इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री हरिवंशजी ही माने जाते रहे हैं और इस ग्रंथ का पठन-पाठन भी साम्प्रदायिक निष्ठा के साथ होता रहा है। यथार्थ में इस ग्रन्थ की शैली और विषय-वस्तु भी श्री हितहरिवंशजी के सर्वथा अनुरूप है।

बहिःसाक्ष्य में श्री रसिकोतंसजी लिखित "प्रेमपतन ग्रंथ" का प्रमाण और प्रस्तुत किया जा सकता है। श्री रसिकोतंसजी का समय १६९५ वि० है। श्री रसिकोतंसजी ने अपने ग्रंथ में प्रेम-सिद्धान्त स्थिर करने के लिए अनेक भक्त महात्माओं के वाक्य स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं। एक स्थल पर प्रेम की व्याख्या करते हुए कहा है—"यत्राधर्म एव धर्मः स्थापितः" और इस मत की पुष्टि के लिए गीता, भागवत आदि के प्रमाण दिये हैं। वहीं श्री गोस्वामी हरिवंशजी का नामोल्लेखपूर्वक राधासुधानिधि से एक श्लोक प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है।

तथैवोक्तं श्री गोस्वामि श्रीहरिवंश महानुभावैः [1]

> कैशोराद्भुत माधुरीभर धुरीणांगच्छवि राधिकां
> प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्ति ये तद्धियः।
> त्यक्ता : कर्मभिरात्मनैव भगवद्धर्मेप्यहो निर्ममाः
> सर्वाश्चर्य गतिगता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः।

—राधासुधानिधि श्लो० सं० ८०।

तथोक्तं तत्रैव—

> लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंखचक्रादिकं
> विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
> लसत्तुलसिमालिकां दधति कंठपीठे न या
> गुरोर्भजन विक्रमात्म क इह ते महाबुद्धयः॥

—राधासुधानिधि श्लो० सं० ८१

इसी प्रसंग में रसिकोतंस जी ने श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के वृन्दावन—शतक से भी श्लोक उद्धृत किये हैं।

तथैवोक्तं श्री प्रबोधानन्द सरस्वती पादैः [2]

> कुरु सकल धर्मं मुंच सर्वंचधर्मं—
> त्यज गुरुमपि वृन्दारण्य वासानुरोधात्।
> सतत परम धर्मः सच भक्तिर्मुकुन्दे
> सकल कलुष राशिर्यद्धि वासान्तरायः॥

(श्री वृन्दावन महिमामृतम्)

१—प्रेमपतनम्—श्री रसिकोत्तंस विरचित—पृष्ठ ३५।

२— " " " " ३५-३६।

इस स्तोत्र-काव्य के अनुसार राधा अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त हो भक्तजन की आह्लाद-दात्री ही नहीं वरन् सर्वलोक-कल्याणकारिणी भी हैं। वे अपने स्वरूप में अनिंद्य सुन्दरी, महामाधुरी की अनन्तधाराओं से समवेत, विदग्धता, अनुराग, प्रेम और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति हैं। वे ईश्वर रूप कृष्ण की शची तथा परम सुख रूप वपुधारिणी परा और स्वतन्त्रा शक्ति हैं। वे श्याम सुन्दर की रति-प्रवाह की लहरियों की बीजरूपिणी हैं।[1]

राधा की शक्तियों की कोई सीमा नहीं—वे अनन्त शक्ति-समन्विता हैं। अनन्त शक्तियों की परिसीमा होने के कारण भक्तों के लिये वे ही एकमात्र गति हैं। श्रीकृष्ण भी राधा के चरण-कमल का मकरन्द पाकर अपने को शक्ति-सम्पन्न अनुभव करते हैं। राधा के चरणारविन्दों की कृपा प्राप्त हो जाने पर साधक को इस लोक और परलोक में कुछ और प्राप्य नहीं रहता।

राधासुधानिधि में राधाकृष्ण का दाम्पत्य भाव से ही वर्णन है किन्तु दम्पति की कल्पना में भी कृष्ण का स्थान राधा से ऊपर नहीं है। कृष्ण भी राधा के प्रेम की आकांक्षा करते हुए उसकी चाटुकारी करते हुए वर्णित हुए हैं। श्रीकृष्ण का स्थान अनेक श्लोकों में गौण ही दिखाया गया है, वे राधानुवर्ती होकर ही अपने सुख के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। कैंकर्यभाव भी उनमें वर्णित हुआ है और त्याग, बलिदान तथा उत्सर्ग तो उनके जन्मजात गुण हैं।

राधाकृष्ण के उपर्युक्त सम्बन्ध के अतिरिक्त प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध का वर्णन अत्यधिक शृंगारी पदावली में भी हुआ है। उन वर्णनों में राधा और कृष्ण पारस्परिक हाव-भाव और विलास का प्रदर्शन करते हुए रति-क्रीड़ा में आत्मविभोर हो रहे हैं। उन्हें अपने चारों ओर के वातावरण को भी सुधबुध शेष नहीं रह गई है। नित्यविहारपरक ऐसे वर्णन हैं जिनमें शृंगारिक भावना का ही प्राधान्य है।[2]

उपास्य-तत्त्व

राधासुधानिधि में उपास्य-तत्त्व नित्यविहार-रत राधाकृष्ण का दर्शन करना है। सखी-गण का अभीष्ट यही है कि वे निकुंज-रंध्रों से राधाकृष्ण की लीला का दर्शन कर सकें। इस नित्यविहार-दर्शन की आकांक्षा का वर्णन राधासुधानिधि के शताधिक श्लोकों में हुआ है। दर्शन की आकांक्षा करने वाली सखी राधा के विभिन्न रूपों की कल्पना करके उस के दर्शन की कामना करती है। सखी कहती है :—

---

१. राधासुधानिधि, श्लोक—सं० ७१-७८।

२. रसघन मोहनमूर्ति विचित्रकेलि महोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित रुचिरशिखंडं हरि वन्दे॥
राधासुधानिधि, श्लोक सं० २००।

रूप से आनन्दोल्लास में लीन देखकर स्वयं प्रसन्न-प्रमुदित रहे। सखीगरण के जीवन का उद्देश्य ही राधाकृष्ण की विहारपरक लीलाओं की निकुंज रंध्रों से झाँकी लेकर सन्तुष्ट होना है। राधा की परिचर्या-सेवा की अतृप्त आकांक्षा सखी के मन में सतत बनी रहती है और वह अहर्निश यही सोचती रहती है कि कब कौन-सा अवसर आवे जब मैं आत्मोत्सर्ग द्वारा राधा को प्रसन्न कर सकूँ। राधा के 'महल की खवासी' करना ही इनके जीवन का अन्तिम लक्ष्य कहा जा सकता है। जिस महल में 'खवासी' करने की कामना से सखी अग्रसर होती है उसके विविध रूप और चित्र इस काव्य में अंकित किये गये हैं। इसी मूल प्रतिपाद्य को विस्तार देने के निमित्त जो सौन्दर्य-चित्र अंकित हुये हैं, उन्हें निम्न शीर्षकों में रखा जा सकता है :—

'राधा नाम महिमा राधा का श्रृंगार-मंडन, कृष्ण का राधा के प्रति उत्कट प्रेम, कृष्ण का कैंकर्य, निकुंज लीला, राधाकृष्ण के प्रेम में सूक्ष्म मान और विरह, राधा का अनवद्य सौन्दर्य और उसका प्रभाव, राधाकृष्ण का रासोत्सव, राधा की नख-शिख छवि, श्री वृन्दावन धाम वर्णन, यमुना-वर्णन', आदि।

राधा-नाम-माहात्म्य

श्री हरिवंशजी के मत में राधा का नाम अतुल शक्ति-सम्पन्न है। जो कोई राधा नाम को एक बार अमृत नाम के रूप में स्मरण कर लेता है उसके अनन्त महत् अपराधों को क्षमा करके प्रियतम मधुपति यह विचारने लगते हैं कि इस नामोच्चार के प्रतिदान में भक्त को क्या देना चाहिए।[1]

जो सखी अनुदिन राधा नाम का उच्चारण करती है उसे इतना आनन्द प्राप्त होता है कि उसके चरणों में कोटि-कोटि सिद्धियाँ लोटती रहती हैं।[2] राधा नाम का संकीर्तन पराविद्या की कोटि में परिगणित किया गया है। भगवान् कृष्ण स्वयं योगीन्द्रों के समान राधा की चरण ज्योति के ध्यान में लीन हो प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से कालिन्दी तट के निभृत निकुंज मन्दिर में विराजमान हो राधा नाम का जप करते हैं। राधा-नाम के जप से भक्त, देवता और साधक सब प्रकार के बंधनों से छूटकर मुक्ति-सुख का लाभ करते हैं। राधा का नाम कोटि-कोटि मोक्ष-सुखों से बढ़कर आनन्द सुख की वर्षा करने वाला है।[3]

---

१. सकृत् श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं।
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम् ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १५४।

२. राधानामैव कार्यं ह्यनुदिन मिलितं साधनाधीश कोटि-
स्त्याज्यो नीराज्य राधापद कमल सुधा सत्पुमर्थाग्र कोटिः।
राधापादाब्जलीला भुवि जयति सदा मंद मंदार कोटिः।
श्रीराधा किंकरीणां लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धि कोटिः।
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १४३।

३. राधासुधानिधि—श्लोक सं० ९४-९६।

रूप में देखकर—उनमें मेरी परम आराध्य बुद्धि है।[१]

वृन्दावन-वास की इच्छा करती हुई सखी यही कहती है राधाकेलि-कलाओं के साक्षीभूत वृन्दावन में मैं कब निवास करने का सौभाग्य प्राप्त करूँगी। वृन्दावन की महिमा को अपने हृदय में स्फुरित होने की कामना भी वह बार-बार करती है।[२]

राधाभक्ति और कर्मकांड

राधासुधानिधि ग्रंथ में राधा-भक्ति के जिस भास्वर रूप को प्रस्तुत किया गया है उसमें बाह्याडंबर या शास्त्रीय विधि-निषेध मर्यादा के लिए कोई स्थान नहीं है। वैष्णव-सम्प्रदायों में स्मार्त धर्म का पालन सामान्यतः विधेय माना जाता है। जो शास्त्र प्रतिपादित कर्मकांड को निष्ठापूर्वक नहीं करते उन्हें वैष्णव-समाज में स्थान नहीं मिलता। कर्मकाण्ड की इतनी विशाल एवं सुदृढ़ शृंखला है कि प्रत्येक भक्त कहीं न कहीं उसमें जकड़कर अपनी सहज माधुर्यपूर्ण भक्ति से दूर जा पड़ता है। कर्मकांड एक नीरसतापूर्ण जड़ आचरण है, उसमें न तो माधुर्य का आनन्द है और न हृदय की संवेद्य भावधाराओं के आप्लावित होने का अवकाश ही। अतः प्रेमलक्षणा भक्ति को स्वीकार करने वाले महात्मा इस जड़तापूर्ण शुष्क कर्मकांड की अवहेलना करके ही अपने भक्ति-पथ पर आरूढ़ देखे जाते हैं। श्री हितहरिवंश अपने समय के सबसे दुर्द्धर्ष वैष्णव थे जिन्होंने किसी मिथ्याडंबर को ग्रहण नहीं किया। उनकी वाणी का स्वर इस विषय में सबसे ऊँचा और सबसे अधिक स्पष्ट था। उन्होंने राधासुधानिधि में कई श्लोक विधि-निषेध मर्यादा से ऊपर उठकर लिखे हैं, जिनका भाव संक्षेप में इस प्रकार है :—

'श्री गुरु (राधा) के भजन रूप पराक्रम युक्त वे कोई महाबुद्धिमान् पुरुष इस पृथ्वी पर विरले ही हैं जो न तो अपने बाहुमूल में कभी शंख-चक्रादि वैष्णव चिह्न धारण करते हैं और न कभी ललाट-पटल पर विचित्र हरिमंदिर (तिलक) ही रचते हैं। और न अपने

---

१. सद्योगीन्द्र सुदृश्य सान्द्र रसदानन्दैक सन्मूर्त्तयः
सर्वेप्यद्भुत सन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने संगताः।
ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां संभाष्य दृश्याश्चये
सर्वान्वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० २६४।

२. राधाकेलिकलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने,
वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुत रसे प्रेमैक मत्ताकृतिः॥
तेजोरूप निकुंज एव कलयन्नेत्रादि पिंडस्थितं
तादृक्स्वोचित दिव्यकोमल वपुः स्वीयं समालोकये॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० २६६।

'हे राधे ! जब तुमने अपने प्रियतम रसिक-नागर श्री लालजी के साथ सघन कुंज-भवन में आनन्द-विहार करते हुए मोद में ही सारी रात्रि जागकर व्यतीत की हो, तब प्रातःकाल होने पर तुम्हें अच्छी तरह स्नान कराके मैं मधुर-मधुर भोजन कराऊँ और सुखद शैया पर पौढ़ा कर अपने कोमल करों से ललित चरणों का संवाहन करूँ। मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा ?'[1]

'हे राधिके ! किसी अभ्यन्तर कुंजभवन में आप अपने प्रियतम के साथ किसी अनिर्वचनीय रसोत्सव में संलग्न हों जिससे भूषण-ध्वनि मिश्रित आपके मधुर आलाप का स्वर सुनाई दे रहा हो और मैं आपकी एकान्त परिचारिका होकर कुंज-द्वार में स्थित होकर उसे सुनूँ। उसे सुनते ही प्रेम-विह्वल होकर रस के सरोवर में डूब जाऊँ। हे स्वामिनि ! ऐसा कब होगा ?'[2]

वृन्दावन-वर्णन

वृन्दावन का बाह्य रूप अपने सौंदर्यातिशय के कारण मोहक है। वृन्दावन की रज, लता-पत्र, गिरिगह्वर, नदी-नद सभी अपने रूप की थाती सँभाले नयनाभिराम प्रतीत होते हैं। किन्तु इनसे भी अधिक सुन्दर है वृन्दावन का अंतरंग रूप जो भावना के द्वारा जाना जाता है। वृन्दावन धाम का वर्णन राधावल्लभ सम्प्रदाय की वाणियो में सबसे अधिक हुआ है। कहीं-कही तो धामी को भी धाम के अधीन मानकर धाम का महत्व बहुत बढ़ा दिया गया है। राधासुधानिधि में भी वृन्दावन का सौंदर्य बहुत उत्कर्ष के साथ अंकित हुआ है। गोलोक और वैकुण्ठ को इस धराधाम-स्थित वृन्दावन के आगे तुच्छ ठहराया है। सखी वृन्दावन की भावना करती हुई कहती है—' अद्भुत महिमा पूर्ण मधुर वृन्दावन से जिन का संग है वे भले ही क्रूर, पापी और सज्जनों के दर्शन-सम्भाषण के अयोग्य हों किन्तु वे सभी योगीन्द्र गणों के सुन्दर, दर्शनीय, सघन रसदायी और एकमात्र आनन्द की मूर्त्ति हैं। उनको वस्तुतः या—वास्तविक

---

१. उज्जागरं रसिक नागर संग रंगे
कुंजोदरे कृतवती नु मुदा रजन्याम् ।
सुस्नापिता हि मधुनैव सुभोजिता त्वं
राधे कदा स्वपिषि मत्करलालिताङ्घ्रि: ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १६ ।

२. कुंजान्तरे किमपि जातरसोत्सवायाः
श्रुत्वा तदालपित सिंजित मिश्रितानि ।
श्रीराधिके तव रहः परिचारिकाहं
द्वारस्थिता रसह्रदे पतिता कदा स्याम् ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ४७ ।

चित्ताकर्षक, हृदयद्रावक और चित्रात्मक है किन्तु विचारोत्तेजक नहीं। सुबोध, सार्थक और सरल शब्दों के प्रयोग से भाषा कृत्रिमता के भार से बच गई है। किन्तु इसकी एक त्रुटि यह है कि प्रायः एक ही भाव की समान शब्दों और समान वाक्यों में आवृत्ति हुई है। यह पुनरावृत्ति स्तोत्र-काव्यों और प्रशस्ति काव्यों का अपरिहार्य दोष है। अनुप्रास और उपमा की छटा के साथ माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण भाषा को साधारण संस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है। भाषा में सहज प्रवाह और गति का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

> वृन्दारण्य निकुंज मंजुल गृहेष्वात्मेश्वरीं मार्गयन्
> हा राधे सविदग्ध दर्शित पथं किं यासिनेत्यालपन्।
> कालिन्दी सलिलेच तत्कुचतटी कस्तूरिका पंकिले
> स्नायं स्नायमहो कुदेहजमलं जह्यां कदा निर्मलः॥
>
> —राधासुधानिधि, श्लोक सं० ५९।

राधा के अंग-सौष्ठव वर्णन में भाषा का मार्दव देखने योग्य है :—

> गौरांगे म्रदिमा, स्मिते मधुरिमा, नेत्रांचले द्राघिमा।
> वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये, गतौ मन्दिमा।
> श्रोण्यां च प्रथिमा, भ्रुवोः कुटिलिमा, बिम्बाधरे शोणिमा
> श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः।
>
> —राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७४।

जिन श्लोकों में समस्त पदावली का प्रयोग हुआ है वे भी क्लिष्ट नहीं है—प्रासादिकता की रक्षा करते हुए दीर्घ समासों का प्रयोग कुशल कवि ही कर पाते हैं। यमुना, निकुंज और वृन्दावन के वर्णनों में भाषा में चित्रात्मकता तथा नाद-सौन्दर्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है। उपर्युक्त वर्णनों से सम्बद्ध प्रत्येक श्लोक में संगीतात्मकता और चित्रमयता देखी जा सकती है।

राधासुधानिधि के विषय में अंग्रेज लेखकों की स्पष्ट मान्यता रही है कि यह ग्रंथ श्री हरिवंशजी रचित है। ग्राउस, फ़र्कुहर, विलसन, तथा एफ़. ई. के आदि विद्वानों ने अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है। ग्राउस ने तो कुछ श्लोकों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था।[1]

२—यमुनाष्टक

यह यमुना की वन्दना में लिखा हुआ आठ श्लोकों का प्रशस्ति-काव्य है। इसमें दुरन्त मोह का भंजन करने वाली कलिन्द-नन्दिनी यमुना का भजन किया गया है। यमुना की प्रशस्ति में जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है वे सार्थक और अर्थगर्भ हैं, उनके मर्म को समझकर ही इस काव्य का आनन्द उपलब्ध होता है। अष्टक के दूसरे श्लोक में यमुना के

1. Harivansa wrote in Sanskrit the Radha Sudha Nidhi which consists of 270 Couplets.
Hindi Literature—F. E. Keay, Page 77.

कंठ में तुलसी की माला ही धारण करते हैं।[1]

लौकिक-वैदिक क्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने का भी राधासुधानिधि में स्पष्ट शब्दों में वर्णन है :—

'रसमार्गीय रसिगण वेदोक्त कर्मकांड का अनुष्ठान करें या न करें, माला, चन्दन आदि भोगविलास के उपकरण ग्रहण करें या न करें, श्री राधाकांत के भाव में पारंगत-मति ऐसे रसिक क्या कभी अल्पज्ञ, बहिर्मुख अथवा सकाम पुरुषों में से किसी के साथ मिल भी सकते हैं ? क्या कभी इस प्रकार से लोगों के साथ उनका मेल हो सकता है ? नहीं।'[2]

इतना ही नहीं हरिवंशजी ने तो राधा-स्मरण के आगे श्रुतिकथा को भी बन्द करने का आदेश दिया है। कैवल्य से भी उन्हें भय प्रतीत होता है। यदि निर्गुण निराकार परमात्मा के ध्यान में कोई शुकादि लीन है तो उन्हें रहने दो, हमें उनसे क्या प्रयोजन, हमारा मन तो केवल श्रीराधा के पद-रस में ही डूबा रहे। यही हमारी सबसे बड़ी इच्छा है।[3]

राधासुधानिधि में विधि-निषेध मर्यादा के विषय में जो श्लोक आये हैं वे यह बात सूचित करते हैं कि श्री हरिवंशजी के अतिरिक्त इतने बलपूर्वक इसका अतिक्रमण अन्य कोई महानुभाव उस काल में नहीं कर सका था; अतः यह ग्रन्थ निश्चय ही उन्हीं का रचा हुआ है, किसी अन्य का नहीं।

राधासुधानिधि की भाषा और शैली

राधासुधानिधि संस्कृत की कोमलकान्त पदावली में लिखा हुआ स्तोत्र-काव्य है। समास विरल सरस पद-रचना और भावानुकूल शब्द-विधान इसकी विशेषता है। भाषा

---

१. लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंख चक्रादिकं
विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसिमालिकां दधति कंठपीठे न वा
गुरोर्भजन विक्रमात्म क इहते महाबुद्धयः॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८१।

२. कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा
गूढाश्चर्य रसाः स्रगादि विषयान्गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा।
कैर्वा भावरहस्य पारगमतिः श्री राधिका प्रेयसः
किञ्चिज्ज्ञैरनुयुज्यतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८२।

३. अलं विषय वार्तया नरक कोटि बीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८३।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में इसका नाम "हरिवंश चौरासी" अ नाम "हित चौरासी धनी" भी दिया है और इसे चौरासी भक्तों की कथा का वर्णन क वाला बताया है। यह उल्लेख खोज-रिपोर्ट में दो स्थलों पर हुआ है।[1] किन्तु अद्यावा राधावल्लभ सम्प्रदाय के किसी ग्रंथ में या किसी प्राचीन हस्तलिखित वाणी में कहीं ऐ उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ कि श्री हरिवंशजी ने "हित चौरासी धनी" नाम से कोई भक्त चरित्र लिखा था। सम्भव है कि किसी महानुभाव ने ग्रंथ का अवलोकन किये बिना य सूचना दी हो या इस नाम से कोई जाली ग्रंथ रच कर हितहरिवंशजी के नाम से ख्यात किय हो। कुछ भी हो, यह सब मिथ्या और निर्मूल है अतः "हित चौरासी" को भक्त-कथा न समझकर मुक्तक पद शैली से लिखा हुआ रसमार्गीय ग्रंथ ही समझना चाहिए।

खोज-रिपोर्टों में हितहरिवंशजी रचित "हित चौरासी" की अनेक हस्तलिखित प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना है जो पहले मृषावाद का स्वयं खंडन कर देती है।[2] लेखक ने स्वयं वृन्दावन में तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जो तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं और अपने स्वरूप, आकार-प्रकार, वर्ण-विन्यास, कागज आदि के बाह्याकार से ही पुरानी प्रतीत होती हैं।

साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना के कारण कुछ लोगों ने हित चौरासी को सूरदास की रचना सिद्ध करने का भी प्रयास किया है जिसे समस्त ऐतिह्य की अवहेलना करने वाला मिथ्या प्रयास ही समझना चाहिए। सरस्वती पत्रिका में पटना-निवासी एक गोस्वामी महोदय ने कल्पित नाम से "हित चौरासी और सूरदास" शीर्षक लेख लिखकर पांच पदों का ज्यों का त्यों सूर-सागर (वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति) से उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनके रचयिता सूरदासजी थे। अपने पक्ष में युक्ति देते हुए लिखा कि हितहरिवंशजी की मातृभाषा या बोलचाल की भाषा व्रज नहीं थीं। वे देवबन्द (सहारनपुर) के रहने वाले थे। परिपक्व आयु में वृन्दावन आकर इतनी प्रांजल भाषा लिखना उनके लिए सुगम न था। अतः हित-चौरासी के पद सूरदास प्रणीत हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय वालों ने जबरदस्ती उन्हें अपना कर हित-चौरासी नाम दे दिया है। किन्तु उन्होंने न तो ऐतिहासिक प्रमाणों की छानबीन

---

१. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—प्रथम भाग, सम्पादक—डा० श्यामसुन्दरदास। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ८४-१२०।

२. संख्या १५५ बी—चौरासी पद, रचयिता हितहरिवंश स्वामी वृन्दावन, पत्र ३०, आकार ८ ५ इंच। पंक्ति प्रति पृष्ठ १६। परिमाण-अनुष्टुप ४२६। रूप-प्राचीन, लिपि-नागरी, प्राप्ति-स्थान चौबे श्रीकृष्णजी। स्थान पिनाहट, जिला आगरा। संख्या—६५५ सी चौरासी पदी, रचयिता हरिवंश, पत्र ३३, आकार=८ × ६ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ १५, परिमाण-अनुष्टुप ५२८, रूप-प्राचीन, लिपि-नागरी, प्राप्तिस्थान-पं० वासुदेव सहाय, फतहपुर सीकरी, जिला आगरा।
हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सोलहवां त्रैवार्षिक विवरण, सम्पादक-स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उनकी अर्थगर्भ शैली का अनुसरण करने पर राधावल्लभीय उपास्य तत्व का भी संकेत मिलता है—

रसैकसीम राधिका पदाब्जभक्ति साधिकां
तदंगराग पिंजरप्रभाति पुंज मंजुलाम्।
स्वरोचिषाति शोभितां कृतां जनाधिगंजनां
भजे कलिन्द नन्दिनीं दुरन्त मोहभंजिनीम् ॥

—यमुनाष्टक, श्लोक सं० २।

यमुना का आलंकारिक शैली से वर्णन करते हुए उसे मूर्तिमती बनाया गया है और उन समस्त उपकरणों को एकत्र किया है जो उसका शरीर निर्माण करने में समर्थ हैं। यमुना के भीतर खिले हुए कमल ही मुख है, नीलोत्पल ही नेत्र हैं, युगल चक्रवाक दम्पति ही युगल स्तन-मंडल हैं, हंसो की उदार गति ही यमुना की मनोहारी गति है, नदी के दोनों तट ही नितम्ब मंडल हैं, इस प्रकार रूपक और उत्प्रेक्षा द्वारा समस्त रूपसौंदर्य की सृष्टि कर दी गई है—

प्रफुल्लपंकजाननां लसन्नवोत्पलेक्षणां
रथागनामयुग्मकस्तनीमुदारहंसकाम् ।
नितम्बचारु रोधसां हरेः प्रियारसोज्वलां
भजे कलिन्द नन्दिनीं दुरन्त मोहभंजिनीम् ॥

—यमुनाष्टक, श्लोक सं० ७।

नवम श्लोक यमुनाष्टक की फलस्तुतिपरक है। अतः ग्रंथ का नाम अष्टक ही सार्थक है और मुख्य विषय से आठ श्लोकों का ही सम्बन्ध है। यमुनाष्टक पर भी कई टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें चन्द्रलाल गोस्वामी और प्रियादास पटनावालों की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

३—हित चौरासी

श्री हितहरिवंशजी रचित चौरासी पदो के संग्रह का नाम "हित चौरासी" है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही है। इसी ग्रंथ के आधार पर परवर्ती भक्त-महात्माओं ने राधावल्लभीय तत्त्व को हृदयंगम किया है। इस सम्प्रदाय में इस ग्रंथ को मूलाधार मानकर सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। इस ग्रन्थ के चौरासी पदों में हरिवंशजी ने ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य उँड़ेल दिया है।

इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्राचीन प्रति सत्रहवीं शती की मिलती है। चौरासी शब्द के कारण प्रारम्भ में कुछ लोगों की ग्रंथ को बिना देखे ऐसी धारणा रही कि यह ग्रंथ चौरासी भक्तों का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। किन्तु भक्तों के चरित्र-वर्णन से इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो शुद्ध रसपद्धति से लिखा गया मुक्तक पदों का संकलन है जिसे राधा-भावपरक प्रेमलक्षणा-भक्ति का ग्रंथ ही कहा जाना चाहिए। चौरासी योनियों में चक्कर काटनेवाले प्राणी को मुक्त करने के लिए चौरासी पदों का संकलन किया गया ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं।

बन की कुंजनि कुंजनि डोलनि ।
निकसत निपट सांकरी बीथिनि परसत नाहिं निचोलिनि ॥
प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोलनि ।
आलसवन्त अरुण अति व्याकुल कछु उपजति गति गोलनि ॥
निर्तनि भृकुटि बदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलनि ।
अति आसक्त लाल अलि लंपट बस कीने बिनु मोलनि ॥
विलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि ।
रति विपरित चुम्बन परिरम्भन चिबुक चारु टच टोलनि ॥
कबहुँ श्रमित किसलय सिज्या पर मुख अंचल झक झोलनि ।
दिन हरिवंस दासि हिय सींचत वारिध केलि कपोलनि ॥

—हित चौरासी, पद सं० ३४

इस पद में वन-विहार एवं सुरतान्त छवि दोनों का वर्णन स्पष्ट परिलक्षित होता है । इसी प्रकार और भी कई पद ऐसे हैं जो संश्लिष्ट भावों से ओतप्रोत होने के कारण ऐकान्तिक रूप से वर्गीकृत नहीं हो सकते । फिर भी सुविधा के लिए उपर्युक्त वर्गीकरण यहाँ उद्धृत कर दिया गया है ।

हित-चौरासी का वर्ण्य विषय मुख्य रूप से अन्तरंग भावना से सम्बन्ध रखता है। श्रृङ्गार रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयों को इन पदों में हितहरिवंशजी ने प्रस्तुत किया है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदंड हैं । अर्थात् राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्यविहार, रासलीला, भक्ति-भावना, प्रेम में मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्यविहार के चतुर्व्यूहात्मक अवयवों का वर्णन आदि ही इस ग्रंथ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। हम प्रमुख विषयों के स्पष्टीकरण के लिये सोदाहरण उन पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

प्रेम-सिद्धान्त और तत्सुखीभाव

हित-चौरासी का प्रथम पद राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला सैद्धान्तिक पद है । इसमें एक और तत्सुखी भाव की स्थापना है तो दूसरी ओर जलतरंग के समान अद्वैतभाव से साथ रहने वाले प्रिया प्रियतम के प्रगाढ़ और अविच्छेद्य प्रेम का संकेत है ।

जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
भावै मोई जोई, सोई-सोई करै प्यारे ॥
मोको तौं भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहु ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसौं हारे ॥
हितहरिवंश हंस-हंसिनी सांवल गौर,
कहो कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥ —हित चौरासी, पद सं० १

ी चेष्टा की और न किसी परम्परा का अनुसंधान किया। साम्प्रदायिक तथा साहित्यिक ोनों परम्पराओं में हितहरिवंश रचित "हित चौरासी" ग्रंथ हितजी के समय से ही प्रसिद्ध ़ुआ चला आ रहा है। इस ग्रन्थ को उपजीव्य मानकर सेवकजी, व्यासजी, ध्रुवदासजी ने ़सके सिद्धान्तों का भाष्य, टीका, वृत्ति आदि लिखी थी। यदि चौरासी के पद उस समय ़े ही प्रसिद्ध न होते तो इन महानुभावों को उसके अनुगमन का आश्रय कैसे मिलता।

एक और प्रबल तर्क यह है कि 'हित चौरासी' नाम संख्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता ़। अर्थात् यह चौरासी पदों का ही संग्रह हो सकता है। सूरदास के पदों की संख्या अद्या- ़धि निश्चित नहीं है। यदि ये पांच या छह पद चौरासी के न होकर सूरदास के माने जायें ़ो ग्रंथ के नाम की सार्थकता नहीं रहती। अतः हित चौरासी में जो पद संकलित हैं वे ़ो प्रारम्भ से इसी रूप में चले आ रहे हैं। पक्षपात या प्रमादवश लिपिकारों ने इन पदों को सूर की रचनाओं में 'छाप-परिवर्तन' करके समाविष्ट कर दिया है। यथार्थ में वे हित- हरिवंशजी की ही रचना है। हम इसी अध्याय में उन छह पदों को हित चौरासी और सूरसागर दोनों से अविकल रूप में, उद्धृत करके उनके साम्य-वैषम्य की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

हित चौरासी का प्रतिपाद्य

हित चौरासी एक मुक्तक पद-रचना है जिसमें भाववस्तु का कोई व्यक्त कोटि-क्रम नहीं है। समय-प्रबन्ध की दृष्टि से कुछ महानुभावों ने कालक्रम निर्धारित करने की चेष्टा की है जो अनिवार्य रूप से मान्य नहीं कही जा सकती। श्री रूपलाल गोस्वामी ने हित- चौरासी के पदों को समय-प्रबन्ध में इस प्रकार वर्गीकृत किया है—

१—सुरतान्त समय अर्थात् मंगला के १६ पद
२—शैया समय के १६ पद
३—रास के १७ पद
४—वन विहार के ३ पद
५—स्नान श्रृङ्गार के ४ पद
६—राजभोग (शैयाविहार) के २ पद
७—वसंत वर्णन के २ पद
८—होरी वर्णन के २ पद
९—फूल डोल-झूलन का १ पद
१०—मलार के ४ पद
११—संभ्रम-मान के १३ पद

कुल योग=८४

इस वर्गीकरण की एक त्रुटि तो बहुत ही स्पष्ट है कि कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें किसी एक वर्ग में सर्वतोभावेन समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उनकी भावना इतनी संश्लिष्ट है कि न तो हम उसे सुरतान्त कह सकते हैं, न वन-विहार और न रास। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

'उपास्य तत्त्व केवल परात्पर प्रेम तत्त्व' ही है। प्रिया प्रियतम (राधाकृष्ण) इसी प्रेमोपासना के अन्तर्गत रहते हैं इसलिए 'मेंड़ पहिचानना' अर्थात् प्रेम की यथार्थ मर्यादा को समझने वाला ही प्रेमी हो सकता है। कृष्ण को प्रेम करने मात्र से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती वरन् उससे भी आगे प्रेम को समझना अनिवार्य है, यही प्रच्छन्न भाव इस पद में तात्विक शैली से रखा गया है।

नित्यविहार-वर्णन

नित्यविहार का वर्णन करने वाले आचार्यों में श्री हरिवंशजी का स्थान मूर्धन्य पर है। आपने ही सबसे पहले नित्यविहार की सैद्धान्तिक रूप से स्थापना की और उसे अपने पदों में गेय बनाकर प्रस्तुत किया। ब्रजलीला गान करने वाले सूरदास आदि कवियों ने जब निकुंज लीला की ओर क़दम बढ़ाया तो उन्हें प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हितहरिवंशजी की नित्यविहार-पद्धति से मार्ग-प्रदर्शन मिला। नित्यविहार की सैद्धान्तिक मीमांसा हम पंचम अध्याय में विस्तार से कर चुके हैं प्रकृत प्रकरण में केवल यह दिखाना हमें अभीष्ट है कि हित-चौरासी में किस प्रकार नित्यविहार को स्थान मिला है।

नित्यविहार के वर्णन शृंगार-रस की शैली से ही प्रस्तुत होते हैं। लौकिक शृंगार में जिस प्रकार प्रिया-प्रियतम एक दूसरे के प्रेमपाश में आबद्ध होकर रतिक्रीड़ा आदि करते हैं और अन्त में सुरत-प्रसंग आदि काम-भोग में उनकी रति का पर्यवसान होता है ऐसे ही राधा और कृष्ण के नित्यविहार में दाम्पत्य भाव से प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन होता है। यह प्रेम, काम की समस्त चेष्टाओं से परिपूर्ण होने पर भी लौकिक काम-वासनामय नहीं माना जाता क्योंकि अन्तरंग भावना में इसका पक्ष आध्यात्मिक ही स्वीकार किया जाता है। जो पद नित्यविहार सम्बन्धी हित-चौरासी में या अन्य महानुभावों की वाणियों में मिलते हैं, उनका शाब्दिक धरातल लौकिक दृष्टि से शृंगारमय ही प्रतीत होगा, किन्तु भावना के उदात्तीकरण द्वारा ही उनका आध्यात्मिक रूप अन्तर्नेत्रों के सम्मुख आ सकता है। नित्यविहार के अनेक पद हित-चौरासी में हैं—

प्रात समै दोऊ रस लम्पट सुरत जुद्ध जय जुत अति फूल।
श्रम वारिज घन बिन्दु वदन पर भूषण अंगहि अंग विकूल॥
कछु रह्यो तिलक, शिथिल अलकावलि बदन कमल मानो अति मूल।
हित हरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैंन बैंन कटि, शिथिल दुकूल॥

—हित चौरासी, पद सं० ३।

निकुंज-लीला के संभ्रम और सूक्ष्म मान-विरह को चित्रित करने वाला सुन्दर पद द्रष्टव्य है :—

आजु निकुंज मंज में खेलत नवलकिशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परसपर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥
विद्रुप फटिक विविध निमित धर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी॥

इस पद में अद्वयभाव की सृष्टि के लिए प्रिया-प्रियतम का एक दूसरे में लीन होने का वर्णन है। इस अद्वैतभाव को ही कुछ विद्वानों ने सिद्धाद्वैत कहकर दार्शनिक रूप देने की चेष्टा की थी। तत्सुख सुखित्व भाव के लिए प्रिया-प्रियतम अपने प्राण एक दूसरे पर न्योछावर करने को उद्यत हैं, दोनों में से किसी के भी भीतर स्वसुख-कामना का लेश नहीं है।

प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना में हितहरिवंशजी ने किसी लौकिक-वैदिक मर्यादा का आश्रय नहीं लिया है। उनका प्रेम नैसर्गिक रूप से जिस दिशा में प्रवाहित होता है उसे लोक या शास्त्र की सीमाएँ बाँध नहीं सकती।

प्रीति न काहू की कानि बिचारै।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै॥
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै॥
ज्यों नादहि मन दिये कुरंगनि प्रकट पारधी मारै॥
हितहरिवंश हिलग सारंग ज्यों शलभ शरीरहि जारै॥
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै॥

—हित चौरासी, पद सं० ४२।

सच्चे और निरवद्य प्रेम की पहचान यही है कि प्रेमी के हृदय में जब अपने आराध्य के प्रति दृढ़ आसक्ति उदय होती है तब उसे उचित-अनुचित का विचार-विवेक नहीं रहता। अपने प्रेमास्पद के लिए प्रेमपरवश हो जो कुछ भी करता है, ठीक ही करता है। लोक, वेद, शास्त्र सब मर्यादाएँ उसके लिए प्रेमी के आगे तुच्छ और हेय प्रतीत होती हैं। गोपियों के प्रेम का वर्णन इसी कोटि में आता है। वे श्याम की मुरली-ध्वनि सुनकर सब प्रकार की मर्यादाओं का उल्लंघन कर भाग खड़ी हुईं; 'सुधिबुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय।' इसी प्रेम को माधुर्य भक्ति का प्राण माना गया है।

प्रेम-राज्य में मान-सम्मान, पद-मर्यादा, छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। सकल लोक चूड़ामणि श्रीकृष्ण प्रेम के राज्य में प्रविष्ट होते ही अपने अस्तित्व को अकिंचन जैसा मानते हैं। प्रेम में दैन्य और कार्पण्य ही शोभा देता है। इस प्रेम की महिमा बताते हुए कहा है—

प्रीति की रीति रंगीलोई जानै।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै॥
जमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै।
निपट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहिं न आनै॥
नस्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सौं बानै।
हितहरिवंश चतुर सोई लालहिं छाड़ि मेंड पहिचानै॥

—हित चौरासी, पद सं० ४१।

इस पद में रंगीले श्याम को प्रीति का पारखी तत्त्ववेत्ता ठहराया गया है किन्तु अन्तिम चरण में 'चतुर सोई लालहिं छाड़ि मेंड पहिचानै' कहकर प्रेम की स्थिति को ऊपर उठाने वाला सिद्धान्त झलक रहा है। इस चरण में स्पष्ट संकेत है कि हितहरिवंशजी के मत में

नाभि गंभीर, मीन मोहन मन खेलन कौं ह्रदनी ।
कृश कटि, पृथु नितम्ब किंकिणि व्रत, कदली खंभ जघनी ॥
पद अम्बुज जावक जुत, भूषन प्रीतम उर अवनी ।
नव-नव भाय विलोभि भाम इभ विहरत वर करनी ॥
हित हरिवंश प्रशंसित श्यामा कीरत विशद घनी ।
गावत श्रवनन सुनत सुखाकर विश्व दुरित दमनी ॥

—हित चौरासी, पद सं० २६ ।

उपर्युक्त पद का नखशिख-वर्णन यद्यपि रूढ़ शैली का है किन्तु उसकी दो विशेषताएं द्रष्टव्य हैं, प्रथम तो संक्षेप में एक ही उपमान के द्वारा उपमेय को चमत्कृत किया गया है, दूसरे शिखा अर्थात् कबरी से प्रारम्भ करके नख अर्थात् जावकयुक्त चरणों तक समस्त अंगों को इस पद में हितहरिवंशजी ने समेटा है। इतना संक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण, सार-युत नख-शिख वर्णन बहुत कम कवियों की लेखनी से निःसृत हुआ है ।

इसी प्रकार का दूसरा चित्र है जिसमें राधा का शृंगार-प्रसाधन सहित वर्णन किया है :—

आवति श्री वृषभानु दुलारी ।
रूपराशि अति चतुर शिरोमणि अंग अंग सुकुमारी ॥
प्रथम उबटि, मज्जन करि, सज्जित नील वरन तन सारी ।
गुंथित अलक तिलक कृत सुन्दर, सेंदुर मांग संवारी ॥
मृगज समान नैन अंजन जुत रुचिर रेख अनुसारी ।
जटित लवंग ललित नासापर, दसनावली कृतकारी ॥
श्रीफल उरज, कंसुभी कंचुभी कसि ऊपर हार छवि न्यारी ।
कृश कटि, उदर गंभीर नाभि पुट, जघन नितम्बनि भारी ॥
मनौं मृनाल भूषन भूषित भुज श्याम अंस पर डारी ।
हितहरिवंश जुगल करनी गज विहरत बन पिय प्यारी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ४५ ।

इस पद में रूप-वर्णन से पहले सौंदर्य और प्रसाधन के साथ स्नान, उबटन, वस्त्र-धारण आदि का वर्णन किया गया है। उसके बाद क्रमशः अंगों की शोभा का आलंकारिक पद्धति से वर्णन है। यद्यपि इसमें न तो कोई नूतन उपमान है और न कोई वचन-वक्रता ही किन्तु समूचे पद में सौन्दर्य की छटा अवश्य प्रतिच्छायित हो रही है। मृगछौने के समान नेत्र और मृणाल-दंड के समान भुजाओं का वर्णन परम्पराभुक्त होने पर भी उक्त पद में नवीन सौंदर्य की सृष्टि कर रहा है।

रूप-सौन्दर्य चित्रित करने वाले लगभग एक दर्जन पद हित चौरासी में हैं जिनमें नखशिख का कहीं सम्पूर्ण रूप से और कहीं कोई विशेष अंग उभार के साथ वर्णित हुआ है।

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी ।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये, मृगज लोचन, उबटि अंग सिर खोरी ।

मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर भोरी।
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी ॥
हरि उर मुकुर बिलोकि अपनपो विभ्रम विकल मानयुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी ॥
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।
हित हरिवंश करत करधूनन प्रणयकोप मालावलि तोरी ॥

हित चौरासी, पद सं० ७।

इस पद में सूक्ष्म मान का वर्णन है—रति-क्रीड़ा-परायण मिथुन, मनोहर भुज-बंधन में आबद्ध हुए थे कि सहसा राधा की दृष्टि प्रियतम के हृदय-मुकुर पर चली गई और उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर उन्हे भ्रम हुआ कि कृष्ण के हृदय में तो कोई और सुन्दरी धर किये हुए है। बस इसी भ्रमवश वे मानवती हो गईं। तब कृष्ण ने उनके चिबुक को स्पर्श करके प्रेमपूर्वक वस्तुस्थिति का बोध कराया। ललिता आदि सखियाँ इस विहार रस को निकुंज-रंध्रों से देखकर अपना जीवन सार्थक कर रही हैं।

राधा का रूप-चित्रण

रूप-सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से हित-चौरासी के पद भक्तिकालीन कवियों में श्रेष्ठतम कहे जा सकते हैं। यद्यपि नखशिख-वर्णन भक्ति-काव्य का प्रतिपाद्य विषय नहीं है फिर भी उपास्य का विग्रह मूर्तिमन्त करने के लिए आनुषंगिक रूप से नखशिख-वर्णन का प्रसंग भक्ति-काव्य में आ ही जाता है। सूरदास ने तो राधा और कृष्ण दोनों का सांगोपांग रूप-चित्रण किया है तथा नखशिख की शास्त्रीय परिपाटी का भी निर्वाह कर दिखाया है। हितहरिवंशजी की रचना बहुत सीमित है अतः ब्योरेवार चित्रण का इसमें न्यून ही अवकाश है फिर भी थोड़े शब्दों में अति सशक्त, व्यापक और सर्वांगपूर्ण चित्रण देखकर आश्चर्य होता है। नखशिख का आभास देता हुआ राधाकृष्ण का सुन्दर रूप निम्नलिखित पद में प्रस्फुटित हो रहा है—

ब्रजनवतरुणि कदम्ब, मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।
नखशिख लों अंग-अंग माधुरी मोहे श्याम धनी ॥
यों राजत कबरी गूंथित कच, कनक कंज बदनी।
चिकुर चंद्रकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी ॥
सौभग रस शिर श्रवत पनारी, पिय सीमन्त ठनी।
भृकुटि काम कोदंड, नैन रस, कज्जल रेख अनी ॥
तरल तिलक, तांटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव प्रीतम मन शमनी ॥
चिबुक मध्य अति चारु सहज सखि सांवल बिन्दु कनी।
प्रीतम प्राण रतन संपुट कुच कंचुकि कसवि तनी ॥
भुज मृनाल बल हरत बलय जुत परस सरस श्रवनी।
श्याम शीश तरुमनो मिडवारी रची रुचिर रवनी ॥

रूपी भ्रमर राधा के मुख-कमल के रस में भटक कर अन्यत्र कहीं जाना ही नहीं चाहते। जब कभी पलक-सम्पुट में अलक-लट के बीच में आ जाने से अन्तराय होता है तभी व्याकुल हो जाते हैं। एक पल का अदर्शन इन्हें शत कल्प के समान प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण के नेत्र राधा के कानों में कमल, आंखों में अंजन, कुचों में मृगमद बनकर भी शान्ति नहीं पाते। अर्थात् उनमें रूप और प्रेम की तृषा निरन्तर बढ़ती रहती है। इसलिए श्रीकृष्ण के नेत्र राधा की नाभि-सरोवर की मीन बनने की कामना करते है ताकि निरन्तर वहीं रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

> नैननि पर वारौं कोटिक खंजन।
> चंचल चपल अरुण अनियारे अग्रभाग बन्यौ अंजन॥
> रुचिर मनोहर वक्र विलोकनि सुरत समर दल गंजन।
> हितहरिवंश कहत न बनै छवि सुख समुद्र मनरंजन॥
>
> —हित चौरासी, पद सं० २२।

हे राधे! तुम्हारे सुन्दर नेत्रों पर मैं कोटि-कोटि खंजन पक्षियों को न्यौछावर करता हूं। तुम्हारे ये नेत्र सुन्दर चंचल, चपल, अरुण और अनियारे (कोरदार-तीव्र पैने) हैं। उनके अग्रभाग में अंजन लगा हुआ है। इन नयनों का रुचिर, मनोहर एवं कटाक्षपूर्ण अवलोकन ही सुरत-युद्ध में विपक्षी दल का मंथन करने वाला है। अर्थात् इन नेत्रों की एक चितवन से ही प्रतिपक्षी परास्त होकर तुम्हारे रूप पर रीझ कर रह जायगा।

रास-वर्णन

हितहरिवंश जी ने चौरासी में रास-विषयक १७ पद लिखे हैं जिनमें भावना-परक रास का वर्णन है। भागवत पुराण में जिस रास का वर्णन 'रास-पंचाध्यायी' के अन्तर्गत हुआ है वैसा विवरणात्मक रास चित्रण यहां नहीं है। कृष्ण का मुरली बजाना और गोपियों का मुग्ध होकर उनके पास शरद-यामिनी में घरबार छोड़ कर आना किसी आख्यानात्मक शैली से कहीं नहीं आया है। यहां रास नित्यविहार की ही एक स्थिति है। राधा और कृष्ण अपने विनोद के लिए यमुना-पुलिन पर रास रचते हैं और वहां कृष्ण मुरली बजाते हैं, युवतियां नृत्य करती हैं और राधाकृष्ण का सम्मोहक, मिलन होते-होते लीला समाप्त होती है। रास प्रारम्भ होने से पूर्व एक सखी राधिका के पास आकर उसे सूचना देती है कि हे राधे! तेरे लिए कलिन्दजा के किनारे कृष्ण ने रास रचा है—

> चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान
> रास रच्यो श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
> निर्तत युवती समूह रागरंग अति कुतूह
> बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी॥
> बंसीवट निकट जहां परम रमनि भूमि तहां
> सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी।
> जाती ईषद बिकास, कानन अतिशय सुवास
> राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी॥

गंड पंडीर मंडित, चिकुर चन्द्रिका मेदिनी, कवरि गूंथित सुरंग डोरी।
श्रवन ताटंक कै चिबुक पर बिन्दु दै, कसुंभि कंचुकि दुरे उरज फल कोरी।
वलय कंकन दौति, नखन जावक जोति, उदर गुनरेख, पट नील कटि थोरी।
सुभग जघनस्थली क्वणित किंकिनि भलो, कोक संगीत रस सिंधु झकझोरी।
विविध लीला रचित, रहसि हरिवंश हित, रसिक सिरमौर राधारमन जोरी॥
भृकुटि निर्जित मदन, मंद सस्मित वदन, किये रस विवस घनस्याम पिय गोरी॥

—हित चौरासी, पद संख्या ६७।

रूप-चित्रण में नेत्रों का वर्णन हित चौरासी में सबसे अधिक हुआ है। नेत्रों का सौन्दर्य, प्रभाव, मोहकता, आकर्षण आदि विविध भावों को नेत्र-सम्बन्धी पदों में व्यक्त किया गया है। हम नेत्र-सम्बन्धी समस्त पदों को उद्धृत न करके केवल दो-तीन पदों के सौंदर्य की ओर रसिकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं :—

खंजन, मीन, मृगज, मद मेटत कहा कहौं नैनन की बातें।
सुनि सुन्दरी कहा लौं सिखई मोहन बसीकरन की घातें॥
वंक, निशंक, चपल, अनियारे, अरुण श्याम सित रचे कहांते।
डरत न हरत परायो सर्वसु मृदु मधु मिव मादिक दृग पातें॥
नेक प्रसन्न दृष्टि पूरण करि नहिं मो तन चितयों प्रमदा तें।
हित हरिवंश हंस कल गामिनि भावै सो करहु प्रेम के नाते॥

—हित चौरासी, पद सं० ७३।

राधा के नेत्र समस्त उपमानों को तिरस्कृत करने वाले हैं—खंजन, मीन, मृगछौना सबका नेत्र-विषयक सौंदर्य-मद राधा के नेत्र चूर-चूर कर देते हैं। मोहन-वशीकरण की विद्या में राधा के नेत्र प्रवीण हैं। नेत्र-सौन्दर्य के लिए जो विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं उनकी सार्थकता सराहनीय है—वंक, तिरछे, निडर, चंचल और नुकीले नेत्र तीनों वर्णों से (अरुण, स्याम, सित) संयुक्त हैं। दूसरों का सर्वस्व (मन)-हरण करने में इन नेत्रों को तनिक भी भय नहीं लगता—मीठी मादक चोट करके केवल दृष्टिपात से ही सबको मुग्ध कर लेते हैं। ऐसे आकर्षक नेत्रों की एक नजर के लिए श्रीकृष्ण भी लालायित हो उठे हैं और एक दृष्टि का वरदान मांगते हैं। परवर्ती कवियों ने इस पद के भाव को कई रूपों में अपने काव्य में स्थान दिया है।

कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात॥
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तरते अलप कलप सत सात॥
श्रुति पर कंज, दृगजन कुच विच मृग मद ह्वै न समात।
हितहरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात॥

—हित चौरासी, पद सं० ६०।

उपर्युक्त पद में श्रीकृष्ण के रूप-रसपान-लोभी नेत्रों का वर्णन है। श्रीकृष्ण के नेत्र-

से पता हमें गोस्वामी महानुभावों से चला किन्तु उन सबको देखने-पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिला। लोकनाथजी की टीका भी हमने देखी है। गोस्वामी कृपालालजी ने चतुरासी की एक टीका संस्कृत में लिखी थी इसका काल १८२० संवत् 'साहित्य रत्नावली' में दिया है। टीका हमारे देखने में नही आई। उपलब्ध या प्रख्यात टीकाओं का विवरण इस प्रकार है :—

१—गो० व्रजभूषणलाल	केलिदीपिनी टीका व्रजभाषा	सं०
२—श्री रसिकलाल	चोरासी पद रहस्य-व्रजभाषा	सं० १७३४
३—गो० सुखलालजी	व्रजभाषा टीका	सं० १७६५
४—श्री प्रेमदासजी	,, ,,	सं० १७९१
५—श्री हित धरनीधरदास	,, ,,	सं० १७४९
६—श्री लोकनाथजी	व्रजभाषा पद्य-गद्य	प्रतिकाल सं० १८३७
७—श्री केलिदासजी	,, गद्य	१८ वी शती
८—श्री गो० चन्दलाल	व्रजभाषा	अप्राप्त
९—श्री गो० मनोहरवल्लभ	,,	सं० १९५३
१०—श्री रतनदासजी	,,	सं० १८५६
११—रानी कमलकुंवरि (हितदासी)	,,	१८ वीं शती
१२—श्री वृन्दावनदासजी	,,	१८ वीं शती
१३—श्री गो० कृपालालजी	संस्कृत टीका	१८२० संवत
१४—श्री लाड़िलीदासजी	व्रजभाषा	१९ वी शती
१५—अज्ञात लेखकों की	,,	२ टीकाएँ प्राप्त हैं।

हित-चोरासी पर सत्रहवीं शती के प्रारम्भ से ही टीकाएँ लिखी जा रही हैं। सबसे पहले किसने टीका लिखी यह निर्णय करना तो कठिन है किन्तु यदि टीका शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो चोरासी का मर्मोद्‌घाटन सर्वप्रथम श्रीसेवकजी ने किया यह मानना होगा। उसके बाद श्री ध्रुवदासजी को यह श्रेय दिया जाना चाहिए। यद्यपि इन दोनों महात्माओं ने हित चोरासी की कोई टीका या भाष्य नही लिखा फिर भी मर्मोद्‌घाटन का मार्ग इन्ही की रचनाओं द्वारा प्रशस्त हुआ।

टीकाओं की यह परम्परा इस बात का प्रमाण है कि हित चोरासी के पदों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। सूरदास आदि की रचनाओं में उनका सम्मिश्रण परवर्ती लिपिकारों के प्रमाद या प्रक्षेप की प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

४—स्फुटवाणी

श्री हित-हरिवंशजी की रचनाओं में स्फुटवाणी को स्वतन्त्र ग्रन्थ का-सा स्थान प्राप्त हो गया है यद्यपि ये मुक्तक या प्रकीर्णक पद हैं जो विविध विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। स्फुटवाणी की रचना कदाचित् 'हित चोरासी' के बाद हुई क्योंकि इसमें कई पद सिद्धान्त-प्रतिपादन से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले हैं। 'हित-चोरासी' में परोक्ष रूप से यत्र-तत्र सिद्धान्त वर्णित हुए हैं। किन्तु स्फुटवाणी में प्रेम, अनन्यता, राधाभक्ति, जीवनोद्देश्य

नरवाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि
नखशिख सौन्दर्य काम दुख निकन्दिनी ॥
विलसहि भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिन्धु झेलि
नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी ॥

—हित चौरासी, पद सं० १२।

श्याम संग राधिका रास मंडल बनी।
बीच नंदलाल व्रजबाल चंपक बरन,
ज्यौंव घन तड़ित बिच कनक मर्कत मनी ॥
लेत गति मान तत्त थेइ हस्तक भेद
'सरिगमपधनि' ये सप्त सुर नन्दिनी ॥
निर्त रस पहिर पट नील प्रकटित छवी
मदन जनु जलद में मकर की चन्दिनी ॥
राग रागिनि तान मान संगीत मत
थकित राकेश नव शरद की जामिनी ॥
हित हरिवंश प्रभु हंस कटि केहरी
दूर कृत मदन मदमत्त गजगामिनी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ७१।

हित चौरासी की टीकाएँ

'हित चौरासी' की ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनों में अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। अभी तक अन्तिम रूप से टीकाओं की संख्या निश्चित नहीं की जा सकी है। दो-तीन ब्रजभाषा गद्य की ऐसी हस्तलिखित टीकाएं प्राप्त हैं जिनके प्रारम्भ और अन्त के पृष्ठ फट जाने से लेखक का नाम भी विदित नहीं हो सका है। जिन सज्जनों के पास ये टीकाएँ विद्यमान हैं उनमें से अधिकांश सज्जन उन्हें इतना सँभाल कर रखना चाहते हैं कि किसी जिज्ञासु पाठक को पढ़ने का अवसर देना तो दूर दिखाना भी नहीं चाहते। कभी-कभी बाह्याकार, लेखक-नाम तथा प्रतिकाल का संवत् मात्र देखने दिया है। प्रेमदासजी कृत टीका को आद्योपान्त पढ़ने का सौभाग्य लेखक को एक कृपालु सज्जन की उदारता से प्राप्त हुआ। उस टीका में स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण तथा गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न देखकर कहना न होगा कि प्रेमदासजी से पहले अवश्य ही चौरासी की विशद टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं।

वृन्दावन में ऐसी जनश्रुति है कि हित चौरासी पर अभी तक दो दर्जन के ऊपर टीकाएँ तैयार हो चुकी हैं। यदि यह जनश्रुति किसी सत्य पर निर्भर करती है तो अनुसंधान के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। इन पंक्तियों के लेखक को तो प्रत्यक्ष रूप से चार टीकाएँ ही देखने का अवसर मिला है। शेष टीकाओं के नाम या तो उसने साधु-महात्माओं अथवा गोस्वामियों से सुने हैं या इधर-उधर राधावल्लभीय प्रकाशित पुस्तकों में पढ़े हैं। कुछ टीकाओं का अधिकृत रूप

खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जिये।
हितहरिवंश भनत सचु नाहीं बिन या रजहिं लिये॥

—स्फुटवाणी—पद सं० २०

अनन्यता की भावना को व्यक्त करने के लिए एक अन्य पद में कहा है कि मुझे अपनी अनन्यता में पूरा दृढ़ विश्वास है, मेरी मति कच्ची नहीं है अतः मुझे किसी का भय क्यों कर हो सकता है? भक्तगण भले ही अनन्त कन्त करें—विभिन्न ईश्वर या उपास्य देव मानें—किन्तु मैं तो सोते-जागते केवल अपने आराध्य मोहनलाल का ही ध्यान करता हूँ और उन्हीं के रंग (प्रेम) में अनुरक्त रह कर सुखी रहना चाहता हूँ।

मोहनलाल के रंग रांची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसों दिशि मांची॥
कन्त अनन्त करौ जो कोऊ बात कहौं मुनि सांची॥
यह जिय जाहु, भले सिर ऊपर, हौंव प्रगट ह्वै नाची।
जाग्रत शयन रहत उर ऊपर मणि कंचन ज्यों पांची॥
हितहरिवंश डरौ काकै डर हौं नाहिन मति कांची॥

—स्फुटवाणी पद सं० १२।

अपनी निष्ठा के आगे हरिवंशजी को किसी का भय नहीं है, वे कुत्सित ग्रहों, विपरीत नक्षत्रों और दुर्दिनों की चिन्ता नहीं करते। और न उन्हें नवग्रहों के लाभ की इच्छा है। वे अपनी अनन्य निष्ठा के आगे किसी की भी परवाह न करते हुए उपासना में लीन रहने में ही अपने कर्तव्य की सार्थकता समझते हैं। ज्योतिष-शास्त्र में जो रंक नवग्रह (कुग्रह) कहलाते हैं उनका परिगणन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'जो पै कृष्ण चरण मन अर्पित तो करिहैं कहा नवग्रह रंक' और यदि गोविन्द में मन नहीं लगा तो 'नीके नवग्रह' (शुभ ग्रह) भी क्या लाभ कर सकते हैं।

इस अनन्य भाव से अपने आराध्य में लीन रहने का उपदेश देते हुए हरिवंशजी कहते हैं—

तातें भैया मेरी सौं कृष्ण गुण संचु।
कुत्सित वाद विकारहि परधन सुनु सिख मंद परतिय वंचु॥
मणिगण पुंज व्रजपति छाड़त हितहरिवंश करि गहि कंचु।
पाये जान जगत में सब जन कपटी कुटिल कलियुग टंचु॥
इह परलोक सकल सुख पावत मेरी सौं कृष्ण गुण संचु॥

—स्फुटवाणी, पद सं० [illegible]।

स्फुटवाणी में विप्रलम्भपरक तीन पद हैं। इन पदों की मधुरता ही इनकी विशेषता है। विप्रलम्भ वर्णन की दृष्टि से पावस की फुहार में भीगते हुए राधाकृष्ण का नैमित्तिक मान और कदम्ब कुञ्ज का [illegible] निम्नलिखित पद में द्रष्टव्य है :—

आदि विषयों का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन हुआ है। हितहरिवंशजी की रचनाओं में हित-चौरासी के बाद इसी वाणी का स्थान है। परिष्कृत ब्रजभाषा की रचना होने के कारण इसका प्रचार पर्याप्त हुआ। इसके पदों का वर्गीकरण इस प्रकार है—४ सवैया, २ छप्पय, २ कुंडलियाँ, १५ पद (रागबद्ध), ४—दोहे—कुल योग २७। विषय की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—४ दोहे और २ कुंडलियाँ—सिद्धान्त, ७ पद—अनन्यनिष्ठा, ४ पद—उपदेश, ५ पद—कृष्णजन्म और राधा-रूप-वर्णन, ३ पद—विहार, २ पद—गोपाल की आरती=कुल योग २७।

सिद्धान्त सम्बन्धी जो दो कुंडलियाँ इस वाणी में चकई और सारस के प्रेम को उप-लक्षण बना कर लिखी गई हैं, राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का आधार मानी जाती हैं। दोनों कुंडलियों की सैद्धान्तिक मीमांसा हमने पंचम अध्याय में विस्तारपूर्वक की है। सिद्धान्त-विषय के चार दोहे हितहरिवंश जी के औदार्य, प्रेम, ममता, सहानुभूति, दृढ़ता और अनन्य निष्ठा के परिचायक हैं—

सबसों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान, मुख नाम॥ १
तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंशहित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥ २
निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर अंस।
राधावल्लभ मुख कमल, निरखि नैन हरिवंस॥ ३
रसना कटौ जु अनरटौं, निरखि अनफुटौ नैन।
श्रवण फुटौ जु अनसुनौ, बिन राधा यश बैन॥ ४

—स्फुट वाणी—२४-२७।

अनन्यनिष्ठा राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्राण है। हरिवंशजी ने अपने सम्प्रदाय का मूलाधार इस निष्ठा को ही बनाया था तभी वे अकेले रहकर भी इतने शक्तिशाली सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने में सफल हो सके। राधा और मोहन में तन्मय होकर उन्होंने किसी अन्य देवी-देवता की न तो स्वयं उपासना-आराधना की और न अपने अनुयायियों को किसी अन्य देवता की उपासना का उपदेश दिया। मीराबाई की तरह हरिवंशजी ने भी राधाकृष्ण को स्वीकार करने के बाद सब झंझटों से अपने को मुक्त कर लिया था। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कोई भक्त किसी भी देवता की आराधना में मन क्यों न दिये रहें किन्तु मैं तो तृण लेकर शपथ करता हूँ कि मेरा मन तो प्राणनाथ श्री श्यामा में ही लीन है। अवतारों की उपासना करने वाले भक्तगण जब नित्यविहार का रसास्वादन करते हैं तब वे भी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर इस रस में निमज्जित होकर बह जाते हैं।

रहौ कोऊ काहू मनहि दिये।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा शपथ करौं तृण छिये॥
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा, बनविहार रस पिये॥

कपूर जल, सुगन्ध, शंख, दुंदुभि, पणज, घंटा, वेणु, आदि समस्त साधनों द्वारा विधि-विधान-पूर्ण आरती का वर्णन है। किन्तु दूसरे पद की आरती बाह्य साधनों की आरती न होकर शुद्ध भावना की आरती है जिसमें न धूप है न अगर। केवल भक्ति का दीप और प्रेम की बाती है, साधु-संगति का अनुराग उस आरती का उपाय है—

भक्ति करि दीप, प्रेम करि बाती,
साधु संगति करि अनुदिन राती।

हितहरिवंशजी के अन्य ग्रन्थों की तरह स्फुट वाणी पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं। पाँच टीकाएँ सम्प्रदाय में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं—जिनके प्रणेता रतनदासजी, प्रियादासजी, व्रजगोपालजी, गोपालप्रसाद जी और भोलानाथ जी हैं। अन्तिम दो प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

काव्य-समीक्षा

श्री हरिवंशजी की वाणी भक्ति रस से आप्लावित मुक्तक गेय पदों का संग्रह है। भक्तिभावना से अनुप्राणित इन पदों में शास्त्रानुमोदित काव्य-सौष्ठव का संधान करना इन पदों की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा किन्तु भावुक एवं सहृदय भक्तों की रसस्निग्ध वाणी केवल शिवत्व से ही परिपूर्ण नहीं होती वरन् सत्य और सौन्दर्य को भी अपने अंचल में छिपाये रहती है अतः काव्योत्कर्ष के समस्त अलंकृत उपकरण उसमें अनायास आ जाते हैं। भक्त-कवि की उक्ति का प्रभाव केवल उसके मंगल-विधान के कारण ही नहीं होता अपितु उक्ति-सौन्दर्य के कारण भी होता है। यही कारण है कि निर्गुण मार्ग से भक्ति-पथ का उन्मेष करने वाले कबीर और नानक जैसे महात्माओं की रचना में भी काव्य-सौन्दर्य की निसर्ग-सिद्ध छटा देखने में आती है। श्री हितहरिवंशजी तो माधुर्य भक्ति की रसधारा के उन्नायकों में थे अतः आपकी वाणी से यदि काव्य-सौन्दर्य की निर्झरिणी प्रवाहित हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है ?

काव्य की आत्मा रस है, हरिवंशजी की वाणी का मूलाधार भी रस ही है। काव्य-रस सहृदयों के चित्त को विस्फारित एवं चमत्कृत करता हुआ अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है, हरिवंशजी की वाणी का रस भी रसिक भक्तों को प्रेम-विह्वल करके आनन्द-विभोर बना देता है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है, हरिवंशजी की वाणी का आनन्द साक्षात् ब्रह्मानन्द का ही रूप है। काव्य के लौकिक आलम्बन नायक-नायिका, रति, हास, शोक आदि भावों को उद्बुद्ध करने में सहायक होते हैं, भक्तवाणी का आलम्बन लौकिक नायक-नायिका न होकर आमुष्मिक रति (राधाकृष्ण-रति) को जागृत कर चित्त को शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। भक्ति रस को स्वीकार करने वाले मर्मी भक्तों के मत में भक्ति काव्य का चरम उद्देश्य दिव्य प्रेम के मार्ग से रसिक-भक्तों को भव-बंधन से मुक्त कर उसे एक ऐसे आनन्द-लोक में ले जाना है जहाँ सांसारिक मायावी प्रपंच के बंधन उच्छिन्न हो जाते हैं। भक्त के मन में एकान्त अनाविल राधाकृष्ण-रति का अपार पारावार लहराने लगता है। उस अगाध और अपार भक्ति-सागर में कूद पड़ने के बाद संसार-सागर के कूल किनारे विलीन हो जाते हैं, सांसारिक मर्यादाएँ ढह जाती हैं और भक्त का मन विशुद्ध आत्मचैतन्य में लीन होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि करने लगता है।

दोऊ जन भीजत अटके बातन ।
सघन कुञ्ज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे गातन ॥
ललिता ललित रूप रस भीजीं बूँद बचावत पातन ।
हितहरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रति रस घातन ॥

—स्फुट वाणी पद सं० २३ ।

प्रेम की तल्लीन दशा में खड़े हुए राधामाधव को न तो वर्षा की बूँदों की चिन्ता है और न समीप खड़ी हुई ललिता सखी के द्वारा देखे जाने का भय। दोनों कुञ्ज-द्वार पर आमोद-प्रमोद में डूबे हुए रति-रस लूटने की घात में खड़े हैं। यह समस्त वर्णन बिना किसी कृत्रिम शब्दजाल के इतने सहज रूप में सामने आता है कि पाठक के अन्तर्नेत्रों के समक्ष राधामाधव पावस की सन्ध्या को किसी लता-कुञ्ज के बाहर खड़े प्रेमलीला में सराबोर से खड़े दीखने लगते हैं। यह वन-विहार का पद है और उसी भाव की सार्थक व्यंजना भी करता है।

शृंगार-रस से परिपूर्ण एक अन्य पद में विहार को रति-सुख के चरमोत्कर्ष तक पहुँचाकर राधा की उन्माद दशा अंकित की गई है। पद की शैली और भाषा-प्रवाह जिस अबाध गति से आगे बढ़ता है वह किसी कुशल शब्द-शिल्पी द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

तू रति रंगभरी देखियत है री राधे रहसिरमी मोहन सौं बरंन ।
गति अति शिथिल, प्रगट पलटे पट, गौर अंग पर राजत ऐन ॥
जलज कपोल, ललित लटकति लट, भृकुटि कुटिल ज्यों धनुष धृत मैंन ।
सुन्दरि सहज, कँहव कंचुकि कत-कनक कलश कुच बिच नख बैंन ॥
अधर बिम्ब दलमलित, आरसयुत अर्थ आनन्द सूचत सखि नैंन ।
हितहरिवंश दुरति नहिं नागरि, नागर मधुप मथत मुख सैंन ॥

—स्फुट वाणी, पद सं० १० ।

श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन के लिए भी कल्याण राग में एक पद लिखा है—इस पद की शैली आलंकारिक है। वेश-रचना में प्रयुक्त समस्त प्रसाधनों का बड़ी सटीक शैली से चित्रण किया गया है—

लाल को रूप माधुरी नैननि निरखि नेकु सखी ।
मनसिज मन हरन हास, सांवरो सुकुमारि राशि,
नखसिख अंग अंगनि उमंगि सौभग सींव नखी ॥

× × ×

अभयद भुज दंड मूल, पीन अंस सानुकूल,
कनक निकष लसि दुकूल दामिनी धरखी—

\+ + +

—स्फुट वाणी, पद सं० २२ ।

श्यामसुन्दर की आरती के दो पदों में भावना के दो रूप हैं। प्रथम पद में समस्त उपकरणों सहित मदनगोपाल की आरती का विधान है। अगर, धूप, धृत, कुसुम, भोग, चमर,

अतः ये आलम्बन के समस्त धर्मों से युक्त हैं। अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यहाँ यही नवीनता है कि कृष्ण राधा प्रेम के लिए लालायित होकर राधा की अर्चना-वन्दना करने में लीन देखे जाते हैं। कान्ता-शिरोमणि राधा अनिंद्य सुन्दरी एवं समस्त गुणों से उपेत होने के कारण कृष्ण के लिए भी आराध्या बनी रहती हैं। निर्मल उज्ज्वल रस और प्रेम की आकर राधा रूप, गुण, शील से सबको मोहित किये रहती है। हर्षादि आठों सात्विक भाव और सहज प्रेम से उद्भूत विलास, ललित, कुट्टमित, विब्बोक आदि भाव उनके भूषण हैं। वंशी-रव आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। अनुभावों के अन्तर्गत विलुंठित, गीव, अट्टहास कटाक्ष, आदि हैं। स्वेद, स्तम्भ, रोमांचादि सात्विक भावों में स्वीकार किये गये हैं। संचारी या व्यभिचारियों की गणना ३३ है और वे सभी वर्णित भी हुए हैं।

निम्नलिखित पद में रस-परिपाक के विविध अंग देखे जा सकते हैं :—

मंजुल कलकुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद बंधु, शरद यामिनी ॥
श्यामल द्युति कनक अङ्ग, विहरत मिलि एक संग,
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी ॥
अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल
सौरभ युत शीत अनिल मंदगामिनी ॥
किसलय दल रचित शैन, बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी ॥
मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवि हार
वेपथुयुत नेति नेति वदति भामिनी ॥
नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत केलि,
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ११।

उक्त पद में विहार का दृश्य वर्णित हुआ है। शरद् पूर्णिमा की रात को राधाकृष्ण सुन्दर वेश धारण कर वनविहार कर रहे हैं। कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं और राधा नायिका हैं। भक्त के लिए राधाकृष्ण आलम्बन हैं। शरद् पूर्णिमा की एकान्त रात्रि, सौरभ युत शीत अनिल, किसलय दल रचित शयन आदि उद्दीपन विभाव हैं। राधा का "मान सहित प्रतिपद" यह मानसिक अनुभाव है और वेपथुयुत होना सात्विक भाव है। इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट होकर राधाकृष्ण-रति स्थायीभाव को प्राप्त होती है।

विभाव-अनुभाव

अनुभावों का विशद-व्यापक वर्णन हितजी की वाणी में भरा पड़ा है। कायिक-सात्विक, मानसिक और आहार्य सभी कोटि के अनुभावों का वर्णन देखकर लगता है कि इन को रसोद्दीपक मानकर ही अपने पदों में आपने एकत्र किया है। रसानुभव के क्षणों में हृद्-गत भावों को व्यक्त करने का कोई माध्यम न होने से सभी कवि अनुभावों का आश्रय लेते

वंशी के अवतार श्री हितहरिवंशजी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वंशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदों के माध्यम से गूँजा कि उसमें वर्णित राधा नख से सिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मंजुल मूर्ति बनकर भक्तजन के लिए आराधना की विषय बन गई। हितहरिवंशजी की वाणी के स्पर्श से कलाओं का शृंगार पवित्र हो गया। भावों की मनोमुग्धकारी छटा से शृंगार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कान्तिमय हो उठा और शृंगार का माधुर्य-मंडित रूप समस्त व्रजमंडल में अनुकरण का विषय बन गया। हितजी ने कविता का आश्रय केवल साधन की दृष्टि से ग्रहण किया था, उनका साध्य तो राधा-भक्ति द्वारा आत्मतृप्ति था। रसविशेष की प्रतीति के लिए वे पद-रचना में लीन नहीं हुए थे। स्वानुभूत रस की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने काव्य का बाह्य आवरण स्वीकार किया था। जैसे उज्ज्वल भावनामय उनके पद हैं, वैसा ही तन्मयकारी उनका श्रुतिमधुर संगीत है, राधा का गुणगान जिन पदों का महत् उद्देश्य हो उनमें दीप्ति, कान्ति, ओज और माधुर्य भाव का अभाव कैसे हो सकता है।

रस-निष्पत्ति

काव्य-रस की शास्त्रीय कसौटी पर यदि हरिवंशजी के पदों को कसा जाय और विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के सयोग से साहित्यिक शैली द्वारा रस-निष्पति की प्रक्रिया को चरितार्थ किया जाय तो भी हम उन्हें भक्ति रस या शृंगार रस की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण पाते हैं। हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भक्ति-रस की शास्त्रीय व्याख्या नहीं मिलती किन्तु भक्ति का वर्णन रस-पद्धति पर ही हुआ है अतः भक्तिरस स्थापित करने वाले "उज्ज्वल नील मणि" और "भक्ति रसामृत सिन्धु" आदि ग्रथों के आधार पर हम भक्तों की वाणी का रस-विवेचन कर सकते हैं।

भक्ति-रस पाँच प्रकार का माना जाता है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं मधुर।

मधुर को ही शृंगार या उज्ज्वल रस की संज्ञा दी जाती है। मधुर रस के रूढ़ और अधिरूढ़ दो भेद हैं। महिषीगण रूढ़भाव से अनुरक्त होती हैं और अधिरूढ़ भाव की अधिष्ठातृ है गोपियाँ। इस अधिरूढ़ महाभाव को भी दो प्रकार का माना गया है। संयोग दशा में यह 'मादन' कहाता है और वियोग में मोहन। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र में शृंगार रस के दो भेद हैं वैसे ही भक्तिरस-निष्ठ शृंगार भी संभोग और विप्रलम्भ भेद से द्विविध है। सम्भोग शृंगार के अनन्त रूप हैं किन्तु विप्रलम्भ के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास, और प्रेम-वैचित्त्य।

भक्तिरस का स्थायीभाव कृष्ण-रति या 'राधाकृष्ण प्रेम' है। हरिवंशजी की भक्ति में शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य को स्थान न होने से केवल मधुर भाव ही बचता है। ऐश्वर्य ज्ञान के लिए भी हरिवंशजी की भक्ति में स्थान नहीं है। अतः राधाकृष्ण का केवल माधुर्य-मंडित रूप ही रति उद्बुद्ध करने का कारण है और वही स्थायी भाव के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इस रस के आलम्बन राधा और कृष्ण (नायक-नायिका) हैं। राधा-कृष्ण स्वकीया-परकीया-भाव-निर्विशेष होने पर भी परस्पर अनन्य भाव से अनुरक्त-आसक्त हैं

स्वभावज अलंकार हैं। हरिवंशजी की वाणी में इन अलंकारों का बहुत सुन्दर शैली से वर्णन उपलब्ध होता है।

१—हाव-भाव और हेला द्वारा राग की अभिव्यक्ति—

'बनी वृषभानु नन्दिनी आजु।
भूषन वसन विविध पहिरे तन पिय मोहन हित साजु।
हाव, भाव, लावन्य भृकुटि लट हरत जुवति जन पाजु॥'

२—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य आदि का वर्णन—

'आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में, रूप अरु चतुरई शीलसिंगार गुण सबनतें आगरी।'

'नागरता की राशि किशोरी।
रूप रुचिर अंग अंग माधुरी, बिनु भूषन भूषित ब्रज गोरी।'

'सुघंग नाचत नवल किशोरी।
हित हरिवंश अङ्ग अङ्ग माधरी बरबस लियो मोहन चितचोरी।'

'नागरी निकुंज ऐन, किसलय दल रचित सैन,
कोक कला कुशल कुंवरि अति उदार री।'

'ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आज बनी।
नख शिख लौं अङ्ग अङ्ग माधुरी मोहे श्याम धनी।'

'आवति श्री वृषभानु दुलारी।
रूप राशि अति चतुर शिरोमणि अङ्ग अङ्ग सुकुमारी।'

३—लीला, विलास, विच्छित्ति—

'नव नारंग कनक हीरावलि, विद्रुम सरस जलज मनि गोरी।
तो पैं सकल सौंज दामिनि की कत सतराति कुटिल दृग मोरी।'
'रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये तिलक मृगमद दिये,
मृगज लोचन, उबटि अङ्ग शिर खोरी॥
गंड पंडीर मंडित चिकुर चन्द्रिका
मेदिनी कवरि गूंथित सुरंग डोरी॥
श्रवन ताटंक कें, चिबुक पर बिंदु दै
कंसुभि कंचुकी दुरें उरज फल कोरी॥'
'जटित क्रीट मकराकृत कुण्डल मुख अरविन्द भंवर मनो लट।
दसननि कुन्द कली छवि लज्जित सज्जित कनक समान पीतपट॥'
'नयौ नेह नव रंग नयो रस नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर, नवल चूनरी, नई नई बूंदन भीजत गोरी॥'

है। हरिवंशजी के पद तो अनुभावों के भंडार हैं; यहाँ स्थाली-पुलाक-न्याय से दो-चार उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

कायिक

'इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भयें नैन चकोर।'
'अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायो।'
'कोक कला कुल जानि शिरोमणि, अभिनय कुटिल भृकुटियन मटकति।'

मानसिक

'सखी सौं सुनि श्रवन वचन मुदित मन चली हरिवंश भवन मुसकाती।'
'सुरतन कच करजन के रोके असन नैन अलि चोर।'
'निर्तनि भृकुटि बदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलनि।'
'मदन मुदित अङ्ग-अङ्ग, बीच-बीच सुरत रंग, पल-पल हरिवंश पिवत नैन
चषक झेलि।'

आहार्य

'रुचिर तिलक लेश, किरत कुसुम केश, शिर सीमन्त मानो भूषन तंन।'
'अरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल, सौरभयुत शीत, अनिल मंद गामिनी।'
'भवन बहुत विविध रंग सारी, अंग सुघंग दिखावत नारी।'
'कंचुकि सुरंग, विविध रंग सारी, नख जुग ऊन बने तेरे तन।'

सात्विक

'तेरे नैन करत दोऊ चारी।
अति अकुलात समात नहीं कहुँ मिले हैं कुंज विहारी।
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित, श्रवत विलोचन नीर।'
(स्तम्भ, रोमांच, अश्रु)

'अबही पंगु भई मन की गति बिनु उद्दिम अनियास।' (स्तम्भ)
'अद्भुत घटा बिलोक अवनि पर विपकित वेपथु गात।' (कंप)
'संभ्रम भ्रम, परिरम्भन कुंजन द्रुत कालिन्दी तट।
विलपत, हँसत, विषीदत, स्वेदित सतु सीचतु अँसुवन वंशीवट।
(रोमांच, स्वेद, अश्रु)

नायिकाभेद के अन्तर्गत स्त्रियों की यौवनावस्था के २८ अनुभाव माने गये हैं। जो अंगज, अयत्नज और स्वभावज नाम से तीन प्रकार के अलंकार कहे जाते हैं इनमें भाव, हाव और हेला अंग से उत्पन्न होने के कारण अंगज हैं; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य नामक सात अलंकार कृत्रिम न होने के कारण अयत्नज हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित् मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, केलि ये अठारह कृति-साध्य होने के कारण

'आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥

उपर्युक्त उदाहरणों में हमने कतिपय अनुभावाश्रित अलंकारों का निर्देश किया है। हितचौरासी के प्रत्येक पद में किसी न किसी अनुभाव का संधान किया जा सकता है। हरिवंशजी की पदरचना-शैली कुछ ऐसी विलक्षण है कि उसमें किसी न किसी रूप में सात्विक भाव अथवा नायिका के अनुभाव मिले रहते हैं। शृंगार को अंगीरस के रूप में स्वीकार करने के कारण उसकी संभोगपरक दशाओं की पूर्ण विवृति इन पदों में परिलक्षित होती है। कामकेलि की चरम परिणति सुरत-प्रसंग आदि को भी हरिवंशजी ने बड़े विशद-विस्तार के साथ गाया है। उन प्रसंगों का अन्तरंग मर्म कदाचित् वे संत महानुभाव ही समझ सकते हों जिनका मन सब प्रकार निर्मल होकर साधना की उदात्त भूमि में अवस्थित हो चुका हो। सामान्य पाठक को ऐसे अवतरणों से भक्ति की उच्च भूमिका में पहुँचने में कदाचित भारी बाधा उपस्थित होगी। यह भी सम्भव है कि माधुर्य-भक्ति रस के मर्म से अनभिज्ञ पाठक ऐसे वर्णनों को शुद्ध शृंगार वर्णन ही समझने की भूल करते रहें।

भाषा और शैली

श्री हरिवंशजी संस्कृत भाषा के पण्डित ही नहीं, निसर्गसिद्ध कवि भी थे। संस्कृत के लालित्य और सौकुमार्य की छटा उनके राधासुधानिधि ग्रंथ में देखी जा सकती है। संस्कृत भाषा में पारंगत होने पर भी उनकी नैसर्गिक अभिव्यक्ति का रूप हमें उनकी ब्रजभाषा की पद-रचना में ही दृष्टिगत होता है। जो माधुर्य, सौकुमार्य, प्रवाह, भावव्यंजकता, प्रांजलता, और प्रेषणीयता उनके हितचौरासी ग्रंथ में है उसका अर्द्धांश भी राधासुधानिधि में नहीं मिलता। हितचौरासी के पदों का पाठ करने के साथ ही मन में उस भाषा की प्रेषणीयता और भावग्राहिणी क्षमता के कारण अभिव्यंग्य या वर्ण्य विषय का चित्र मूर्तिमान हो जाता है। ब्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्रांजल रूप हितहरिवंशजी की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है वैसा किसी अन्य भक्त-कवि की रचना में नहीं हुआ। हमारे इस कथन को कदाचित् पक्षपातपूर्ण समझा जाय और सूरदास तथा नन्ददास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों की ब्रजभाषा को उनसे बढ़कर बताया जाय किन्तु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा। सूरदास की भाषा में ब्रजभाषा का आंचलिक पुट है, लोकभाषा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है। नन्ददास ने अवश्य शब्द-चयन में परिष्कार पर बल दिया है और शब्द-मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नाद सौन्दर्य को अपना कर 'नन्ददास जड़िया' का पद पाया है, किन्तु नन्ददास की भाषा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं है। संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंशजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। वे ब्रजभाषा के क्रियापद तथा विभक्तियों के योग से ही सारे पद को तत्सम शैली के ढाँचे में इस सौष्ठव के साथ जड़ते हैं कि पाठक भावधारा में बहने के साथ पदावली के लालित्य पर भी मुग्ध हो उठता है। संस्कृत-कवि जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था। हरिवंशजी ने जयदेव और विद्यापति दोनों की पदावली

विव्वोक

'पिय चितवत तव चन्द्रवदन तन, तू अध मुख निज चरण निहारत।
वे मृदु चिबुक प्रलोय प्रबोधत तू भामिनि करसों कर टारत॥'
(इन पंक्तियों में विक्षेप और विव्वोक दोनों अनुभावों की सुन्दर संसृष्टि हुई है।)

किलकिंचित्

'रहसि रहसि मोहन पिय के संग री लड़ैतो अति रस लटकति॥
सरस सुधंग अङ्ग में नागरि थेई थेई कहत अवनि पद पटकति॥'

'लटकत फिरति जुवति रस फूली।
लता भवन में सरस सकल निशि पिय सग सुरत हिंडोलो झूली॥'
'आज प्रभात लता मन्दिर में सुख बरसत अति हरस युगल वर।
गौर श्याम अभिराम रंगभरे लटकि लटकि पग धरत अवनि पर॥
दम्पति अति अनुराग मुदित कल गान करत मन हरत परस्पर॥'

'आजु तो जुवति तेरो वदन आनन्द भर्यो।
पिय के संगम के सूचत सुख चैन॥'

कुट्टमित

'मोहन मन मथत मार परसत कुच नीवि हार।
वेपथु युत नेति नेति वदति भामिनी॥'
'वधू कपट हठि कोप कहत कल नेति नेति मधु बोल।'

मद

'आज सम्हारत नाहिंन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यों सुरत समुद्र झकोरी।'
'अपनी बात मोसों कहि री भामिनी।
औंगी भौंगी रहति गरब की माती।'
'भरि संग्राम श्रमित अति अबला निद्रायित कल नैन।
पिय के अंक निशंक तंक तनु आलस जुत कृत सैन॥'

ललित

'कच संजमन व्याज भुज दरसत मुसकनि वदन विकास।
हा हरिवंश अनीति रीति हित कत डारत तन त्रास॥'

केलि

'रहसि रहसि मोहन के संग री लड़ैतो अति रस लटकति।
सरस सुधंग अङ्ग में नागरि थेई-थेई कहति अवनि पद पटकति।
कोक कला कुल जानि शिरोमणि अभिनय कुटिल भृकुटियन भटकति
विवस भये प्रीतम अति लंपट निरखि करज, नासापुट चटकति।'

लोक-प्रचलित सामान्य शब्दों को एक ही पंक्ति में बिठाकर उनकी अभिव्यंजना को द्विगुणित करने की जैसी कला आपके पदों में परिलक्षित होती है वैसी भक्त-कवियों में अन्यत्र दुर्लभ है :—

'कल कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।'

'हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे प्रिया प्रति सूर सुख सुरत संग्रामिनी।'

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोभित अवलम्बित युग गंडन।'

गलित कुसुम वेनी, सुनि री सारंग नैनी, छूटी लट अचरा वदति अलसानी।'

'आलस जुत इतरात रंग मगे भये निशि जागर मलिन मलिन री।

शिथिल पलक में उठति गोलक गति, बिध्यो मोहन मृग सकत चलि न री॥'

इन पंक्तियों में ब्रजभाषा के शब्द तत्सम पदावली के साथ जिस सुन्दर मैत्री धर्म का निर्वाह कर रहे हैं वह मन को मोहने वाला रूप है। धुनि, सचु, लावन्य-भिदे, सुठि सोभित, सारंगनैनी, अचरा, अलसानी, इतरात, बिंध्यो, आदि शब्द ब्रजभाषा के प्रकृत रूप में संस्कृत शब्दों के साथ ऐसे हिल-मिल गये हैं कि उनके साथ यदि उनका तत्सम रूप रख दिया जाय तो पद का समस्त सौंदर्य समाप्त हो जायगा। यही कुशल कवि की सफल शब्द-मैत्री है।

शब्द-मैत्री का दूसरा रूप अर्थात् ब्रजभाषा के वाक्य-विन्यास में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हरिवंशजी की वाणी में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

हरि उर मुकुर बिलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानजुत भोरी।

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत प्रिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी॥

पद का प्रवाह ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है किन्तु शब्द-योजना में तत्सम पदावली का प्राधान्य है। यह मैत्री ब्रजभाषा को अधिक सुहाती है।

मोहन मन मथत भार, परसत कुच, नीवि, हार।

वेपथु युत नेति नेति वदति भामिनी।

नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत झेलि

सौरत रस रूप नदी जगत पावनी॥

इस पद के शब्द संस्कृत के होने पर भी वाक्य-योजना की दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे ये ब्रजभाषा के ही हों। 'नेति नेति वदति भामिनी' और 'सौरत रस रूप नदी जगत पावनी' तो पूरे वाक्यांश ही संस्कृत पदावली से भरे हैं किन्तु उनका प्रवाह इतना नैसर्गिक है कि ब्रजभाषा-भाषी के लिए ये उसके अपने घर के से हैं।

शब्द-चयन

श्री हरिवंशजी के वर्ण-विन्यास और शब्द-चयन को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिए उनकी पदावली का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन वांछनीय है। हम उनके प्रिय शब्दों में से कुछ चयन करके नीचे लिखते हैं—

तत्सम शब्द :—पशुपतिदग्ध, मंजुल, कलकुंज, विशदवेदा, जलज, कपोल, ललितलट, विलुलित अलक, कुटिल भृकुटि, लोल लोचन, शिथिल गति, दलमलित अधर बिम्ब, कनक बेल, तमाल तरु कनकलता, संभ्रम, प्रतिरम्य, परिरम्भन, कनकनिकष, आयतदृग, पीन अंस, किसलय

से प्रभाव ग्रहण करके उसे ब्रजभाषा के कलेवर में अभिनव रूप दिया। शब्द-मैत्री, समीचीन वर्णविन्यास, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता और प्रांजलता हरिवंशजी की ब्रजभाषा के उल्लेख्य गुण हैं जो उनको ब्रजभाषा के भक्त-कवियों में मूर्धन्य पर आसीन करने में पूरी तरह सहायक होते हैं।

काव्य की भाषा सरस, कोमल, मधुर और मसृण होने के साथ ही सुबोध, सार्थक, सहज, सरल और सुसम्बद्ध होनी चाहिए। रसानुकूल भाषा ही चित्ताकर्षक और हृदयद्रावक होती है। जो भाषा संवेदन के स्वरूप को मूर्त्त रूप देकर अन्तर्नेत्रों के समक्ष उपस्थित कर सकती है वही पाठक की रागात्मक वृत्तियों को उच्छ्वसित करने में भी समर्थ होती है। ऐसी भाषा के साथ शैली में चारुता, सामजस्यपूर्णता और प्रभावोत्पादकता होना भी अनिवार्य है। भाषा और शैली के इस समन्वय पर ही अभिव्यक्ति में भावों के प्रेषणीय बनाने की क्षमता उत्पन्न होती है। हरिवंशजी की भाषा और शैली को उपर्युक्त कसौटी पर हम सर्वतो-भावेन खरा पाते हैं।

वर्ण-विन्यास और शब्द-मैत्री

सुन्दर वर्णों (अक्षरों) से निर्मित शोभन शब्दों के आधान द्वारा काव्य का बाह्य कलेवर दीप्त हो उठता है। कोमल, मधुर और सरस वर्णों के योग से जो शब्द बनते हैं उनका प्रभाव मन को झंकृत करने वाला और चिरस्थायी होता है। हरिवंशजी के पदों में वर्ण-विन्यास का सौष्ठव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है

विद्रुम फटिक विविधनिर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरो।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरो॥

उपर्युक्त पंक्तियों में रेखांकित शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मधुर और सरस है कि शब्दों में तदनुकूल भाव्य-व्यंजना अपने आप समाविष्ट हो गई है। किशलय, शयन, सुपेशल और निवेशित का सानुप्रासिक रूप अपने शुद्ध तत्सम रूप को और अधिक निखारने वाला है।

बन की कुञ्जनि कुञ्जनि डोलनि।
निकसत निपट साँकरी बीथिन परसत नाहिं निचोलनि।
बिलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि।

इस पद में ब्रजभाषा के तद्भव रूपों का ग्रहण हुआ है। 'डोलनि' शब्द डोलने-फिरने से बना है जो विहार-विचरण का ध्वन्यार्थ व्यंजित करता है। निकसत, निपट, साँकरी, परसत, निचोलनि, राजत, रुचिर, कपोलनि आदि शब्दों का वर्ण-विन्यास इतना मनोज्ञ है कि ब्रजभाषा की सुन्दर शब्द-योजना का मनोमुग्धकारी रूप प्रस्तुत करके पाठक को लुभा लेता है। निचोल और कपोल का वर्ण-विन्यास संदर्भ में इतना अर्थ-व्यंजक है कि इनके स्थान पर इनका कोई दूसरा पर्याय काम नहीं दे सकता। छूटी लटों के लिये शिथिल और बिलुलित पदों की योजना द्रष्टव्य है।

शब्द-मैत्री तो हरिवंशजी की वाणी का प्राण है। तत्सम शब्दों के साथ ब्रजभाषा के

—'सोरत रस रूप नदी जगत पावनी'

—'सरसाधरपल्लव, प्रीतम मन शमनी'

कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों को छन्द के आग्रह से इस प्रकार मिला दिया है कि वह नियमरहित संधि का रूप प्रतीत होने लगता है। यथार्थ में वहाँ लेखक का उद्देश्य भी संधि करना ही है। व्याकरण की दृष्टि से भले ही ऐसे शब्द शुद्ध न हों किन्तु छन्द की गति, यति, और मात्रा-लय में ठीक बैठते हैं। वैसे शब्दों को तोड़ने-मड़ोरने की ओर आपकी प्रवृत्ति नहीं रही। शब्दकोष के अत्यधिक समृद्ध होने के कारण आपने विकृति को बचाया है, शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की सन्धि के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(अशुद्ध) क्योंव=क्यों अब, क्वासि=क्व असि (शुद्ध रूप)

(अशुद्ध) द्यावे=द्युति आवे कृशोदरि=कृश उदरि(शुद्ध रूप)

(अशुद्ध) त्योंव=त्यों अब, हरिद्रागार=हरिद्राआगार(शुद्ध रूप)

(अशुद्ध) ज्योंव=ज्यों अब, किमपि=किं अपि (शुद्ध रूप)

सन्धि और समास की दृष्टि से हरिवंशजी की भाषा अत्यधिक पुष्ट और प्रांजल है। जहाँ दो-चार स्थल पर छन्दानुरोध से विकृति आई भी है वह ब्रजभाषा की प्रकृति से सर्वथा प्रतिकूल नहीं है इसलिए वह खटकने वाली नहीं है। गुण-सन्निपात में दोष का लेश स्वयं निमज्जित हो जाता है। ब्रजभाषा की प्रकृति में शब्द को घिसकर रखने का धर्म स्वाभाविक है। हितहरिवंशजी ने शब्दों के कर्णकटु कोने, और पद-समुच्चय के काँटे घिसने में जो अपूर्व कौशल दिखाया है वह सूर और नन्ददास में भी नहीं मिलता।

भाषा का चित्रधर्म और चित्रात्मकता

भाषा का चित्रधर्म वह है जिसके द्वारा किसी वस्तु या घटना का जगत में देखा या समझा हुआ रूप हमारे अन्तर्नेत्रों के सामने काव्य की भाषा द्वारा प्रतिकृति या प्रतिच्छवि-रूप में ज्यों का त्यों उपस्थित हो जाय। कल्पना में आया हुआ यह रूप जितना ही स्पष्ट और स्वच्छ होगा भाषा का चित्रधर्म (इमेज) उतना ही श्रेष्ठ कहा जायगा। कवि जागतिक दृश्य या घटना को शब्दों के माध्यम से पाठक के अन्तर में चित्र के समान संचित या खचित करता है। चित्र-विन्यास में स्थूल और परिचित रूप से विषय को व्यक्त करने से भाव-संचार सहज रूप से होता है अतः कुशल कवि भाव-जगत् की सूक्ष्म घटनाओं को स्थूल जगत् के प्रतीकों, उपमानों और उदाहरणों द्वारा कल्पना में मूर्त रूप देने की चेष्टा करते हैं। श्री हरिवंशजी की कविता में इस चित्रधर्म के अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं।

सुरतान्त छवि का वर्णन करते हुए प्रिया का वह रूप अंकित किया है जिसे पढ़कर कल्पना में शिथित दुकूल व कलान्त, श्रान्त नायिका का चित्र मूर्त होता जाता है। शब्द-विधान द्वारा बिम्ब (इमेज) बनकर भाव-संचार में पूर्णता आ जाती है।

'आलस वलित बोल, सुरंग रंगे कपोल, संगम के सुख सूचत चंन।
रुचिर तिलक लेश, किरत कुसुम केश, शिर सोमन्त भ्रमित मनों सैन।
गलित उरसिमाल शिथिल किंकनी जाल हित हरिवंश लता गृह दैन॥'

शयन, सुपेशल, शिखीकुल, निवेशित, वदति, प्रबोधित, अरुणपीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल, सुमनस, ईषदविकास, अतिशय सुवास, मुदित, चषक, पुलिन, कल्पतरु, चिबुक, सौरभ, विलम्ब, चिकुर, पदअम्बुज, मृदुल, विरहाकुल, पुलकित, लोचन, वासर, शाखाभृग, श्रीफल उरज, कटि केहरि, निविड निकुंज, हावभाव लावण्य, पूपणबन्धु, व्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुटमणि, पूरित रस पीयूष, नवनारंग कनक मीनध्वज, हीरावलि, निद्रायित कलनैन, सत्वर, वेपथु, सुभगजनस्थली, विहग, 'सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय' (एक बार ही मुझे अधरामृत प्रदान करो), काल-व्याल, 'पालय सखि मन देह' (हे सखी मेरे देह का पालन—रक्षा कीजिये), शीश-किरीट, निर्मित कुसुम शयन, मधुपूरित भाजन, करधृत, भवनरंध्र, हरिद्रागार, सरसीरुह, कुसुमकृत, वर्तिका, शुभकौशेय, वलवीरकृत, परिमल लुब्ध मधुव्रत, विवेचित, तवाकृति आदि।

तद्भव शब्द :—(व्रजभाषा के सांचे में ढले हुए) क्रीड़त, अलप, विहून, परपंच आरस-जुत (आलस्ययुक्त), सोभित, हरद (हरिद्रा), वार्ता, विलपत, विषीदत गात (गात्र), सांवल, उकति (उक्ति), समै (समय), फटकि (स्फटिक), विलोकि (विलोक्य), परसत (स्पर्श), विहंडन, गरव (गर्व), अचरा (अंचल), जुवति (युवति), नाये (नमित), छपति, औसर, विलोनि (विलोम्य), धार, श्रवत, निरखि (निरीक्ष्य), पास (पार्श्व), भुवंग, व्यापत (व्याप्नोति), जोति, दोति (द्युति), पिय, ओधर, हुतासन, पंजर, आरतिदवन, रवन, सलभ, अनियास, उद्दिम, संजमन, वसन।

व्रजभाषा:—चौंप, नीके, टंचु, काहु, तेऊ, दोऊ, मोको, तासों, अपनपो, निहोरी, इतरात, पोवति, ओगोभौंगी, तापैं, टोल, थोर, निपट, साकरी, सचु, रिझवार, किन, कत, मेंढ़, उमगत, जारैं, कोर, हुती, न्यारो, खोरि, खिरक, गहवर, खची, सौज, तऊ, सुभाय, झकझोलनि, नाहिन, नैंक, ढरिवो, जायो, धमारि, टकटोलनि आदि।

समास और सन्धि

तत्सम पदावली का प्राचुर्य होने के कारण श्री हरिवंशजी की भाषा में समस्त पदों का बाहुल्य होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं पाँच-छह शब्दों का समास भी आपकी भाषा में मिलता है। किन्तु आपकी समस्त पदावली कहीं भी अस्वाभाविक या भाराक्रान्त नहीं लगती। गोस्वामी तुलसीदास ने विनयपत्रिका में देवी-देवताओं की स्तुति में जो पद लिखे हैं वहाँ समस्त-पदरचना है, किन्तु उसका आकार-प्रकार, शैली और अभिव्यंजना न तो व्रजभाषा के मेल में है और न वह संस्कृत की प्रकृति का ही निर्वाह कर पाई है। हितहरिवंशजी के पदों में व्रजभाषा का निसर्ग-सिद्ध प्रवाह अक्षुण्ण बना रहा है और लम्बे-लम्बे समासों का बड़ी सजीव शैली से निर्वाह हुआ है। समस्त पद-रचना के दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

—'विद्रुम-फटिक-विविध निर्मित धर,'

—'कोमल किशलय-शयन-सुपेशल,'

—'शुभ कौशेय कसिव कौस्तुभमणि पकज...।'

—'निज भजन कनक तन-जोवन'

काव्य में संगीत की दृष्टि मुख्यतः छन्द, अनुप्रास और नादात्मक शब्दों से होती है। नाद-सौन्दर्य केवल श्रुतिमधुर ही नहीं लगता वरन् भाव की प्रेषणीयता में भी योग देता है। क्षेमेन्द्र तो इसीलिए छन्दोयोजना को रस और वर्णनीय विषय के अनुकूल ही रखने के पक्ष में हैं। संगीत की सृष्टि के लिए शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि का बड़ा हाथ है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की योजना भी रसानुकूल होने से पदावली को संगीतमय बनाने में योग देती है अतः वह भी संगीत-विधायक तत्त्वों में है। श्री हरिवंशजी की वाणी में काव्य का संगीत तो है ही साथ ही शास्त्रीय रागों से सम्बद्ध शुद्ध संगीत भी है। उन्होंने अपने पदों में जहाँ काव्यात्मक संगीत का नाद-सौन्दर्य और शब्दों की ध्वन्यात्मकता पर ध्यान दिया है वहाँ वाह्य रूप से पदों को गेय बनाने के लिए विभिन्न रागों में भी बांधा है और प्रत्येक गेय पद पर राग का नाम भी दिया है।

सारंग राग में बँधा हुआ निम्नलिखित पद वृत्यनुप्रास और माधुर्यगुण-मंडित होकर संगीत की सरस-सुन्दर सृष्टि कर रहा है—

आज वन नीको रास बनायो
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन बेनु बजायो ॥
कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो ॥
जुवतिन मंडल मध्य श्यामघन सारंग राग जमायो।

—हित चौरासी, पद सं० ३६।

कविता में नाद-सौन्दर्य के साधन हैं छन्द, तुक, गति, यति और लय। ये सब मिलकर रसानुकूल वर्णन होने पर काव्य में संगीत भर देते हैं। कल्याण राग में ग्रथित निम्नलिखित पद का संगीतजन्य प्रभाव द्रष्टव्य है :—

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये,
मृगज लोचन उबटि, अङ्ग शिर खोरी।
गंड पंडीर मंडित चिकुर चन्द्रिका ॥
मेदिनी कबरि गूँथति सुरंग डोरी ॥
श्रवन ताटंक कै चिबुक पर बिन्दु दै
कंसुंभि कंचुकी दुरै उरज फल कोरी।
सुभग जमुनस्थली क्वनित किंकिन भली,
कोक संगीत रस सिंधु झकझोरी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ६७।

उक्त पद का प्राण नाद-सौंदर्यजन्य संगीत है। इसके भावों में जहाँ सौंदर्य की मधुरता है वहाँ भाषा में भी मादकता है। प्रत्येक शब्द और उसकी नाद-ध्वनि रोम-रोम में वासनात्मक भावना जगाने में समर्थ है। पद के सरस प्रवाह में एक ऐसा तन्द्रिल प्रवाह है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण को शब्दों के माध्यम से ही मदिर बना देता है। नायक के

दूसरा वर्णन भी इसी कोटि का है :—

'गलित कुसुम बेनी, सारंग नैनी, छूटी लट अचरा, वदति अलसाती।
अधर निरंग, रंग रच्यो री कपोलनि, जुवति चलति गजगति अरुझाती॥'

मद की स्थिति (उनींदी दशा) में जुगलकिशोर कुंज से प्रभात वेला में बाहर आ रहे हैं —

'डगमगात पग परत शिथिल गति, परखत नख शशि छोर।
दसन वसन खंडित, मषि मंडित, गंडतिलक कछु थोर॥'

बिम्बाधायक भाषा का दूसरा रूप चित्रमय भाषा का है। उसे झंकार में चित्र और चित्र में झंकार कहते हैं। शब्दचित्र, रेखाचित्र, भावचित्र आदि रूपों में वह चित्रात्मकता व्यक्त होती है। शब्द-चित्र ही सब चित्रों का मूल कारण है। हरिवंशजी ने भाषा के इस रूप को भली भाँति पहचाना था और अपनी वाणी में खूब प्रयोग किया था। भाषा की लाक्षणिकता को पहचानने में जो कवि सिद्ध होगा वही चित्रधर्म भी ला सकेगा।

चित्रात्मकता के लिए प्रतीक शैली से जो अप्रस्तुत योजना की जाती है उसके मूल में भी लाक्षणिकता का ही योग रहता है :—

'कनक लता सी क्यों न विराजत अरुझी श्याम तमालही।'

उपमा अलंकार की प्रस्तुत योजना द्वारा कनक लता (राधा) और तमाल वृक्ष (श्याम) के मिलन का चित्र सहज ही में तैयार हो जाता है। इसी भाव को दूसरे शब्दों में यों कहा है :—

'तरु तमाल सों उरझि कनक की वेलि री।'
'भेंटि नवीन मेघ सों दामिनी।'

यहाँ भी नवीन मेघ (कृष्ण) और दामिनी (राधा) के मिलन का चित्र प्राकृतिक दृश्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

'शिथिल पलक में उठति गोलक गति बिंध्यौ मोहन मृग सकत चल न री।'

शिथिल पलकों में गोलक (नेत्रगोलक) की गति से (नेत्र-संचालन से) मोहन (कृष्ण) रूपी मृग बिंध गया है। अर्थात् तुम्हारे अलसाए नेत्रों के भृकुटि विलास से कृष्ण व्याकुल हो गये हैं। यह मृग के आखेट का चित्र अंकित करके मोहन के मुग्ध होने का भाव उपस्थित करने वाला वर्णन है।

संगीतात्मकता

जिस भाषा से रस-भाव की उपलब्धि होती है, उसके दो धर्म स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक संगीतधर्म और दूसरा चित्रधर्म। 'संगीत काव्य का रस है, चित्र रूप है। ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर। इस प्रकार काव्य दृश्य द्वारा हमें चित्रकला की ओर ले जाता है और छन्द द्वारा संगीत के निकट। अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए दोनों आवश्यक हैं।'[1]

---

1. काव्य में अप्रस्तुत योजना : ले० पं० रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ४६।

तारतम्य पर ही वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ का प्रधान होना निर्भर है। व्यंग्यार्थ के लिए लाक्षणिक प्रयोग का विधान कुशल कवि अपने काव्य में करते हैं। किसी विशेष प्रयोजन के लिए लक्षणा शक्ति का प्रयोग होता है। श्री हरिवंशजी की वाणी में लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के अनेक उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं—हम सांकेतिक रूप से निर्देशमात्र के लिए कतिपय पद प्रस्तुत करते हैं जिनमें लाक्षणिक प्रयोग के साथ सुन्दर ध्वनि-व्यंग्य है।

प्यारो भयो चाहे मेरे नैननि के तारे

—सारोपा शुद्ध प्रयोजनवती लक्षणा।

श्यामल द्युति कनक अंग...

—अभिधामूला शाब्दी व्यंजना। (प्रत्युदाहरण)

चितवन को भये नैन चकोर

—लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

पिय सों मिलै भले पिक बैनी

—साध्यवसाना लक्षणा

माधुरी श्रवण पुट सुनत सुन राधिके
करत रति राज के ताप को नासुरी।

—बांसुरी में कामजन्य ताप-विनाशक गुणों की विद्यमानता का वर्णन, वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

'पुलकित खग मृग बहत न वारि'

—वन की स्तब्धता और शान्त स्थिति-व्यंग्य है।

'राधे देख वन की बात'

—साध्यवसाना लक्षणा।

'भृकुटि काम कोवंड नैन सर कज्जल रेख मनी।'

—परिणाम अलंकार से वस्तु-व्यंग्य।

'ले राखे गिरि कुच बिच सुन्दर सुरत सूर ब्रज बाल'

यहाँ मुख्यार्थ का तिरस्कार करके आलिंगन रूप ध्वनि ही मुख्य है। अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य-ध्वनि का यह भेद है।

'तू दामिनी मोहन नूतन घन'

—उपमा अलंकार से वस्तु-ध्वनि।

'अब हो पंगु भई मन की गति'

—लक्षणा।

गुणीभूत-व्यंग्य और असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि के अनेक उदाहरण हितचौरासी में हैं। लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से हरिवंशजी की वाणी ब्रजभाषा के भक्त-कवियों में श्रेष्ठतम कही जा सकती है।

अलंकार

अलंकार कविता का सहज आभूषण है। निसर्ग-सिद्ध प्रतिभा वाले कवि की वाणी में अलंकार अनायास स्वयं लिपटे रहते हैं। किसी कृत्रिम आयास से उनकी योजना उसे नहीं

मानस में बरबस अनुराग-मूलक सौन्दर्य और वासना की सृष्टि पद के पढ़ने के साथ ही शब्द-नाद से ही होने लगती है।

सुन्दर निकुंज प्रदेश में शरद की पूर्णिमा को राधाकृष्ण का मिलन हुआ, रात्रि का नीरव-निस्तब्ध समय था, शीतल मंद सुगंध पवन बह रहा था, कोमल किसलय दल से शैया का निर्माण किया था, उस पर मानवती राधा बैठी थी। श्रीकृष्ण चाटु वचन बोलकर उसके अंगों को स्पर्श करने का उपक्रम कर रहे थे। यह परम सुन्दर दृश्य निम्न पद में अंकित हुआ है। पद को पढ़ते ही दो प्रकार का आनन्द उपलब्ध होता है। प्रथम नादात्मक सौन्दर्य-जन्य संगीत का और दूसरा भाव-सौन्दर्य का। पद की यति, गति और लय ध्यान देने योग्य हैं :—

मंजुल कलकुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद बंधु, शरद यामिनी।
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग,
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी॥
अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल
सौरभ युत शीत अनिल मंद गामिनी।
किसलय दल रचित शैन बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी॥

—हित चौरासी, पद सं० ११।

नाद-सौंदर्य से परिपूर्ण पद-योजना तो हरिवंशजी की वाणी में पद-पद पर मिलती है।

श्री हरिवंश जी शास्त्रीय संगीत के पंडित थे। उनके पद रसिक-समाज में शास्त्रीय शैली से गाये जाते रहे हैं। आज भी राधावल्लभीय संगीत अपनी विशिष्ट गायन-शैली में समाज के विशिष्ट अवसरों पर सुना जाता है। हितचौरासी के पदों में चौदह रागों का समावेश है। एक ही छन्द में उनको इस प्रकार किसी भक्त ने गणना कर दी है :—

छै पद विभास मांझ, सात है विलावल में
टोड़ी में चतुर, आसावरी में छै बने।
सप्त है धनाश्री में, जुगल वसंत केलि
देव गांधार पंच, बोय रस सों सनें।
सारंग में चोदह हैं बारहो मलार, एक
गौड़ में सुहायो नव गौरी रस में भनें।
पद कल्यानविधि कान्हरे केदार बेद,
बानी हित जू की सब चौदह राग में गनें॥

लाक्षणिक प्रयोग और ध्वनि

वाच्यार्थ से अधिक चारुता-प्रतिपादक व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। चमत्कार के

वे प्रति प्रिया वदन अम्बुज रस चढ़के उनत न जात।
हितहरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात।'
'बांधत भृंग उरज अम्बुज पर अलक निबंध किशोरी।
अवनी उदर नाभि सरसी में मनों क कुछ मादिक मधु पीरी॥

रूपकातिशयोक्ति

'नव, नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलजमनि गोरी।
पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदनि खंजन की जोरी॥'
'कनक लता सो क्यों न विराजत अरुझी श्याम तमालहीं।'
'रवि शशि शंक भजन किये अपबस अद्भुत रगनि कुसुम बनाऊं।'

भेदकातिशयोक्ति

'नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभानुकिशोरी।'
'नव पीताम्बर नवल चूनरी नई-नई बूंदन भीजत गोरी॥'

विभावना

'बिनु भूषण भूषित तनु गोरी।'

व्यतिरेक

'नैननि पर वारौ कोटिक खंजन।'
'खंजन मीन मृगज मद मेटत कहा कहौं नैनन की बातें।'
'तिलक कुंडल चन्द्रनि लजावैं।'

प्रतीप

'दशननि कुंद कली छवि लज्जित।'

भ्रम

'हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मान युत भोरी।
हितहरिवंश करत करधूनन प्रणय कोप मालावलि तोरी॥'

विषम

'जाहि विरंचि उमापति नाये तापै तैं बन फूल बिनाये।'

परिवृत्ति

'तैं निज भजन कनक तन जीवन लियो मनोहर मोल।'

दृष्टान्त

'प्रीति न काहू की कानि विचारै।
मारग अपमारग, विथकितमन को अनुसरत निवारै।
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै॥

करनी पड़ती। उक्ति-वैचित्र्य, भावोत्कर्ष, विचारोत्तेजन और वचन-वक्रता आदि सभी काव्योपकरणों का प्रसाधन अलंकार से होता है, अतः निरलंकृत वाणी काव्य-पद-भाजन नहीं होती। किसी अलंकार-विशेष की पूर्व-निश्चित योजना को सामने रखकर अलंकार-विधान भक्तों की वाणी में कभी नहीं होता। हितहरिवंश जी जैसे भक्त-कवि की वाणी तो सहज अलंकारों की द्युति से जगमगा रही है। हरिवंश जी के प्रिय अलंकारों में—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, विभावना, भ्रम, व्यतिरेक, प्रतीप, परिवृत्ति, उदाहरण, दृष्टांत, परिकर और अनुप्रास हैं। इनके अतिरिक्त और अलंकारों के भी दर्शन यत्र-तत्र होते हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

उपमा—

'लाल मरकतमणि छबीलो तुम जु कंचन गात।'
'श्रीफल उरज कंचन सी देही, कटि केहरि गुण सिंधु झकोरी।'
'वेनी भुजंग चन्द्रसत वदनी, कदलि जंघ जलचर गति चोरी॥'
'कामिनि कंठ लागि किनि राजहि तू दामिनि मोहन नूतन घन।'
'इन्द्र नीलमणि श्याम मनोहर सात कुम्भ तनुगोरी॥'
'गजनायक प्रभुचाल गयंदनि गति वृषभानुकिशोरी।'
'अतिराजत घनश्याम तमाला, कंचन वेलि बनी ब्रजबाला॥'
'नव नव भाय विलोभि भाम हम विहरत वरकरनी—वाक्यार्थोपमा।
'बीच नंदलाल ब्रजबाल चंपकवरन ज्यौंव घन तड़ित विच कनकमर्कतमनी॥'

उत्प्रेक्षा

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोहत अवलम्बित युग गंडन।'
'मानहु मधुप थकित रस लम्पट नील कमल के खंडन॥'
'अंस अंस बाहु दे किशोर और रूप रासि
मनो तमाल अरुझि रही सरस कनक वेलि।' (वस्तूत्प्रेक्षा)
'कुच युग पर नख रेख प्रकट मनों शंकर शिर शशि दोल।'
'यों राजत कवरी गूंथित कच कनक कंज वदनी।
चिकुर चन्द्रिकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी॥'
'तरनि तनयातीर त्रिविध सखी समीर,
मानों मुनिव्रत धर्यो कपोती कोकिला कीर॥'
'वदन जेति मनों मयंक अलक तिलक छवि कलंक,
वपति श्याम अंक मानों जलद दामिनी॥'

रूपक

'सौभग रस शिर श्रवत पनारी पिय सीमन्त ठनी।
भृकुटि-काम-कोदंड-नैन-सर-कज्जल रेख अनी॥
नाभि गंभीर मीन मोहन मन खेलन कौं ह्रदनी।'
'मानस मृग बल वेधत भृकुटि धनुष दृग चाप।'

चलौ किन मानिनि कुंज कुटीर।
तुव बिनु कुवर कोटि बनिता तजि, सहत मदन की पीर॥
गद्गद् स्वर संभ्रम अति आतुर स्रवत सुलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानु नन्दिनी विलपत विपिन अधीर॥
वंशी विशिख काल व्यालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर।
हिय मे हरखि प्रेम अति आतुर चतुर चली पिय तीर।
सुन भयभीत वज्र को पिंजर, सूर सुरत रनधीर॥

—सूरसागर, पद सं० २४५५, पृष्ठ सं० १०७२।
(काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण)

विवेचन

उपर्युक्त पद मानिनी प्रिया के प्रति सखी की मनुहार-भरी उक्ति है—हे मानिनि! तुम कुंज-कुटीर में क्यों नही चलती? देखो, तुम्हारे बिना, श्यामसुन्दर को कोटि-कोटि सुन्दरियों से घिरे होने पर भी मदन की बाधा पीड़ा दे रही है। तुम्हारे वियोग में उनका स्वर गद्गद् है, शरीर रोमाचित है, चित्त विरहाकुल है, नेत्रों से अश्रुप्रवाह जारी है। वे अत्यन्त अधीर होकर समस्त वन में हे वृषभानु-नन्दिनी तुम कहाँ हो—कहाँ हो—कहकर विलाप कर रहे हैं। तुम्हारे वियोग में उन्हें वंशी बाण के समान, वक्षस्थल पर धारण की हुई मालाएँ सर्प के समान, कोयल और कीर की मीठी बोलियाँ सिंह की गर्जना के समान प्रतीत हो रही हैं। शीतल चन्दन विष के समान दाहक, शीतल वायु अग्नि के समान दग्ध करने वाली और वस्त्र (शाखामृग के रिपु) कमा फल के समान दुखदायी लग रहे हैं।

हितहरिवंशजी कहते हैं कि इतना सुनते ही परम कोमल चित्त राधा शीघ्र ही प्रियतम के समीप चल पड़ीं, उन सुरत शूरवीर का आगमन सुनकर वज्र के समान पंजर वाला कामदेव भी भयभीत हो उठा।'

सूरसागर के पद में तीन स्थलों पर परिवर्तन है। 'वनिता जुत' की जगह 'वनिता तजि', 'मथत मदन' की जगह 'सहत मदन' और 'हितहरिवंश' के स्थान पर 'हिय में हरखि' पाठ है। यद्यपि इतने पाठ-परिवर्तन से पद के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस सूक्ष्म मान का वर्णन इस पद में है वैसा सूरदास में मिलता है या नहीं। उत्तर में कहा जा सकता है कि इस कोटि का मान सूर ने भी गाया है किन्तु इस पद के मूल में राधा के उत्कर्ष के साथ अभिव्यंजना में भी शुद्ध तत्सम पदावली की प्रधानता है। अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं जो सूर की रचना में नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद परवर्ती काल में सूरसागर में स्थान पा गया।

२. आजु बन राजत जुगल किशोर।
नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी उठे उनींदे भोर॥
डगमगात पग परत, शिथिल गति, परसत नख शशि छोर।
दशन बसन खण्डित मषि मंडित, गंड तिलक कछु थोर॥

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो ।
द्वै तुरंग पर चढ़त हठि परत कौन पै धायो ।"

अधिक

"अति गजमत निरंकुश मोहन निरखि बंधे लट पास ।"

काव्यलिंग

'आज सम्हारत नाहिन गोरी ।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यों सुरत समुद्र झकोरी ।'

शब्दालंकारों में अनुप्रास की छटा तो हितचौरासी के प्रत्येक पद में देखी जा सकती है । उसके उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है । ऊपर हमने जो उदाहरण दिये हैं, वे केवल थोड़े-से निदर्शन मात्र हैं ।

छन्द

हितजी की वाणी गेयपद-प्रधान है । प्रायः शास्त्रीय संगीत के रागों में पदों को बांधा गया है फिर भी सवैया, दोहा, अरिल्ल ताटंक, कुंडलियाँ, छप्पय आदि छन्द मिलते हैं । भक्तों की वाणी रस वर्णन में प्रायः गेयपद-शैली का ही अनुसरण करती रही है अतः हरिवंशजी भी उसी परम्परा का निर्वाह करते रहे । उन्हें यह परम्परा अपने पूर्ववर्ती भक्तों से मिली थी ।

हितचौरासी और सूरसागर के पदों में साम्य

सूरसागर और हितचौरासी के जिन पदों में पूर्ण साम्य है हम उन्हें तुलनात्मक अनुशीलन के लिए नीचे उद्धृत कर रहे हैं । इन पदों में अपूर्व समता देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि वे पद या तो सूरदास रचित हैं जो बाद में हितहरिवंशजी की वाणी में समाविष्ट कर लिये गये अथवा इनके मूल प्रणेता हितहरिवंशजी हैं और परवर्ती लिपिकारों ने प्रमादवश या किन्हीं भक्तों ने जानबूझकर इन्हें सूरसागर में रख दिया । ऐतिहासिक प्रमाण से यह निर्णय करना कठिन है कि इनका मूल प्रणेता कौन है किन्तु अभिव्यंजना-शैली, भाववस्तु और साम्प्रदायिक भावना के आधार पर कतिपय पदों के विषय में उनके रचयिता का निर्णय किया जा सकता है । नीचे एक-एक पद क्रमशः दोनों ग्रंथों से उद्धृत करके इसी दृष्टि से विचार किया गया है :—

१— चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर ।
तो बिनु कुंवरि कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर ।।
गदगद सुर, विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर ।
श्वासि श्वासि वृषभानु नन्दिनी विलपत विपिन अधीर ।।
शशी विशिख, व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर ।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखामृग रिपु चीर ।।
हितहरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर ।
सुन भयभीत वज्र को पंजर सुरत सूर रणधीर ।।
—हितचौरासी, पद सं० ३७ ।

चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच कोरी।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बांधे विविध निबंधन डोरी॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनौं कछुक मादिक मधु घोरी।
हितहरिवंश पिवत सुन्दर वर सींव सुदृढ़ निगमन की तोरी॥

—हित चौरासी, पद सं० ८२।

नागरता की रासि किसोरी।
नवनागर कुल मूल सांवरो, बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥
रूप रुचिर अंग अंग माधुरी, बिनु भूषण भूषित ब्रज गोरी।
छिन-छिन कुसल सुगंध अंग में कोक रभस रस सिंधु झकोरी॥
चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखें कनक कमल कुच कोरी॥
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बांधे विविध निबंधनिडोरी॥
अवनी उदर, नाभि सरसी में मनहुँ कछुक मादक मधु रोरी।
सूरदास पीवत सुन्दरवर सींव सुदृढ़ निगमनि की तोरी॥

—सूरसागर, पद सं० १२०१। १८१६। पृष्ठ ६८४।

विवेचन

उपर्युक्त दोनों पदों में केवल एक शब्द का अन्तर है। प्रथम पद के चतुर्थ चरण में "सुघंग" शब्द है जब कि सूरदास के पद में 'सुगंध' पाठ दिया है। सुघंग नृत्य और शरीर-चांचल्य की दृष्टि से सुन्दर शब्द-चयन है। सुगंध केवल शारीरिक आमोद के अर्थ में आया है। शेष दोनों पद समान हैं।

पद का भावार्थ इस प्रकार है :—

"(इस पद में राधा के रूप, गुण, शील, सौन्दर्य, माधुर्य, उदारता, सुकुमारता, कला, विद्या, चातुर्य, रसिकता आदि अनेक गुणों का वर्णन है।) किशोरी राधा सुन्दरता की राशि है। नव-नागर-समूह के शिरोमणि श्यामसुन्दर को राधा ने अपनी चितवन और ललितभाव से अपने वश में कर लिया है या विवश कर दिया है। इनका रूप अत्यन्त रुचिर है, अंग-अंग में माधुर्य समाया हुआ है। बिना आभूषणों के भी यह व्रजगोरी राधा विभूषित रहती है। यह सुघंग नृत्य के प्रत्येक अंग में प्रवीण तो है ही साथ ही एकान्तिक कोक विलास के रस-समुद्र में भी सतत सराबोर रहती है। इसने अपने कनक सदृश कुच कमलों की कोर में चंचल रसिक मनमोहन के मन को अटका रखा है। प्रियतम कृष्ण के युगल नयन रूपी खंजन पक्षी को भी बंधन की डोर से बांध रखा है। हितहरिवंश जी कहते हैं कि इस परम सौन्दर्यमयी राधा ने अपने उदर-रूपी भूमि में स्थित नाभि-सरोवर में कुछ अनिर्वचनीय मादक एवं मधुर रस घोल रखा है जिसे सौन्दर्य-शिरोमणि श्रीकृष्ण वेदों की सुदृढ़ मर्यादा-सीमाओं का भी अतिक्रमण कर पान कर रहे हैं।"

पद के भावार्थ का अनुशीलन करने पर दो तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष आते हैं। अन्तिम दो चरणों में नाभिसर के रसपान के लिए वैदिक मर्यादा के उल्लंघन का संकेत विधि-निषेध-मर्यादा को न मानने का ही संकेत है जो राधावल्लभीय सम्प्रदाय की विशेषता है। वैसे

दुरत न कच करजन के रोकें अरुन नैन अलि चोर।
हितहरिवंश सँभारन तन मन सुरत समुद्र झकोर।
—हित चौरासी, पद सं० ३३।

आज बन राजत जुगल किसोर।
दसन-बसन खंडित, मुखमंडित, गंड तिलक कछु थोर।।
डगमगात पग धरत सिथिल गति उठे काम रस भोर।
रति पति सारग अरुन महा छवि उमगि पलक लगे भोर।।
श्रुति अवतंस विराजत हरि सुत सिद्ध दरस सुत ओर।
सूरदास प्रभु रस बस कीन्हीं परी महा रन जोर।।
—सूरसागर, पद सं० ११९९। १८१७। पृष्ठ ६८४।
ना० प्र० स० संस्करण

विवेचन

दोनों पदों के चरण-क्रम में पर्याप्त विपर्यास होने के साथ भावार्थ में भी अन्तर है। अन्तिम दो चरण दोनों पदों में सर्वथा भिन्न हैं। अतः भावार्थ में साम्य नहीं रह गया है फिर भी उक्त पद का तात्पर्य इस प्रकार है—

'आज वृन्दावन में राधा और कृष्ण (प्रभात के समय) अति शोभा पा रहे हैं। श्रीकृष्ण और राधा प्रातःकाल होने पर उनीदे (उन्निद्र दशा में) से उठ पड़े हैं। (रति विहार के कारण रात्रि में गाढ़निद्रा-सुख नहीं ले सके अतः इस समय भी नेत्रों में नींद भरी हुई है)। चलते समय नींद के कारण चरण डगमगाते से हैं, चाल शिथिल है, चलते-चलते दोनों एक दूसरे के वस्त्रांचलों को अपने-अपने नखचन्द से स्पर्श करते हैं और अपनी ओर खींचते चलते हैं। अधर क्षत-विक्षत हैं, गंडमंडल कज्जल से मंडित है। ललाट-पटल पर तिलक कुछ थोड़ा-सा ही शेष रह गया है। केशराशि एवं अंगुलियों द्वारा छिपाये जाने पर भी अरुण नयन जो भ्रमर के समान चोर हैं छिपते नहीं। गोप्य रसपूर्ण रति-विहार का भेद प्रकट किये दे रहे हैं। हितहरिवंश कहते हैं कि सुरत-समुद्र को झकझोरने के कारण आज दोनों में अपने तन-मन को सँभालने की शक्ति नहीं रह गई है।'

उक्त पद में रति-विहार का वर्णन है। सूरदास ने अपने पदों में यद्यपि सुरत-प्रसंगों का उल्लेख किया है किन्तु युगल किशोर की इस उनीदी दशा का सहज स्वाभाविक वर्णन हितहरिवंशजी की नित्यविहारपरक साम्प्रदायिक भावना के ही अधिक निकट है। इस प्रकार के कई पद चौरासी में मिलते हैं। सूरदास के पद में जो परिवर्तन हुआ है वह भी साम्प्रदायिक भावना के आग्रह से ही हुआ प्रतीत होता है। सुरत-क्रीड़ा के भाव को पद में परिवर्तन करके हल्का बनाया गया है। यद्यपि सूरदास की शैली से यह पद मेल रखता हुआ है, किन्तु इसके मूल प्रणेता श्री हरिवंश जी ही हैं।

२. नागरता की राशि किशोरी।
नव नागर कुल मौलि साँवरो परवस कियो चितै मुख मोरी।।
रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी बिनु भूषण भूषित ब्रज गोरी।
छिन छिन कुशल सुधंग अंग में कोककला रस सिन्धु झकोरी।।

सुरत नीबी निबंध हेत प्रिय मानिनी प्रिया की,
भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष,
हुंकार गर्व दृग भंगि भामिनि लची॥
कोक कोटिक रभस रहसि हरिवंश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रणय मम रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवत मकरन्द सुख राशि अन्तर सची॥

—हित चौरासी, पद सं० ५०।

नवल नागरि नवल नागर किसोर मिलि,
कुंज कोमल कमल दलनि सिज्या रची।
गौर सांवल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मनि मुकुल कंचन सु आभा लची।
सुन्दर नीबी बंध रहति पिय पानि गहि,
पीय के भुजनि में कलह मोहन रची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत हुंकरि,
रोपि करि गर्व दृग भंगि भामिनी लची॥
कोटि-कोटिक रभस रसिक हरि सूरज,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रानमन रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवति मकरन्द सुख रासि अन्तर सची॥

—सूरसागर, पद सं० ११६१। १८०६। पृष्ठ सं० ६८१।

विवेचन

उपर्युक्त दोनों पदों में विशेष अन्तर नहीं है। छाप के अतिरिक्त प्रायः दोनों पद समान हैं और एक ही भाव की व्यंजना करते हैं।

रात्रि के प्रहर का अन्त का समय है। सखियों ने युगलकिशोर की शयन-वेला जान उन्हें निभृत निकुंज तक पहुँचा दिया है जहां पहुँच कर युगलकिशोर ने स्वयं अपने करों से कमनीय कोमल दलों की शैया तैयार की है और उस पर दोनों विराजमान हैं। इसके बाद सुरतकेलि-रस का अवगाहन करते हैं। गौर और श्याम अंग (राधा और कृष्ण) परस्पर मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे कोमल कंचन में सुन्दर नील-मणि खचित कर दी गई हो। सुरत-रस के लिए उद्यत कृष्ण के नीवी बंधन खोलने पर राधा कृष्ण के साथ मनोहर कलह रचती है। राधा के सुभग श्रीफल सदृश उरोजों के स्पर्श करने पर वह रोषपूर्ण हुंकार, गर्व एवं भ्रू-भंगिमा के साथ झुक जाती है अर्थात् अनखा जाती है। हितहरिवंश कहते हैं कि इस एकान्त के आनन्द विलास रूप मिलन में कोटि-कोटि कोक की विविध एवं सुन्दर मधुरिमाओं में से कोई एक भी न बची। स्नेहमयी ललिता आदि सखियां अपने

जी (दामोदरदास) ने भी अपनी वाणी में यही भाव इसी पद की व्याख्या में व्यक्त किया है—

"निगम लोक मरजाद भंजि क्रीडन्त रंग रस"

यथार्थ में यह पद नित्यविहार का गूढ़-गुह्य संकेत देता है। राधासुधानिधि में इस

भाव को व्यक्त करते हुए हितहरिवंशजी लिखते हैं—

अलक्ष्य राधाख्यं निखिल निगमैरप्यतितरां।

रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते।"

सूरदास ब्रजलीला-गान करने वाले भक्त हैं, नित्यविहार की इस गूढ़-गहन दशा क

वर्णन करना उनका अभीष्ट विषय ही नहीं रहा अतः यह पद निस्सन्देह हितचौरासी क

है और परवर्तीकाल में सूर-सागर में संक्रमित हुआ है।

४. नन्द के लाल हर्यौ मन मोर।

हौं अपने मोतिन लर पोवति कांकर डारि गयौ सखि भोर॥

पंक विलोकनि चाल छबीली रसिक शिरोमणि नन्दकिशोर।

कहि कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर॥

[इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भये नैन चकोर।]

हित हरिवंश रसिक रसजुवती तूलै मिलि सखी प्राण अकोर॥

—हित चौरासी, पद सं० १३।

नन्द के लाल हर्यौ मन मोर।

हौं बैठी मोतिन लर पोवति कांकरि डारि चलै सखि मोर॥

पंक बिलोकनि, चाल छबीली, रसिक सिरोमनि नंदकिशोर।

कहि काको मन रहे श्रवन सुनि, सरस मधुर मुरली की घोर॥

वदन गुविन्द इन्दुके कारन तरसत नैन विहंग चकोर।

सूरदास प्रभु के मिलिवे को कुच श्रीफल हौं करति अंकोर॥

—सूरसागर, पद सं० १८७१, पृष्ठ सं० ६००

विवेचन

उपरिलिखित दोनों पदों में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तिम दो चरणों में कुछ प

वर्तन हुआ है यद्यपि भावार्थ पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। हितचौरासी

पद में पाठ है—"चितवन को भये नैन चकोर" उसकी जगह सूर सागर में "तरसत

विहंग चकोर" है। भाव प्रायः समान है। अन्तिम चरण में चौरासी का पाठ है—"

हरिवंश रसिक रस जुवती तूलै मिलि सखी प्राण अकोर" इसकी जगह सूरसागर का

नितान्त परिवर्तित है—"सूरदास प्रभु के मिलिवे को कुच श्रीफल हौं करति अंकोर"। दो

पदों के रचयिताओं का शैली-भेद इस पद में स्पष्ट नहीं है। भावार्थ सरस और स्पष्ट है। कि

शब्दावली के आधार पर हम इसे श्री हितहरिवंशजी की ही रचना मानते हैं।

५. नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि,

कुंज कोमल कमल दलनि सिज्या रची।

गौर श्यामल अंग रुचिर तापर मिले,

सरस मणि नील मनौं मृदुल कंचन खची॥

मधुरी है। नित्यविहार को नित्य-नूतन और उसके समाज-भाव को नित्य-नवीन माना
ता है। वह शाश्वत और नित्य है अतः उसके समस्त उपादान भी नित्य नूतन रहते हैं।
शुद्ध राधावल्लभीय साम्प्रदायिक भाव है जो इस पद में प्रतिबिम्बित हुआ है। सूरदास जी
रचना में इसी कारण यह पद भिन्न रूप में स्थान पा सका है। यथार्थ में यह हितहरिवंश
की ही रचना है।

) हितहरिवंशजी के दो गद्यात्मक पत्र

श्री हितहरिवंशजी ने अपने शिष्य बीठलदास को, जो जूनागढ़ में दीवान थे, दो कुशल-
लिखे थे। इन पत्रों की प्राचीन हस्तलिखित कोई प्रति हमारे देखने में नहीं आई किन्तु
परा में इनका उल्लेख होता आ रहा है। इन पत्रों की भाषा, वाक्य-विन्यास और शब्द-
ह पुरातन शैली की दृष्टि से निश्चय ही गद्यवार्ता की कोटि में रखे जाने योग्य है। टीका के
में जिस प्रकार 'जो है सो' करके अर्थोद्घाटन की शैली थी, वैसी ही इन पत्रों में दृष्टिगत
ो है। 'जोरी सुमिरन मत्त रहो, जोरी जोहै सुख बरषत है'—आदि वाक्य इसके लिए
त किये जा सकते हैं।

म पत्र

'श्रीमुख पत्री'

"श्री सकल गुण सम्पन्न रस रीति बढ़ावन चिरजीव मेरे प्राणन के प्राण बीठलदास
। लिखित श्री वृन्दावन रजोपसेवी हरिवंश जोरी सुमिरन बंचवी। जोरी सुमरिन मत्त रहो।
: जोहै सुख बरषत है। तुम कुशल स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार बाचत है। सुख
। स्वरूप है। पत्री बांचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि को इतनी शक्ति नहीं जो
सकों पर तोहि जानत हों। श्री स्वामिनी जी तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशी-
देंय, हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारो आयुष बढ़ो और तिहारी सकल सम्पत्ति
। तिहारे मन को मनोरथ पूरण होहु, हम नेनन सुख देखें, हमारी भेंट यही है। यहां
गहू बात की चिन्ता मत करो, तेरी पहिचान तें मोकूं श्री श्यामाजू बहुत सुख देत हैं।
लखी हो दिन दश में आवेंगे सोई आशा प्राण रहे हैं। श्री श्यामाजू वेगि ले आवें।
ोव कृष्णदास की जोरी प्रसन्न है, श्याम नन्दिनी विहार चन्दन लेनों। गोविन्ददास,
ास की दंडौत, गांगू मेदा को कृष्ण सुमिरन बांचनो, कृष्णदास मोहनदास को कृष्ण
न, रंगा की दंडौत, वनमाली धर्मशाला को कृष्ण सुमिरन बांचनो।"

य पत्र

श्री वृषभानु नन्दिनी जयति। जोग्य लिखित श्री हरिवंश बीठलदास के कोटि-कोटि
र में सेवी आगले पाछिले। बीठलदास मेरे प्राण हैं। जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और
हेमा ऐसे ही सत्य है तो ब्रज नव तरुणि कदम्ब चूड़ामणि श्री राधे तिहारे स्यापे गुरुमार्ग
विश्वास अज्ञानी कों होत है तातें यह मर्यादा राखनो। तुम दोऊ सफल आनन्द
। बीठलदास को महो सीचनों॥ इति।"[1]

ो हितामृत सिन्धु—सम्पादक—हित गोबरधनदास—वृन्दावन, पृष्ठ १-२।

नेत्रों का पान-पात्र बनाकर इस नित्यविहार-रस का पान करते हुए अपने हृदय में अमित आनन्द की मकरन्द राशि को संचय करने लगी।

यह पद नित्यविहार-दशा का वर्णन करने वाला है। अन्तरंग भावना में इस पद को रूपासक्ति के साथ राधाकृष्ण की तादात्म्य स्थिति का द्योतक भी कहा जा सकता है। सूरदास ने नित्यविहारपरक दृष्टिकोण से पद-रचना नहीं की है। अतः इस पद को सामान्य अर्थ का सूचक मानकर सूरदास रचित नहीं कहा जा सकता।

६. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी नई-नई बूँदन भीजत गोरी॥
नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चातक बोलत मोर मोरी।
नव मुरली जु मलार नई गति श्रवन सुनत आये घनघोरी॥
नव भूषण नव मुकुर विराजत नई-नई उरप लेत थोरी-थोरी।
हित हरिवंश असीश देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥
—हित चौरासी, पद सं० ४४।

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयौ पिताम्बर, नई चूनरी नई-नई बूँदनि भीजत गोरी।
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस विलसत नवल राधिका जोवन भोरी॥
—सूरसागर, पद सं० ६८५। १३०३। पृष्ठ सं० ५०१।

विवेचन

उपर्युक्त दोनों पदों में पर्याप्त अन्तर है। हितहरिवंशजी के पद में छह चरण और सूरदासजी के पद में चार चरण हैं। सूरदासजी का पद कामोद राग में गेय है तो हितजी का पद मलार में। इसके अतिरिक्त हितजी के पद में नवल-श्याम और नवल वृषभानुकिशोरी का पारस्परिक मिलन वर्णन है जबकि सूरदास के पद में केवल वृषभानुकिशोरी की ही चर्चा है।

यह पद नित्यविहार का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। सुहावनी पावस ऋतु में मधुर गर्जन करते हुए नव जलधर आकाश में छा गये हैं। नवल वेश धारण करके श्याम-श्यामा भी पावस का आनन्द उठाने के लिए प्रथम वर्षा की नवल बूँदों में भीग रहे हैं। श्यामसुन्दर और राधिका अपने नये पीताम्बर और नई चूनरी धारण किये हुए हैं। नवीन वृन्दावन में नये मयूर और चातकवृन्द हैं। श्यामसुन्दर ने अपनी नवीन मुरली से नया स्वर निकाला है जिसे सुनकर नये-नये मेघ आकाश में घुमड़ आये हैं। श्यामसुन्दर अपने सिर पर नया मुकुट और शरीर पर नये आभूषण धारण किये हुए हैं। वे नवीन नृत्य में उरप और तिरप गतियों से लीन हैं। इस नवीन समाज एवं नूतन सुख-साज को देखकर हितहरिवंश अपने मुख से असीश देते हुए कहते हैं कि यह नवीन जोड़ी इस धाम (वृन्दावन) में क्रीड़ा करती हुई चिरंजीवी रहे।

सूरदास के पद में केवल नवल राधिका का ही वर्णन है जो पद की भावना की दृष्टि

द्वितीय अध्याय

श्री दामोदरदास (सेवक जी)

श्री हितहरिवंशजी की वाणी के अन्तरंग मर्म का उद्घाटन करने वाले भक्त रसिकों में श्री सेवकजी का स्थान मूर्धा पर है। श्री सेवकजी ने अपनी दिव्य दृष्टि और नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा 'हित चौरासी' का रहस्यपूर्ण गूढ़ाशय जिस शैली से हृदयंगम किया और अपनी वाणी द्वारा अनुयायियों को कराया, वैसा उनसे पहले नहीं हुआ था; और कहना न होगा कि वैसी सूत्रात्मक शैली से बाद में भी नहीं हुआ।

श्री सेवकजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा समर्थित विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती भक्तमाल या भक्त-जीवनियों में जो कुछ लिखा मिलता है उसी को प्रमाण मानकर इनके जीवनवृत्त का संकलन हमने किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक भक्त-कवियों की वाणियों में श्री सेवकजी का स्मरण और नामोल्लेख मिलता है किन्तु श्री भगवत मुदित ने तथा श्री उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' तथा प्रियादासजी ने अपने 'सेवक चरित्र' में विस्तारपूर्वक आपका चरित्र लिखा है। प्रियादासजी का 'सेवक चरित्र' यथार्थ में इतिवृत्तात्मक जीवन-चरित्र न होकर भावात्मक शैली से लिखा हुआ साम्प्रदायिक भक्त-चरित्र है जिसमें जीवन की घटनाएँ अंकित न होकर भावना की भूमि पर भक्त-चरित्र की कल्पना है। भगवत मुदित और उत्तमदास के चरित्रों में भी सेवकजी की जन्मतिथि, वंश-परिवार आदि का कोई संकेत नहीं है। केवल उन प्रमुख घटनाओं का वर्णन है जिनका सेवकजी के चरित्र पर युगान्तरकारी प्रभाव पड़ा और जिनसे प्रभावित होकर सब कुछ त्यागकर वे श्री हित महाप्रभु के मन-वचन-कर्म से अनुयायी हो गये।

श्री भगवत मुदित ने ६७ पदों में विस्तार से सेवकजी के जीवन की घटनाओं पर प्रकाश डाला है किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार ढूँढ़ लेना सहज नहीं। श्री उत्तमदास जी लिखित चरित्र भी लगभग वैसा ही है। अन्तर केवल इतना है इसमें किम्वदन्तियों को समेट कर संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। फलतः २१ पदों में समस्त जीवनवृत्त लिख दिया है। इन दोनों चरित्रों के आधार पर हम संक्षेप में श्री सेवकजी की जीवनी प्रस्तुत करते हैं :

टिप्पणी

उपर्युक्त दोनों पत्र हमने 'हितामृतसिन्धु' नामक प्रकाशित ग्रंथ से उद्धृत किये
राधावल्लभीय प्रकाशित ग्रंथों में प्रायः ये इसी रूप में दिये गये हैं। श्री गोस्वामी रूपलाल
ने 'हितसुधासागर' में सबसे पहले (संवत् १९९३) इन्हें प्रकाशित कराया था तभी से ये
रूप में प्रकाशित होते आ रहे हैं। इनके पाठान्तर हमें प्राचीन प्रतियों में जहाँ परिवर्तित
में मिले उन्हें हम नीचे दे रहे हैं। रेखांकित स्थल द्रष्टव्य हैं :—

देव—पाठान्तर—देहि, तेई—पाठान्तर—सोई

बढ़ावनि—पाठान्तर—बढ़ावन,

पाठ-भेद—इतना अंश छोड़ दिया गया है—

"कृष्णदासी मनोहरी को जोरी सुमिरन बांचनो।"

दूसरे पत्र में कोई पाठभेद नहीं है। दूसरा पत्र श्री हरिवंशजी की राधा-विषयक
निष्ठा का द्योतक है। "तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विर्षे अविश्वास अज्ञानी को होत है।"
वाक्य राधा को इष्टाराध्या ही नहीं गुरु भी घोषित करता है॥

उपसंहार

श्री हितहरिवंश रचित साहित्य का हमने ऊपर की पंक्तियों के संक्षेप में विवे
किया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अभी तक इनके साहित्य का मूल्याङ्कन नहीं हुआ
फलतः हिन्दी साहित्य के इतिहासों में हितजी का सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के रूप में नामोल्लेख म
ही उपलब्ध होता है। भक्तकवि के रूप में उन्हें उचित सम्मान नहीं दिया जाता। हमा
यह निश्चित धारणा है कि यदि हितहरिवंशजी के ब्रजभाषा-साहित्य का विधिवत् अध्यय
अनुशीलन किया जाय तो वह काव्य-सौष्ठव तथा माधुर्य-भाव का श्रेष्ठतम साहित्य सि
होगा।

बार ब्रजमण्डल के कुछ साधु-महात्मा भ्रमण करते हुए गढ़ा पहुँचे और उन्होंने अपनी रसोपासना के अनुकूल समाज का आयोजन किया। इन भक्त रसिकों की सेवा-पूजा पद्धति देखकर सेवक जी के मन पर प्रभाव पड़ा कि यदि इस पद्धति को स्वीकार कर उपासना की जाय तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। सेवक जी ने उन महात्माओं के समक्ष अपने मन की बात रखी और जिज्ञासा प्रकट की कि इस उपासना का प्रवर्तक कौन है। महात्माओं ने श्री हितहरिवंश महाप्रभु का परिचय दिया और सेवक जी को बताया कि तुम उनसे वृन्दावन जाकर दीक्षा ग्रहण करो। सेवक जी के हृदय पर इस पद्धति की छाप तो पड़ ही गई थी अतः उन्होंने वृन्दावन जाकर गुरुदीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय किया। संयोगवश वे अविलम्ब वृन्दावन नहीं जा सके और इसी बीच आचार्य हितहरिवंश इहलोक लीला संवरण करके निकुंज लीला में प्रवेश कर गये। सेवक जी को जब उनके निधन का समाचार मिला तो बड़े दुखी हुए और उन्होंने निश्चय किया कि मैंने एक बार श्री हितजी को अपना मानस गुरु मान लिया है तो किसी अन्य आचार्य से मैं दीक्षा नहीं लूँगा; यदि मेरे गुरु मुझ पर प्रसन्न हैं और मेरी निष्ठा सच्ची है तो वे ही मुझे स्वयं अशरीरी रूप से आकर ध्यान में मन्त्र देंगे। यदि मुझे ध्यान द्वारा मन्त्र-प्राप्ति न हुई तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा। सेवक जी इसी दृढ़ निश्चय के साथ ध्यानावस्थित बैठ गये। कहते हैं कि उन्हें स्वप्न में श्री राधा ने स्वयं आकर दीक्षा-मंत्र प्रदान किया।

श्री सेवक जी के साथी और अन्तरंग बन्धु श्री चतुर्भुजदास इसी बीच दीक्षा-ग्रहण करने वृन्दावन आये और श्री हितहरिवंशजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री आचार्य वनचन्द्रजी से गुरु-मन्त्र लेकर वापस गढ़ा गये। गढ़ा पहुँचने पर उन्होंने देखा कि जो दीक्षा-मन्त्र उन्होंने वृन्दावन में श्री गुरुमुख से ग्रहण किया था सेवक जी बिना कहीं गये उसी का अनवरत जप कर रहे हैं। तब उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। उन्होंने सेवक जी से इस रहस्य का मर्म जानना चाहा तब सेवकजी ने बताया कि उन्होंने ध्यान बल से राधा को प्रसन्न कर केवल मन्त्र ही नहीं पाया वरन् स्वप्न में ही समस्त वृन्दावन धाम का भी दर्शन किया है।

मंत्र-प्राप्ति और धाम-दर्शन के उपरान्त सेवकजी की चित्तवृत्ति इतनी परिष्कृत और उदात्त हुई कि उन्हें चतुरासी के प्रत्येक पद का गूढ़ातिगूढ़ मर्म स्वयं समझ में आने लगा। उस मर्म को हृदयंगम करके उन्होंने १६ प्रकरणों में हरिवंश का माहात्म्य तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन करने वाली वाणी प्रस्तुत की। इस वाणी को भक्तजनों ने सुना तो वे विस्मय-विमुग्ध हो गये और उन्हें लगा कि चतुरासी के सारे रहस्यमय पद इस वाणी के द्वारा आलोकित हो उठे हैं। शनैः-शनैः यह वाणी वृन्दावन तक पहुँची और जब श्री आचार्य वनचन्द्रजी ने इसको सुना तो उन्होंने यह विज्ञप्ति कर दी कि चौरासी जी को समझने, पढ़ने और जानने के लिए सेवक-वाणी का पढ़ना-समझना अनिवार्य है। अतः भविष्य में चतुरासी और सेवक-वाणी एक ही साथ पढ़ी और लिखी जायँ। इस [illegible] धारणा के फल-स्वरूप आज तक दोनों वाणियाँ एक साथ लिखी, पढ़ी और छापी जाती हैं।

सेवकजी की वाणी ने वृन्दावन के भक्तों को उनके प्रति इतने अधिक आकर्षण और अनुराग से पूर्ण कर दिया था कि जो कोई व्यक्ति वृन्दावन से [illegible] आता उसी के साथ

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि गोंड़वाना प्रदेश में (वर्त्तमान जबलपुर) नामक एक प्रसिद्ध गाँव था। वहाँ एक पवित्र ब्राह्मण-परिवार में श्री दामोदरदास (सेवकजी का पूर्व नाम) का जन्म हुआ। उसी परिवार में श्री चतुर्भुजदास नामक एक नैष्ठिक सज्जन थे। सेवकजी का इनके प्रति बड़ा अनुराग था। दोनों में सहज, स निश्छल प्रेम था। दोनों ही बड़े विनीत, सज्जन, पंडित, चतुर और कुलीन थे।[1] किन्तु कहीं नहीं लिखा कि किस सम्वत् में इनका जन्म हुआ। जन्म-सम्वत् निर्धारण करने के हमने प्रियादास लिखित 'श्री सेवक चरित्र' का आश्रय लिया है। यद्यपि यह जन्म-सम भी सर्वथा प्रामाणिक नहीं है क्योंकि प्रियादासजी ने परम्परागत किसी अनुश्रुति को आध मानकर एक स्वप्न लिखा है जिसमें सेवकजी का बाह्य रूप और आयु लिखी है। उसी आधार पर हमने सम्वत् १५७७ के आसपास इनका जन्म-सम्वत् माना है। श्री प्रियाद लिखित स्वप्न इस प्रकार है :—

'गौरवरन हैं, तीस-बत्तीस बरस की अवस्था है। स्वेत धोती है, स्वेत ही उपरना पालथी मारे आसन पर बैठे हैं। आगे चौकी है ताहू पर श्रीमद्गिराजू (चतुरासी) गुटका है। तामैं आरूढ़ दसा सौं लवलीन ह्वै रहे हैं और उनके सामुही हौं बैठो हौं। उन्ह या गहर में से निकसिकै मेरी ओर देख्यो, तब मोसों कही कि सेवकजी को जन्म सावन स तीज के दिना हैं तू दंडवत करि—तब मैंने दंडवत करिकै आज्ञा सिर धरि लई।'[2]

उपर्युक्त स्वप्न लिखने में प्रियादासजी ने उस अनुश्रुति का निर्वाह किया है सेवकजी के विषय में परम्परा से सम्प्रदाय में चली चली आ रही है कि सेवकजी युवाव में वृन्दावन आये थे और बहुत अल्पकाल तक (दस दिन मात्र) जीवित रह कर निकु लीला में प्रवेश कर गये। उनकी मृत्यु का सम्वत् १६१० माना जाता है जो कि हरिवंशजी के एक वर्ष उपरान्त है।

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि सेवक जी स्वभाव से रसिक-वृत्ति के भक्त थे दैनिक कार्यकलाप से अवकाश पाते ही हरिसेवा में लीन हो जाते थे। भक्ति में इनकी तल्ल नता इस कोटि तक थी कि इन्हें अपने चारो ओर के संसार का बोध तक न रहता था। कि इतनी भक्ति-साधना होने पर भी न तो कोई गुरु इन्हें मिला था और न भक्ति-पद्धति शृंखलाबद्ध करने के लिए किसी सम्प्रदाय की दीक्षा ही इन्होंने ग्रहण की थी। फलतः इ मन में गुरु और सम्प्रदाय का अभाव खटकता रहता था। जो कोई सन्त-महात्मा गढ़ा में पास उनके दर्शन करने अवश्य जाते और अपनी मनोकामना व्यक्त करते। सुयोग से

---

१. देखिये—श्री भगवत मुदित कृत, अनन्यमाल—सेवक प्रकरण।

गौड़ देस में गढ़ा निवास, तहाँ बसे जु चतुर्भुज दास।
तिनसों सेवक सों निज प्रीति, कपट रहित सौजन्य विनीत॥
उत्तम द्विज कुल प्रकटे दोऊ, पंडित चतुर सुहृद पुनि सोऊ॥

२. श्री प्रियादास लिखित—'सेवक जू को चरित्र' पृष्ठ ३२।

(हस्तलिखित प्रति श्री बाबा बंशीदासजी, वृन्दाव

से ही कुछ ग्रहण किया। ऐकान्तिक रूप से चतुरासी और हित महाप्रभु को सामने रखक वाणी-प्रणयन किया फलतः इसका मूलाधार शुद्ध एवं सुदृढ़ साम्प्रदायिक ही बना रहा तीसरा कारण है वाणी की सहज अभिव्यक्ति। इतनी सीधी-सादी सरल भाषा और शैल में पद-रचना करने वाले बहुत कम रसिक भक्त दृष्टिगोचर होते हैं। सब प्रकार की कृत्रिमत से सर्वथा दूर रहकर तात्विक चिन्तन ही सेवकजी का ध्येय था अतः उनकी वाणी को आत्मा की भाषा कहा जाता है। सोलह प्रकरणों में विभक्त सेवकवाणी की विषय-सूची इस प्रकार है :

१—श्रीहित जसविलास
२—श्रीहित विलास
३—श्रीहरिवंश नाम प्रताप जस
४—श्रीहित वाणी प्रकरण
५—श्रीहित इष्टाराधन प्रकरण
६—श्रीहित धर्मिन कृत प्रकरण
७—श्रीहित रसरीति प्रकरण
८—श्रीहित अनन्य टेक प्रकरण
९—श्रीहित कृपा अकृपा प्रकरण
१०—श्रीहित भक्तभजन प्रकरण
११—श्रीहित ध्यान प्रकरण
१२—श्रीहित मंगल गान प्रकरण
१३—श्रीहित पाके धर्मी प्रकरण
१४—श्रीहित काचे धर्मी प्रकरण
१५—अनलभ्यलाभ प्रकरण
१६—मान सिद्धान्त प्रकरण

सेवकवाणी का भावपक्ष

सेवकवाणी सोलह प्रकरणों मे ग्रथित सिद्धान्तवाणी है। वाणी का मूलाधार 'चतुरासी' है किन्तु प्रकरण-विभाजन और विषय-निर्धारण स्वतंत्र पद्धति से किया गया है अतः यह प्रत्यक्ष रूप से टीका या व्याख्यापरक वाणी नहीं कही जा सकती। प्रथम प्रकरण का नाम यद्यपि 'श्रीहित जस विलास' है किन्तु इसमें केवल हितहरिवंशजी का यशोगान नहीं वरन् तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का संक्षेप एवं सार-रूप से वर्णन है। सेवकजी का प्रयोजन इस प्रकरण को प्रस्तुत करने में यह रहा है कि जिस काल में श्रीहितहरिवंशजी का प्रादुर्भाव हुआ उस समय इस देश की दशा कैसी थी। धर्म और नीति के नाम पर कैसा घोर अधर्म और अनीतिपरायण व्यवहार समाज में प्रचलित था। हरिवंशजी का अवतार इस दुर्दशा को दूर करने के निमित्त हुआ और उन्होंने उस घोर अंधकार के युग में भक्ति का आलोकमय पथ प्रशस्त किया। उनकी मान्यता है कि हरिवंश और हरि में भेद नहीं है, दोनों

सेवकजी को वृन्दावन माने का निमन्त्रण भेजा जाता। श्री आचार्य वनचंद्रजी तो सेवकजी
इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि जिस दिन सेवकजी वृन्दावन पधारेंगे उ
दिन उनके आगमन की प्रसन्नता मे श्री जी के मन्दिर का समस्त वैभव लुटा दिया जायगा
किसी भक्त के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इससे बढ़कर दूसरी कोई और भाव-व्यंज
नहीं हो सकती। उधर सेवकजी ने आचार्य वनचंद्रजी का यह निश्चय सुना तो वे ब
द्विविधा में फंस गये। उन्हें सकोच ने घेर लिया और अपने मन में सोचने लगे कि यदि मे
कारण श्री जी का वैभव लुटाया गया तो यह अच्छा न होगा। भले ही इसमें मेरा प्र
सम्मान क्यों न हो—श्रीजी के मन्दिर की तो हानि होगी ही। अतः वृन्दावन जाने का निश्च
करने पर भी वे प्रत्यक्ष रूप में नहीं गये। भेष परिवर्तन करके मन्दिर मे श्रीजी के दर्शन क
उपस्थित हुए। किन्तु भक्त की तल्लीनता और दिव्य मुखाकृति देखकर आचार्य वनचंद्रजी
भीड़ में से सेवकजी को पहचान लिया और गद्‌गद् कंठ से उनका आलिंगन किया। सेवक
के मन में गहरा संकोच समाया हुआ था, वे भयभीत थे कि कहीं आचार्यवर श्रीजी का वैभ
लुटाने का उपक्रम न कर बैठें। इसी बीच आचार्य ने अपने पूर्व निश्चयानुसार वैभव लुट
का आदेश दिया। किन्तु सेवकजी ने बड़े विनीत और स्नेहभाव से आचार्य जी से अनुरो
किया कि वे समस्त वैभव न लुटाकर केवल प्रसादी ही वितरण करें। आचार्य जी ने सेवक
की प्रार्थना स्वीकार कर ली और समस्त प्रसादी पदार्थ तत्काल वितरित कर दिये गये। इ
प्रकार वृन्दावन में श्री सेवकजी का पदार्पण हुआ।

श्रीसेवकजी सुदीर्घ काल तक वृन्दावन-वास नहीं कर सके। वे सच्चे रसिक महात्म
थे। रात-दिन भजन-पूजा में लगे रहते, संसार के प्रति विरक्त भाव उनके मन में समा गय
था। एक दिन रासमंडल में पीलू के पेड़ के नीचे ध्यानावस्थित दशा मे बैठे-बैठे ही वे निकु
लीला में प्रवेश कर गये।

सेवकजी की वाणी का माहात्म्य

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में सेवक-वाणी का धार्मि
दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वाणी आज हितचौरासी की पूरक वाणी मान
जाती है और इन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध जुड गया है। 'चौरासी अरु सेवक वाणी, इक सं
लिखत पढ़त सुखदानी।' दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि चतुरासी के मर्म को समझने
लिए सेवकवाणी ही टीका, भाष्य, व्याख्या सब कुछ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के तेत
महानुभावों ने सेवकवाणी का माहात्म्य लिखा है। गद्यवार्ता में लिखा हुआ प्रियादासजी
'सेवक चरित्र' भी सेवकवाणी के सिद्धान्तों का उद्‌घाटन मात्र है। सेवकवाणी के इस मह
और माहात्म्य के तीन प्रमुख कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि श्रीहितजी की चतुरास
का मर्मोद्‌घाटन करने वाली यह सर्वप्रथम वाणी है। दूसरा कारण यह है कि इसकी शैल
शुद्ध साम्प्रदायिक भावना पर आधृत है। सम्प्रदाय की मूल भावना को व्यक्त करना ही इ
वाणी का चरम लक्ष्य रहा है। माधुर्य-भक्ति के मार्ग में नाना प्रकार की परिपाटी उस सम
प्रचलित थीं किन्तु सेवकजी अपने सम्प्रदाय की भावना के बाहर एक पग भी नहीं गये।
तो आपने चैतन्य-मत के साहित्यिक ग्रंथों का आश्रय लिया और न वल्लभाचार्य के पुष्टिमा

करके भक्तजनों को भक्ति-पथ के अनुकूल उपासना का द्वार दिखाया। रसोपासना का
उन्मुक्त करके उन्होने समस्त भव-बाधाओं को शान्त कर दिया।

जब जब होत धर्म की हानि, तब तब तनु धरि प्रगटत आनि।
जानि और दूजो नहीं।
जो रस रीति सबनते दूरि, सो सब विश्व रही भरि पूरि।
भूरि सजीव न कहि दई।[1]

रसोपासना को सर्वश्रेष्ठ बताने के बाद सेवकजी ने इसमें किसी प्रकार के वि
निषेध का प्रपंच नहीं माना। स्पष्ट कह दिया कि यह प्रेमाश्रित पद्धति है अतः विधि-निषे
संजम, व्रत, नेम के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। इसे स्वीकार करने के बाद सुदि
कुदिन, तिथि, नक्षत्र, स्नान क्रिया, तप, पूजा किसी भी बाह्य मर्यादा की अपेक्षा नहीं।

श्री हरिवंश जनित जहाँ प्रेम, तहाँ कहाँ व्रत सयम नेम।
छेम सकल सुख सम्पदा।
तहाँ जाति कुल नहीं विचार, कौन सु उत्तम कौन गँवार।
सार भजन हरिवंश को।

\+ + +

या रस में विधि नहीं निषेध, तहाँ न लगन ग्रहन के बेध।
तहाँ कुदिन दिन कछु नहीं।
नहिं शुभ अशुभ, मान अपमान, नहिं अनृत भ्रम कपट समान।
स्नान क्रिया, जप, तप नहीं।

\+ + +

विप्रन शूद्र कौन कुल कास, सुनहु रसिक हरिवंश विलास,
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥[2]

श्री हरिवंशजी के मत में अनन्यता की महत्ता बताते हुये सेवकजी ने स्पष्ट यही लिखा है कि सच्ची अनन्यता पाने पर बाह्य विधि-निषेध की सीमाएँ टूट जाती हैं और साधक का मन एक ऐसी अनिर्वचनीय आनन्द-दशा में स्थित हो जाता है जहाँ जाति, पाँति, कुल-धर्म कुछ नहीं रहता। श्री हरिवंशजी उसी दशा में पहुँचे थे और तभी उन्होंने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इसलिए श्री हरिवंशजी के मत के उपासक हैं उन्हें विविध देवी-देवता, अवतार, आदि का भजन-पूजन छोड़कर एकान्तभाव और पूर्णनिष्ठा के साथ हरिवंशजी की अनन्यता की टेक निभानी चाहिए। यथार्थ में सेवक जी के मत में श्रीहरिवंशजी ही उपास्य हैं। उनके अतिरिक्त कहीं और मन लगाने से रसानुभूति नहीं होगी।

जाति पाँति कुल-कर्म धर्म व्रत संसृति हेतु अविद्या नासी।
सेवक रीति प्रतीति प्रीति हित विधि निषेध शृंखला विनासी॥

१—सेवक वाणी——प्रकरण २, पद २
२—" " " प्रकरण २, पद सं० १-५।

एक ही हैं, समस्त संसार में हरि रूप से हरिवंश ही व्याप्त है। जब हरि ने देखा कि कलियुग में वेदविधि उच्छिन्न हो गई है, धर्म का नाश हो गया है और समस्त संसार उसमें डूब रहा है तब हरिवंश ने अवतार लिया। इस प्रकरण में युग-दशा का बहुत सुन्दर संकेत मिलता है। यवन-राज्य में हिन्दू जाति और हिन्दू-धर्म की दशा का बड़ा सजीव चित्र सेवकजी थोड़े-से शब्दों में अंकित कर गये हैं :—

कलियुग कठिन वेद विधि रही, धर्म कहूँ नहि दीखत सही।
कही भली कोऊ ना करै।
उदवस विश्व भयो सब देस, धर्मरहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बढ़े।
सब जन करें आधुनिक धर्म, वेद विहित जानें नहि कर्म।
मर्म भक्ति को क्यों लहैं।
बूड़त भव आवै न उसास, जस बरनो हरिवंश विलास।
श्री हरिवंशहि गाइ हों॥
धर्म रहित जानो सब दुनी, म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजो नहीं।
करी कृपा मन कियो विचार, श्रुति पथ विमुख दुखित ससार।
सार वेद विधि उद्धरी।
सब अवतार भक्ति विस्तरी, पुनि रस रीति जात उद्धरी।
कर्यो धर्म अपनो प्रकट॥[1]

तत्कालीन परिस्थिति का चित्र प्रस्तुत करने के उपरान्त सेवकजी ने श्री हरिवंश जी के अवतार की आवश्यकता और अवतार का शुभ परिणाम अंकित किया है—श्री हरिवंश जी के उत्पन्न होने पर सूखे सरोवर निर्मल जल से परिपूर्ण हो गये। शुष्क वृक्षों पर कोमल किशलय आ गये। शस्य से पृथ्वी श्यामल दीख पड़ने लगी। संसार की अशुभ घड़ियाँ समाप्त हुई और शुभ दिनों का सूत्रपात हुआ। ब्राह्मण वर्ग में पुनः वैदिक कर्मों की स्थापना हुई। पारस्परिक प्रीति का मंगलमय वातावरण चारों ओर फैल गया। श्री हरिवंश के अवतार के साथ एक नवीन परिवर्तन चतुर्दिक् उत्पन्न हो गया—

निर्जल सजल सरोवर भये, उखटे वृक्षनि पल्लव भये।
दए सकल सुख सबनि को।
चलहि सकल जन अपने धर्म, ब्राह्मन सकल करहि षट् कर्म।
मर्म सबनि को भाजियो।[2]

हरिवंशजी ने उत्पन्न होते ही अपनी नूतन भक्ति-पद्धति का प्रसार किया और मानव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त किया। नाना अवतारों की लीला का प्रपंच समाप्त

---

१. श्री सेवक वाणी—प्रथम प्रकरण, पद ४-५।
२. „ „ —प्रथम प्रकरण, पद ८

इस रस वर्णन में लीन हुए हैं। इस वर्णन के बाद निकुंज रस के स्थल वृन्दावन का सकेतात्मक वर्णन है। तृतीय पद में साक्षात् निकुंज लीला रस गाया गया है जिसमें राधा-माधव की क्रीड़ाओं का वर्णन दृष्टिगत होता है :—

श्री वृन्दावन नव नव कुंज, श्री हरिवंश प्रेम रस पुंज।
श्री हरिवंश करत नित केलो, छिन छिन प्रति नव-नव रस झेलो॥
कबहुंक निमित तरल हिंडोला, झूलत फूलत करत कलोला।
कबहुंक नव दल सेज रचावहि, श्री हरिवंश सुरत नहि गावहि॥[1]
श्री हरिवंश प्रेम रस गाना, रसिक विमोहित परम सुजाना।
अंसनि पर भुज दिये विलोकति, तृपित न सुन्दर मुख अवलोकत॥
इन्दुवदन दीसत विवि धोरा, चारु सुलोचन तृपित चकोरा।
करत पान रस मत्त सदाई, श्री हरिवंश प्रेम रति गाई॥[2]

नित्यविहार दशा में राधामाधव के ध्यान-रीति का साम्प्रदायिक शैली से वर्णन करके नित्यविहार के सिद्धान्त का बड़ी सटीक शैली से प्रतिपादन किया गया है। नित्यमिलन इस विहार की प्रथम शर्त है, क्षणमात्र का भी वियोग यहाँ सम्भव नहीं होता, दो शरीरों में एक प्राण की सहज कल्पना इस प्रेम सिद्धान्त का मूलाधार है। राधा के बिना कृष्ण और कृष्ण के बिना राधा नाम लेने में भी नहीं बनता फिर साथ रहने में तो दोनों का पार्थक्य सम्भव ही कैसे है। यही नित्य मिलन नित्यविहार का प्रमुख विधायक तत्व है। सेवकजी ने इसको बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है—

श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ, श्यामा श्याम एक संग गाऊँ।
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई, प्राणसु एक देह द्वै दोई॥
राधा संग विना नहीं श्याम, श्याम बिना नहि राधा नाम।
छिन छिन प्रति आराधत रहहीं, राधा नाम श्याम तव कहहीं॥
ललितादिकनि संग सचु पावें, श्री हरिवंश सुरत रति गावें॥[3]

यहै नित केलि, ये ई जु नाइक निपुन, यहै बनभूमि नित नित बखानी।
बहुत रचना करत राग रागिनि धरत तान बंधान सब ठानि आनी॥
ज्यों मूँद नहि मिलत टकसार ते बाहिरी, लाख में गैर मुहरी जु जानी।
यों जु रस रीति बरनत न ठांई मिलत, जो न उच्चरत हरिवंश बानी॥[4]

परसत पुलिन सुलिन गिरा करषत चित सुर घोर।
हरषत हित नित नवल रस बरषत जुगल किशोर॥
बरषत जुगल किशोर जोर नव कुंज सुरत रत।
मोर चन्द्र चय चलत ढोर कच शिथिल सुभगतन॥

१—२. सेवक वाणी—प्रकरण ४, पद सं० ३—६।
३—४. „ „ — „ ४, पद सं० ७—६।

अब जोई कहौ करैं हम सोई आयुष लिये चलैं निज दासी।
मन क्रम वचन विशुद्ध सकल मत हम श्री हित हरिवंश उपासी ॥[1]

श्री सेवकजी का मत है कि हरिवंशजी की रसोपासना अन्य सब मार्गों से पृथक् और प्रेम-सापेक्ष है। इस उपासना में किसी प्रकार का बाह्य आरोप सम्भव ही नही है—'या में मिलौनी मिलै न कछू जब खेलत रास सदा वन में।' यह उत्कट अनन्यता श्रीहरिवंशजी को मान्य थी उसी का व्याख्यान सेवकजी ने श्री हित अनन्य टेक प्रकरण में किया है। श्री हरिवंश को छोड़कर किसी और अवतार का भजन भी आपको स्वीकार नहीं है—

देखे जु मैं अवतार सबै भजि तहाँ तहाँ मन तैसो न जाई।
गोकुलनाथ महा व्रज वैभव लीला अनेक न चित्त खटाई ॥
एकहि रीति प्रतीति बंध्यौ मन मोही सबै हरिवंश बजाई।
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहि तो मोहि श्री हरिवंश दुहाई ॥[2]

सेवक वाणी का मुख्य स्वर श्री हितहरिवंशजी का महिमागान है। इस महिमा को सेवक जी ने इस रूप में गाया है कि वह अपनी व्यापक परिधि में सम्प्रदाय की समस्त धार्मिक भावना और विचारधारा को समेट लेती है। श्री हितमगल गान प्रकरण में सेवक जी हितजी का स्वरूप बताते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय की विशेषता का भी सश्लिष्ट रूप से वर्णन कर देते हैं।

जै जै श्री हरिवंश प्रशंसित सब दुनी।
सारासार विवेकित कोविद बहुगुनी।
गुप्त रीति आचरण प्रकट सब जग दिये।
ज्ञान, धर्म, व्रत, कर्म भक्ति किंकर किये ॥
भक्ति हित जे शरण आये द्वन्द्व दोष जु सब करे।
परम सुखद सुशील सुन्दर पाहि स्वामि नियम धनी ॥
जै जै श्री हरिवंश प्रशंसित सब दुनी ॥[3]

निकुंजलीला-वर्णन

सेवकजी ने अपनी वाणी में निकुंजलीला-विषयक पदों को साम्प्रदायिक भावना के अनुसार स्थान दिया है। इन पदों की विशेषता यह है कि ये स्थूल एवं मासल वर्णन पर आघृत न होकर सूक्ष्म भावनापरक वर्णन के सुन्दर निदर्शन है। श्री हितवाणी प्रकरण में निकुंज रस की छटा देखी जा सकती है। प्रथम पद में निकुंज रस के स्वामी श्री हरिवंश की कृपा का संकेत है जिनके अनुग्रह से नित्यविहार रस कहने का अधिकार प्राप्त होता है। सेवकजी अपनी बुद्धि को सीमित समझकर अपने इष्टदेव की कृपा के भरोसे ही

१—सेवक वाणी—प्रकरण ८, पद सं० २।
२— „ „ — „ ८, पद सं० ११
३— „ „ „ „ १२, पद सं० ३

बुंदेलखण्डी भाषा का पुरानी ब्रजभाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ से रहा है
ने यद्यपि ब्रजभाषा को अपनी वाणी के लिए चुना था किन्तु वे अपनी भाषा के
संस्कारों को निर्मूल नहीं कर सके थे। इसलिए उनकी ब्रजभाषा को बुंदेलखंडी
सर्वत्र कलेवर धारण करके हमारे समक्ष आती है। कहीं-कहीं शब्दों का तो
भाषा पर है। सरल ब्रजभाषा के पदों का सेवकवाणी में अभाव नहीं है। कहि
साहित्यिक ब्रजभाषा की अपूर्व छटा देखने में आती है। ब्रजभाषा की कोमल कान्त
सरस वाक्य-विन्यास, सुष्ठु शब्द-चयन, प्रवाह पूर्ण यति-गति-योजना देखकर आश्च
कि ब्रजभूमि से इतने मील दूर रहकर भी सेवकजी ने कैसे इस भाषा की नैसर्गि
का मर्म पाया और उसे अपनी वाणी में विलसित किया।

'रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर।
जस जग विशद सु विस्तरित वसत जु कुंज कुटीर॥
वसत जु कुंज कुटीर भीर नवरंग भामिनि भर।
धीर नीर गौरांग सरस घन तन पीताम्बर॥
धीर बहत दक्षिण समीर कलिकेलि करत अस।
नीरज सैन जु रचित बीरवर सुरतरंग रस॥'[1]

उपरिलिखित कुंडलियों में ब्रजभाषा की सहज पद-रचना का प्रयोग है।
को न तो तोड़ा-मरोड़ा है और न शुद्ध तत्सम रूप में ही रख कर ब्रजभाषा-सौन्दर्य
बनाया है। क्रिया पदों में लसत, विस्तरित, वसत, बहत, रचित आदि की नैसर्गि
को देखकर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सेवकजी ब्रजभाषा के
पूर्णतया परिचित थे। ब्रजभाषा सौन्दर्य के कुछ और उदाहरण हम यहाँ उद्धृत कर
श्यक समझते हैं।

सरिता तट सुर द्रुम निकट अलि ता सुमन सुवास।
ललिताधिक रसनतियनस चलि ता कुंज निवास॥
चलि ता कुंज निवास आस तब हितमग परखत।
रास स्थल उत्तम विलास रुचि मिलि मन हरखत॥
साधु वचन मुनि चित हुलास विरहज दुख गलिता।
बासन्तन कुल जुवति मास माधव सुख सरिता॥[2]
कहीं नित केलि रस खेलि वृन्दाविपिन कुंजते कुंज डोलनि बखानी।
पद न परसन्त, निकसन्त वीथिनु सघन, प्रेम विह्वल सुनहिं वेह भानी॥
मगन जित जित चलत छिन सु डगमग मिलत, पंथवन देत प्रति हेत जा
रसिक हित परम आनन्द अवलोकि तन सरस विस्तरित हरिवंश बानी

---

1. सेवक वाणी—प्रकरण १०, पद सं० १४
2. „ „ „ पद सं० १८
3. „ „ „ ४, छन्द २

चोर चित्त ललितादि कोर रधनि निजु निरखत।
थोर प्रीति अन्तर न, भोर दम्पति छबि परसत॥[1]

नित्यविहार के स्थूल वर्णन भी सेवकवाणी में एक दो जगह दृष्टिगत होते हैं किन्तु उन का आधार प्रायः हित चौरासी ही है। ऐसा प्रतीत होता है स्थूल वर्णनो के लिए सेवकजी ने हित चौरासी के पदों को सामने रखा है। यथार्थ में राधामाधव का रूप ही इतना मोहक और सुन्दर है कि उसका ध्यान करते ही प्रत्येक दशा साकार रूप में अन्तर्नेत्रों के समक्ष सजीव हो उठती है—

विपिन निर्तत रसिक रस रासि।
दंपति अति आनन्द वस, प्रेममत्त निश्शंक क्रीड़त।
चंचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरंग व्रीडत॥
झटकत पट, चुटकिनि चटक, लटकत लट मृदुहास।
पटकत पद, उघटत शबद भटकत भृकुटि विलास॥[2]

हितधर्म के सच्चे अनुयायी

सेवकजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने श्री हितहरिवंशजी के सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले भक्तों को दृढ़ता और सच्चे धर्मानुयायी होने का मार्ग बताया। सेवकजी ने अपनी वाणी में दो प्रकरण 'पाके धर्मी' और 'काचेधर्मी' शीर्षक से लिखे हैं। इन दोनों प्रकरणों को पढ़ कर यह निर्णय किया जा सकता है कि दीक्षोपरांत सच्चे धर्मानुयायी बनने के लिए किन लक्षणों का होना अनिवार्य है। जो दीक्षा लेने के बाद भी धर्म के लक्षणों का पालन नहीं कर पाते वे 'काचेधर्मी' कहे जाते हैं। किसी भी सम्प्रदाय में ऐसे अनेक व्यक्ति पाये जाते हैं। 'पाके धर्मी' और 'काचे धर्मी' की सीमा-मर्यादाओं की स्थापना करते हुए सेवकजी के सम्मुख राधावल्लभ सम्प्रदाय की हितनिष्ठा सतत बनी रही है, अतः जो कुछ उन्होंने इन दो प्रकरणों में कहा है वह प्रकारान्तर से सम्प्रदाय का उपास्य और त्याज्य समझा जा सकता है। 'पाके धर्मी' के लक्षण वर्णन करते हुए ग्यारह सवैया छन्द सेवकजी ने लिखे हैं जिनमें राधावल्लभीय तत्व पूर्णरूपेण भरा हुआ है। पहले सवैया में सेवकजी ने कह दिया है कि 'पाके धर्मी' अर्थात् सच्चे राधावल्लभीय वैष्णव के लिए नाना प्रकार के बाह्य साधनों का परित्याग और ज्ञान, ध्यान, व्रत, कर्म में प्रीति का अभाव आवश्यक है। "ज्ञान ध्यान व्रत कर्म जिते सब काहू नाँहि मोहि प्रतीति।" केवल श्यामा-श्याम के चरणों में प्रीति और हरिवंश चरणों का विश्वास यही सच्चे धर्मी की आस्था- बुद्धि का परिचायक गुण है। सच्चा धर्मी इसी मूर भाव की थाती लेकर इस धर्म-मार्ग में प्रवृत्त होता है।

सच्चा धर्मी एक बार हरिवंशजी के धर्म में दीक्षित होने पर कभी भी विधर्मी से सम्बन्ध नहीं करता। शाक्त मतानुयायियों से सदा दूर रहता है। सच्चे वैष्णव को स्वप्न में

---

1. सेवकवाणी—प्रकरण १०—पद सं० १६
2. „ „ „ ७—पद सं ७

कहीं तो छन्द के अनुरोध से शब्द के स्वरूप में विकार आया है। प्रायः अपभ्रंश की शैली पर शब्दों में द्वित्व किया गया है। कहीं बुंदेलखंडी का भी परोक्ष प्रभाव अपना कार्य करता रहा है। कुछ शब्द हमारे उक्त कथन के निदर्शन हैं—

घघन्न, रचन्न, बिवुक्क, भजन्न, उद्दित्त (उदित)
हत्थ, अकत्थ, मनिन्नं, चट्टही, गड्डहीं, आदि।

बिहंडना, मंडना, कायकृतकारं, नर्दा, उल्लास, पुंज, तालं, करनं, भरनं, वनमालं आदि।

अन्तिम शब्दों को व्रजभाषा के अनुकूल कहीं आकारान्त और कहीं संस्कृत के अनुसार अनुस्वारान्त भी किया गया है—

संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ गाथा छन्द में सेवकजी ने कुछ ऐसे भी पद लिखे हैं जो अपभ्रंशकालीन प्राचीन हिन्दी के समकक्ष प्रतीत होते हैं। किन्तु उनमें क्रियापद शुद्ध व्रजभाषा के हैं अतः उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेवकजी ने भाषा और छन्द-विधान परम्परा से विविध रूप में पाया होगा। उसी का निर्वाह आपने अपनी वाणी में करने की चेष्टा की।

रहत सदा सखि संग रास रंग रस रसाल उल्लासं।
लीला ललित रसालं, सम सुर तालं, वरखत सुख पुंजं॥
+ + +
सारासार विवेकी, प्रेम पुंज अद्भुत अनुराग।
हरिजस रस मधुमत, सर्वत्यक्ता दुस्त्यज कुल कर्म॥
कर्म छांड़ि कर्मठ भजे, ज्ञानी ज्ञान विहाय।
व्रतधारी व्रत तजि भजें, श्रवनादिक चितलाय॥

उपर्युक्त पदों में संस्कृत के सारासार, मधुमत्त, सर्वत्यक्ता, दुस्त्यज; कर्मठ, विहाय, श्रवनादिक आदि पद इस तथ्य के द्योतक है कि कहीं-कहीं तत्सम की प्रचुरता आग्रहपूर्वक की गई है।

संस्कृत पद-रचना के साथ उसी पद्धति का निम्नांकित पद द्रष्टव्य है—

प्रकटत प्रेम प्रकाशं, सकल जन्तु शिशरी कृत चित्तं।
गत कलि तिमिर समूहं, निर्मल अकलं उदितजगचन्द्रं।
विशद चन्द्र तारा तनयं शीतल किरनि प्रकासि।
अमृत सींचत मम हृदय सुखमय आनन्दरासि॥[1]

अवधी भाषा की भी कहीं-कहीं हल्की-सी छाया देखने में आती है किन्तु अवधी भाषा का सौन्दर्य सेवकवाणी में कहीं नहीं है।

सुनें प्रपन्न जे भये, अभग्न सर्व के गये,
तिन्हैं मिले प्रसन्न ह्वै न जाति भेद मर्म नये॥

---

1. सेवकवाणी—प्रकरण १२, पद सं० ४।

ब्रजभाषा की पद-रचना में प्रवाहपूर्णता इस शैली से स्वतः आती है गई कि प्रथम पद दूसरे पद को आगे बढ़ाता हुआ और कविता में नाद, ध्वनि, लय की सृष्टि करता हुआ संगीत का मोहक आकर्षण पैदा करता जाता है। सेवकजी ने अपने दोहों में निखार का जैसा रूप प्रस्तुत किया है वह रीतिकालीन बिहारी आदि के परिमार्जन का स्मरण करा देता है।

वचन अधीन सदा रहै रूप समुद्र अगाध।
प्राण रवन सों कत करत, बिनु आगस अपराध॥
चितै कृपा करि भामिनी, लीनें कंठ लगाइ।
सुख सागर पूरित भये, देखत हियो सिराइ॥
सेवक शरण सदा रहै, अनत नहीं विश्राम।
बानी श्री हरिवंश की, कै हरिवंशहि नाम॥[1]

बुंदेलखंडी भाषा का प्रभाव

सेवकजी की भाषा पर बुंदेलखंडी का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है। अपने जन्म-जात संस्कारों के कारण सेवक जी शब्द-चयन में प्रायः बुंदेलखंडी का आश्रय लेते हैं। मुहावरे और कहावतों के प्रयोग में तो उनका आश्रय-स्थल यही भाषा है। कहीं-कहीं मुहावरे अपने देशज रूप में कुछ क्लिष्ट भी हो गये हैं। जैसे—

'बढाई की न्यारी ये बाजो सी मांडत।'
'पंडित मानी ह्वै जीमहि ऐंठत।'
'पूछत रीति भभूकत धावत।'
ऐसे न वैसे रहे मझरेउव पाछिलि यों जुकरी निरभासित।'
'मन उत्तर फेरि चवगुन ठानत।'
'क्रोध रारि फिर मांडत।'
'प्रकृति विरुद्ध जुगति को ठानिवो।'

इनके अतिरिक्त प्रचलित मुहावरों का भी इनकी भाषा में पर्याप्त प्रयोग है। उसमें भी शब्द-विकृति देखकर लगता है बुंदेली के प्रभाव के कारण मुहावरों में प्रायः वे ब्रजभाषा से दूर हट गये हैं।

निम्न किरीट छन्द में बुन्देलखंडी का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है—

'श्री हरिवंश धरम्म प्रगट्ट निपट्ट कै ताको उपमा को नाहि न।
साधन ता को सबै नव लक्षन तच्छिन वेग विचारत जाहि न॥
जो रस रीति सदा अविरुद्ध प्रसिद्ध विरुद्ध तजत्त क्यों ताहि न।
जो पै धरम्मी कहावत हो तो धरम्मी धरम्म समुझ्झत काहि न॥[2]

शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति भी सेवक जी की है। उसके दो कारण हैं, कहीं-

---

१. सेवक वाणी—प्रकरण १६, दोहा सं० ७, ८, ९।
२. „ „ —प्रकरण १३, पद सं० २।

निराली छन्द, दुराई छन्द, करखा, छप्पय, गाथा, तोटक, रड्डा, सवैया, माल मदिरा, पद्मावती, सोरठा, कुण्डलिया, गाहा, किरीट, मल्लिका, दुमिल, रोला, दण्ड नाराच, दोहा।

छन्दों के साथ कहीं कहीं रागों के नाम भी दिये हुए हैं जो संगीत की दृष्टि गेय है।

संक्षेप में, सेवकजी की वाणी राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रारम्भ से पूज्य बुद्धि से देख जाती रही है और उसका पठन-पाठन जिस श्रद्धाभाव से होता है वह इस बात का प्रमाण कि यह वाणी साम्प्रदायिक धार्मिक भावना को व्यक्त और स्पष्ट करने वाली धर्म-वाणी है काव्य के उपकरणों की खोज करने और उनके आधार पर इसका मूल्यांकन करने से इसक गौरव-वृद्धि नहीं होती।

भक्त नामावली में सेवकजी के विषय में कहा है—

सेवक की सम को करै भजन सरोवर हंस।
मन बच कै धरि एक व्रत गावै श्री हरिवंश॥
वंश बिना हरि नाम हू लियो न जाके टेक।
पावै सोई वस्तु को जाके है व्रत एक॥

नाथभट्ट जी ने सेवकजी की प्रशंसा में यह कवित्त लिखा है—

मन क्रम वचन विशुद्ध न कोऊ
सेवक सों हरिवंश उपासक॥
आन धरम्मी सों संग नहीं
हरिवंश धरम्मिन में बसवासक॥
हरिवंश पतिव्रत लै निबह्यो कुलपाइ
रिवसाइ रहैं उपहासक॥
हरिवंश कृपा रसमत्त सदा सोई
नाथ कहै अब या में कहा सक॥

चाचा वृन्दावनदास जी ने भक्त-प्रसाद-वेली में सेवकजी के विषय में यह पद गाया है—

हित मारग पहुँचो निपटि सेवक अति बांकौ।
व्रज अनन्य धरि सुभट हढ़ कियौ परन न झांकौ॥
सकृत रीति मर्मो सुविधि गह्यो गाढ़ो नाकौ।
श्री हरिवंश सुनाम रति बन्यौ आनक डांकौ॥
धर्म कसौटी पर लस्यौ कुन्दन बिन टांकौ।
गुरु में हरि पूरन लखे कियौ इहि कलि साकौ॥
टेक नाम हरिवंश इक नहिं दूजौ झांकौ।
सप्तक कौ मन क्रम वचन बल हित पर धांकौ॥
कुञ्ज गमन अम्बुद उभय भर रूप सुधा कौ।
वृन्दावन हित रूप अलिचाम्रकी तहाँ कौ।

सुभाग लाग पाइ है, प्रशंसि कंठ लाइ है,
सिराइ नैन देखिहै, अभेद बुद्धि मानिये ॥[1]

भाषा में नाद-सौंदर्य की सृष्टि करने की ओर भी सेवकजी का ध्यान रहा है। अतः उनके पदों में लय, ध्वनि, ताल का अनेक स्थलों पर सुन्दर समन्वय हुआ है। छन्दों में नादात्मकता ने केवल संगीत की ही सृष्टि नही की है वरन् छंद में प्रवाह और प्रखर वेग भी भर दिया है। आधुनिक कवि जिस नाद-सौंदर्य को साहित्य का संगीतपरक पहलू स्वीकार करते हैं वह भक्त कवियों में इतनी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है कि उसे देखकर उनके संगीत ज्ञान पर आश्चर्य होता है। विस्तार-भय से हम केवल तीन उदाहरणों से ही अपने कथन की पुष्टि करेंगे—

श्री वृन्दावन नवनव कुञ्ज श्री हरिवंश प्रेम रस पुञ्ज।
श्री हरिवंश करत नित केली, छिन छिन प्रति नव-नव रसझेली ॥
कबहुँक निर्मित तरल हिंडोला, झूलत फूलत करत किलोला।
कबहुँक नवदल सेज रचावहिं, श्री हरिवंश सुरत रति गांवहि ॥
झटकत पट, चुटकिनि चटक, लटकत लट मृदुहास।
पटकत पद, उघटत शबद, भटकत भृकुटि विलास ॥[3]
परसत पुलिन सुलिन गिरा करषत चित सुर घोर।
हरषत हित नित नवल रस बरषत जुगल किशोर ॥
बरषत जुगल किशोर जोर नवकुञ्ज सुरत रन।
गौर चन्द्र चयं चलत डोर कच शिथिल सुभगतन।[4]

अलंकार की दृष्टि से सेवकवाणी मे अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का आधिक्य है। अनुप्रास के तो बहुत ही सुन्दर उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। गुणों में ओज की प्रधानता है। सारी भाषा पर सामूहिक रूप से ओज छाया हुआ है। कहीं-कही माधुर्य की छटा भी है। प्रसाद गुण का प्रायः अभाव है।

सेवकजी को छन्दो का अच्छा ज्ञान था। छन्दों में त्रुटियां तो हैं किन्तु उनकी विविधता एवं प्रसंगानुकूल चयन को देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि छन्द की आत्मा को समझे बिना कोई भी कवि इस रूप में उन्हें यथास्थान ठीक नही बिठा सकता। छन्द को राग के साथ ग्रथित करना संगीत-ज्ञान के बिना सम्भव नही। जो छन्द विषय, भाव, राग, काल सब दृष्टियों से प्रवाहपूर्ण होता है वही श्रेष्ठ माना जाता है। सेवक वाणी में यह गुण आद्योपान्त उपलब्ध होता है। सोलह प्रकरण की इस लघुकाय वाणी में निम्नांकित छन्दों का समावेश हुआ है—

---

१. सेवकवाणी—प्रकरण १५—पद सं० २
२. " " " ४ " ३
३. " " " ७ " ७
४. " " " १० " १६

काहू के आराध्य मच्छ कच्छ नरहरि सूकर
वामन, फरसा धरन सेतु बंधन जु सैल कर ॥
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लायें ।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युतगोत्री जु लड़ायें ॥
नौ गुण तोरि नूपुर गुह्यौ महत सभा मधि रास के ।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति व्यास के ॥
[भक्तमाल नाभाजी—छप्पय सं० ६२ । १२२ ।]

उक्त छप्पय पर टीका कवित्त में कतिपय अन्य विशेषताओं का संकेत किया गया है।

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि,
गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासों खीझियें ।
राजा लैन आयो ऐ पै जायबौ न भायो,
श्री किशोर उरझायो मन सेवामति भीजियें ।
चीरा जरकसी सीस चीकनो खिसिल जाय,
लेहू जो बंधाय, नहीं आप बाँधि लीजियें ।
गये उठि कुंज सुधि आई सुख पुंज,
आये देखियो बंध्यो मंजु कही कैसे मोपै रीझियें ।

भक्तमाल के वार्तिक तिलक में व्यासजी के जीवन के सम्बन्ध में प्रवर्तित कई जन-श्रुतियों का सविस्तर उल्लेख है जिनका संकेत हम जीवनी-विषयक घटनाओं के प्रसंग में आगे करेंगे। टीका के छह कवित्तों में प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं को समेटने का प्रयत्न किया गया है।

श्री भगवत मुदित के रसिक अनन्यमाल में ५६ पदों में व्यासजी का चरित्र लिखा मिलता है। इस चरित्र में व्यासजी का वंश-परिवार, बयालीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आना, हितहरिवंश जी से साक्षात्कार होना, दीक्षा ग्रहण करना आदि पूर्णरूपेण वर्णित है। इस प्रसंग की आवश्यक पंक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"सुकुल सुमोखन बड़े कुलीन, राजा परजा सबै अधीन,
तिनके पुत्र व्यास कुलवन्त, अति गंभीर कोऊ लहै न अन्त ।
\+ \+ \+
ऊधौ मन गुरु करन विचारैं, ऐसो करौं जु पार उतारैं ।
कबहूं कै रैदास सुहावै, कबहू मत कबीर को भावै ॥
कबहूं पीपा पर मन रावै, कबहूं श्री जयदेवहिं भावै ॥
\+ \+ \+
कबहूं वृन्दावन गुन गावैं, रसिक भक्ति में मन ललचावैं ।
ऐसेहि करत ठीक नहिं करो, बरस बयालिस आयुष ढरो ॥
एक दिन नवल बैरागी आये व्यास मिले अति ही हरषाये ।
श्री राधावल्लभ इष्ट बताये नित्य विहार के भेद सुनाये ॥

तृतीय अध्याय

श्री हरिराम व्यास

जीवनवृत्त-विषयक सामग्री का संकेत

ओरछाधीश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास व्रजमंडल के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में हैं। वृन्दावन में हरित्रयी नाम से जो तीन महात्मा विख्यात हैं उनमें एक व्यासजी भी हैं क्योंकि आपका नाम भी हरि से ही प्रारम्भ होता है। व्यासजी के जन्मसंवत्, जन्मस्थान, दीक्षागुरु, सम्प्रदाय तथा कविताकाल आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही अनेक मतवाद प्रचलित रहे हैं। इन मतवादो के मूल में एक ओर यदि अज्ञान कारण रहा है तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक दुराग्रह ने भी तथ्यों पर पर्दा डाला है। फलतः अज्ञानवश तो हरिव्यास देवाचार्य और हरिराम व्यास को एक समझ बैठने की भूल हुई। किन्तु जान-बूझकर हरिराम व्यास जी के दीक्षागुरु, वृन्दावन-आगमन तथा सम्प्रदाय आदि के विषय में कतिपय मिथ्या प्रवाद प्रचार में आये। मिश्रबन्धुओ ने सबसे पहले व्यासजी के विषय में जानकारी प्रस्तुत की थी किन्तु अज्ञानवश वे हरिव्यासदेव और हरिराम व्यास को एक ही समझ बैठे। फलतः "मिश्रबन्धु विनोद' में यह विवरण भ्रान्तिपूर्ण रूप में प्रकाशित हुआ। 'शिवसिंह सरोज' में व्यासजी के विषय में जो विवरण दिया गया था उसी को प्रमाण मानकर शायद मिश्रबन्धुओ ने अपना इतिवृत्त लिखा अतः उसका भ्रामक होना स्वाभाविक ही था।

व्यासजी का वर्णन नाभाजी के भक्तमाल, भगवत् मुदित के रसिक अनन्यमाल तथा उत्तमदासजी के रसिकमाल में विशद विस्तार के साथ मिलता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने भी अपनी वाणियों में व्यासजी का अनेक स्थान पर स्मरण किया है। इन वर्णनो में प्रायः सभी स्थलों पर व्यासजी के सम्बन्ध में राधावल्लभीय होने का उल्लेख है।

नाभाजी के भक्तमाल में व्यासजी के परिचय में जो छप्पय दिया है उसके ऊपर 'श्री हरिवंश जी के शिष्य व्यासजी' यह शीर्षक है।

"भर किशोर दोऊ लाड़िले नवल प्रिया नव पीय।
प्रकट देखियत जगमगे, रसिक व्यास को हीय॥
कहनी करनी करि गयो, एक व्यास इहि काल।
लोक वेद तजि के भजे, राधावल्लभ लाल॥
प्रेम मगन नहिं गन्यो कछु, वरना वरन विचार।
सबनि मध्य पायो प्रगट लै प्रसाद रस सार॥"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में[2] तथा श्री वियोगी हरि ने *ब्रजमाधुरी सार*[3] *में हरिराम व्यास जी के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से वृत्तान्त देने का* प्रयत्न किया है। किन्तु उक्त दोनों महानुभावों ने भी शोधात्मक शैली का अनुसरण न करके परिचयात्मक दृष्टि से ही लिखा है। फिर भी इनके विवरणों से अनेक भ्रान्तियों का परिहार हुआ। आचार्य शुक्ल तथा वियोगी हरि दोनों ने ही यह स्वीकार किया है कि श्री व्यास जी पहले गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे किन्तु बाद में श्री हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। गौड़ीय सम्प्रदाय की बात का प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी कदाचित् अनुश्रुति में यह बात चली आ रही होगी। आज तो व्यासवंशी परिवार अपने को स्वतंत्र समझता है किन्तु माध्य सम्प्रदाय के साथ अपना परम्परागत सम्बन्ध मानता है। वस्तुस्थिति क्या है इसका निर्णय हम आगे की पंक्तियों में प्रमाणपूर्वक करेंगे।

विक्रम सम्वत् २००६ में श्री वासुदेव गोस्वामी लिखित 'भक्त कवि व्यासजी' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रंथ में पहली बार व्यासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया है। लेखक स्वयं व्यासवंशीय गोस्वामी हैं, उनके परिवार में व्यासजी की वाणी का पठन-पाठन परम्परा से होता आ रहा है अतः व्यासवाणी के मर्म को समझने और व्यासजी के व्यक्तित्व को पहिचानने का उनका जन्मजात अधिकार माना जा सकता है। इस ग्रंथ में लेखक ने अनेक भ्रांतियों के निवारण का स्तुत्य प्रयत्न किया है। लेखक अन्वेषक की दृष्टि से तथ्यों और तत्त्वों की शोध करने में प्रवृत्त हुआ है अतः बहुत सी बातों का यथातथ्य रूप उसने पा लिया है। किन्तु व्यासवंशीय होने के कारण जहाँ उन्हें यह लाभ मिला है वहाँ कुछ सीमाओं का बन्धन भी उनके साथ सतत बना रहा है। दीक्षागुरु और सम्प्रदाय आदि के विषय में गोस्वामी ने जो तर्क, युक्ति और प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे न तो व्यासवाणी से सर्वथा मेल रखते हैं और न व्यासजी के विषय में विगत चार शताब्दियों से क्रमानुगत अनुश्रुतियों के साथ सम्बद्ध होते हैं। हम इस प्रकार के निष्कर्षों की परीक्षा करेंगे और यह सिद्ध करेंगे कि विद्वान् लेखक की ये मान्यताएँ प्रमाण या तर्कसम्मत न होकर किसी विशिष्ट आग्रह या पक्षपात पर आधृत हैं। किन्तु हमें यह लिखते हुए हार्दिक सन्तोष

१—भक्त नामावली लीला—श्री ध्रुवदास (बयालीस लीला) पृष्ठ ३१.
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २११-संशोधित संस्करण
३—ब्रजमाधुरी सार—*वियोगी हरि, पृष्ठ ११५-११६, प्रथम संस्करण।*

चलि वृन्दावन दरसन कीजै, श्री हरिवंशहि को गुरु कीजै।
कातिक लगत वृन्दावन श्राये, नवल रसिक संग लिये सुहाये ॥
मन्दिर मांझ गुसाईं पाये, दरसन करिके नैन सिराये।
हितजू प्रभु पाकहि विस्तारहि, व्यास कहहि हम चरचा करहि ॥
तबहि टोकनी धरी उतारी, श्राग बुझाई लगी न बारी।
व्यास कही दोऊ किन कीजै, मुख सों चरचा कर सुख दीजै ॥
करिबो धरिबो करकों कर्म कहिबो-सुनिबो मुख श्रुति मर्म
तब हरिवंश गुसाईं बोले, सब सन्देह हिये के खोले ॥

\+ \+ \+

यह उपदेश व्यास को भायो, दोउ करि जोरि पगन सिर नायो।
शिक्षा वैके दीक्षा दीजै, श्रब तो मोहि श्रापनो कीजै ॥
श्रद्धा लखि निज मंत्र सुनायो, भयो व्यास के मन को भायो।[1]

श्री उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में भी व्यासजी का चरित्र मिलता है। उसका भी शीर्षक है—'श्री हितपदाश्रित व्यासजू को चरित्र'। इस चरित्र में श्री भगवत मुदित के चरित्र से विशेष अन्तर नहीं है। प्रमुख घटनाएं प्रायः ज्यों की त्यों वर्णित हैं। ओरछा-निवास, राजसम्मान-प्राप्ति, साधु-सन्तों की सेवा में परायण रहना, नवलदास वैरागी से भेंट और वृन्दावन आने की तैयारी, वृन्दावन में हितहरिवंश के दर्शन, रसोई बनाते समय पतीली उतारने पर व्यासजी की आपत्ति आदि सभी बातें प्रायः समान ही हैं। एक विशेष घटना जो इस रसिकमाल में मिलती है वह यह है कि एक बार व्यासजी यमुना-स्नान करने गये। वहाँ बाहर से कुछ हरिभक्त आये हुए थे और वे कबीर तथा नामदेव के निर्गुणभक्तिपरक पद गाकर ईश्वराराधन कर रहे थे। व्यास जी निर्गुण भाव के पदों को सुनकर प्रसन्न नहीं हुए और उनके मन में इन भक्तों के प्रति हीन भाव उत्पन्न हुआ। इन विचारों को लेकर जब वे वापस आये तो उनका मन श्री राधावल्लभ जी की सेवा-पूजा में नहीं लगा। तीन दिन तक यही अन्यमनस्कता चलती रही। तब बड़े व्यग्र और खिन्न होकर हितहरिवंशजी के पास पहुँचे और अपने मन का संताप कहा। हरिवंशजी ने कहा कि राधावल्लभ जी की उपासना आराधना में मन न लगने का कारण 'महत् अपराध' होता है। अवश्य ही तुम से कोई महत् अपराध बन पड़ा है। बहुत सोचने के बाद उन्हें याद आया कि तीन दिन पहले यमुना पर कबीर और नामदेव के निर्गुणभावपरक पदों के प्रति उपेक्षा, अवहेना और हीनभाव ही 'महत् अपराध' है। तब उन्होंने अपनी त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त किया तथा भविष्य में सभी साधु-सन्तों तथा सभी भक्ति-पद्धतियों के प्रति उदार बने रहने की प्रतिज्ञा की।

श्री ध्रुवदासजी ने 'भक्त नामावली लीला' में व्यासजी के सम्बन्ध में तीन दोहे लिखे हैं—

1—रसिक अनन्यमाल—भगवत मुदित कृत (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत) प्रतिकाल १७८६ सम्वत्

व्यासजी के पिता का नाम समोखन शुक्ल था। प्राचीन भक्तमालों में इसी नाम का संकेत मिलता है। व्यासजी के जन्मोत्सव की जो बधाइयाँ उपलब्ध होती हैं उनमें भी समोखन शुक्ल का ही नाम पाया जाता है। इसी नाम को कतिपय स्थलों पर सुमोखन, या सुखोमणि भी लिखा गया है जो स्वयं ही नामवाचक संज्ञा शब्द के परिष्कार का प्रयास है। प्रेमदास कृत बधाई में कहा है—

> श्री समोखन शुकल पूछत विप्रवरन मनाइ।
> कहिये जू जाको भाव फल सब जग्म यग्र बनाइ॥
> + + +
> रहे पिसासा सहर ओरछे बास हमारो।
> सकल समोखन नाम विप्रवर यह व्रत धारं॥

व्यासजी के नाम के सम्बन्ध में भी कतिपय भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। यथार्थ में व्यास न तो जातिवाचक नाम है और न पूर्ण नाम। यह तो केवल पाण्डित्यसूचक उपाधि थी जो उनके हरिराम नाम के साथ संयुक्त होकर उपनाम के रूप में प्रयुक्त होने लगी। व्यास-वाणी में हरिराम व्यास शब्द नाम के अर्थ में उपलब्ध होता है। जातिसूचक अल्ल शुक्ल शब्द होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि व्यास शब्द ने इतना अधिक प्रचार पा लिया कि वह मूल-नाम और उपजाति-सूचक शुक्ल शब्द को भी निगीर्ण कर गया। व्यासजी सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। वृन्दावन आने पर गुरुगद्दी पर आसीन होने के बाद गुसाईं या गोस्वामी भी कहलाने लगे थे।

व्यासजी ने अपने परिवार की परम्परा के अनुकूल शैशव में ही संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में उन्हें पुराण और दर्शन-शास्त्र के प्रति अनुराग हुआ। वे बड़े विद्या-व्यसनी पंडित थे। जहाँ कहीं शास्त्रार्थ चर्चा होती, बिना बुलाये भी पहुँच जाते और यथाशक्ति शास्त्रार्थ में भाग लेते। प्रसिद्ध है कि अपनी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए आप काशी गये और वहाँ के पंडितों के साथ शास्त्र-चर्चा करते रहे। वहाँ रहते हुए ही उनकी शास्त्रार्थ-वृत्ति में कुछ परिवर्तन आया और वे शास्त्रार्थी पंडित के स्थान पर भक्ति-भाव की ओर उन्मुख हुए।

व्यासजी अपने पूर्व जीवन में विरक्त साधु नहीं थे। वे सच्चे आस्तिक भाव के सद्-गृहस्थ थे। युवावस्था में उनका विवाह हुआ था, उनकी पत्नी का नाम गोपी कहा जाता है। व्यासजी के परिवार में एक उनका छोटा भाई, बहिन, पत्नी, एक पुत्री तथा तीन पुत्रों की सूचना मिलती है।[1]

दीक्षा-गुरु

व्यास जी के दीक्षा-गुरु के सम्बन्ध में व्यासवंशीय गोस्वामियों ने जो व्यासवाणी प्रकाशित की है उसकी भूमिका में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "जब व्यासजी की अवस्था वैष्णव दीक्षा के योग्य हुई तो इनके पितृदेव ने अपने श्री गुरुदेव के आने पर

१—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ५२।

है कि वासुदेव गोस्वामीजी ने व्यासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वांगीण मूल्यांकन करके हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है।[1]

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज-रिपोर्टों में अनेक बार व्यासवाणी का उल्लेख मिलता है। सम्वत् १६८० की खोज-रिपोर्ट में 'व्यासजी' शीर्षक से जो परिचय दिया हुआ है उसके आधार पर ही कदाचित् परवर्ती इतिहास-लेखकों ने व्यासजी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है।[2]

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अर्वाचीन काल के भक्तमाल ग्रंथों तथा हिन्दी साहित्य के इतिहासों में व्यासजी का वर्णन मिलता है किन्तु उनमें कोई नवीन सूचना न होने से उनका यहाँ उल्लेख करना व्यर्थ होगा। उपर्युक्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर तथा व्यासवाणी के पदों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम व्यासजी की जीवनी संक्षेप में नीचे प्रस्तुत करते हैं।

जन्मस्थान और जन्म-संवत्

श्री हरिराम व्यास का जन्मस्थान निर्विवाद रूप से ओरछा (टीकमगढ़) राज्य माना जाता है। बेतवा नदी के किनारे बसा हुआ यह नगर चिरकाल से हिन्दू राजाओं के शौर्य और पराक्रम का पावन प्रतीक रहा है। राजा मधुकर शाह अपने युग के एक सबल शासक थे उन्हीं के शासनकाल में व्यासजी ओरछा से वृन्दावन आये थे। व्यासजी के जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ विद्वान् व्यासजी का जन्म सम्वत् १५६७ मार्गशीर्ष कृष्णा ५ बताते हैं।[3] किन्तु भगवत मुदित के रसिक अनन्यमाल को यदि प्रमाण माना जाय और उसके आधार पर यह भी स्वीकार किया जाय कि सम्वत् १५६१ में कार्तिक मास में व्यासजी वृन्दावन आये तो आपका जन्म सम्वत् १५४६ ठहरता है क्योंकि बयालीस वर्ष की आयु में आने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री वियोगी हरि ने इनका जन्म सम्वत् स्थिर नहीं किया केवल सम्वत् १६२० के आसपास कविताकाल लिखा है। किन्तु इन दोनों महानुभावों के वर्णन में एक त्रुटि यह है कि वे सम्वत् १६२२ के समीप इनका हितहरिवंश जी से दीक्षा ग्रहण करना मानते हैं जबकि राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रायः सभी प्रामाणिक एवं प्राचीन वाणियों में श्री हितजी का निधन काल सम्वत् १६०६ माना गया है। अतः हम उनके कविताकाल को भी पीछे समझते हैं। संवत् १५६१ में वृन्दावन आने पर कविता की ओर आपकी प्रवृत्ति हुई और उसके बाद आजीवन काव्य-रचना में लीन रहे। व्यासजी के प्रथम बार संवत् १५६१ में वृन्दावन आने का वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ में समन्वय किया है।[4]

---

१. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, प्रकाशक अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

२. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—स० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् १६८०।

३. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ३६।

४. " " " " " पृष्ठ ७३।

२—'अब हम वृन्दावन धन पायौ' शीर्षक पद में—

'चरन सरन राधे मन दीनो श्री हरिवंश बतायौ' के स्थान पर
'मोहनलाल रिझायौ' पाठ बताया जाता है। तीसरे चरण में भी
'हित गुरु टेर जगायौ' को प्रक्षिप्त मानकर
'श्री गुरु टेरि जगायौ' को मूल पाठ माना है।

३—इसके बाद राधावल्लभीय व्यासवाणी से चार पद उद्धृत करके उन्हें भी प्रक्षि
माना गया है।

उपर्युक्त तीनों आक्षेपों के दो उत्तर हैं—एक तो यह स्पष्ट है कि इन पदों
व्यंजना यदि गुरु के स्थान पर हित या श्री पाठ कर दें तो भी किसी गुरु का संकेत तो दे
है। 'व्यासहि हित हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि' में जो भाव-व्यंजना है वह इतनी सश
है कि गुरु या हित के परिवर्तन से सर्वथा दूर नहीं होती। 'जीवन-मूरि' का पता बता
वाला गुरु नहीं तो और कौन हो सकता है। दूसरा उत्तर यह है कि व्यासवाणी की जि
प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख श्री वासुदेव गोस्वामी ने किया है उससे भी प्राचीन प्रति
कैलारस (ग्वालियर) नामक स्थान में उपलब्ध है। इस प्रति के आधार पर पाठ-भेदों का
मिलान करने पर राधावल्लभीय व्यासवाणी के प्रक्षिप्त पदों का निर्णय हो सकता है।
कैलारस वाली प्रति १७६१ सम्वत् की लिखी हुई है अतः उसकी प्राचीनता अन्य प्राप्त
प्रतियों से अधिक ठहरती है। इस प्रति में लिपिकाल इस प्रकार दिया हुआ है—

'इति श्री व्यासजी कृत साखी, विष्णु पद भाषा प्रबन्ध सम्पूर्ण लिख्यते। ज्येष्ठमासे,
शुक्लपक्षे तिथौ नवम्यां गुरुवासरे संवत् १७६१ लिपिकृतं भूधरदासेन, शुभमस्तु। लेखक
पाठकयोश्चिरंतिष्ठतु। 'श्री' ॥"[1]

इस प्रति में वे समस्त पाठ विद्यमान हैं जिन्हें प्रक्षिप्त ठहराया गया है। यथार्थ में
हितहरिवंशजी और व्यासजी के अभिन्न सम्बन्धों को देखकर तथा व्यासवाणी के तात्विक पक्ष
अथवा हार्द का अनुशीलन कर कोई भी निष्पक्ष विद्वान् यह सम्मति नहीं देगा कि व्यासजी का
साम्प्रदायिक भाव राधावल्लभीय के अतिरिक्त कुछ और था। श्री हितहरिवंशजी द्वारा पथ-
प्रदर्शन तो श्री वासुदेव गोस्वामी जी भी स्वीकार करते हैं और दीक्षा-गुरु के स्थान पर सद्गुरु
का स्थान देते हैं—किन्तु निम्नलिखित दोहों के मर्म को हृदयगम करने के बाद कौन सहृदय
यह कहेगा कि व्यासजी के गुरु हितहरिवंशजी नहीं थे—

उपदेश्यौ रसिकन प्रथम, तब पाये हरिवंश।
जब हरिवंश कृपा करी, मिटे व्यास के संस ॥
मोह मया के फन्द बहु, व्यासहि लीनो घेरि।
श्री हरिवंश कृपा करी, लीनो मोको टेरि ॥

---

1. कैलारस वाली व्यासवाणी का पता हमें वृन्दावन निवासी श्री बाबा वंशीदास जी से मिला। उन्होंने स्वयं इस प्रति की नकल ली है। उपर्युक्त उद्धरण भी हमें उन्हीं से प्राप्त हुआ है।

उन्हीं से दीक्षा दिलाने का निश्चय किया परन्तु व्यासजी की निष्ठा पितृचरणों में अधिक थी, अतः आपने पितृदेव से प्रार्थना कर युगल-मंत्र सविधि ग्रहण किया।"[1] अपने उक्त मत के समर्थन में व्यासवाणी के कुछ पद भी उद्धृत किये हैं। उक्त मत का ही समर्थन 'भक्त कवि व्यासजी' के लेखक वासुदेव गोस्वामी ने किया है। किन्तु उन्होंने उक्त प्रश्न को और अधिक विवेकसम्मत तथा तर्काश्रित बनाकर प्रस्तुत किया है। हम उनके अभिमत को प्रस्तुत कर उसके खंडन में अपनी स्थापना आगे लिखेंगे। यहाँ गुरु के सम्बन्ध में एक और मत का उल्लेख करना आवश्यक है। पुलिन बिहारीदत्त ने इन्हें श्री माधव नामक संन्यासी का शिष्य बताया है। लालदासकृत बंगला भक्तमाल में व्यासजी को माध्व-सम्प्रदाय का शिष्य बताकर माधव संन्यासी से दीक्षा प्राप्त कहा है।[2] डा० उमेश मिश्र ने प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय शीर्षक से 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में एक लेख लिखकर हरिराम व्यास को श्री भट्ट का शिष्य सिद्ध किया है। इस प्रकार वे निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्ध होते हैं। फलतः राधावल्लभ, माध्व तथा निम्बार्क तीनों सम्प्रदायों का नाम व्यासजी से जोड़ा जाता है।

यथार्थ में व्यासजी के दीक्षा-गुरु कौन थे और व्यासजी किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे यह प्रश्न हमारी दृष्टि में इधर चालीस-पचास वर्ष से पहले कभी इस रूप में उत्पन्न ही नहीं हुआ था। वृन्दावन में ज्यों-ज्यों सम्प्रदायवाद का दम्भ और मिथ्या मोह बढ़ा, व्यासजी के दीक्षागुरु और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में खींचातानी प्रारंभ हुई। व्यासवंशीय गोस्वामियों ने अपना संबंध माध्व सम्प्रदाय से स्थापित कर लिया है अतः वे हरिराम व्यासजी को भी उसी सम्प्रदाय में दीक्षित सिद्ध करने में सचेष्ट देखे जाते हैं। व्यासवंशीय गोस्वामी राधाकिशोरजी ने अपनी प्रकाशित व्यासवाणी में तथा वासुदेव गोस्वामी ने इस चेष्टा को पराकाष्ठा पर पहुँचाया है। हम नीचे उनकी युक्तियों का सार दे रहे हैं जिन्हें प्रस्तुत करके वे व्यास जी को माध्व सम्प्रदायानुयायी तथा अपने पितृचरण द्वारा दीक्षित सिद्ध करते हैं।

१—राधावल्लभीय व्यासवाणी में प्रकाशित जिन पदों में हितहरिवंशजी का नाम गुरु पद के साथ या गुरु भाव द्योतनार्थ आया है वे प्रक्षिप्त हैं। उदाहरणार्थ—

"व्यासहिं गुरु हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि"

"व्यासहिं हित हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि।"

इन पदों में गुरु शब्द का प्रयोग प्रक्षिप्त है। अपने पक्ष की सिद्धि में हस्तलिखित १८८८ तथा १८९४ सम्वत् की प्रति का फ़ोटोग्राफ़ ब्लाक भी 'भक्त कवि व्यासजी' में ५९ पृष्ठ पर दिया है।

---

१. श्री व्यासवाणी—प्रकाशक—आचार्य श्री राधाकिशोर गोस्वामी, प्राक्कथन पृष्ठ ७।

२. भक्त कवि व्यास जी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ६५।

राधावल्लभ मेरौ प्यारौ
सर्वोपरि सबही कौ ठाकुर सबं सुखदानि हमारौ।
मन वृन्दावन माइक सेवा साइक स्याम उज्यारौ॥

—व्यासवाणी—पद सं० ७१, पृष्ठ ४

श्री राधावल्लभ तुम मेरे हित।
और सबं स्वारथ के संगी, गुर चोपरी दै पोषत पित।
यह मैं जानि सबनि सों तोरी तुम सौं जोरी दै चरनन चित॥
इतनी आस व्यास को पुजवहु ज्यौं चातक पोषत पावस रित॥

—व्यासवाणी—पद सं० २८८, पृष्ठ १४६

व्यासहि यामन जिन गनौ हरिभक्तन को दास।
राधावल्लभ कारने सह्यौ जगत उपहास॥

—व्यासवाणी—साखी—३, पृष्ठ १५१।

राधावल्लभ परम धन व्यासहि कवि गई लूट।
खरचतहू निबटै नहीं भरे भंडार अटूट॥

—व्यासवाणी—साखी—३८, पृष्ठ १५५।

राधावल्लभ श्रुति सुमृति सुमिरौ कह्यौ सुटेरि।
श्री राधावर व्यासके एक गाँठि सौ फेरि॥

—व्यासवाणी—साखी—६०, पृष्ठ १५७।

व्यासजी की भक्ति-भावना का अध्ययन करने पर उसके मूल में राधावल्लभीय साधना-पक्ष की ही प्रधानता दृष्टिगत होती है। यदि उनके मन्तर्मन पर माध्व या निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रभाव होता तो अवश्य ही वे वैष्णव सम्प्रदायों की बाह्याचार एवं आडम्बर-प्रियता के विरुद्ध कुछ न कहते। तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायों में श्री हितहरिवंशजी के सम्प्रदाय को छोड़कर और किसी भी सम्प्रदाय में एकादशी व्रत के विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया। एकादशी का व्रत भागवत धर्म का प्रधान लक्षण बन गया था जिसका सर्वप्रथम जबर्दस्त प्रतिवाद श्री हरिवंशजी ने किया। राधावल्लभ के सिवा किसी और देवी-देवता की पूजा का विरोध भी हितजी के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने नही किया था—यहाँ तक कि गणेश, सरस्वती, शिव, पार्वती आदि किसी भी देवी-देवता की पूजा राधावल्लभ सम्प्रदाय में नहीं होती। श्री हरिराम व्यास ने भी यह मार्ग स्वीकार किया और एकादशी व्रत का तथा गणेश-पूजा का जोरदार शब्दों में खंडन किया। निस्सन्देह यह राधावल्लभीय दीक्षा का ही प्रभाव था जो उनकी वाणी में बड़े ओज के साथ प्रतिध्वनित हो उठा—

मोहि न काहू कौ परतीति।
कोऊ अपने धर्म न सांचौ, कासौं कीजे प्रीति।
कबहुं कि व्यासि उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छीति॥

—व्यासवाणी—पद सं० १०६, पृष्ठ ६०।

श्री हरिवंश कृपा बिना निमिष नहीं कहुं ठौर।
व्यासदास की स्वामिनी प्रगटी सब सिरमौर ।।
स्वामिनि प्रगटी सुखभयो सुर पुहपन बरषाय।
हित हरिवंश प्रताप ये मिले निशान बजाय ।।
व्यास भ्रास हरिवंश की तिनही के बड़ भाग।
वृन्दावन की कुंज में सदा रहत अनुराग ।।
राधावल्लभ व्यास को, इष्ट मित्र गुरुदेव।
श्री हरिवंश प्रकट कियो कुंज महल रस भेव ।।

उपर्युक्त दोहो की भावना को स्पष्ट करने के लिये किसी शाब्दिक व्याख्या की हम आवश्यकता नहीं समझते। प्रत्येक दोहे का पद-पदार्थ हितहरिवंशजी को गुरु घोषित कर रहा है। ये दोहे व्यासवंशीय गोस्वामियों द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी में तथा श्री वासुदेव गोस्वामी लिखित 'भक्त कवि व्यासजी' में भी ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। इन्हें कोई प्रक्षिप्त नहीं कहता। हरिवंश की कृपा से ही अज्ञानांधकार में भटकने वाले व्यासजी के संशय उच्छिन्न हुए। मोह-माया के बंधनों में पड़े हुए व्यासजी को अनुग्रह करके हरिवंशजी ने पुकारा और अपनी शरण में ले लिया। उनके अनुग्रह के बिना पल भर को भी कहीं चैन-विश्राम सुलभ नहीं था। श्री हरिवंशजी की कृपा से ही स्वामिनी (राधा) का दर्शन हुआ। श्री हरिवंशजी ने ही पथप्रदर्शन करके (दीक्षा देकर) व्यासजी को इष्ट देवता राधावल्लभ तक पहुँचाया और कुंज महल का रस अर्थात् नित्यविहार का दर्शन कराया। इन दोहों का शब्दार्थ, गूढार्थ, व्यंग्यार्थ सभी इस तथ्य की ओर संकेत कर रहा है कि व्यासजी को भक्ति-पथ पर आरूढ़ करने के लिए हितहरिवंशजी ने ही उपदेश (मंत्र) दिया था।

स्मरण रहे कि माध्व या निम्बार्क सम्प्रदाय में इष्टदेवता की संज्ञा 'राधावल्लभ' नहीं है। व्यासजी के अनेक पदों में राधावल्लभ को इष्टदेव की भांति कहा गया है। हित-हरिवशजी की साम्प्रदायिक भावना में इस नाम का प्रयोग होता है, अन्यत्र नहीं। अतः यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि व्यासजी को हित जी द्वारा ही इस मार्ग का ज्ञान हुआ था। राधावल्लभ शब्द को भी प्रक्षिप्त मानकर व्यास-वंशीय वाणी में कुछ परिवर्तन किये गये हैं किन्तु परिवर्त्तनों के बावजूद भी बीसियों पदों में यह शब्द अपनी पूरी ध्वन्यात्मकता के साथ उपस्थित है और उसका कोई समाधान नहीं हो सकता। अपने उक्त कथन की पुष्टि में हम श्री राधाकिशोर गोस्वामी द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी से ही कुछ पद उद्धृत करते हैं—

श्री राधावल्लभ को हों भवतो चेरो।
राधावल्लभ कहत सुनत हो मन न नेम जय केरो।
राधावल्लभ वस्तु भूलि हूं कियो अनत नहिं फेरो।
राधावल्लभ व्यासदास के सुनहु श्रवण दै टेरो।

—व्यासवाणी—पद सं० १३०, पृ० ७१।

करते हैं। परन्तु व्यासजी ने तदनुकूल वैराग्य से प्रेम किया और एक अवसर पर जनेऊ के सूत्र से नूपुर बांधकर रास-प्रेम को प्रकट कर मधुर उपासना का परिचय दिया। उन्होंने तिलक और माला का गौरव बढ़ाया और भक्तों को अपना इष्ट समझा। इस परिचय से हमें व्यासजी के माध्वाचार्य के ब्रह्म सम्प्रदायी होने का संकेत मिलता है क्योंकि ये सब तत्व उस सम्प्रदाय के अनुकूल हैं"।[1] बड़े आश्चर्य का विषय है कि विद्वान् लेखक ने नाभाजी के छप्पय में माध्वाचार्य की साम्प्रदायिक भावना ढूंढ़कर व्यासजी को उसका अनुयायी बता दिया। छप्पय का अर्थ स्पष्ट है कि कोई भी अवतार का पूजन क्यों न करे किन्तु हमें (व्यासजी को) अच्युत गोत्री (भागवत वैष्णव) ही इष्ट हैं। माध्वाचार्य नवधा भक्ति की कट्टरता पर बल देते हैं जबकि इस छप्पय में नवधा के प्रति कोई आग्रह नहीं है। अवतारवाद, नवधाभक्ति और सम्प्रदायवाद के विरोध में जो छप्पय है उसे उन्हीं का पोषक कहकर उसका अनर्थ करना है। इस छप्पय का वार्त्तिक तिलक इस सम्बन्ध में पठनीय है —

'संतसेवी श्री व्यासजी ऊर्ध्वपुण्ड तिलक और श्री तुलसी की कंठीमाला पर विशेष आग्रह रखते, माहात्म्य बड़ाई करते तथा हरिभक्तों को आप अपना परम इष्टदेव मानते थे। कोई-कोई श्री भगवत के मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, परशुरामादिक अवतारों की आराधना करते हैं, कोई-कोई श्री कृष्णचन्द्रजी की उपासना करते हैं, किसी-किसी के सर्वस्व सीतापति श्री रामचन्द्रजी हैं, और किसी-किसी को भगवत् की नवधा भक्ति का नियम होता, है परन्तु श्री सुमोखन जी के पुत्र श्री शुक्ल श्रीव्यासजी महाराज तो अच्युतगोत्री (भागवत वैष्णव भगवद्भक्त सन्त) ही को अपना इष्ट जानकर भक्तों ही के लाड़-प्यार उपासना-पूजा किया करते थे।'[2]

द्वैतवाद के समर्थन में व्यासवाणी से जो पद उद्धृत किये गये हैं उनको चरितार्थ करने में खींचातानी से ही काम लिया गया है। शाखाचन्द्र न्याय का तात्पर्य है एक ही चन्द्र अनेक होकर प्रतिभासित होता है। उसमें अद्वैत पहले से है, द्वैत-प्रतीति केवल मिथ्या आभासमात्र है। सेव्य-सेवक भाव द्वारा भी माध्वमत का समर्थन किया गया है। किन्तु सेव्य-सेवक भाव तो विशिष्टाद्वैतावलम्बी भी मानते हैं। तुलसी की समस्त भक्ति-भावना इसी सेव्य-सेवक भाव पर आधृत है। क्या उन्हें द्वैतवादी माध्व कहा जायगा? भक्तिरस के समर्थन में व्यासजी ने जो कुछ कहा है वह माध्वमत के अनुसार न होकर माधुर्य-भक्ति-परक उन सम्प्रदायों के अनुकूल है जो उस समय व्रजमंडल में प्रचार पा रहे थे। विशेषतः राधावल्लभ सम्प्रदाय को ही इसका श्रेय देना चाहिए।

व्यासजी ने रसविहार सम्बन्धी जो पद लिखे हैं उनका अनुशीलन इस तथ्य का समर्थन करता है कि व्यासजी किसी दार्शनिक मतवाद के प्रपंच में पड़ना ही नहीं चाहते थे। श्री हरिवंशजी की सरणि पर ही शुष्क दर्शन को छोड़कर रसस्निग्ध माधुर्य भाव को उन्होंने अपनी भक्ति की पीठिका बनाया था। अतः दो-चार पदों में खींचतानी से द्वैतवादी

1—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी—पृष्ठ १२४।
2—भक्तमाल—नाभाजी, वार्तिक तिलक—पृष्ठ ६०४।

स्याम निवेरघो सबरो झगरो।
निज दासनि के दास को हम, पायो नाम अचगरो।
देवी देवाभूत पितर सबही को फारयो कगरो।

—व्यासवाणी—पद सं० १०७, पृष्ठ ६०।

मरें वे जिन मेरे घर गनेस पुजायो।
जे पदारथ सन्तन के काजे ते मारे सकतनने खायो॥
व्यासदास कन्या पेटहि क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायो॥

—व्यासवाणी—पद सं० १४६, पृष्ठ ८०।

करें व्रत एकादसी हरि प्रताप ते दूरि।
बाधे जमपुर जायंगे मुख में परि है धूरि॥
व्यासहि अब जिन जानियो लोक वेद को दास।
राधावल्लभ उर बसें औरनि ते जु उदास॥
व्यास एक ही बात गहि राधावल्लभ धाम।
और अनेक सु भक्त सों मेरो नाहिन काम॥
तजि कें रसिक अनन्यता विधि निषेध लिये घेरि।
व्यास दास के भावते भक्ति गई ह्वै टेरि।
श्री राधावर ध्याइकें और ध्याइये कौन।
व्यासहि देत बनें नहीं बरी-बरी प्रति लौन॥
रसिक अनन्य कहाइ कें पूजें गृह गन्नेस।
व्यास क्यों न तिनके सदन यमगन करें प्रवेस॥

—व्यासवाणी—साखी के दोहे।

राधावल्लभीय उपासना का सार है नित्यविहार-दर्शन। इसी को रसोपासना नाम से व्यवहृत किया गया है। यह उपासना राधावल्लभ सम्प्रदाय में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई। प्रेमलक्षणा भक्ति का ज्यों-ज्यों विकास और प्रसार होता गया उसके प्रति माधुर्य भाव वाले सभी सम्प्रदायों का अनुराग बढ़ा और निकुंजलीला को इस भक्ति में प्रधानता मिलने लगी। श्री व्यासजी ने इसी भक्ति को अपने काव्य का मेरुदंड बनाया और इसी निकुंजलीला का गान करते हुए नित्यविहारी राधा-माधव की छवि निहारने की कामना में लीन रहे। यदि माध्व सम्प्रदाय का उन पर प्रभाव होता तो वे 'आम्नाय वेद्योहरिः' में आस्था रखकर द्वैतवाद की स्थापना अपनी वाणी में अवश्य करते, या अचिन्त्यभेदाभेद के आधार पर गौड़ीय सिद्धान्त का समर्थन करते। किन्तु व्यासजी की वाणी में ये दोनों दार्शनिक भाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होते।

श्री वासुदेव गोस्वामी ने मध्वाचार्य के ब्राह्म सम्प्रदाय का परिचय देते हुए व्यासजी की वाणी में द्वैतवादी भावना का अनुसंधान किया है। नाभाजी लिखित छप्पय में आपने यह आभास पाया है कि व्यासजी उस समुदाय के उपासक थे जिसमें भगवान् के किसी भी अवतार की आराधना की जा सकती है। तथा जिसमें कोई-कोई नवधा भक्ति का पालन

इस पद में वृन्दावन वास के साथ समस्त आशा-आकांक्षाओं का त्याग तथा हितहरिवंश तथा स्वामी हरिदास के साथ रहने का स्पष्ट संकेत है।

(४) राधा आशा गुनवो मेरी,
हा, हा कुंवरि किशोरी बलि जाऊँ करहु आपनी चेरी।
मोहिं स्याम को डर नहिं, स्यामा छुटत न आसा तेरी॥

—व्यासवाणी—पद सं० २६५, पृष्ठ २५८।

यहाँ राधा को ही इष्ट देवी मानकर राधावल्लभीय पद्धति से उसकी ही शरण की कामना है। स्पष्ट कहा गया है कि "मुझे श्याम का कोई भय नहीं—मैं तो केवल हे राधा! तेरी ही आशा में रहता हूँ।" राधाभक्ति का यह रूप माध्व सम्प्रदाय का विषय नहीं है।

व्यासवाणी के अनेक पदों पर हितहरिवंशजी की हित चौरासी की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। भावना और वस्तु में साम्य होने के साथ अभिव्यंजक पदावली में भी समानता है। यह साम्य हित चौरासी के निरन्तर पाठ द्वारा ही सम्भव हो सकता है। शृंगार-रस-विहार के व्यासवाणी के पद हितजी के नित्यविहार के पदों के इतने समीप हैं कि उन दोनों में कहीं-कहीं व्यावर्त्तक रेखा खींचना कठिन होता है। हमारा यह आरोप नहीं है कि व्यासजी ने इन पदों को ग्रहण किया है किन्तु विचार, भाव और पद्धति के ऐक्य से इस प्रकार की समता सहज स्वाभाविक है। हम दो-चार पद इस प्रसंग में भी उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं।

मंजुलतर कुंज भवन कुसुम पुंज रचित सयन,
विहरत नन्द-नन्दन वृषभान नन्दिनी।
आनन्द कन्द सरदचन्द्र मन्द पवन ताप दवन,
सीतल जल तरल पूर सूर नन्दिनी॥

—व्यासवाणी—पद सं० ३०८।

हितचौरासी का पद है—

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यो श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
+ + +
विलसहि भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुखसिन्धु,
झेलि नवनिकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी।

—हित चौरासी—पद सं० १२।

उपर्युक्त पदों की अभिव्यंजक पदावली में इतनी समता है कि वह व्यासजी की पदरचना पर हित-चौरासी के प्रभाव का स्पष्ट संकेत देती है। रूपवर्णन में व्यासजी और हितजी के पद प्रायः एक से ही प्रतीकों पर आश्रित हैं। इन प्रतीकों का आधार मूलतः राधावल्लभीय उपासना-पद्धति है, माध्व या निम्बार्क नहीं। अतः यह स्वीकार करना होगा कि व्यासजी का श्री हितहरिवंशजी से दीक्षा-गुरु का ही सम्बन्ध था। हो सकता है पहले उन्होंने पितृचरण से कोई धर्म-दीक्षा ग्रहण की हो किन्तु वृन्दावन आने पर वे शुद्ध राधा-

विचारधारा का संधान करना और व्यासजी को दार्शनिक उलझन में फंसाना उनकी रसमयी वाणी के पद-पदार्थ के साथ अन्याय करना है। व्यासजी ने स्पष्ट कह दिया है :—

राधावल्लभ ध्याइकै और ध्याइयं कौन।
व्यासहि बेत बनं नहीं घरी-घरी प्रति लौन ॥
व्यासहि अब जनि जानियो लोक वेद को दास।
राधावल्लभ उर बसे औरन तें जु उदास ॥

श्रीलाड़लीकिशोर गोस्वामी ने व्यासवाणी के प्राक्कथन में एक युक्ति यह उपस्थित की है कि व्यासजी ने श्रीहितहरिवंशजी का नाम पूज्य बुद्धि या गुरु बुद्धि से नहीं किया अपितु स्नेहबुद्धि या सखाभाव से किया है। इसी प्रसंग में आपने श्रीहितहरिवंशजी के निकुंजगमन के सम्बन्ध में लिखा हुआ व्यासजी का पद उद्धृत किया है, उसकी प्रथम पंक्ति है :—

'हुतौ रस रसिकन का आधार'
'बिन हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार।'

इस पद में हितजी को रस और रसिको का आधार माना है। जो आधार होता है वह आधेय की दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है यह स्पष्ट विदित है। जिसे व्यासजी रस और रसिकों का आधार मानते हैं, उसे वे सखा-बुद्धि से कैसे देख सकते हैं? व्यासजी के मन में हितहरिवंशजी के प्रति गुरुभाव था और वे उन्हें श्रद्धापूर्वक ही स्मरण करते हैं। उनके अनेक पदों में यह श्रद्धाभाव स्पष्ट व्यक्त हुआ है।

हम व्यासवाणी से कुछ पद उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि भगवत मुदित ने व्यास चरित्र में जो घटनाएँ लिखी हैं उनका संकेत व्यासवाणी में भी मिलता है अतः भगवत मुदित के व्यास चरित्र को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए।

(१) — हरि मिलिहै मोहि वृन्दावन में।
साधु वचन मैं सांचे जाने,फूल भई मेरे मन में।

—व्यासवाणी—पद सं० २५५।

इस पद में 'साधु वचन साचे जाने' का तात्पर्य नवलदास के वचन से है जिसने इन्हें वृन्दावन जाने की प्रेरणा की थी।

(२) व्यास भक्ति को फल लह्यौ श्री वृन्दावन धूरि।
हित हरिवंश प्रताप ते, पाई जीवन मूरि ॥

—व्यासवाणी—साखी १०५, पृष्ठ ४१५।

इस साखी में वृन्दावन-भक्ति की प्राप्ति में श्री हितहरिवंशजी को ही कारण ठहराया गया है।

(३) अब न और कछु करनै, रहनै है वृन्दावन।
होनो होय सो होय किनि, दिन-दिन आयु घटति झूठे तन।
मिलिहै हित ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन ॥

—व्यासवाणी—पद सं० २५८, पृष्ठ २५६।

सम्मान और पद की दृष्टि से सुदृढ़ थी। युवावस्था में देशाटन करके उन्होंने लौकिक अनुभव में भी पूर्णता प्राप्त कर ली थी। किन्तु इन सब सांसारिक साधनों के होने पर भी उनके अन्तःकरण में आध्यात्मिक शान्ति नहीं थी। शास्त्रों के अध्ययन से मन सन्देह-शंकाकुल हो गया था। वे उस रस की तलाश में भटक रहे थे जो उन्हें शाश्वत शान्ति प्रदान कर सुखी बना सकता। कभी-कभी साधु-संतों द्वारा वृन्दावन-रस की चर्चा सुनते तो उनका मन वृन्दावन की ओर दौड़ता किन्तु गृहस्थ के प्रपंचों से छुटकारा न होने के कारण वृन्दावन आना संभव न हो सका। राधावल्लभीय साधु नवलदास के ओरछा आने पर उनसे प्रेरणा प्राप्त कर आप संवत् १५९१ में प्रथम बार वृन्दावन आये। भगवत् मुदित तथा परमानन्द लिखित चरित्रों के अनुसार वे कुछ समय तक वृन्दावन में रहे और तभी उन्होंने श्री हितहरिवंशजी से दीक्षा ग्रहण की। व्यासजी के वृन्दावनवास के विषय में कुछ विद्वानों का यह मत है कि वे वृन्दावन आने के बाद फिर कभी वापस नहीं गये। किंतु कुछ विद्वान् उनका प्रथम बार आकर लौट जाना भी मानते हैं। यदि उनका दो बार वृन्दावन आना माना जाय तो प्रथम बार वे लंबे अर्से तक वृन्दावन में नहीं ठहर सके और गृहस्थी के भार के कारण वापस ओरछा चले गये यह मानना होगा। ओरछा पहुँचने पर उनके मन में सब कुछ त्यागकर ब्रजवासी होने की उत्कट इच्छा बनी रही और वे इस प्रयत्न में सतत लगे रहे कि गृहस्थ के झंझट से मुक्त हो कर स्थायी रूप में वृन्दावनवास के लिए आ सकें। फलत संवत् १५९१ में वे सबकुछ त्याग कर स्थायी रूप से वृन्दावनवास के लिए आ गये। ऐसी भी किम्वदन्ती है कि महाराज मधुकर शाह उन्हें फिर ओरछा लिवा ले जाने के लिए आये किंतु व्यासजी ने किसी भी शर्त पर वापस जाना स्वीकार नहीं किया।

वृन्दावनवास के समय व्यासजी ने अपने आराध्य देवता का मन्दिर श्री जुगलकिशोर जी के नाम से बनवाया था। इस मंदिर का अवशेष आज भी वर्तमान है। कहते हैं माघ शुक्ल ११ संवत् १६२० को वृन्दावन में जुगलकिशोरजी की मूर्ति की स्थापना आपने ही की थी। इस विग्रह के प्राकट्य के विषय में भी दो मत हैं—कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यासजी इस विग्रह को साथ लाए थे।[1] इस मन्दिर की मूर्ति यवन उत्पीड़न काल में वृन्दावन से पन्ना राज्य में ले जाई गई और अद्यावधि वहीं विद्यमान है।

व्यासजी ने अपने पार्थिव वैभव को विचित्र शैली से आंका और उसका विभाजन भी अद्भुत ढंग से किया। सबसे प्रथम भाग में जुगलकिशोरजी की सेवा-पूजा, दूसरे भाग में मकान और चल-सम्पत्ति रुपया-पैसा, तीसरे भाग में केवल छाप, तिलक और माला। अपने तीनों पुत्रों में इसी क्रम से वैभव का बँटवारा कर दिया। छोटे पुत्र किशोरदास के हिस्से में छाप, तिलक और माला आई। वह स्वामी हरिदास के शिष्य हो गये और उसी भाव में लीन रहने लगे।

1. देखिए—कल्याण—भक्तांक लेख—'भक्त व्यासजी' ले० श्री ब्रज भूषण

वल्लभीय होकर ही उपासना करते रहे। अतः उन्हें हितहरिवंशजी से पुनः दीक्षा-मंत्र लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।

इस सम्बन्ध में जो अनुश्रुति परम्परा से मिलती है उसका भी उल्लेख करना आवश्यक है। कहते हैं कि नवलदासजी के कहने पर जब व्यासजी वृन्दावन आये और हितजी के दर्शनार्थ मन्दिर में गये तब वे रसोई बना रहे थे। व्यासजी ने दर्शन के बाद शास्त्र-चर्चा करने का विचार प्रकट किया। हितजी ने तत्काल चूल्हे से पतीली उतारी और आग बुझाकर बात करने का उपक्रम किया। यह देखकर व्यासजी बोले—"आपने दाल का बर्तन चूल्हे से उतार क्यों लिया। हाथ से रसोई बनाई जाती है, मुख से बोलकर शास्त्र-चर्चा होती है। दोनों इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् कर्म हैं फिर शास्त्र-चर्चा के साथ भोजन सिद्ध करने में अन्तराय कैसा!" यह सुनकर श्री हितहरिवंशजी ने चित्तवृत्तियों की चंचलता और एक विषय पर स्थिर होकर विचार करने की अनिवार्यता उन्हें समझाई और इसी विषय पर एक पद कहा। निम्नलिखित पद में मन की एकाग्रता के साथ व्यासजी की चंचल चित्तवृत्ति का भी व्यंग्यार्थ से भी आभास मिलता है। व्यासजी ने इसे भलीभाँति हृदयंगम किया और अपनी विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति जो चंचल भावना थी उसका परिहार कर श्री हितजी के मार्ग को दृढ़ता के साथ स्वीकार कर जीवन कृतार्थ किया। हितजी का वह पद इस प्रकार है :—

> यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनें सचु पायौ।
> जहाँ तहाँ विपति जार जुवति लौं प्रकट पिंगला पायौ॥
> द्वै तुरंग परि जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
> कहि धौं कौन अंक परि राखै जो गनिका सुत जायौ॥
> (जैश्री) हित हरिवंश प्रपंच वंच सब काल व्याल को खायौ।
> यह जिय जान श्याम श्यामा पद कमल संगी शिर नायौ॥

—हित चौरासी—पद सं० ५६।

इस पद में वर्णित कथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रसिद्ध वाणी-ग्रंथों में मिलती है। यदि यह कपोल-कल्पित होती तो इसका इतना अधिक उल्लेख क्यों होता?

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि व्यासवाणी के अनुशीलन तथा परम्परागत ऐतिह्य के पर्यालोचन से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि व्यासजी के दीक्षा-गुरु या 'गुरु' श्री हित-हरिवंशजी थे। गोस्वामी श्री वासुदेवजी उन्हें दीक्षा गुरु नहीं मानते और सद्गुरु या गुरुवत् स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है—"यह सत्संग व्यासजी को कदाचित् संवत् १५९१ से उपलब्ध हुआ और हितहरिवंशजी की विद्वत्ता, काव्यरचना एवं भजन रीति का तभी से उनपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उन्हें 'गुरुवत्' मानने लगे।"[1]

वृन्दावन-आगमन

श्री व्यासजी संस्कृत भाषा के पूर्ण पंडित थे। उनके वंश में चिरकाल से पौरोहित्य का कार्य होता चला आ रहा था। ओरछा के महाराज उनके शिष्य थे। उनकी स्थिति धन-धान्य

---

1. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ७१।

बातों का खण्डन किया है जिस रूप में कबीर ने किया था। कहीं-कहीं तो भाववस्तु में ही नहीं अपितु भाव-व्यंजना तक में साम्य है। वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रेममार्ग में वर्णावर्ण का विचार नहीं किया जाता; सब में एक ही आत्मा है और सबमें प्रसाद का महत्व एक समान है :—

प्रेम मगन नहिं गन्यो कछू बरनावरन विचार।
सबनि मध्य पायो प्रकट ले प्रसाद रससार॥

व्यासजी अपनी भक्ति-साधना में इतना सुदृढ़ विश्वास रखते थे कि भगवान् से भी कभी-कभी रूठ जाते और यह मानकर बैठे रहते कि यदि मेरी भक्ति-भावना निष्ठामयी होगी तो भगवान् स्वयं पसीजेंगे और कृपा करेंगे। इस भावना से सम्बन्ध रखने वाली अनेक अलौकिक चमत्कारपूर्ण बातें किम्वदन्ती के रूप में फैली हुई हैं। उनके सत्यासत्य का निर्णय न करके केवल भक्त की भावना को व्यक्त करने के लिए हम एक-दो अनुश्रुतियों का यहाँ प्रासंगिक रूप से उल्लेख करना चाहते हैं।

एक दिन व्यासजी अपने आराध्यदेव श्री युगलकिशोरजी के जरकसी पगड़ी बाँध रहे थे। पगड़ी इतनी फिसलती थी कि बार-बार प्रयत्न करने पर भी सिर पर टिकती ही न थी। अनेक बार प्रयत्न करने पर भी जब वे पगड़ी बाँधने में सफल न हुए तो निराश होकर झुँझलाहट में कह बैठे—'मुझसे बँधवाना है तो ठीक से बँधवा लो नहीं तो, लो यह पगड़ी धरी है स्वयं जैसी बँधे, बाँध लो'—और यह कह कर पूजागृह से बाहर निकल चबूतरे पर जा बैठे। कुछ देर बाद स्मरण आया तो दौड़े हुए फिर मन्दिर में पहुँचे तो क्या देखते हैं कि ठाकुर के सिर पर बड़ी सुन्दर पगड़ी बँधी हुई है।[1]

ऐसी ही दूसरी घटना वंशीधारण की है। एक बार व्यासजी श्री ठाकुर जी के हाथ में वंशी धारण करा रहे थे। वंशी मोटी थी, ठाकुरजी की छोटी-छोटी अंगुलियों की पकड़ में न आती थी। बार-बार प्रयत्न करने पर उन्होंने वंशी को धरती पर पटक दिया और बड़े उदास होकर दिन भर बिना खाए-पीए पड़े रहे। सायंकाल मन्दिर आने पर देखते हैं कि उन्हीं नन्हें से हाथों में वही मोटी वाली वंशी ठाकुरजी धारण किये हुए हैं।[2]

अपने सेवक उमेद को ब्रज रस देकर कुष्ठरोग निवारण करना भी एक प्रसिद्ध चमत्कार-पूर्ण घटना है। इसी प्रकार शालग्राम के विग्रह को सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में केवल अपने व्यंग्य वाण से परिवर्तित करना भी प्रसिद्ध है। जुगलकिशोर जी के विग्रह का कूप में से प्राकट्य भी आपके चमत्कारों के अन्तर्गत लिखा मिलता है। संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि व्यासजी ने अपनी सेवा, पूजा, भगवत्‌निष्ठा और उदार चरित्र से तत्कालीन समाज को मुग्ध किया हुआ था। आपका चरित्र इतना उदात्त और महान् था कि जो कोई आपके सम्पर्क में आता प्रभावित हुए बिना न रहता।

---

१. भक्तमाल—नाभाजी, प्रियादास की टीका के कवित्त सं० ३५६ तथा ३६१।
२. " " " " " " ...

व्यासजी का चरित्र और स्वभाव

वैष्णव भक्तों में व्यासजी विशाखा सखी के अवतार माने जाते हैं। विशाखा सखी राधामाधव मिलन में सहयोग देकर राधा का अनुगमन करती है। उसका स्वभाव प्रेम, ममता, दया और वात्सल्य से परिपूर्ण है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट उसे छू भी नहीं गये। व्यासजी का जीवन भी इसी प्रकार के उदात्त गुणों की खान है। नाभाजी ने तो व्यास के इष्ट 'भक्त' ही माने हैं जो इस बात का प्रमाण है कि वे भक्तों अर्थात् साधु-संतों की पूजा को ही सच्ची ईश्वर-पूजा समझते थे। व्यासवाणी में भक्तों की बड़ी महिमा गाई गई है। हरिजनों और भक्तों को वे अपना प्राणधन, जीवन-धन कहकर पुकारते हैं। भक्तमाल की टीका में प्रियादासजी ने व्यासजी की भक्तिनिष्ठा व्यक्त करने वाली कई घटनाएँ लिखी हैं। एक प्रमुख घटना है कि व्यासजी की कन्या के विवाह के अवसर पर जो पकवान तैयार हुआ उसे देखकर व्यासजी के मन में आया कि क्या ही अच्छा हो कि साधु-संत इसका प्रसाद ग्रहण करें। बरातियों की उदरपूर्ति से तो यह व्यर्थ ही जायगा। ऐसा सोचकर वे साधुओं की बाट जोहने लगे। इसी बीच साधुओं की एक टोली उधर आ निकली और व्यासजी ने बड़े प्रेम और सम्मान के साथ समस्त पकवान उन्हें परोस दिया। घरवालों के समझाने की उन्होंने कोई परवाह नहीं की और अपनी साधुनिष्ठा का पूरी तरह निर्वाह किया।

व्यासजी अपने अतिथि-सत्कार के लिए विख्यात थे। उनके यहाँ से कभी कोई साधु-महात्मा अप्रसन्न होकर नहीं लौटता था। वे तन, मन, धन से अतिथियों का आदर-सम्मान करते थे। प्रसाद का माहात्म्य तो उनके लिए स्वर्ग और अपवर्ग से भी बढ़कर था। प्रियादास जी ने प्रसाद-महिमा से सम्बद्ध एक कथानक भक्तमाल की टीका में लिखा है। इस कथानक में व्यासजी की प्रसाद-निष्ठा इस कोटि तक पहुँच गई है कि साधारण समाज में उसे कदाचित् अनुचित भी ठहरा दिया जाय किन्तु सच्चे भक्त सामाजिक बंधनों की तृणमात्र भी परवाह नहीं करते।[1]

एक ऐसी भी किम्वदन्ती प्रचलित है कि व्यासजी ने एक बार भंगिन की डलिया में से प्रसाद की एक पकौड़ी उठाकर खा ली और इस प्रकार प्रसाद-प्राप्ति का अमित आनन्द प्राप्त किया। प्रसाद को वे सदा परम पवित्र और आराध्यवत् पावन मानते थे। साखी में उन्होंने लिखा है—

> स्वान प्रसादहि छू गयौ, कौवा गयौ बिटारि।
> दोऊ पावन व्यास कैं, कहं भागौत विचारि॥
> व्यास जाति तजि भक्ति करि, कहत भागवत टेरि।
> जातिहि भक्तिहि ना बनै, ज्यों केरा ढिग बेरि॥

व्यासजी ने भक्ति के क्षेत्र में कबीर की विचारधारा का सामाजिक मान्यता-मर्यादाओं के लिए बहुत अनुगमन किया है। वे इस क्षेत्र में ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, वर्ण-व्यवस्था, दम्भ-पाखण्ड किसी को भी स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ठीक उसी रूप में इन सब

---

1. भक्तमाल—नाभाजी, प्रियादास जी की टीका, कवित्त सं० ३६०-३६३।

महिमा, निज दृढ़ता, संत महिमा, भक्ति की श्रेष्ठता, भक्त-प्रशंसा, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, तृष्णा निवृत्ति, कलितरण उपाय, व्यासजी की साखी आदि को स्थान दिया है। इस विभाग को उन्होंने अपने विभाजन द्वारा ३७ प्रकरणों में बाँटा है। शृङ्गार रस-विभाग में ७१ प्रकरण बनाये हैं। अपनी रुचि के अनुसार पदों को उपयुक्त शीर्षकों के भीतर समेटा है।

श्रीहित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा द्वारा प्रकाशित 'व्यासवाणी' पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में छपी है। पूर्वार्द्ध में 'सिद्धान्त रस' सम्बन्धी पदों का संकलन है। इसमें २६४ पद और १४६ साखी (दोहे) हैं। उत्तरार्द्ध में शृंगार रस-विहार के पद हैं। पदसंख्या ३०१ है। इस व्यासवाणी की भूमिका में पद-संख्या एक सहस्र तक लिखी है। इसके मुद्रण में उपलब्ध चार हस्तलिखित प्रतियों का संपादक ने उपयोग किया है। हमारी सम्मति में यदि ७५६ से अधिक पद होते तो प्रकाश में अवश्य आते। हाँ, दस-बीस पदों का न्यूनाधिक होना तो संभव है।

तीसरी प्रकाशित व्यासवाणी श्रीवासुदेव गोस्वामी की 'भक्तकवि व्यासजी' नामक ग्रंथ में संलग्न है। इसमें कुल पदसंख्या ७५७ है। रास पंचाध्यायी के ३० पद पृथक् हैं। साखी के १४८ दोहे भी इनसे पृथक् ही हैं। संदिग्ध रचनाओं में ५ पदों पर लेखक ने विचार व्यक्त किये हैं। यह ठीक ही है कि कुछ पदों में हस्तलिखित प्रतियों में साम्प्रदायिक भावना के आधार पर प्रतिलिपि करते समय परिवर्तन होता रहा है। श्री राधाकिशोर गोस्वामी वाली व्यासवाणी में जो पाठ हैं उनमें सबसे अधिक परिवर्त्तन किये गये हैं। ये परिवर्त्तन किसी प्राचीन प्रति के आधार पर किये गये हैं, ऐसा कोई उल्लेख कहीं नहीं किया गया। वासुदेव गोस्वामी ने परिवर्तित पाठों का संकेत दिया है। कुछ स्थलों पर गोस्वामीजी ने ऐसे पाठ-परिवर्त्तन किये हैं जो प्राचीन प्रतियों से मेल नहीं खाते। संभव है गोस्वामीजी के पास जो हस्तलिखित प्रति है उसमें वे ही पाठ हों किन्तु हमने जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं और उनसे पाठ मिलाने पर वासुदेव गोस्वामी जी के पाठों से भेद पाया है। उदाहरणार्थ हम दो-एक पद उद्धृत करते हैं—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।
श्रीगुरु मुकुल प्रताप व्यास यह रस पायो मनहाद।

—व्यासवाणी—पद सं० २१ पृष्ठ ११८।

यह पद प्राचीन हस्तलिखित प्रति में हमें दूसरे ही रूप में लिखा मिला—"व्यास प्रीति परतीति रीति सौं जूठन ते गुन नाद।' इसमें व्यासजी की प्रसाद-निष्ठा अधिक व्यक्त हो सकी है। हमारी सम्मति में यही प्राचीन और शुद्ध पाठ है।

अब मैं वृन्दावन धन पायो।
चरण-शरण दोनों मन राधे मोहनलाल रिझायो।

—व्यासवाणी—पद सं० २३१ पृष्ठ २४६।

उक्त पद भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के अनुसार निम्न प्रकार है—'चरण-शरण दोनों मन राधे श्री हरिवंश बतायो।' यह पाठ व्यासवंशीय श्रीराधाकिशोर गोस्वामी ने भी अपनी व्यासवाणी में स्वीकार किया है। श्री वासुदेव गोस्वामी ने किस आधार पर इसे

निकुञ्ज-गमन

व्यासजी को बहुत लम्बी आयु मिली थी। उन्होंने अपनी वाणी में जिन समसामयिक साधु-सन्तों का वर्णन किया है उसको देखकर लगता है कि उन सबके निधन के बाद व्यासजी ने निकुञ्ज लीला में प्रवेश किया। सभी की मृत्यु पर शोकार्त होकर व्यासजी ने पद लिखे हैं। गुरु-शिष्य वंशावली के अनुसार व्यासजी की निधन तिथि सम्वत् १६८९ ज्येष्ठ शुक्ला ११ सोमवार पड़ती है। ध्रुवदासजी ने अपनी भक्त नामावली में व्यासजी का उल्लेख किया है अतः भक्त नामावली की रचना से पूर्व उनका निधन अवश्य हो चुका था। ध्रुवदासजी और व्यासजी समसामयिक थे। नाभाजी के भक्तमाल में जो छप्पय व्यासजी के सम्बन्ध में लिखा है यदि उसका काल निर्धारित हो सके तब भी व्यासजी के मृत्यु सम्वत् पर प्रकाश पड़ सकता है किन्तु वह भी विवादास्पद है। वियोगी हरिजी ने व्यासजी का रचनाकाल १६५५ सम्वत् तक ठहराया है, इसी के आस-पास मृत्यु-सम्वत् भी हो सकता है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं तथा प्रमाणों के आधार पर वासुदेव गोस्वामी ने भक्त कवि व्यासजी का मृत्यु सम्वत् १६७५ के पूर्व माना है।[1] सम्वत् १६७५ से पूर्व कहने से किसी निश्चित सम्वत् पर पहुँचना कठिन है अतः सम्वत् १६५० से १६५५ के मध्य ही इनकी मृत्यु माननी चाहिए।

व्यासजी के ग्रंथ

व्यासजी की रचनाओं के सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करने पर व्यास-रचित पद, दोहे, साखी उपलब्ध होते रहते हैं। व्यासवाणी नाम से जो ग्रंथ प्रकाशित हुआ है वह भी तीन रूपों में है और उसमें भी पदों की संख्या में अन्तर है। व्यासजी संस्कृत भाषा के भी पंडित थे। उनके नाम से दो ग्रंथ संस्कृत के भी विख्यात हैं किन्तु उपलब्ध न होने के कारण उनकी विषय-वस्तु की मीमांसा करना सम्भव नहीं है। ये संस्कृत ग्रंथ 'नवरत्न' और 'स्वधर्म पद्धति' नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में 'रागमाला' नामक एक संगीतशास्त्र का ग्रंथ है। यह ग्रंथ भी अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रंथ के आधार पर व्यासजी का संगीतशास्त्र-विषयक ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके ग्रंथों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

१. व्यासवाणी—७५८ पद और १४८ दोहे। प्रकाशित।

२. रागमाला (अप्रकाशित) ६०४ दोहे संगीतशास्त्र।

३. नवरत्न और स्वधर्म पद्धति (संस्कृत, अप्राप्य)

व्यासवाणी

व्यासवाणी की विषय-वस्तु का विभाजन प्रकाशित प्रतियों में संपादक महोदयों ने स्वरुचि के अनुसार किया है। उपर्युक्त शीर्षकों का प्रयोग भी संपादकों की अपनी मान्यता पर ही निर्भर करता है। व्यासवंशीय श्री राधाकिशोर गोस्वामी ने समस्त व्यासवाणी को दो भागों में विभक्त किया है—सिद्धान्त-रस-विषय तथा शृङ्गार-रस-विषय। सिद्धान्तरस में स्तुति,

---

१. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ १०४।

कुंज केलि मीठी है, विरह भक्ति सीठी ज्यों आग।
व्यास विलास रासरस पीवत, मिटै हृदय के दाग ॥

व्यासवाणी–पद सं० ८१, पृष्ठ २१२ ॥

माधुर्य भक्ति के लिए राधाकृष्ण की कैशोर लीलाओं का ही वर्णन स्वीकार कि जाता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्यकिशोर उपासना का ही विधान है। व्यासजी ने अपने पदों में नित्यकिशोरी राधा और नित्यकिशोर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है राधा के रूप-चित्रण में व्यासजी की पदावली अत्यधिक अलंकृत तथा अभिव्यंजना रीतिकाल कवियों के समान है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का सारा प्रपंच उसी शैली पर पल्लवि हुआ है। इस प्रसंग में राधा का नखशिख भी व्यासजी ने शृंगार-पद्धति पर विशद विस्त से उपस्थित किया है। राधा के नेत्रों का जैसा वर्णन व्यासजी के पदों में दृष्टिगत होता है वै सूरदास और हितहरिवंशजी को छोड़कर और कहीं नहीं मिलता—

निरुपम राधा नैन तुम्हारे।
बंक विसाल, स्याम-सित लोहित, तरलित तुंग अनियारे।
अंजन छवि, खंजन मदगंजन, मीनि पानि दुरि हारे ॥

\+ \+ \+

डरत न हरत परायो सर्वस, व्यास प्रान धन वारे ॥

(उत्तरार्द्ध) पद सं० ३५८, पृष्ठ २४१।

चंचल क्रीड़ाशील नेत्रों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नैन खग उड़िबे कौं अकुलात।
उरजन डर बिछुरे दुख मानत, पल पिंजरा न समात।
घूंघट विपट छांह बिनु विहरत, रविकर कुलहि डरात ॥
रूप अनूप चुनो, चुनि निकट अधर सर देखि सिरात।
धीर न धरत, पीर कहि सकत न, काम बधिक की घात ॥
व्यास स्वामिनी सुनि करुना हँसि, पियके उर लपटात।

(उत्तरार्द्ध) पद सं० २६०, पृष्ठ २४२।

नेत्रों की मनोज्ञता, विशालता और चपलता के वर्णन तक ही व्यासजी ने अपने कथन की इति नहीं की है वरन् नेत्रों के प्रभाव, आकर्षण और मोहक धर्म की बड़ी सटीक योजना उनके अनेक पदों में दृष्टिगत होती है।

राधा के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए व्यासजी ने अलंकार-शास्त्र—समात उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जैसे इतिश्री कर दी हो। मुख-सौन्दर्य के साथ उसका मृदुहास, दन्तछवि, कपोल-आभा और गौरवर्ण मिश्रित रक्तिम कान्ति का वर्णन प्रस्तुत करके शृंगार के बाह्य उपकरणों का चमत्कार सा खड़ा किया है। कहीं-कहीं तो रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से पूरे मुख को विशाल सागर बनाकर नाना प्रकार के उपमानों से प्रस्तुत कर विचित्र रूप दे डाला है—

परिवर्तन किया, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया।

धर्म दुर्यो कलि दई दिखाई।
व्यासदास के सुकृत सांवरे श्री गोपाल सहाई।
—व्यासवाणी पूर्वार्द्ध पद सं० २३५, पृष्ठ ११४।

इस पद का पाठ भी निम्न प्रकार है—

'व्यासदास के सुकृत सांवरे श्रीहरिवंश सहाई।' व्यासवंशीय वाणी में भी हरिवंश ही पाठ है। वासुदेवजी ने परिवर्त्तन का कोई कारण या प्रमाण नहीं दिया।

उक्त परिवर्त्तनों की विवेचना न करके हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि व्यासजी की रचनाओं में परिवर्त्तन हुए हैं, और वर्तमान काल की प्रकाशित प्रतियों में भी अपनी रुचि के अनुसार परिवर्त्तन करने का अधिकार संपादक महोदय स्वयं प्राप्त कर लेते हैं जो प्राचीन संत-साहित्य के साथ अन्याय है।

व्यासजी का समस्त उपलब्ध साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में उनकी समस्त माधुर्य-भक्तिपरक सैद्धान्तिक पदावली को स्थान मिलेगा जिसमें राधा, कृष्ण, सहचरी, वृन्दावन, निकुंजलीला, नित्यविहार, राधावल्लभ जुगलकिशोर-उपासना आदि का वर्णन है। इसमें ही हम उन पदों को स्थान देंगे जिनके लिए शृङ्गार रस नाम व्यवहृत किया गया है। यथार्थ में व्यासजी की शृङ्गार-भावना नायक-नायिका भेद की लौकिक शृङ्गार-रचना नहीं है। उनका शृङ्गार तो माधुर्यभक्ति का तात्त्विक विवेचन है जिसे हम सिद्धान्त या रसदर्शन का प्रधान अंग मानते हैं। दूसरे भाग में उनके वे पद या साखियाँ आती हैं जिनमें उन्होंने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सांसारिक दृष्टि से वस्तुओं का विश्लेषण-विवेचन किया है। इनमें व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है। सूक्ष्म, सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यासजी ने अपनी बात कही है।

व्यासवाणी का प्रतिपाद्य

व्यासवाणी का प्रतिपाद्य माधुर्यभक्ति और राधाकृष्ण की निकुंजलीला का वर्णन है। इस मुख्य विषय की स्थापना के लिए भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधक अंग, भक्ति-पथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्तों की मन:स्थिति और विविध कोटियों का वर्णन भी किया गया है। माधुर्य-भक्ति का सार है राधाकृष्ण के नित्यविहार का शृंगारमयी पद्धति से सांगोपांग वर्णन। राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी इन चारों को प्रेम द्वारा एक ही सूत्र में अनुस्यूत करके निकुंजलीला का वर्णन विधेय माना जाता है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में तो इसी को प्रधान समझा जाता है, यही वृन्दावन रस है। यही प्रेम लक्षणा-भक्ति का चरम लक्ष्य है। व्यासवाणी में इसी को प्रमुख रूप से गाया गया है।

माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की कुंजलीलाओं को संयोग और वियोग दोनों रूपों में स्वीकृत किया गया है। चैतन्य सम्प्रदाय की उपासना वियोग-पक्ष को प्रबल मानकर चली है। निम्बार्क और राधावल्लभ सम्प्रदाय में संयोग पक्ष को ही स्वीकृत किया गया है। व्यासजी ने संयोग को कुंजकेलि का प्राण माना और विरह-पक्ष की भक्ति को सीठी ठहराया है।

उपरिलिखित दोनों पदों में राधाकृष्ण के प्रेम तथा उनके समस्त क्रिया-कलाप को स शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यह सहज शब्द प्रेम लक्षणा भक्ति का पारिभाषिक श सा बन गया है। यहाँ सहज का तात्पर्य है तन और मन की अकृत्रिम, स्वाभाविक, अनाया अप्रयत्न होने वाली क्रिया। राधा के मन में कृष्ण के प्रति जो अनुराग है या कृष्ण के में राधा के लिए जो प्रेम-भाव है उसकी प्रेरक कोई स्वार्थ-बुद्धि, स्वसुख-कामना वासना नहीं है। कृष्ण राधा के प्रति नैसर्गिक रूप से आकृष्ट हैं और राधा भी कृष्ण सहज-भाव से चाहती हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस 'सहज' शब्द को प्रेमानुभूति प्रबल व्यंजक शब्द माना जाता है। जो प्रेमभाव सहज नहीं, जिसमें किसी भी प्रकार कामना, वासना या स्वार्थ-भावना है वह राधाकृष्ण-प्रेम के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है।

राधावल्लभीय उपासना-पद्धति में (जैसा कि हमने सिद्धान्तविवेचन में लिखा है राधा ही इष्ट और आराध्या है। कृष्ण भी उसकी उपासना करते हैं। यदि दोनों में दाम्पत्य सम्बन्ध भी माना जाय तो कृष्ण आज्ञानुवर्ती पति हैं जो प्रतिक्षण राधा के मुखारविन्द की ओर ताकते रहते हैं। दोनों का कभी वियोग तो सम्भव ही नहीं क्योंकि यहाँ नित्य-बिहार की कल्पना है। उनका कभी वियोग नहीं होता और जो मान आदि कारणों से क्षणिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह भावी मिलन में प्रगाढ़ता उत्पन्न करने की सहेतुक प्रक्रिया मात्र है। ऐसी भावना को व्यक्त करने वाले काव्य में शृङ्गार-रसान्तर्गत विप्रलम्भ शृङ्गार का अभाव तो होगा ही, किन्तु संयोग शृंगार के सब हाव-भाव और लौकिक नायिका-भेद की सभी अवस्थाओं के वर्णन करने का भी अवसर नहीं आ पाता। फलतः उनकी वाणी में स्वाधीनपतिका नायिका के चित्रण की विशेषता रहती है। "श्रीकृष्ण अनुकूलरति के रूप में प्रकट होते हैं और वाणी में नायिका के संयोग शृंगार की व्यंजना विशेष रूप से पाई जाती है।"[1]

शृंगार रस के पूर्ण परिपाक के लिए काव्यशास्त्र में जिन सात्विक भावों, संचारी भावों तथा हाव-भावादिकों का वर्णन आवश्यक होता है, व्यासजी ने अपनी वाणी में उनका यथास्थान समीचीन पद्धति से निर्वाह किया है। हाव-भावों में लीला, किलकिंचित्, विभ्रम, मद, चकित, विच्छित्ति, कुट्टमित आदि का अनेक पदों में सुन्दर वर्णन मिलता है।

लीला

कुंवरि कुंवर को रूप भेषधरि, नागर पिय पहं आई।
प्यारिहि हरिन मिले सकुची जिय उपजी तब इक बुद्धि उठाई॥
हौं वृन्दावन चन्द छबीलो, राधापति सुखदाई।
तू को प्रिया-प्रिया कह टेरत, तजि बन भूमि पराई॥
(उत्तरार्द्ध) पद सं० ११३, पृष्ठ २७५।

कुट्टमित

स्याम काम बस चोली खोलत, आतुर निसि के भोरें।
डांडी छाड़ि करत परिरम्भन, चुंबन बेत निहोरें॥
सैननि बरजति पियहिं किसोरी, दे कुच कोर अकोरें॥

१—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ सं० १५५।

चन्द्र बिम्ब पर बारिज फूले।
तापर फनि के सिर पर मनिगन, तर मधुकर मधु मद मिलि भूले।
तहाँ मीन, कच्छप, सुक खेलत, बंसिहि देखि न भये बिकूले॥
बिद्रुम बाप्यो मैं पिक बोलत, केसरि नखपद नारि गफूले।
सर में चक्रवाक बक ब्यालिनि, बिहरत बैर परस्पर भूले॥
रंभा सिथ बीच मनमथ धज, तापर गान धुनि सुनि मुख मूले।
सबही पर धनु बरषत हरषत, सर-सागर भये जमुना कूले॥
पूजो आस स्याम चातक की, स्थावर जंगम भये बिमूले॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ७०, पृष्ठ २४७।

व्यासजी ने राधा का वर्णन राधावल्लभीय पद्धति के अनुसार उसे स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित मानकर ही किया है। परकीया भाव से राधा का वर्णन करने वाले चैतन्य मत में राधा की अतृप्त लालसा और उद्दाम वासना इतनी प्रखर हो जाती है कि उसे कहीं-कहीं घोर असंयम के पंक में फँसा हुआ देखकर साधारण पाठक का मन उद्विग्न होने लगता है। व्यासजी ने इसीलिए अपनी राधा को परकीयात्व से तो सर्वथा दूर ही रखा है। नित्य-मिलन के कारण उसके वर्णन में स्वकीयात्व का संधान अवश्य हो सकता है। संयोग श्रृंगार के इतने अधिक वर्णन व्यासवाणी में उपलब्ध होते हैं कि उन्हें पढ़ते ही यह निश्चय हो जाता है कि व्यासजी परकीया-भाव को स्वप्न में भी स्वीकार नहीं करते थे और न विरह-भाव को ही वे नित्यविहार की किसी स्थिति में ग्राह्य समझते थे। राधा माधव के प्रेमातिशय का वर्णन करने में व्यासजी ने अभिसार, मिलन, शय्या, विहार, विपरीत रति, सुरत, आदि का खूब जमकर वर्णन किया है। इन प्रसंगों में अश्लील कही जाने वाली प्रायः सभी व्यंजनाओं का उपयोग हुआ है। राधामाधव-प्रेम के विभिन्न रूपों के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

सहज प्रेम

राधामाधव सहज सनेही।
सहज रूप गुन सहज लाड़िले, एक प्रान द्वै देही।
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति, सहज रची बन गेही।
व्यास सहज जोरी सों मन मेरे, सहज प्रीति कर लेही।

(उत्तरार्द्ध) पद सं० ४, पृष्ठ २०३।

सहज वृन्दावन सहज विहार।
सहज स्याम स्यामा दोऊ कामी, उपजत सहज विकार।
सहज कुंज रस पुंजनि बरषत, सहज सेज सुख सार।
सहज सैन नैननि दें, सहज हँसनि, भ्रूवभंग सिंगार।

† † †

सहज माधुरी सागर नागर, धन्य अनन्यनि के आधार॥

(उत्तरार्द्ध) पद-सं० ६, पृष्ठ २०४।

जाकौ मन आयौ अटक्यौ रहै न छिन भर बिनु फटक्यौ।
कठिन प्रीति कौ पंथ है।
जैसे सरिता सिन्धुहिं भजै कोटिक गिरि भेदत नहिं लजै।
तैसी गति इनकी भई।
एक सु घर तें निकसी नहीं हरि करुना करि मारे सही।
रास रसिकगुन गाइ हौं।
श्रीहित कवित कहे रस रीति रसिकहु लीला रस परतीति।
सद् गुरु गुरुमति जानिबो॥
—व्यासवाणी—रासपंचाध्यायी—पद सं० २।

रास के पद

रास रच्यौ बन कुंजबिहारी।
सारदमल्लिका देख प्रफुल्लित बनि आई सिय प्यारी।
बाम स्याम के स्यामा सोभित जनु चाँदनी उँजियारी।
भूषन मन तारका तरल छबि बदन चन्द उजियारी।
कोमल पुलिन कमल मंडल महँ मंडित नवल दुलारी।
(उत्तरार्द्ध)—पद २२९, पृष्ठ ३४५।

रच्यौ स्याम जमुना जल पर रास।
संग राधिका अंग रंग छबि सब गुन रूप निवास।
विविध कमल मंडल की सोभा जल थल कुसुम विकास।
उडगन सहित सकल राका निसि बरजनि तन आकास।
भूषन धुनि मुनि हंस हंसिनी मधुप न छांडत पास।
पद पटकत घन छींटन छिरकत लेति मान तब त्रास॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २४३, पृष्ठ ३५७।

राजत दुलहिनि दूलह संग।
रास रच्यौ राधा मोहन मिल गुन सागर भिलि रंग।
कमल मंडली पुलिन खंड में चंद किरन अनुपंग।
गावत कोकिल कल सुर बाजत भूषन ताल मृदंग।
बीच-बीच मुरली मन चुरली बाजत मुख मुख चंग।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २५६, पृष्ठ ३६७।

बन महं कुंजनि-कुंजनि केलि।
जमुना पुलिन कमल मंडल मह, रहे रास रस झेलि।
बीथिन वर विहार गहबर गिरि, लीला ललित सुबेलि॥
खोरि खरिक प्रति रचना सखि री, जानि बाहु गलि मेलि॥
रस सरिता झिरना सौरभ जल अवगाहत पग पेलि।
व्यास स्वामिनी विरमित छिनछिन निसदिन पिय संग खेलि।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० १२२, पृष्ठ २७४।

विभ्रम

अंजत एक नैन बिसर्‌यो, कटि कंचुकी लहुंगा उर धर्‌यो ।
हरि लपेट्यो चरन सों ॥
स्रवनन पहिरे उलटे तार, तिरनी पर चोकी सिंगार ।
चतुर चतुरता हरि लई ॥

चकित

जब जब कौंधति दामिनी, तब तब यामिनी डराति प्रीतम उर लागति ।
उन्मद मेघ घटा धुनि सुनि निसि पियहिं जगावति आपुनि जागति ॥

संभोग दशा का सांगोपांग चित्र देखिए—

क्रीड़त कुंज कुटीर किसोर ।
कुसुम पुंज रचि सेज हेज मिलि बिछुर न जानत भोर ॥
स्याम काम बस तोरि कंचुकी करजनि गहि कुच कोर ।
स्यामा मुंच मुंच कह, खंडित गंड अधर को ओर ॥
नागर नीवी बंधन मोचत चरन गहि करत निहोर ।
नागर नेति नेति कहि करसों कर पेलत गहि डोर ॥
मत्त मिथुन मंथुन दोऊ प्रकटत बरबट जोवन जोर ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति भये सखि लोचन चोर ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २८०, पृष्ठ ३८५ ।

मान के पद भी व्यास जी ने लिखे हैं। राधावल्लभीय नित्यमिलन में सूक्ष्म मान की ही स्वीकृति है। स्थूल मान के लिए अवकाश न होने से श्री हितहरिवंश जी, सेवक जी तथा ध्रुवदास जी ने उसका वर्णन नहीं किया है। व्यासजी ने अपनी भावना में तो सूक्ष्म मान को ही स्वीकार किया है किन्तु उनके वर्णनों में स्थूल चित्रण आ गया है, इसका सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। सम्भ्रम मान और खंडिता मान दोनों का वर्णन है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे सूक्ष्म भावना का ही विषय मानना चाहिए।

शृंगारपरक लीलाओं का वर्णन भी व्यासजी ने किया है। पनघट लीला, दानलीला, मानलीला, फागलीला आदि के लिए जो पद लिखे हैं उनमें काव्य-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। रास के सम्बन्ध में व्यास के पद काव्यमयी भाषा में हैं। उनमें सजीवता अपने चरम बिन्दु पर पहुँची है। व्यासजी रास-प्रेमी थे, उनके लिए प्रसिद्ध है कि रासलीला के समय देह की सुध-बुध भूल कर इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें अपने चारों ओर के वातावरण का ज्ञान तक न रहता। प्रत्यक्ष देखी हुई रासलीला को वे पदों में उतारते और उसे गाकर फिर रास की मनोभूमि में पहुँच जाते। व्यासवाणी से यदि रास के सुन्दर पद चयन किये जायें तो उनकी संख्या चार दर्जन से ऊपर होगी। त्रिपदी छंद में लिखी हुई व्यासजी की रासपंचाध्यायी भी हिन्दी में अपने ढंग की निराली है। इसमें व्यासजी ने राधावल्लभीय भक्तिभावना का बड़ी सुन्दर शैली से वर्णन किया है—

वसंतऋतु-वर्णन

चल चलहिं वृन्दावन वसन्त आयौ।
भूलत फूलन के भंवरा, मारुत मकरन्द उड़ायौ॥
मधुकर कोकिल कीर कोक मिलि कोलाहल उपजायौ।
नाचत स्याम बजावत गावत राधा राग जमायौ॥
चोवा चंदन बूका बन्दन लाल गुलाल उड़ायौ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखत रोम-रोम सचु पायौ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ३२६, पृष्ठ ४१५।

\+ \+ \+

शरद्ऋतु-वर्णन

दोऊ मिलि देखत सरद उजियारी।
बिछी चांदनी मध्य पुलिन के तासजरी फुलकारी॥
सेत बादलो सेत किनारी, ऐसी है यह सारी।
हीरन के आभूषण राजत जो वृषभानुदुलारी॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २४४, पृष्ठ ३५६।

वृन्दावन-वर्णन

व्यासजी ने अपनी वाणी में वृन्दावन-माहात्म्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जब तक वे वृन्दावन स्वयं नहीं आये थे तब तक उनके मन में वृन्दावन-आगमन की बलवती आकांक्षा हिलोरें मारती थीं। आकांक्षा की उस प्रखर दशा को अपनी वाणी से व्यक्त करते हुए उन्होने साधक दशा में वृन्दावन के प्रति अनुराग दर्शाया है।

हम कब होहिंगे ब्रजवासी।
ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधासी॥
सखी सहेली कब मिलि ह्वै हैं हरिवंशी, हरिदासी।
वंसी वट की सीतल छैंयां सुभग नदी जमुना सी॥
जाकौ वैभव करत लालसा कर मीड़त कमलासी।
इतनी आस व्यासकी पुजवौ वृन्दा विपिन विलासी॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० १०४, पृष्ठ ६६।

वृन्दावन कबहि बसाइहौ॥
कर करुवा, हरवा गुंज जिर्क कटि कोपीन कसाइहौं।
—पद सं० १०५।

हरि निसिहै मोहि वृन्दावन में।
साधु वचन में सांचे जाने फूल भई मेरे मन में।
—पद सं० १०७।

अब न और कछु करनें, रहनें है वृन्दावन।
हौनी होइसो होइकिनि, दिनदिन आयु घटत भूठे तन।
—पद सं० १०९।

छबीलौ वृन्दावन कौ रास ।
आपर राधा मोहन विहरत, उपजत सरस विलास ।
जीवन मूरि कपूरि धूरि जहां, उड़नि चहूं दिसि वास ।।
जल थल कमल मंडलौ बिगसत अलि मकरन्द निवास ।
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुन खग मृग तजत न पास ।।
तान बान सुर जान बिमोहित चंद सहित आकास ।
सुख सोभा रस रूप प्रीति गुन अङ्गनिरङ्ग सुहास ।।
दोऊ रीझि परसपर भेटत छांह निरखि बलि व्यास ।।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ३२१, पृष्ठ ३७८ ।

शृङ्गाररस को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए पूर्णचन्द्र, ज्योत्स्ना धौत-रात्रि, यमुना पुलिन, पावस, शरद, वनवीथिका, कुंजकेलि आदि का उद्दीपन विभाव की दृष्टि से अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है । इन वर्णनों का धरातल लौकिक दृष्टि से काव्य का उद्दीपन विभाव कहा जाता है किन्तु निकुंजरस के विचार से ऐसे समस्त वर्णन नित्यविहार के पोषक माने जाते हैं ।

पावस ऋतु का वर्णन

मानौ माई कुंजन पावस आयौ ।
स्याम घटा देखत उनमद ह्वै, मोरन सोर मचायौ ।।
दामिनि दमकति चमकति कामिनि प्रीतम उर लपटायौ ।
निसि अंधियारो दिसि नहि सूझति काजु भयौ मन भायौ ।।
डोलत बग बोलत घन धुनि सुनि, चातक बदन उठायौ ।
बरषत धुरवा सीतल बूंदनि, तन मन ताप बुझायौ ।।
कुसुमित धरनि तरनि तनया तट चंद बदन सुख पायौ ।
व्यास आस सबही की पूजी, सरिता सिंधु चढ़ायौ ।।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २८७, पृष्ठ ३६० ।

आज कछु कुंजन में वर्षा-सो ।
बादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सो ।।
नान्ही नान्ही बूंदनि कछु धुरवासे पवन बहै सुखरासो ।
मंद मंद गरजनि सी सुनियत नाचति मोर सभा सो ।
—इन्द्रधनुष बग पंगति डोलति, बोलति कोक कला सो ।
इन्द्र बधू छवि छाइ रही, मनु गिरि पर मदन घटा सो ।।
उमगि मही वह सेमहि फूलो भूलो मृग माला सो ।
रटत व्यास चातक ज्यौं रसना रस पीवत हू प्यासो ।।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २६२, पृष्ठ३६२ ।

४—वृन्दावन की बनेता नेकी —पद सं० ७
५—प्यारी श्री वृन्दावन की रेन —पद सं० ९
६—प्यारे श्री वृन्दावन के कुंज —पद सं० १०
७—बिराजैं श्री वृन्दावन की बेनी —पद सं० १२

व्यासजी का मत है कि सच्चे नित्य-भक्त कभी वृन्दावन को छोड़ते नहीं, उनके मन में सदा वृन्दावन-वास की चाह रहती है। वृन्दावन की रज को वे पवित्र तीर्थ मान कर सिर पर धारण करते हैं। 'मोहि वृन्दावन रज सों काम' और 'श्री वृन्दावन न तजै अधिकारी' कह कर वृन्दावन को ही माता पिता परिवार, सम्पत्ति तथा व्यवहार मान लेना सच्चे भक्त की पहचान है।

व्यासजी के वृन्दावन-वर्णन में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वे वृन्दावन के भौतिक स्वरूप का ही उद्घाटन करते हैं। इसी भूमि पर स्थित स्थूल वृन्दावन को वे परम धाम और नित्य केलिक्रीड़ा का स्थल कहते हैं। राधावल्लभीय मत में यही पाञ्चभौतिक वृन्दावन उपास्य और आराध्य है। इसी धाम वृन्दावन में नित्यकिशोर-नित्यकिशोरी अपनी नित्यविहार-लीला करते हैं। अन्य सम्प्रदायों तथा भागवत आदि पुराणों में वर्णित वृन्दावन इस भौतिक वृन्दावन से भिन्न गोलोक, बैकुंठ आदि के समान सूक्ष्म धाम माना जाता है। उसमें कभी कोई परिवर्तन आदि नहीं होता। किन्तु व्यासजी ने आद्योपान्त स्थूल वृन्दावन पर ही दृष्टि रखी है। इसी वृन्दावन में वास करने की कामना प्रकट की है, इसी के कन्द-मूल-फल खाकर जीवन व्यतीत करने में कल्याण माना है, इसी वृन्दावन के गुल्म-लता, द्रुम-बेलि पत्रों में नित्य-विहार की छवि देखने की लालसा रखी है और इसी वृन्दावन को आराध्य-इष्ट बताया है।

व्यासवाणी का व्यवहार-पक्ष

व्यासजी व्यापक दृष्टि वाले जागरूक कोटि के व्यक्ति थे। भक्ति-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले उन्होंने संसार के प्रपंचों का मर्म भली भाँति देखा और समझा था। पुस्तक-ज्ञान के साथ-साथ जीवन के व्यवहार-पक्ष पर उनकी पैनी दृष्टि सतत बनी रही थी। अतः अपने सैद्धान्तिक विवेचन के साथ उन्होंने उन मार्मिक विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं जो समाज के धर्म, चरित्र, नीति, आदि से निकट सम्बन्ध रखते हैं। धार्मिक जगत् के ढोंग, दम्भ, बाह्याडम्बर, कृत्रिम आचरण की परीक्षा करके उन्होंने इनका त्याग ही उचित समझा। उस युग में बाह्याडम्बर का त्याग करने वालों में निर्गुण भावना के भक्त कबीर थे या सगुण भावना के उपासक श्री हितहरिवंश और उनके शिष्य श्री हरिराम व्यास। पाखंड और कपटपूर्ण आचरण करने वालों के प्रति व्यासजी के मन में कदर्थित विचार थे और उन्होंने ऐसे ढोंगी भक्तों की पोल खोलने में बड़े साहस से काम लिया है।

बिनु भक्तिहिं जे भक्त कहावत।
भीतर कपट निपट सबही सों, ऊपर उज्ज्वल ह्वै जु दिखावत।
धन सब ही को घूँसि ठूँसि कै, घरभरि सठ सो सुतनि खवावत।।
दिन दिन क्रोध विरोध जगत में, सोध न बोध हियो भरि आवत।।
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० १४२।

× × ×

करि मन वृन्दावन सो हेत।
निसि दिन छिन छाया जिनि छाड़हि रसिकनको रस खेत।
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ९१।

वृन्दावन आकर वृन्दावन की रसोपासना में निमज्जित होने के बाद वृन्दावन का वर्णन सिद्धावस्था में किया है। वृन्दावन आना और वहाँ की उपासना में सराबोर हो जाना ही लोक-परलोक को सुधारना है जो वृन्दावन के रहस्य को न समझ कर इधर-उधर भटकते फिरते हैं वे इस जीवन के मर्म को ही हृदयंगम नहीं करते।

अब मैं वृन्दावन धन-पायौ।
राधाचरन शरन मनु दीनौ हितहरिवंश जगायौ॥
सूतो हुतौ विषय मन्दिर में हित गुरु टेर जगायौ।
अब तो व्यास विहार विलोकत सुक नारद मुनि गायौ॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ८४

वृन्दावन की स्तुति में व्यासजी ने दो दर्जन से ऊपर पद लिखकर अपनी भावना को इतना स्फीत कर दिया है कि प्रत्येक पाठक के मन पर यही प्रभाव पड़ता है कि व्यासजी वृन्दावन-वास को जीवन की सफलता का चरम ध्येय मानते थे। वृन्दावन को समस्त वैभव का आगार, सबका आदि, वृन्दावन की भूमि को कोटि बैकुंठ से बढ़कर और वृन्दावन के कीट-पतंग, गुल्म, लता द्रुम को भी धन्य माना है—

सदा वृन्दावन सबको आदि।
रस निधि ,सुखनिधि जहाँ विराजत नित्य अनन्त अनादि॥
गौर स्याम को सरन, हरन दुख कंदमूल मुंजादि।
सुक पिक केकी कोक कुरंग कपोत मृगज सनकादि॥
कीट पतंग, विहंग सिंह कपि तहाँ सोहत जनकादि।
तरु तृन गुल्म कल्पतरु कामधेनु गो वृष धर्मादि॥
मोहन की मनसा तें प्रकटित अंस कला कपिलादि।
गोपिक कों नित नेम प्रेम, पद पंकज जल कमलादि॥
+ + +
सबै सन्त सेवत निरवैरिन लखि माया नासादि।
सेष असेष पार नहि पावत गावत सुक व्यासादि॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ४, पृष्ठ २।

वृन्दावन की सौन्दर्य-माधुरी के वर्णन में व्यासजी का मन इतना लीन होता है कि वे स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों पर दृष्टि डालते हुए उसके सौन्दर्य को भाँति-भाँति से प्रस्फुटित करते जाते हैं। हम कुछ पदों का संकेत देकर अपने कथन को सम्पुष्ट करना चाहते हैं—

१—धनि-धनि श्री वृन्दावन की धरनि—पद सं० ३०
२—छबीली वृन्दावन की धरनि —पद सं० ४८
३—श्री वृन्दावन देखत नैन सिरात —पद सं० ६

बाभन के मन भक्ति न आवै, भूले आप सबनि समझावै ॥
औरनि ठगि ठगि अपुन ठगावै, आपुनि सोवै सबै जगावै ॥
वेद पुरान बेंचि धन ल्यावै सत्य तजि हत्याहि मिलावै ॥
हरि हरिदास न देख्यौ भावै, भूत पितर देवता पुजावै ॥
अपुन नरक परि कुलहि बुलावै, व्यास भक्ति बिनु को गति पावै ॥

(पूर्वार्द्ध)—पद सं० २७४, पृष्ठ १६७ ।

व्यासजी की वाणी में सच्चे भक्त होते हुए भी समाजसुधारक-उपदेष्टा का ओजस्वी स्वर बड़ी प्रखरता के साथ गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है। वे उपदेश देते समय न तो अपने कुटुम्ब-परिवार की त्रुटियों को क्षमा करते हैं और न समाज के बड़े कहे जाने वाले वर्ग से भयभीत होते हैं। अपने परिवार वालों के गणेश पूजन पर उन्होंने जिस कठोरता से उन्हें फटकारा है वह इस बात का द्योतक है कि व्यासजी इष्ट-अनन्यता के आगे किसी की चिन्ता नहीं करते। जब एक बार राधावल्लभ को अनन्य इष्ट देवता मान लिया तो अन्य देवी-देवता पूजन की आवश्यकता ही क्या रह गई। एकादशी व्रत के सम्बन्ध में भी उनकी सुधारक वृत्ति ही प्रबल रही है।

मरं वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ ॥
जे पदार्थ सन्तन के काजे तै सारे सकतन नं खायौ।
व्यास दास कन्या पेटहि क्यों न मरो अनन्य धर्म में दाग लगायौ ॥

× × ×

रसिक अनन्य कहाइक पूजें गृह गन्नेस।
व्यास क्यों न जिनके सदन जमगन करै प्रवेस ॥ —पद सं० १४६।

व्यासजी की अनन्य वैष्णव-भावना में शाक्तमत के लिए कोई स्थान नहीं था। जैसे कबीर ने अनाचारपूर्ण शाक्तों की अत्यधिक भर्त्सना की है वैसे ही व्यासजी ने शाक्तों को समाजधर्म-जातिद्रोही मानकर त्याज्य, हेय और तिरस्करणीय ठहाराया है। तांत्रिक साधना के विकृत रूप के कारण उस समय शाक्तों की कहीं प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी। मद्य, मांस, मदिरा आदि के निर्बाध प्रयोग के कारण वे सामाजिक ह्रास का वातावरण उपस्थित कर रहे थे। काम-वासना तथा बीभत्स तांत्रिक साधना ने शाक्तों को उस भूमि पर ले जाकर अवस्थित कर दिया था कि वैष्णव साधना से उनका साक्षात् विरोध दृष्टिगत होने लगा था। व्यासजी ने शाक्तनिन्दा में बड़ी दंशमयी कठोर भाषा का प्रयोग किया है—

'करि मन साकत को मुँह कारो।
साकत मोहिन देख्यौ भावै, कहा बूढ़ौ कहा बारौ ॥'
'साकत सगोन मेटिये व्यास सु कंठ लगाय।
परमारथ लै जाइगो, रहै पाप लपटाय ॥'
'साकत सूकर कूकरा इनकी मति है एक।
कोटि जतन परबोधियै, तऊ न छांडै टेक ॥'
'साकत भैया सत्रुसम बेगहि तजियै व्यास।
जो वाकी सङ्गति करै करिहै नरक निवास ॥'

साधु मंडली में चेला-चेली बनाने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित है। किन्तु सच्चे शिष्य बनने वालों का सदा ही अभाव रहा है। व्यासजी के युग में भी स्वार्थ बुद्धि से दीक्षित हुए चेलों की भरमार थी। उन चेलों के मन में गुरु के प्रति न तो आदर भाव था और न सेवा-परायण होकर वे अपने गुरुओं की पूजा ही करते थे। आज तो और भी दुर्दशा है। गुरु और शिष्य दोनों ही अपने-अपने स्वार्थ में लीन होकर एक दूसरे को ठगने की घात लगाते देखे जाते हैं। व्यासजी ने बनावटी शिष्यों की भर्त्सना करते हुए उनके आचरण को उजागर करने के लिए कितना स्पष्ट पद लिखा है—

गुरुहि न मानत चेली-चेला।
गुरु रोटी पानी सों घूंटति, शिष्य के दूध पियै कुकरेला॥
शिष्यन के सोने के बासन, गुरु के कुंडी-कुंडेला।
× × ×
व्यास आस जे करत शिष्य की, तिनते भले भड़ेला॥

(पूर्वार्द्ध)—पद सं० २३८।

व्यासजी ने विभिन्न सम्प्रदायों के धर्म के ठेकेदारों को समीप से देखा-परखा था; और अन्त में निराश होकर उन्हें कहना पड़ा था कि इस युग में कोई अपने धर्म में निष्ठावान नहीं दिखाई देता। मिथ्या वितंडावाद करने में कुशल धर्माचार्य बाल की खाल तो खींचते हैं किन्तु सच्चे धर्म के मर्म को नहीं जानते इसलिए कोई भी प्रतीति-योग्य नहीं रहा है—

मोहि न काहू की परतीति।
कोऊ अपने धर्म न सांचौ, कासौं कीजे प्रीति॥
कबहुंक व्यास उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छीति।
ह्वै अनन्य सोभा लगि दिन द्वै सबसौं करत समीति॥
बातनि खेंचत खाल बार की, लीपत भुस पर भीति।
कुवा परें बादर चाटत है, धूम धौर हर ईति॥
स्वारथ परमारथ पथ बिगर्‍यौ उतपथ चलत अनीति।
व्यास दिनै चारिक या बन में जानि गही रस रीति॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० १०६।

धर्म के नाम पर जीविकोपार्जन करने वाले ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए व्यासजी ने बड़े कठोर शब्दों में अपने मन की ग्लानि अभिव्यक्त की है और कहा है—जाति का अभिमान करने वाले दम्भी ब्राह्मण के मन में भक्तिभाव का कभी प्रवेश नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं भी माया के प्रपंचों में पड़ा भटक रहा है लेकिन दूसरों के पथ-प्रदर्शन का स्वांग रचता है। स्वयं अज्ञानाधंकार में भटक रहा है—सोया पड़ा है किन्तु दूसरों को सावधान करके जगाता फिरता है। वेद-पुराणों की कथा क्या करता है मानो उन्हें बाजार में बेचकर धन कमाता है, सत्य का हनन करके हत्या का पाप सिर पर लेता है। सच्चे हरि (कृष्ण) और हरिदास (कृष्ण भक्तों) को तो देखना भी पसन्द नहीं करता, भूत, पितर और देवताओं को पूजता फिरता है। ऐसे मिथ्याचारी ब्राह्मण को व्यासजी न तो भक्त मानते हैं और न पंडित। उनकी दृष्टि में वह समाज पर कलंक का काला धब्बा है—

स्वीकार करने वाले ज्ञानमार्गी दार्शनिक सन्तों और भक्तिमार्ग को स्वीकार करने वाले भावुक भक्तों ने इन दोनों से दूर रहने का उपदेश दिया है। कबीर जैसे भक्त तो कामिनी और कंचन को माया का ही संसारी रूप मानते थे। विवाहित जीवन व्यतीत करने पर भी नारी के प्रति कबीर की अनास्था-बुद्धि थी और वे कामिनी से बचने का ही उपदेश देते रहे। व्यासजी ने भी अपनी वाणी में कबीर का ही प्रायः अनुसरण किया है और उसी पद्धति पर कामिनी और कंचन को परिहार्य ठहराया है।

व्यास कनक अरु कामिनी ये लांबी तरवारि।
निकसे हे हरि भजन कों बीचहिं लीने मारि॥
व्यास कनक अरु कामिनी तजियै भजियै दूर।
हरि सों अन्तर पारिहैं मुख वै जैहैं धूरि॥

व्यासजी ने उपदेशात्मक शैली में जो १४८ साखियाँ लिखी हैं उनमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है और उनमें सार रूप में अपनी आराधना-पद्धति, इष्टदेव, उपास्य तत्व, संत-प्रशंसा, हरिजन-महिमा, दैन्य-गौरव, अनन्य विश्वास, अनन्य भक्ति—कहनी—करनी, प्रसाद-माहात्म्य, हरिवंश-कृपा, राधावल्लभ इष्टदेव, आदि भक्तिविषयक विचारों के साथ लोक-प्रतिष्ठा, कपट से घृणा, आशा का परित्याग, अभिमान से बचना, माया-जाल को समझना, जीवन-यापन के लिए शिक्षा आदि व्यावहारिक बातों का बड़ा सजीव वर्णन किया है। उनकी साखी के कई दोहे इतने सटीक हैं कि वे भाव को व्यापक विस्तार के साथ अन्तर्नेत्रों के समक्ष अंकित कर देते हैं।

संसार को माया का भ्रमजाल ठहराते हुए दृष्टान्त द्वारा जो चित्र खींचा है वह स्तुत्य है—

व्यास बिभूका खेत को कुबल न काहू देत।
जो निसकू ह्वै जाय सो वस्तु घनेरी लेय॥

लोक में यशोकामना को हेय बताते हुए कहते हैं—

व्यास बड़ाई लोक की कुक्कर की पहिचानि।
प्रीति करै मुख चाट ही बैर करै तनुहानि॥

कथनी-करनी में भेद होने पर व्यंग्य करते हैं—

व्यास न कथनी काम की करनी है इक सार।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चन्दन भार॥

भगवद्-भक्ति में दैन्य ही भगवान् से मिलाने वाला होता है—

व्यास दीनता पारसैं नहिं जानत जग अंध।
दीन भये तें मिलत हैं दीनबंधु से बंध॥

व्यासजी का दृढ़ विश्वास भी देखने योग्य है—

काहू के बल भजनको काहू के आचार।
व्यास भरोसे कुँवरि के सोवत पाय पसार॥

भक्त-महिमा में उनकी गाली को भी वरदान समझकर कहते हैं—

कलियुग का प्रभाव

पुराणों की मान्यता के अनुकूल कलियुग के विनाशकारी प्रभाव को व्यासजी ने अपनी वाणी में स्वीकार किया है, और उससे बचने के लिए भक्त-भजन को साधन बताया है। भगवद्-भक्ति करने से ही कलियुग के घातक प्रभाव से बचा जा सकता है।

छिनु-छिनु ग्रसत तनहिं मन काल।
अजहुँ चेत चरन गहि हरि के आयो है कलि काल ॥
\+ \+ \+
व्यास वचन माने बिन जुग जुग हम कं हाथ बिकैहै।

—(पूर्वार्द्ध) पद सं० २१४।

धर्म दुर्‌यो कलि दई दिखाई।
कोनी प्रकट प्रताप आपनो सब विपरीति चलाई ॥
जोगी जपी तपी संन्यासी व्रत छाड्यो अकुलाई।
वरनाश्रम की कौन चलाई सन्तनहूं में आई ॥
\+ \+ \+
उपदेसनिकों गुरु गोसाईं, आचरनें अघमाई।
व्यासदास के सकृत साँवरे श्री हरिवंश सहाई ॥

—(पूर्वार्द्ध) पद सं० २३५।

अब साँचेहू कलिजुग आयो।
पूत न कह्यौ पिता को मानत करत आपनो भायो ॥
बेटी बेचत सकु न मानत दिन-दिन मोल बढ़ायो ॥
वाही ते बरषा मंद होति है पुन्य तें पाप सवायो ॥
मथुरा खुदत कटत वृन्दावन मुनिजन सोच उपायो ॥
इतनो दुख सहिबे के काजें काहे को व्यास जिवायो ॥

—(पूर्वार्द्ध) पद सं० २३६

उपर्युक्त पद केवल कलियुग का ही आभास नहीं देते वरन् यथार्थ में तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी अच्छा प्रकाश डालते है। स्वेच्छाचारी पुत्र, पुत्री बेचने की कुप्रथा, वर्षा का अभाव, मथुरा-वृन्दावन पर यवनों के आक्रमण तथा वार्धक्य में इन सब दारुण कष्टों को झेलने के लिए व्यासजी का जीवित रहना—एक साथ इतनी बातों का समावेश इस पद में है। व्यासजी की सामाजिक चेतना भक्त होते हुए भी इतनी प्रबुद्ध है कि कबीर और तुलसी को छोड़कर किसी भक्त-कवि में हमें नहीं मिलती। भक्ति के क्षेत्र में विचरण करने पर भी वे अपने चारों ओर के समाज से सर्वथा उच्छिन्न या अलग होकर आत्मोत्थान मात्र नहीं चाहते। 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' का आदर्श उनके सामने रहता है और वे आत्मोद्धार के साथ सामूहिक कल्याण का पथ भी प्रशस्त करते चलते हैं।

संसार के माया-मोह में आबद्ध करने वाले आकर्षक उपादानों में कंचन और कामिनी का वर्णन अनादि काल से होता चला आ रहा है। विशेषतः विरक्त भावना को

बरषत स्यामास्याम-रासरस, 'ब्यास' नैन भरि पीजै ॥

(पूर्वार्द्ध) पद सं० २४, पृष्ठ २५।

आत्म-निवेदन, दीनता, भगवदनुग्रह, विश्वास आदि से सम्बद्ध अनेकों पद मिलते हैं। भक्तिरस की परिपुष्टि के लिए अनिवार्य सभी प्रमुख तत्वों का समावेश इनके पदों में मिलता है। इनके पठन-पाठन से हृदय भक्ति से सराबोर हो जाता है।

साधु-विरह सम्बन्धी पदों में करुण रस का स्रोत उमड़ पड़ा है। जयदेव, रूप सनातन, हितहरिवंश, रामानन्द आदि महानुभावों के विरह में जो पद लिखे हैं वे अति हृदयस्पर्शी और करुणापूर्ण हैं। श्री हितहरिवंश के देहावसान पर जो पद लिखा है वह अद्वितीय है। इस पद में हृदय की वेदना फूटी पड़ रही है। करुण रस की धारा बह रही है—

हुतो रस रसिकन को आधार।
बिनु हरिवंसहि सरस रीति को, कापै चलि है भार ॥
को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार ॥
यह रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार ॥
जिन बिनु दिन छिनु सत जुग बीतत, सहज रूप आगार।
'ब्यास' एक कुल कुमुद-बन्धु बिनु, उड़गन जूठो थार ॥

—(पूर्वार्द्ध) पद सं० ८१।

अन्य रसों की व्यंजना स्वतंत्र रूप से तो नहीं की किन्तु शान्त और शृंगार के सहायक के रूप में हो गई है। जैसे शांत के पूर्ण परिपाक के लिए उनका यह कथन वीभत्स रस की निष्पत्ति करवाता है :—

जूठन जे न भक्त की खात
तिनके मुख सूकर कूकर के, भक्षि अभक्षि पोषत गात ॥
जिनके बदन सदन नर्कनि के, जे हरि जननि घिनात।
काम बिबस कामिनि के पीवत अधरन लार चुचात ॥
भोजन पर मांखी मूतति हैं, ताहू रुचि सों खात ॥

—(पूर्वार्द्ध) पद सं० १६८, पृष्ठ १०३।

इसी प्रकार भयानक, रौद्र और वीर रस की भी कहीं-कहीं अभिव्यंजना मिलती है।

व्यासजी ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल का विस्तृत और सजीव चित्रण तो नहीं किया किन्तु उनके जन्मोत्सव की बधाइयाँ लिखी हैं। उन्ही पदों में वात्सल्य रस की निष्पत्ति हुई है।

जैसे—

सुबरन पलना ललना झूलहु।
अंग-अंग प्रति गुनगन निरखत, दुख मोचत लोचन अति फूलहु।

—(उत्तरार्द्ध) पद सं० ४५४, पृष्ठ ५२७।

> व्यास बड़ाई और की मेरे मन धिक्कार।
> रसिकन की गारी भली यह मेरो सिंगार॥

व्यासवाणी का कलापक्ष

'व्यासवाणी' भक्ति-भावना का उन्मेष करने वाली प्रौढ़ रचना है। भक्ति भावावेश की परमावस्था है। अन्तर के भावों में उत्ताल गति आने पर भक्त की वाणी से जो अभिव्यक्त होता है वही भक्ति-साहित्य का रूप धारण करता है। प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप भक्ति के माध्यम से उपलब्ध होता है। अतः व्यासवाणी में रस की दृष्टि से जो सरस पदावली मिलती है वह व्यासजी के काव्योत्कर्ष की नहीं वरन् भावोत्कर्ष की परिचायिका है। किंतु भावोत्कर्ष को हम काव्य-सौष्ठव से बाहर नही कर सकते और कला की अन्तरात्मा के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। शृंगार रस के लिए जिन सुन्दर पदों का सृजन व्यासजी ने किया हम उनका उल्लेख पहले कर चुके हैं। आधी वाणी का प्रतिपाद्य ही शृंगार रसपूर्ण माधुर्य भक्ति है। शान्त रस का भी अनेक पदों में सुन्दर वर्णन हुआ। यथार्थ में ये दो रस ही व्यासजी की कविता के प्राण हैं—शेष रसो की खोज करना व्यासवाणी की भावना के अधिक अनुकूल प्रतीत नहीं होता। वैसे रौद्र, वीर, वीभत्स और अद्भुत रसो से सम्बद्ध कुछ पद यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। शृंगार रस की अभिव्यंजना बहुत सुन्दर रीति से की है। उनके पदो का मुख्य रस भक्तिरस है। भक्ति में भी माधुर्य-भक्ति ही इनकी सर्वप्रिय भक्ति है अतः शृंगाररस के उत्तम पदो का ही बाहुल्य है। राधा और कृष्ण को आश्रय-आलम्बन बनाकर, शृंगार रस के सब उपादान उपर्युक्त मात्रा में प्रयुक्त किए हैं।

> बिहरत नवल रसिक राधा सङ्ग।
> रचित कुसुम सयनीय, भामिनी—कमल बिमल, हरि भृंग॥
> अधर-पान-परिरंभन-चुंबन, बिलसत कर जुग उरज उतंग।
> नीवी बंधन, मोचत, सोचत, नेति बचन सुनि अधिक उमंग॥
> नैनसैन, परिहास-बचन कहि, हंसत लसत पुलकित भुव भंग।
> कबहुंक प्यारी मुरलि बजावति मोहन अधर धरत मुख चंग॥
> नव निकुंज रति पुंजनि बरषत, सुख सूचत, नखसिख अंग अग।
> बीच-बीच पंचम सुर गावत, सुनि धुनि बिथकित 'व्यास' कुरंग॥
>
> —(उत्तरार्द्ध)पद सं० २७४, पृष्ठ ३८०।

शृंगार रस के अतिरिक्त शान्त रस भी पाया जाता है। संसार तथा कलियुग की कुचालों को देखकर अपने मन को शाति तथा प्रकाश देने के लिए शांतरस से परिपूर्ण अनेको पद लिखे हैं।

> मन रति वृन्दावन सों कीजै।
> खायो पियो भर्‌यो भंज्यो अब, जीवन को फल लीजै॥
> काज अकाज जानि सब अपनो, दाउ सवारोदो जै।
> देखि धेनु, सुनि बेनु, रैन तजि, धिक्-धिक् जग जो जीजै॥
> जमुना-तट बंसीवट निकट रहत, जु यह तन छीजै।

और आनुस्वारिक शब्द-विन्यासपूर्ण पदावली नृत्य की-सी भावभंगिमा के साथ आती है और जयदेव की सी मधुर झंकारपूर्ण कोमलकांत पदावली का आभास देती है। शब्दों में सहज गति और सजीवता थिरक रही है।

व्यासजी की ब्रजभाषा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी बोलचाल की भाषा सी सरलता और स्वाभाविकता लिए हुए है। इनकी भाषा में प्रान्तीय शब्दों का, जो बोलचाल की भाषा में पाए जाते हैं, अति सुन्दर प्रयोग मिलता है। बुंदेलखंड के निवासी होने के कारण बुन्देलखंडी शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियाँ आदि पाए जाते हैं। दुकास, चबीठी, मौरी आदि शब्द ठेठ बुन्देलखण्डी हैं। 'हरनी सी बिडरी,' 'सब गुर माटी,' 'लीपत भुस पर भीति' आदि लोक-प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी खूब किया है।

तत्सम और तद्भव शब्दों का समान प्रयोग मिलता है। देशज शब्दों का भी यथा-स्थान प्रयोग है। इन प्रयोगों को देखकर कह सकते हैं कि व्यासजी की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नही है किन्तु कलात्मक है। व्यासजी ने ध्वन्यात्मक शब्दों की भी योजना की है :—

किंकिन कंकन नूपुर धुनि सुनि, नचि मृदग सुधंग सुताल।

व्यासजी ने अपनी वाणी को कृत्रिम सौन्दर्य से बचाया है। किन्तु अलंकारों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक रूप से किया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का अधिक प्रयोग किया है। अनुप्रास के कारण इनकी भाषा में गति, सजीवता और सुकुमारता ही आई है। रास के पदों में अनुप्रास की छटा अधिक पाई जाती है।

अंग-अंग प्रतिसुधंग, रंग गति तरंग संग,
रति-अनंग-मान भंग मनि-मृदंग बाजे।
सुर-बंधान गान-तान भान जान गुन-निधान,
भृव-कमान, नैन बान सुर बिमान छाजे ॥

अर्थालंकारों में रूपक और उत्प्रेक्षा का अधिक प्रयोग मिलता है।

राधा और कृष्ण के रूप-वर्णन में उत्प्रेक्षा और रूपक की भरमार है। राधा के नेत्रों के वर्णन में पूरा धनुष का रूपक बाँधा है :—

अंजन पनच धनुष सम भौंहें।
बंक निसंक अनी अनियारे, लगत नैन सरसोहैं ॥

राधा और कृष्ण के क्रीड़ा के चित्रों में सुन्दर रूपक बाँधे हैं :—

राधाहीं आधीन किसोर।
गौर अंग के रंग-सिंधु को, पावत नाहिन हरि आदि-अोर।
महामाधुरी अधर-सुधा-बिधु पियत, जियत उर चामुये कोर ॥
मेघ सुदेस केसकुल देखत, नाचत गावत मोहन मोर।
मानसरोवर ऊपर निबसतु, लाल मराल कमल-कुचकोर ॥

व्यासजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भाषा में भावानुकूल पद-योजना के साथ मृदुल, कठोर और व्यंगपूर्ण होने की शक्ति पाई जाती है। शब्दों के चयन में किसी प्रकार के आयास का पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि भावों के उद्‌बोधन के साथ ही साथ शब्दों का जन्म होता गया है। प्रत्येक भाव के लिए शब्दों की नियोजना अपूर्व है। शृंगार के पदों में भाषा अत्यन्त वैभवपूर्ण और सुकुमार हो गई है। माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति के लिए शब्द भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण हैं। एक उदाहरण देखिए :—

आजु बनी वृषभान दुलारी।
नव निकुंज बिहरत प्रीतम संग, मंद पवन चांदिनी उज्यारी॥
भूषन भूषित अंग सुवेसल, नील बसन तन झूमक सारी।
चिकुर-चंद्रकनि चपकली गुहि, सिरसीमंत सुकंत सँवारी॥
+ + +
तरुवनि कुमकुम नखनि महावर, पद मृगमद चूरा चोधारी॥
नखसिख सुन्दरता की सींवां, 'व्यास' स्वामिनी जय पिय प्यारी॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ४८, पृष्ठ २३३।

अलंकार तो आपके पदों में स्वाभाविक रूप से स्वयं चले आते हैं। हरिवंश, हरिदास आदि भक्त महानुभावों के निधन होने पर उनके वियोग-वर्णन में व्यासजी की भाषा करुणार्द्र है तो भक्ति के पदों में अत्यन्त दैन्यपूर्ण और शांत रस के पदों में अत्यन्त ही वैराग्यपूर्ण है। दैन्य की अभिव्यक्ति में भाषा भी अलंकार आदि से रहित अत्यन्त ही विनम्र हो जाती है :—

मेरो मन मानत नाचें-गायें
एकै प्रेम भक्ति कौ फल है, मोहन लाल रिझायें॥
गदगद सुर, पुलकित जस गावत, नैननि नीर बहायें।
नटगोपाल कपट नहिं मानत, कोटिन स्वांग बनायें॥
तजि अभिमान दीनता जनकी, स्याम रहत सचु पायें।
'व्यास' सुपच तारे, कुल बोरे, विप्रनिहरि बिसराये॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ११२, पृष्ठ ७०।

रासलीला के पदों में नृत्य की सी गति पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द ही नाच रहे हैं :—

वृषभाननंदिनी सरद-चंदनी, नटति गोबिन्द संगे।
जगत बंदिनी, पूरनदिनी तट बंसीवट, नागर मिलो प्रगट सरस सुबंगे॥
+ + +
कंकन-किंकिन नूपुर धुनि मिलि, सुनियत ताल मृदंगे।
हस्तक मस्तक भेद दिखावत, उमगत उरज उतंगे॥
—पद सं० २३३, पृष्ठ १४६।

वास्तव में इन पदों में इनके मन का उल्लास और प्रेम ही सजीव हो उठा है। यही कारण है कि इसमें हृदय लीन हो कर विभोर दशा को प्राप्त हो जाता है। आनुप्रासिक

मनिमय माल हुरे भामंडल, कुच जुग उरज बितान ।
मानहुँ उडगन सहित गगन महँ, मिले उभै ससि भान ॥

वक्षस्थल पर आए हुए केशों पर सुन्दर उत्प्रेक्षा :—

छूटी चिकुर चन्द्रिका उरजनि पर लटकति लट-पात ।
मानहुँ गिरिवर कंचन ऊपर, मेघ घटा घुरवात ॥

राधा और कृष्ण दोनों एक साथ रतिक्रीड़ा में मग्न है इस दृश्य पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

इन्द्र नीलमनि मोहन तन छवि, कंचन तन ब्रजबाला ।
'व्यास' स्वामिनी हरि उर राजत, मानहु चंपक माला ॥

सुरति के पश्चात् राधाकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन उत्प्रेक्षा द्वारा व्यासजी इस प्रकार करते हैं :—

सुरत समित प्यारी प्रीतम के कंठ भुजा धरि लटकी ।
मनहु मेघमंडल में दामिनि, चंचलता तजि अटकी ॥
गोर गंडस्थल मंडित स्याम बदन गति नैकन ठटकी ।
मानहु भूत मंजरी के रस, भ्रमत न कोइल मटकी ॥

व्यासजी ने एक-दो पदों में राधा और कृष्ण की रति-क्रीड़ाओं को प्रकृति के वर्णन में उपमान रूप में ग्रहण किया है :—

ताल, तमाल, रसाल, साल, पल-पल चमकत, फल-पात ।
मनहु गोर मुख बिधु कर रंजित, सोभित सांवल गात ॥
किसुक नवल नवीन माधुरी बिगसित हित उरभात ।
मनहु अबीर-गुलाल भरे तन, दंपति रति अकुलात ॥
बैठे अलि अरविंद बिब पर, मुख मकरंद चुचात ।
मानहु स्याम कंचु कुच कर गहि, अधर सुधा पीवत बलि जात ॥

व्यासजी ने रूपकातिशयोक्ति का भी सुन्दर प्रयोग किया है। राधा और कृष्ण दोनों एक साथ आ रहे हैं, कवि ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा इस दृश्य को अंकित किया है :—

आवत सखि, चंदा साथ अँध्यारी ।
घन-दामिनि चकोर-चातिक मिलि, मोरति राका प्यारी ।
गज मराल, केहरि, कदली, सर, बक, चकवा सुकसारी ।
खंजन, मीन, मकर, कच्छप, मृग, मधुप भुजंगिनि कारी ।
कमल-मृनाल, लाल, मनि, मुक्ता, हीरा सरसु पवारी ॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० १०४, पृष्ठ २६८ ।

स्वेद-सलिल-सरिता महँ विहरत, मीन मनोहर चंचल चोर।
बरषत मेह सनेह बूँदि चुनि, हरि चातिक मधु जीवन जोर॥
—(उत्तरार्द्ध) पद सं० ३१७, पृष्ठ ४१०।

व्यासजी ने साग रूपक खूब बांधे हैं और उनमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। वृन्दावन का शृङ्गारपरक रूपक अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है। राधा के नेत्रों को नट बनाकर उसकी प्रत्येक क्रीड़ा का सांगोपांग चित्रण किया है :—

नटवा नैन सुघग दिखावत
चंचल पलक सबद उघटत हैं थं थं तत् थेई थेई कल गावत॥
तारे तरल तिरप गति मिलवत, गोलक सुलप दिखावत।
उरप भेद भ्रू भग सग मिलि, रतिपति कुलनि लजावत॥
अभिनय निपुन सैन सर ऐंननि, निसि वारिद बरषावत।
गुनगन रूप अनूप, 'व्यास' प्रभु निरखि परम सुखपावत।
—(उत्तरार्द्ध) पद सं० ३६४, पृष्ठ २४४।

इसी प्रकार से राधा के यौवन का नदी से सांग रूपक बांधा है—

दिनहीं दिन जोवन सरिता बाढ़ी।
स्याम सजल घन रति रस बरषत, गिरत करारिन चाढ़ी।
पद सं० ३७३, पृष्ठ २८८।

वृन्दावन के प्रति भक्ति-भावना का सुन्दर प्रभाव उपस्थित करने के लिए व्यासजी रूपक की भाषा में बोलते हैं :—

'व्यास' पपीहा बन घन सेयौ, दुख सलिला-सर सूख॥

इसी प्रकार से दुख को सागर बनाकर सांग रूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

दुख सागर को बार न पार।
जुग-जुग जीव थाह नहिं पावत, बूड़त सिर धर भार।

व्यासजी ने रूपक से अधिक उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा में उन्होंने राधा के रूप के सुन्दर-सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। राधा के मुख पर केश छाए हुए हैं, उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

गौर ललाट पटल पर सोभित, कुंचित कच अरुझात।
मानहु कनक कंज मकरंदहि, पीवत अलि न अघात॥

केश कंधों पर गिरे हुए हैं उस पर कवि उत्प्रेक्षा

अति आवेग केस बिगलित जनु दामिनि

मनियों की माला राधा के उत्प्रेक्षा करता है :

प्रभावित नहीं । यही कारण है कि व्यासवाणी में दोहा और कवित्त को छोड़कर अन्य वर्णिक या मात्रिक छंदों का प्रयोग नहीं हुआ है । फिर भी पदों के निर्माण में रोला, त्रोटक, पद्धरी, त्रिपदी आदि छंद स्वतः आ गये हैं । यह तो मानना ही होगा कि व्यासजी पिंगल के ज्ञाता थे किन्तु राग और संगीत के कारण छंदोबद्ध रचना की ओर प्रवृत्त नहीं हुए ।

व्यासजी पर पूर्ववर्ती भक्तों का प्रभाव

व्यासजी ने पूर्ववर्ती भक्त महात्माओं से कुछ प्रभाव ग्रहण कर उसे अपनी वाणी द्वारा व्यक्त किया था । इनमें भक्त कबीर का प्रभाव सर्वाधिक है । कबीर का स्मरण करते हुए व्यासजी ने उन्हें कलियुग में सच्चा भक्त स्वीकार किया है । साखी के दोहों में कबीर की भाव-व्यंजना पद्धति और भाव-वस्तु दोनों को ही व्यासजी ने अपनाया है । जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कि शाक्तों की निन्दा में व्यासजी कबीर का अक्षरशः अनुगमन करते हैं । बाह्याडंबर, दम्भ, पाखंड, धूर्त पंडित और ब्राह्मणों की भर्त्सना तथा व्रत-नियमों का मिथ्याचार दिखाने में भी कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । कहीं-कहीं तो शब्द-चयन में भी कबीर की शैली को स्वीकार किया है :—

करैं व्रत एकादशी हरिप्रसाद में दूरि ।
बांधे जमपुर जायेंगे मुख में परिहै धूरि ॥

अष्टछाप के कवि सूरदास और नन्ददास का भी अव्यक्त प्रभाव व्यासजी की पद-रचना पर पड़ा है । रासपंचाध्यायी के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न विवादास्पद ही है कि व्यासजी की पंचाध्यायी उनकी न होकर सूरदास रचित है और सूरसागर में इसे प्रकाशित भी किया गया है किन्तु इस पंचाध्यायी के हार्द का विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यह व्यासजी की है, कालान्तर में परिवर्तन द्वारा सूरसागर में समाविष्ट कर दी गई । श्री वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ में इसका विवेचन किया है और इसे व्यासजी की ही रचना ठहराया है । रासपंचाध्यायी लिखने की प्रेरणा का मूलस्रोत तो भागवत पुराण की रासपंचाध्यायी ही रहा होगा किन्तु नंददास की सुन्दर रचना भी प्रेरणा देने वाली मानी जा सकती है । सूरसागर के दो-एक पद भी व्यासवाणी से किंचित् परिवर्तन के साथ वहाँ रखे गये हैं । यथार्थ में वे व्यासजी के ही हैं । सूरदास का पद—

ऐसे बसियें ब्रज की वीथिनि
—सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पद सं० ११०८ ।

व्यासवाणी के पद—'ऐसेहि बसियें ब्रज बीथिनि' के साथ बहुत साम्य रखता है । भावना की दृष्टि से यह पुष्टिमार्गीय नहीं हो सकता अतः व्यासजी का ही मानना होगा ।

व्यासवाणी पर इस प्रभाव को हमने बाह्य इस कारण कहा है कि कबीर निर्गुण भाव के उपासक थे, सूरदास और नंददास वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त थे । इसी प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय की विरह भावना तथा परकीया भावना भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है । यह तत्कालीन बंगाली भक्त रूप और सनातन गोस्वामी का प्रभाव हो सकता है । यथार्थ में व्यासजी हितहरिवंश और स्वामी हरिदास के प्रभाव में ही रहे और उन्हीं की भक्ति-पद्धति को पल्लवित करने में लीन रहे ।

राधा के शरीर का रूपकातिशयोक्ति द्वारा विशाल चित्र खड़ा किया है :—

चंद्र बिंब पर बारिज फूले।
या पर फनि के सिर पर मनिगन, तर मधुकर मधुमद मिलि भूले।
तहाँ मीन, कच्छप, सुक, खेलत, बंसिहिं देखि न भये बिकूलै॥
बिद्रुम दार्यो में पिक बोलत, केसरि-नखपद नारि गरूले॥
सर में चक्रवाक, बक, व्यालिनि, बिहरत बैर परस्पर भूले।
रंभा सिंध बीच मनमथ धरु, तापर गान-धुनि सुनि सुख-मूले।
सबही पर धनु बरषत, हरषत, सर-सागर भये जमुना कूले।
पूजी भास 'व्यास' चातक की, स्थावर-जंगम भये बिसूले॥
—(उत्तरार्द्ध पद सं० ३७०, पृष्ठ २४८)

व्यतिरेक :—

चोको की चमकनि के आगें, दामिनि भई कुचैनी।
बसि पाताल व्यास नहिं आवत, जानि मन्यारी बैनी॥

भ्रम :—

भंवरन को सम्भ्रम कटि भँवरिन, भेंटत अलकनि आइ।
खेलत मैननि सौं खंजन, भुव धनुषहिं रहें उराइ॥
दार्यो दसन जानि सुकबाता, भंवरनि बाँधि अकुलाइ॥

व्यासजी ने अलंकारों का प्रयोग तो किया है किन्तु रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के उदाहरण कम ही मिलते हैं। व्यासजी ने अपने काव्य को कृत्रिम अलंकारों के भार से लादना नहीं चाहा।

व्यासजी की वाणी भक्तिरस से भरपूर है। उनमें कला और भक्ति का मणि-कांचन संयोग पाया जाता है। वास्तव मे व्यासजी उत्कृष्ट कलाकार और उच्चकोटि के भक्त थे उनका भावोद्गार ही काव्य बन गया है।

व्यासवाणी में संगीत और पिंगल

व्यासजी संगीतशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे यह बात उनकी 'रागमाला' नामक रचना से सिद्ध होती है। संगीत की छाप उनकी व्यासवाणी के पदों पर भी स्पष्ट है क्योंकि प्रत्येक पद किसी-न-किसी शास्त्रीय राग के अन्तर्गत बँधा हुआ है। उसे पूरी तरह गेय बनाने का आग्रह व्यासजी का रहा था। समाज में कीर्तन के लिए पद-रचना की प्रणाली उस समय सभी वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित थी। व्यासजी ने उसी को अपने काव्य के लिए उपादेय मानकर स्वीकार किया।

छन्दशास्त्र की दृष्टि से मुक्तक पद-रचना में छन्द का विशेष आग्रह नहीं होता क्योंकि उनका निर्माण लय, स्वर, ताल और नाद को दृष्टि में रखते हुए रागाश्रित अधिक होता है,

कि ये किस काल में, किस स्थान पर उत्पन्न हुए और किस सम्प्रदाय में दीक्षित होकर रचनाएं करते रहे।

जन्मस्थान और जन्म-संवत्

श्री चतुर्भुजदास के जन्मस्थान का संकेत हमें नाभाजी के भक्तमाल में उनके सम्बन्ध में लिखे गये छप्पय में मिलता है, जन्मस्थान के साथ ही सम्प्रदाय, छाप और गुरु का भी स्पष्ट संकेत है :—

गायो भक्ति प्रताप सबहि दासत्व बढ़ायो।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायो॥
मुरलीधर की छाप कवित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अंघ्रिरेनु बहै धारी सिर भूषन॥
सत्संग महा आनन्द में प्रेम रहत भीज्यो हियो।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौंड देश तीरथ कियो॥

उपर्युक्त छप्पय की टीका करते हुए वार्तिक तिलक में इस प्रकार लिखा है—

'अपने गुरु श्री हितहरिवंशजी के चरणों के बल से श्री चतुर्भुजजी ने 'गोंडवाना देश' अधम को तीर्थ समान पवित्र कर दिया। श्रीभक्ति का प्रताप भले प्रकार गान कर वहाँ के सब जीवों को श्री हरिदासता दृढ़ा दी और श्री राधावल्लभजी के भजन अनन्यता का परिवार अतिशय बढ़ाया। अपनी कविता में मुरलीधर की छाप रखते थे, आपका कवित्त अति ही निर्दूषण होता था, भगवद्भक्तों के चरणों की रेणु आपके अंग का भूषण थी। सत्संग में महा आनन्द देने वाले प्रभु के प्रेम से आपका हृदय भीगा रहता था।'[1]

ध्रुवदासजी ने आपका चरित लिखते हुए भी यही कहा है कि आपने अपने भक्ति के प्रताप से समस्त देश को पवित्र बना दिया।

स्वामी चतुर्भुजदास की बानी अति गंभीर।
परम भागवत अति भये भजन माँहि दृढ़ धीर॥[2]
सकल देस पावन कियो भगवत जसहि बढ़ाइ।
जहाँ तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लड़ाइ॥

भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने भी बड़े विस्तारपूर्वक आपके चरित्र की अनेक बातों का उल्लेख किया है। जिन प्रसंगों का प्रियादासजी ने उल्लेख किया है उनका चतुर्भुजदास के जीवन के ऐतिह्य से विशेष सम्बन्ध न होने पर भी चरित्रगत विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पहला प्रसंग श्री चतुर्भुजदासजी की भागवत कथा का है। किम्वदन्ती है कि एक बार भागवत कथा के समय एक चोर चोरी का द्रव्य लेकर कथा सुनने बैठ गया। कथा की शैली और कथावस्तु से प्रभावित होकर वह तत्काल आपका शिष्य हो गया और

1. भक्तमाल—नाभाजी कृत, छप्पय १२१, पृष्ठ ७१६। टीका वार्तिक तिलक।
2. भक्त नामावली लीला—ध्रुवदासजी कृत, (बयालीस लीला) पृष्ठ ३१

चतुर्थ अध्याय

श्री चतुर्भुजदास

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में श्री चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त बड़े भ्रामक रूप में अंकित होता रहा है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास के साथ मिलाकर एक कर दिया गया है और फलतः इनकी रचनाओं को अष्टछाप के भक्त कवि चतुर्भुजदास के नाम से लिखा गया है। यह भ्रम प्रारम्भ में मिश्रबन्धुओं की लेखनी से हुआ। मिश्रबन्धुओं ने राधावल्लभी चतुर्भुजदास की 'भक्ति प्रताप, 'द्वादश यश', और 'हित जू को मंगल' जैसी विख्यात रचनाओं को अष्टछापी भक्त चतुर्भुजदास के नाम से विनोद में लिखा। एक बार यह भूल हो जाने के बाद किसी ने इसके सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया। पंडित रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहासों में वही भ्रामक बातें लिखी हैं। डा० वर्मा ने तो अपनी ओर से यह भी जोड दिया है कि—"इनकी (श्री हितहरिवंश की) प्रशंसा में अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास ने 'हित जू को मंगल' लिखा था।[1]" आचार्य शुक्ल ने अष्टछापी कवि के तीन ग्रन्थ—'द्वादश यश' 'भक्ति प्रताप' और 'हित जू को मंगल' माने हैं।[2] डाक्टर दीनदयालु गुप्त ने इस विषय का सबसे पहली बार शोधपरक शैली से अनुशीलन किया और यह बताया कि उपर्युक्त तीनों ग्रंथो के रचयिता राधावल्लभी चतुर्भुजदास हैं, अष्टछापी नहीं।[3] डा० गुप्त ने अष्टछापी चतुर्भुजदास के नाम से प्रख्यात सभी ग्रंथों का प्रामाणिक एवं शोधपरक विवेचन करके दोनों का पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया है और ग्रन्थों के वर्ण्य विषय पर भी प्रकाश डाला है। हम इस विषय का पिष्टपेषण करना अनावश्यक समझ कर छोड़ रहे हैं। ग्रंथों के विषय में शोधपूर्ण कार्य होने पर भी किसी लेखक ने राधावल्लभीय चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त नहीं लिखा और यह बताने का कष्ट नहीं किया

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८४६।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २००।
3. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ २७८–२८०।

इसके आधार पर सम्वत् १६८६ इसका रचना-काल निर्धारित होता है। यदि इसी को अन्तिम रचना माना जाय तो सम्वत् १६९० के आसपास इनका निधन-काल ठहरेगा।

श्री गोविंद अली ने 'भक्त गाथा' में चतुर्भुजदासजी का चरित्र लिखा है और वैष्णवदास को इनका भाई बताया है। 'भ्रात चतुर्भुजदास के वैष्णवदास अनन्य'। गोविंद अली ने एक ही छप्पय में इनके चरित्र की अनेक बातों को समेटा है :—

(श्री) बनमाली गुरु आस वास बन गृह तज आये।
मुरलीधर सिरधार संत सम लाड़ लड़ाये॥
गोंड देश किधौं भक्त, प्रेत, देवी, नृप माने।
चोर भोर भयौ साह विदित सब संत बखाने॥
व्यास सुवन सन्तत बसे हिये निरमले नीर।
सुनौ चतुर्भुज जस गिरा द्वादस विमल गंभीर॥
—गोविन्द अली की वाणी (हस्तलिखित प्रति)[1]

चतुर्भुजदासजी के ग्रन्थ

श्री चतुर्भुजदास के ग्रंथ 'द्वादश यश' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी कई हस्तलिखित प्राचीन पोथियाँ उपलब्ध हैं। सेठ मणिलाल जमुनादास शाह अहमदाबाद ने इसे वि० सम्वत् १९९३ में प्रकाशित भी कराया था। इस ग्रंथ में बारह पृथक्-पृथक् यश गाये गये हैं। इन्हीं बारह यशों में तृतीय 'भक्ति प्रताप यश' भी है जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में अलग भी लिखा मिलता है। इसी प्रकार एकादश यश—'मंगल सार यश' है जो 'हितजू को मंगल' नाम से लिखा मिलता है। हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने 'द्वादश यश' के अतिरिक्त उक्त दोनों ग्रंथों को भी पृथक् गिनाया है। यथार्थ में ये दोनों ग्रंथ द्वादश यश के अंतर्गत ही हैं। प्रसिद्धि और प्रचार के कारण ये अलग-अलग लिख लिये गये और स्वतंत्र रूप से प्रसिद्ध हो गये। द्वादश यश में संकलित बारहों ग्रंथों का हमने विषय-वस्तु की दृष्टि से विस्तारपूर्वक अगली पंक्तियों में परिचय लिखा है। द्वादश यश के अतिरिक्त चतुर्भुजदास के फुटकर पद भी मिले हैं। इनके पदों का एक विशाल संग्रह श्री बाबा वंशीदासजी (हित आश्रम, वृन्दावन) के पास सुरक्षित है।

श्री चतुर्भुजदासजी की रचना ब्रजभाषा में है। ब्रजभाषा का माधुर्य ही आपकी रचना का प्राण है। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि आपने अपने ग्रंथ द्वादश यश की टीका संस्कृत भाषा में लिखी। यह टीका वृन्दावन में उपलब्ध है। टीका की संस्कृत सरल और प्रवाहपूर्ण है। हम यहाँ टीका के संस्कृत श्लोक का एक उद्धरण पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं—

---

1. भक्तगाथा—गोविन्द अली (वृन्दावन निवासी बाबा ५७.८ अलिजी के पास की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत—)

चोरी का सारा धन भी उसने साधु-सन्तों में वितरित कर दिया। इसी बीच चोर की खोज करते हुए राजा के सिपाही वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने चोर को पकड़ लिया। चोर ने राजा के दरबार में पहुँचने पर कहा कि मैंने इस जीवन में कभी किसी का कुछ नहीं चुराया है। अन्त में चोरी का निर्णय करने के लिए गर्म तेल के पात्र में चोर का हाथ डालकर यह निर्णय करना तय हुआ कि यदि चोरी की होगी तो हाथ जलेगा, अन्यथा नहीं। तेल के पात्र में हाथ डालने पर भक्त-चोर का हाथ नहीं जला। फलतः वह चोर सिद्ध न हुआ। यह देखकर राजा ने साहूकार को ही भला-बुरा कहकर दंड देना तय किया। तब चोर ने यथार्थ बात बता दी और कहा कि स्वामी चतुर्भुजदास की कथा का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मैं एकदम चोर से साधु हो गया। राजा ने जब यह सच्ची घटना सुनी तो वह भी स्वामीजी का शिष्य हो गया।

दूसरी एक और घटना भी स्वामीजी की साधु-निष्ठा प्रगट करती है। एक समय चतुर्भुजदासजी जब गृहस्थाश्रम में थे, आपकी खेती पकी खड़ी थी। संतों की एक जमात घूमते हुए उधर आ निकली और उन्होंने गेहूँ की बालें तोड़कर और चने के बूटे उखाड़ कर खाना शुरू कर दिया। खेत के रखवालों ने मना किया और कहा कि यह खेत चतुर्भुजदास का है। तब तो संतों ने और अधिक खेत को उजाड़ना शुरू किया। निदान शिकायत स्वामीजी के पास पहुँची तो वे नाराज होने की जगह बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आज मेरा खेत साधुओं के काम आ सका। तत्काल खेत में पहुँचे और संतों को निमंत्रण देकर अपने घर लिवा लाये और उनका श्रद्धापूर्वक अतिथि-सत्कार किया।[1]

श्री भगवत मुदित ने अनन्य रसिकमाल में चतुर्भुजदासजी का चरित्र १७५ पदों में लिखा है। उसमें प्रेतों के उद्धार की कथा तथा देवी को दीक्षा देकर वैष्णव बनाने की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है। चोर के दीक्षा लेने की कथा भी इसमें है। भगवत मुदित ने प्रथम दोहे में ही स्पष्ट कहा है कि आप हरिवंशजी के अनुयायी थे तथा आपने वनमाली (वन-चंद्र) गोस्वामी से दीक्षा ली थी। गोंडदेश में जन्म लिया था और रसिक होकर जीवन-यापन किया।

> चरण कमल हरिवंश बल, वनमाली गुरु आस।
> गौंड़ देश पावन कियौ, रसिक चतुर्भुजदास॥

गौंड देश में गढ़ा नामक प्रसिद्ध गाँव है। इसी गाँव में आपका जन्म हुआ। श्री सेवक जी के आप परम सुहृद कहे जाते हैं। श्री सेवकजी के साथ ही आपके जीवन का वर्णन मिलता है। सेवकजी के समवयस्क होने के कारण आपका जन्म सम्वत् १५८५ के आसपास ठहरता है। 'द्वादश यश' नामक ग्रंथ के द्वितीय यश में रचनाकाल इस प्रकार दिया है :—

> सम्वत् सोरह सौ चौरासी अधिक द्वै बरष सिरानो जू।
> मुरलीधर वर भक्ति चतुर्भुजदास प्रताप बखानो जू॥ —धर्म विचार यश।

---

1. भक्तमाल—नाभाजी कृत—टीका प्रियादास—पृष्ठ ७४३।

यह कर्म तो अन्य देवताओं के लिए है। और यह देवता भी हरि के बिना ऐसे हैं जैसे दर्पण और दीया नयन के बिना। तप, योग, यज्ञ से हरि की प्राप्ति नहीं होती। इनसे मन का अज्ञान-अंधकार नहीं मिटता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अन्य सब साधनों को छोड़ कर वह कृष्ण से प्रेम करे। प्रेम के वश में होकर ही भगवान कृष्ण ब्रज में रहते हैं।

प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी। ता बस अटके कुंज बिहारी॥

अतः मान, अपमान, छल-कपट, मोह-माया को छोड़कर केवल कृष्ण से रति करनी चाहिए।

२—धर्मविचार यश

इस यश के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म तथा उनके कर्तव्यों का उल्लेख है। ब्राह्मण वर्ण के धर्म और कर्म पर विस्तार से विवेचन है, शेष तीनों वर्ण विस्तार नहीं पा सके। चतुर्भुजदास कहते हैं कि धर्म विचार तभी मन में आता है जब दृढ़ विश्वास और भक्ति हो।

प्रथम वर्ण ब्राह्मण है। ब्राह्मण को पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वह शिखा, मेखला, मुंजी बंधन, दण्ड और कमण्डल को धारण करें। उत्तम भोजन अपने हाथ से तैयार करे और तृण पर सोये। वेद का अध्ययन तथा सब ग्रंथों के सिद्धान्तों का मनन करे। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वेद-विहित आचरण करे। फिर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करे। कन्दमूल-फल का भोजन करे, नख-केश रखे हुए बारह वर्ष बिताये। फिर संन्यास धारण कर शिखा और सूत्र का त्याग करे। विजयाहोम करे। तीन बार स्नान कर, दो वस्त्रों को धोकर धारण करे। धातु और ताम्बूल को कभी ग्रहण न करे। स्त्री की ओर न देखे। किसी भी क्षेत्र में पाँच दिन और गाँव में एक दिन बिताए। हरि का स्मरण करे। इस प्रकार से सायुज्य मुक्ति हो जाती है। योगी योग की युक्ति में लीन रहते हैं, प्राणायाम आदि युक्तियों से सिद्धि को प्राप्त करते हैं किन्तु फिर भी बिना हरि-भजन के पतित हो जाते हैं।

जोग जज्ञ तप दान ध्यान तें विषय बढ़त अति भारी जू।

क्षत्रिय का धर्म है कि रणक्षेत्र में युद्ध करता हुआ प्राण-विसर्जन कर स्वर्ग प्राप्त करे। उत्तम काल, देश, उत्तम वित्त तथा उत्तम ब्राह्मण को पाकर मन, वचन, कर्म को शुद्ध करने वाला यज्ञ करे।

वैश्य के कर्तव्य-कर्म, का स्पष्ट रूप से संकेत नहीं है। किन्तु वैश्य नाना प्रकार के कर्म करते हैं—धर्म व्रत, संयम आदि करते हैं किन्तु इनसे आवागमन का बंधन नहीं कटता। हरि भक्ति बिना कर्म के बीज नहीं मिटते। भक्ति के तेज से कर्म के अंकुर जल जाते हैं। नवधा भक्ति में से एक को धारण करने से सब अमंगलों का नाश हो जाता है।

श्वपच यदि जनेऊ धारण कर कर्म करता है तो नरक में पड़ता है। संसार को दुख देता है। किन्तु माला-तिलक धारण कर हरिगुण गान से संसार के भय दूर हो जाते हैं। इस यश को पढ़कर लगता है कि चतुर्भुजदास जी के वर्णाश्रम सम्बंधी संस्कार इस समय तक निर्मूल नहीं हुए थे।

'श्रीमद् व्यास कुले कलौ करुणया भृंगायमानान्सतः,
श्री राधापतिपादपद्म मधुरा भोदेव तीर्णरसम् ।
वन्दे प्रापयितुं निगूढतरमप्यात्मोक्ति रश्मिस्फुटम्,
दूराक्षिप्त समस्त लोक तिमिरं वैयासिकं भास्करम्' ॥[1]

उपर्युक्त श्लोक श्री हितहरिवंश जी की वन्दना का है। इस संस्कृत टीका में कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इस टीका के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि पहले चतुर्भुजदासजी ने संस्कृत का ही अध्ययन किया था। ब्रजभाषा तो ब्रज में आने के बाद सीखी और उसमें रचना की। द्वादश यश में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पुराण तथा विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान की छाप है। संस्कृत भाषा के गहन अध्ययन के बिना इस प्रकार के प्रसंग आना सम्भव नहीं अतः टीका के प्रणेता आप ही रहे होंगे यही मानना पडता है। हम नीचे संक्षेप में उनके ग्रंथों का सारांश दे रहे हैं। सारांश लिखते समय हमने प्रयत्न किया है कि चतुर्भुजदास जी की पदावली तथा शैली अक्षुण्ण बनी रहे।

१—शिक्षा सकल समाज यश

प्रथम यश में सांसारिक प्रपंच और मोह-माया में आबद्ध प्राणी को भक्ति की महिमा बताकर, निर्मल भाव से कृष्ण के प्रति आसक्त होने की शिक्षा दी गई है। चतुर्भुजदास जी की मान्यता है कि भगवान के यश-कथन और श्रवण के बिना सद्गति नहीं होती। हरि-भक्ति में कुल और कर्म का विचार नहीं होता। हरि-भक्ति-विहीन ब्राह्मण श्वपच तुल्य है तथा भक्ति-युक्त श्वपच सर्वोत्कृष्ट है। करोड़ो वर्षों तक पाप करने के उपरांत भी यदि अंतकाल में हरि-नाम स्मरण कर लिया तो उत्तम पद की प्राप्ति हो जाती है।

कोटि कल्प जो अघ अति कीने। अन्त काल हरि नामहि लीने॥
सो पुनीत उत्तम पद पावे।

विषय-भोग के पदार्थ, पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब आदि सांसारिक त्रासों को देने वाले हैं। 'माया को फल गृह सुत जाया। सब संसार धूरि-सी छाया।' विभिन्न इन्द्रियाँ भी भक्ति-विमुख प्राणी को इस प्रकार के नाच नचाती हैं, जिस प्रकार एक पति को बहु पत्नियाँ। यह दुख तभी मिट सकता है जब भगवान से रति हो जाए। कंचन और कामिनी से मोह रखने वाला व्यक्ति वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

विधि-निषेध से युक्त नाना कर्म मनुष्य को संसार में भ्रमित करते हैं। 'कोटिक कर्म-धर्म करि आवे। विषय-वासना चितहि नचावे।' कर्मों के साथ भक्ति का कोई मेल नहीं। जहाँ कर्म-विचार है वहाँ भक्ति हो ही नहीं सकती। कर्म के साथ भक्ति की स्थापना करना काजल को सफ़ेद करना है :—

जहाँ कर्म तहाँ भक्ति न आवै। रवि छत कैसे रात बतावै॥
कै काजर को सेत बनावै। कर्मनि मांझ भक्ति तौ पावै॥

---

१. द्वादश यश की संस्कृत टीका—(हस्तलिखित प्रति) श्री बाबा वंशीदास जी, वृन्दावन की प्रति से उद्धृत

मोह को छोड़कर, राग को भूल अनन्य भाव से हरिदर्शनार्थ भजन करता है किन्तु हरिदर्शन के पश्चात् सब यही वर मांगते हैं 'देहु साधु संगति हमें।'—'ताते सन्त सबते बड़े।' राजा पृथु, प्रचेतन, प्रह्लाद आदि सच्चे भक्तों की यही कामना थी।

स्वयं भगवान ने भी सन्तों की महिमा का गान किया है। अपने प्रिय भक्तों को सत्संगति के लिए प्रेरित किया है। कृष्ण कहते हैं कि मेरे भक्तों में ही सकल तीर्थ और देवता रहते हैं, मेरे भक्तों का भजन करने से मेरी भक्ति से अधिक आनन्द मिलता है।

मेरे भक्त जहाँ हैं रहत। तहाँ सकल हरि तीरथ कहत।
सुख आनन्द सदा तहाँ॥
भक्त बदन ब्रह्मा को बास। शिर हों, शंकर नाभि निवास।
पग किन्नर गन्धर्व सब॥
मेरे जनगावत हैं जहाँ। संतत पंथ बसों हो तहाँ।
ताते तू सन्तन भजहि॥
भक्तनि भजे सु मेरो दास। मोहि भजै सुख लहे न तास।
संत प्रतापहि गाइहों॥

हरि, व्रत, यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, योग, नियम, संयम, प्राणायाम आदि से प्राप्त नहीं होते—

व्रत मख जज्ञ छद तप दान। तीरथ योग नेम जम प्रान।
इन सबहिन के वश नहीं॥
सतसंगति बस रहों सही।......

सत्संगति से पशु-पक्षी भी पार लग गए। जो इन्द्रिय-स्वार्थ में लिप्त रहते हैं वे सदा कष्ट पाते हैं—जन्म-मरण के बंधन में पड़े रहते हैं। यम और भव के दुखों के निवारणार्थ संतों की चरणरज धारण करनी चाहिए। चतुर्भुजदास कहते हैं कि जो इस यश को धारण करते हैं वह अति सुखपूर्वक भवसागर पार कर जाते हैं।

५—शिक्षासार यश

पंचम यश में गुरु शिष्य के संबंध तथा शिष्य के नित्य-नैमित्तिक कर्म पर विचार किया गया है। भक्ति के लिए गुरु अनिवार्य है। गुरु उसी को बनाना चाहिए जो वर्णाश्रम से पृथक्, इन्द्रियजित, अनर्पित भोजन न करने वाला, अन्य देवताओं की आराधना न करने वाला, सत्यभाषी, विषय-वासना से रहित, जगतप्रसिद्ध, चारों सम्प्रदायों से पूर्ण परिचित, मंत्र-तंत्र-भेदज्ञ, वेद तत्वज्ञ हो। ऐसे गुरु से मंत्र लेकर उसकी शिक्षा पर दृढ़तापूर्वक शिष्य को आचरण करना चाहिए।

दीक्षा-प्राप्त शिष्य को नियमानुकूल नित्य आचरण करना चाहिए। वह प्रातः उठकर हरि को जगाए—उनका स्मरण अथवा गुणगान करे। मृत्तिका से शौच कार्य करे। दस बार बाएँ हाथ को मिट्टी से धोए, फिर सात बार दोनों हाथों को धोए। दो बार चरणों को धोए। फिर कड़वी दातौन करे। विधिपूर्वक स्नान कर दण्डाकार छिद्रयुक्त नासिका के अग्रभाग से लेकर केश-पर्यन्त रामानुजी (?) तिलक लगाए और हरि को तुलसी माला अर्पित करे तथा

संवत् १६८६ में यह यश लिखा गया ऐसा इसके अन्तिम पद से स्पष्ट है।

३—भक्तिप्रताप यश

तृतीय यश में भक्ति का महत्व-गान है। पौराणिक कथाओं के आधार पर भक्ति के प्रताप का उद्घाटन किया गया है। चतुर्भुजदासजी कहते हैं आगम निगम रूपी नीर-क्षीर में से संतों-रूपी हंसों ने जिस भक्ति-रूपी क्षीर को निकाला उसी का वर्णन करता हूँ। नवधा भक्ति में से एक का पालन करने से मुक्ति मिल जाती है।

नवधा भक्ति एक जो करै भवसागर नारी नर तरैं।

हरि की ओर यदि कुभाव से भी देखा या स्मरण किया जाए तब भी उद्धार हो जाता है जैसे कंसकुल, अघासुर, शिशुपाल, राजा पौण्ड्रक, पूतना आदि। भगवान तो भक्तों के वश में रहते हैं। जिसने एक बार भी ज्ञान या अज्ञान अथवा स्वार्थ से हरि-नाम ले लिया उसको भी पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो गई जैसे अजामिल। ऋषि माण्डव्य ने सहस्रों वर्ष तप किया किंतु कर्मबंधन नहीं कटे। राजा नृग की भी भक्ति बिना बुरी गति हुई। भक्ति का प्रताप ऐसा है कि यमगण भी भक्त के पास जाते डरते हैं।

आर्त्त भक्त की पुकार पर हरि स्वयं कष्ट-निवारणार्थ दौड़े चले आते हैं। द्रौपदी का चीर बढ़ाया, गज को ग्राह से छुड़ाया, पाण्डवों की रक्षा की। प्रेम के अधीन हो यशोदा से बन्धन में बंधे, गोपियों के ऋणी रहे। अर्जुन के सारथी बने, प्रह्लाद की रक्षा की। भगवान कृष्ण भक्तों के दुख से दुखी हो जाते हैं, भक्ति में कुल-कर्म को भी नहीं जानते, भक्तों के मन को प्रसन्न करने वाले कार्य करते हैं। नामदेव, कबीर, सेना, धना, रैदास आदि अधम कुल वालों, व्याध, गीध, गनिका जैसे पापियों का उद्धार किया। चार वेद ज्ञाता हरि-विमुख ब्राह्मण से श्वपच भक्त महान है।

जो हरि-रूप को हृदय में, नाम को मुख में, प्रसाद को उदर में धारण करता है, तन-मन कृष्ण को अर्पित कर देता है, सत्संगति करता है, भक्तों की निंदा नहीं करता, हरि-स्मरण करते हुए जो आनन्दित, पुलकित हो जाता है, नेत्रों में जल भर लाता है वही सच्चा भक्त है, मुक्ति उसकी दासी है।

४—सन्त-प्रताप यश

इस यश में संतों के प्रताप और सत्संगति की
कपिल मुनि की साक्षी देकर अपने मत का
भयभीत है उसको निरन्तर सत्संगति करनी
सत्संगति से ही लोकापवाद निर्मूल हो जाते
राज्य-सुख भी हेय हैं :—

स्वर्ग

साधु
प्रकार

जो विषयों के आधीन हो सत्पथ छोड़ कुपथ ग्रहण करता है वह अगणित जन्मों में भ्रमित होता रहता है। उसे ब्यालीस लाख जल-जीवों की तथा ब्यालीस लाख थल-जीवों की योनियों में भटकना पड़ता है। साठ सहस्र वर्ष वृक्ष की योनियों में जाकर वर्षा, गर्मी और शीत सहन करना पड़ता है। तब गो-योनि प्राप्त होती है। बहुत बार गो-योनि को प्राप्त हो मनुष्य-योनि का अवसर आता है। यमदूत अनेकों बार पापकुण्डों में डाल कर अति दुख-दायी यातना देते हैं। फिर जननी के गर्भ में आकर पिछले कर्म याद आते हैं और भगवान से प्रार्थना करता है कि यदि अबकी बार इस दुख से छुट गया तो कृष्ण को छोड़ और कहीं नहीं जाऊँगा किन्तु जन्म ग्रहण करते ही सब कुछ भुला देता है। अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म करता है। यौवन कामवासना में खो दिया। वृद्धावस्था आ जाती है। तब तृष्णा और उद्दीप्त हो जाती है। इस प्रकार मृत्यु आ जाती है और परिजन एक पल भी घर में नहीं रखना चाहते। मरने पर प्रेत कहलाने लगता है। इस प्रकार अनेक योनियों में जन्म ले मनुष्य दुखी होता रहता है। यम भी जीव पर करुणा कर कहने लगता है—

बार-बार ह्याँ तू कत आवै। भूतल गये न हरि गुन गावै॥
राधावल्लभ चरन उपासहि। तौ कत सहतौ एतौ त्रासहि॥

\+ \+ \+

मन बच कर्म हरिहि भजि भाई। ता तन हम पै हेर्‌यो न जाई॥

हरि-स्मरण से ही जन्म-जन्म की यातना का निवारण हो सकता है।

७—पतितपावन यश

इस यश में कृष्ण की पतितपावन प्रकृति का वर्णन उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है।

कृष्ण पतित-पावन है, निर्धन के धन, अकुलीनों के कुल, सन्तरिपु के लिए काल-सदृश हैं:—

निरधन को धन दीनदयाल। अकुलिन को कुल नन्द को लाल।
तो काल सन्तरिपु को सही जू।

पतित-पावन हरि केवल नाम-स्मरण से ही अधम से अधम पापियों को पार कर देते हैं जैसे पिंगला, अहिल्या, व्याध, अजामिल आदि। शबरी के जूठे फल ही खाकर उसे निजधाम दिया। अपने पतित पावन स्वभाव से राक्षस, गीध, पक्षी, पशु, कपि, अन्त्यज को भी भवसागर से पार लगा दिया। हरि कुलविचार भी नहीं करते। उन्होंने नारद, विदुर, कबीर, रैदास को भी पवित्र कर दिया। भक्ति में वर्णगत भेद-भाव मिट जाता है:—

चारि बरन हरिको भजें, एक बरन ह्वै जात।
अष्टधातु पारस परसि, एकै मोल बिकात॥

८—मोहिनी यश

इस यश में माया की प्रबलता का वर्णन है। माया ने अज, भव, सुर, नर, ऋषि सबको अपनी सुन्दरता से मोहित कर लिया। इसने बड़े-बड़े तपस्वी, सामर्थ्यवान लोगों को भी ईश्वरभक्ति और सद्मार्ग से विचलित कर दिया। इसी माया के प्रभाव से दक्ष प्रजापति

स्वयं भी धारण करे। माला के बिना जलपान न करे। प्रथम गुरु का ध्यान करे फिर मूलमंत्र का स्मरण करे तदनन्तर विधिपूर्वक हरि की आराधना करे। शुद्ध पकवान का भोग लगाकर भक्तों-सहित स्वयं प्रसाद ग्रहण करे। इस प्रकार जो कुल-कर्म छोड़ भक्तों की रीति पूर्ण करता है वह परम पद प्राप्त करता है।

नित्यकर्म के साथ शिष्य गुरु की शिक्षा को भी सदैव स्मरण रख तदनुसार आचरण करे। गौ और बछड़े का वियोग न करे, कर्कश वचन को हत्या-पाप के सदृश समझे, अपने तन को तृण से भी तुच्छ समझे, अमानी को मान दे, वृक्ष के समान सहन-शील बने, जिह्वा से हरिनाम ले। बैल-बछड़े पर कभी पैर न रखे, अकारण जल को अस्थिर न करे। गांव और वन में आग न लगाए, अनर्पित भोजन न करे, क्रोध-वशात् आत्मघात न करे, जुए की ओर दृष्टिपात तक न करे, मद-मांस का परित्याग करे, अन्य देवताओं का ध्यान न करे। परस्त्री को माता समझे, स्वर्ण को लोह सदृश समझे, तृण आदि की भी चोरी न करे, अपने समान सबको समझे, काम, क्रोध, तृष्णा को छोड़ दे। सावधानी से हरि के मन्दिर में जाए। जूता पहन कर न जाए तथा सम्मुख जल फल आदि ग्रहण न करे। अपवित्र उच्छिष्ट न छोड़े, आसन बांध कर पास न बैठे, सामने पांव न फैलाए तथा अनुग्रह करे। अपने दान का अभिमान न करे, निन्दा से दूर रहे। हरि की ओर पीठ न करे। दंडवत प्रमाण करे। यथाशक्ति उपहार दे तथा उत्तम अन्न, फल-फूल अर्पित करे। बिना अर्पित किए यदि स्वयं ग्रहण किया तो यमपुर जायगा।

गुरु को हरि के सदृश समझना चाहिए। शिष्य गुरु के सामने अपनी बात (अभिमान) न कहे। गुरु की छाया का उल्लंघन न करे और गुरु के होते शैय्या पर पैर न रखे, परों में जूते न पहने। इतने समीप से बात न करे कि गुरु को शिष्य की ऊष्ण वायु का स्पर्श हो।

जो हरि-विग्रह को शिला समझे, गुरु को सामान्य मनुष्यों के समान समझे, कृष्णमंत्र को साधारण वचन सदृश माने, और हरि को अन्य देवताओं सदृश समझे, वह शिष्य नरक-वास करता है।

इस प्रकार सावधान होकर नवधा भक्ति करे। श्रवण, कथन, स्मरण में मन लगाये तथा निरन्तर सत्संगति करे। अल्प आयु में सब कुछ छोड़ हरि का स्मरण करो, सब सुखों की प्राप्ति होगी। अन्य देवता की उपासना करने से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। जैसे:—

> भूखे हाथ पांव इन्द्रिन दुख। भोजन करत सबै पावैं सुख ॥
>
> छोर छांड़ कर चरन लपेटैं। होहिन बल, बिनु प्रानिन मेटैं ॥

इस यश को पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना चतुर्भुजदासजी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले की होगी। रामानुजी तिलक, तुलसी-पूजा, नवधा भक्ति की कठोरता तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता आदि हमारे इस अनुमान के पोषक हैं।

६—हितोपदेश यश

इस यश में चौरासी लाख योनियों में जीव का भ्रमण, जन्म-मरण, यातना, मानव जीवन की दुर्लभता आदि विषयों पर विचार किया गया है।

राधा सर्वत्र वृन्दावन में निवास करती है। जैसे फणि मणि का त्याग एक पल के लिए नहीं कर सकता, जल और जलतरंग भिन्न नहीं हो सकते, सूर्य और धूप छाया और वृक्ष साथ रहते हैं उसी प्रकार कृष्ण और राधा निरन्तर साथ रहते हैं। राधा का सामीप्य प्राप्त करना अति कठिन है। ब्रह्मा साठ सहस्र वर्ष तप करके भी गोपियों की चरण-रज प्राप्त नहीं कर सके। जब महाप्रलय हुआ और हरि ने शेष-शैया ग्रहण की तब वेदों की स्तुति पर उनकी प्रत्येक ऋचा को गोपी होकर विहार में सम्मिलित होने का वर प्रभु ने दिया। श्री राधा के चरणों की वन्दना करने से आनन्दसिन्धु प्राप्त हो जाता है।

जो राधा की आराधना करता है उस पर कृष्ण कृपा करते हैं तथा श्रीकृष्ण का नाम स्मरण करने पर राधा कृपा करती है :—

जो सेवें श्री राधा नाम। ता कहँ कृपा करे अतिश्याम

श्याम नाम, राधा कृपा।

राधा की सखी बनने के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ती है। ब्रह्मज्ञानी अपनी ज्ञान की कठोर साधना से राधा की सखी नहीं बन सकता। प्रेमलक्षणा भक्ति से ही राधा का साहचर्य प्राप्त होता है। भक्त राधा-भक्ति के सामने मुक्ति का भी त्याग कर देते हैं। कृष्ण भी राधा की नवधा भक्ति कर परम आनन्द प्राप्त करते हैं। कृष्ण राधा का यश सखियों से श्रवण करते हैं, रात-दिन राधा नाम जाप करते हैं, मन में स्मरण करते हैं। चरणों में जावक लगाकर पाद-सेवन करते हैं। मृगमद तिलक लगा, माला, भूषण, वस्त्र पहनाते हैं तथा पान खिलाकर अर्चन-पूजन करते हैं। राधा के चरणों में शीश रख वन्दना करते हैं। दास्य भाव से तन-मन अर्पित कर देते हैं। राधा का मधुर संग प्राप्त करने के लिए निवेदन करते हैं। उनके साथ नित्यविहार करते हैं। कृष्ण राधा की प्रत्येक क्षण आराधना करते हैं इसी से राधा का नाम राधा पड़ गया। राधा और कृष्ण एक प्राण दो शरीर हैं। इनकी लीला में नेम नहीं, केवल प्रेम है। शेष, स्वयंभू, शंभु भी इस लीला का आदि, मध्य, अन्त नहीं जानते। कर्म-धर्म, व्रत का त्याग कर, राधावल्लभ की लीला का भजन करने से इस रस की प्राप्ति होती है।

११—मंगल सार यश

इसमें हरिवंश जी का तथा उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेमलक्षणा भक्ति का यशोगान किया गया है।

हरिवंश का नाम मंगलमय है। उससे सुख की सार, मधुर प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है, सांसारिक द्वन्द्वों का नाश हो जाता है। उनकी वाणी के माधुर्य से कृपा करके किशोर-किशोरी वृन्दावन में निवास करते हैं। वहाँ माया और काल-रूपी सर्प नहीं जाते :—

माया काल-व्याल डर तातें नेकु न नियरो आवै हरि जू॥ हरिवंशजी द्वारा स्थापित मार्ग पर चलकर रतिक्रीड़ा-लीन हरि-राधा के दर्शन होते हैं।

सतयुग में वेद-विदित भक्ति से महानिधि प्राप्त होती थी। त्रेतायुग में स्मृति-शास्त्र का प्राधान्य रहा, द्वापुर युग में यज्ञ-याग की रीति प्रचलित थी किन्तु कलियुग में अल्पज्ञ और

हुआ, इन्द्र सहस्र-लोचनकारी हुए, रवि बारह खंड में विभक्त हुआ, कश्यप वन-वन भटके, विश्वामित्र की तपस्या भंग हुई, परासर और भृगु जैसे ऋषियों के चित्त चचल हो गए। माया का व्यापक प्रभाव है—विस्तृत राज्य है। कुमति, तृष्णा, विषयादि इसकी परम सखियाँ हैं, मोह सैंया है, काम-क्रोध अनुचर हैं जो मनुष्य के ज्ञान-रूपी रत्न का हरण करते हैं। इस माया ने किसी को दिगम्बर बना दिया, किसी को जटाधारी, तो किसी का सिर मुँडवा दिया, किसी को जल में तो किसी को थल में रमा दिया। इस प्रकार माया सबको नाच नचाती है। कर्म-धर्म तथा तप, यज्ञ करने वाले ज्ञानी भी इस माया से नहीं बच पाए। यह अल्प सुख दिखा महाकष्ट देती है। किन्तु कृष्ण-भक्तों के पास आती हुई यह डरती है, उनको संसार में भ्रमित नही करती।

९—अनन्य भजन यश

इस यश में जप, तप, कर्म-धर्म, व्रत-नियम आदि का खंडन कर भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

जो वर्णाश्रम धर्म और कर्म का पालन करते हैं वह केवल वर्णी और आश्रमी होकर रह जाते हैं—उन्हें हरि प्राप्त नही होते। भक्ति कर्म-धर्म से पृथक् है, और बिना भक्ति हरि की प्राप्ति संभव नहीं। अनन्य भाव से हरिनाम स्मरण से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। इसी से हरि सहज प्राप्त हो जाते हैं। चाहे करोड़ों गौ दान करो, ग्रहण और संक्रान्ति पर काशी और प्रयाग स्नान करो, एक कल्प तक व्रत रखो, सुमेरु जितना स्वर्ण दान दो किन्तु यह सब हरिनाम-स्मरण तुल्य नहीं हो पाते। इनसे हरि सन्तुष्ट नही होते। एकादशी के व्रत और भोग से सन्तों को कष्ट होता है क्योंकि व्रतोपवास करने से महाप्रसाद का अपमान होता है। महाप्रसाद से बढ़कर कोई प्रसाद नहीं। अनन्य भाव से कृष्ण की उपासना करने से ही प्रभु प्रसन्न होते हैं। भागवत में इसी भक्ति का गान है। शुकदेव ने भी पंचाध्यायी में इसी भक्ति का उल्लेख किया है। जयदेव ने भी राधाकृष्ण के गीत गाए हैं। कबीर और नामदेव ने मिश्रित रूप से राधाकृष्ण ही की उपासना की है। श्री हरिवंश ने उस भक्ति को सबके लिए प्रकट कर दिया। ऐसी भक्ति को पाकर निर्गुण की उपासना नही की जाती :—

निरालम्ब मन महि नहिं आवै। वचन अगोचर कहि क्यों पावै।

बिना गुण वाले निर्गुण का गुणगान सभव नहीं। सगुण हरि के गुणगान से जन-सामान्य को भी मुक्ति मिल जाती है। सगुण कृष्ण के भजन से अनन्य पद मिलता है। इस अनन्य भेद को मूर्ख भी समझ सकता है किन्तु ज्ञानी नहीं समझ सकता :—

कै पण्डित कै मूरख मानै। ज्ञान दग्ध नहिं मन नहिं आनै।

१०—राधा सु प्रताप यश

कृष्ण की अनन्य भक्ति का प्रतिपादन पिछले यशो में हुआ है। इस यश में राधा का विशेष रूप से माहात्म्य प्रकट किया गया।

राधा के श्रेष्ठ नाम के स्मरण से परमसुख, अभयदान और परमधाम की प्राप्ति होती है।

जो सुमिरै राधावर नाम, सब सुख सिन्धु अभै निज धाम॥

के बिना नहीं मिटते। अनन्य भक्ति के बिना भवसागर पार करने की कामना करना कुत्ते की पूँछ पकड़कर सागर पार करना है। सब छल-कपट छोड़कर हरिभजन करने से ही भवसागर पार किया जा सकता है :—

सकलतु बल छल छाड़ि मुग्ध सेवैं मुरलीधर।
मिटहिं महा भव द्वन्द्व फन्द कटि रहि राधावर॥

द्वादश यश में सिद्धान्त-प्रतिपादन

चतुर्भुजदासकृत द्वादश यश में मूल रूप से भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक यश प्रेमलक्षणा भक्ति की पुष्टि में लिखा गया प्रतीत होता है। उनके मत में भक्ति ही एकमात्र साधन है जिससे हरि की प्राप्ति सम्भव है। हरि भक्तों के लिए ही जन्म लेते हैं, उनके दुख से दुखी होते हैं और उन्हे जो अच्छा लगता है वही करते हैं :—

भक्तनि के दुख दुखित श्याम। भक्तन हेत जनम क्रम नाम
भक्तनि भावै सो करे।

नवधा भक्ति में से एक भी करने से नर-नारी भवसागर पार हो जाते हैं—

नवधा मध्य एक जो करैं। भवसागर नारी-नर तरैं।

कृष्ण के नाम-स्मरण मात्र से ही उत्तम पद की प्राप्ति हो जाती है। चाहे कितना भी कर्म-धर्म क्यों न करो किन्तु हरिनाम-स्मरण के बिना वह सब व्यर्थ हो जाते हैं :—

१—कर्म धर्म देवन को जो फल। भक्ति बिना भटकत ज्यों खल नल॥
२—कोटि कलर जो अघ अति कीने अन्तकाल हरिनामहिं लीने।
सो पुनीत उत्तम पद पावै।

प्रेमाभक्ति ही सर्वोत्तम है। इसके वश में होकर स्वयं हरि बंधन में बंधते हैं। ब्रज में इसी के कारण निवास करते हैं :—

प्रेमभक्ति ब्रज में अति भारी। ता बस अटके कुंजबिहारी।

भक्त इसी प्रेमभक्ति रस की कामना रखते हैं। यह रस सुरासुर को भी दुर्लभ होता है। चतुर्भुजदास जी ने प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है:—

सुख को सुख अब मोद मोद रसको रस एकत कीनो हरि जू।
सुधा सुधा को गुन को गुन ताको जु सार मथि लीनो हरि जू॥
ता सार को शोधि सर्वस लियो पुनि जु मापुरी लीनो हरि जू।
तब निज आनन्द प्रेम मिलै कै रुचि की रुचि जिन कीनो हरि जू॥
प्रेम लच्छना नाम तासु सुख सेवत सदा बिहारी हरि जू।

यह प्रेमलक्षणा भक्ति ही भक्त को इष्ट है। उसके सामने वह मुक्ति की भी कामना नहीं करता—

चार भक्ति मोहन वर देत। भक्त! भक्ति तजि ताहि न लेत।

इस भक्ति में नेम नहीं केवल प्रेम ही है—

रहि रस प्रेम मगन हरि भये। नित्य विहार बस्यावत नये।
नेम नहीं, जहाँ प्रेम है।

यवनों ने अपने प्रयत्नों से वेद-शास्त्र नष्ट कर दिए। पाखण्डपूर्ण धर्म का पृथ्वी पर राज्य हो गया। तत्त्व-रूप हरि-भजन लुप्त हो गया। सारा संसार शिवजी ने पागल कर दिया। तब व्यासनन्दन हरिवंश ने आगम-निगम रूपी सागर का मंथन कर सार निकाला। जो उनकी शरण में आए उनकी कर्म-जेवड़ी के बंधनों को काट दिया। उनकी वाक्-समीर से पाखण्ड के बादल उड़ गए। उन्होंने सारासार विचार रूपी कुल्हाड़ी से मोह-मद के वृक्ष काट दिए। मत्सर, दम्भ प्रपंच रूपी पर्वत को आनन्द रूपी तलवार से मिटा दिया। शुभ और अशुभ, पाप कालुष्य को प्रेम के सरोवर में डुबा दिया। इस प्रकार हरिवंश ने प्रेमलक्षणा नवधा भक्ति से दसवीं भक्ति का प्रचार किया। जो रसरीति सुर-असुर को दुर्लभ है वह अपनी वाणी में प्रकट की। नवधा भक्ति प्रेमभक्ति के साधन स्वरूप है। ब्राह्मण कुल के लिए चन्द्रमा के समान शीतल और रसदायी है। श्री हरिवंश ने कहा है कि 'जहाँ प्रेम तहाँ नेम नहीं।' यह प्रेम-भक्ति नेम से रहित होकर भी नेम और प्रेम से युक्त है।

'लीला नेम प्रेम पूरित घट रट राधा गुण गावत हरि जू।' इस प्रकार हरिवंश ने नित्य विहार रस को सुलभ बना दिया। हितहरिवंश की विमल वाणी से जगत जगमगा रहा है। इसमें भागवत और वेद का सार है।

१२—विमुख मुख भंजन यश

इस यश में भक्ति, कर्म, धर्म, व्रत, अनन्य भक्ति आदि विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है।

कर्म, धर्म व्रत, दान से हृदय की जलन नहीं जाती। वर्ण, धर्म, आश्रम, दान, व्रत आदि तो विवाद वचन के समान हैं। प्रेमलक्षणा भक्ति में कर्म नहीं टिकते। हरि भूत प्रेत की भक्ति, तथा व्रत आदि से प्राप्त नहीं होते। जहाँ कर्म-धर्म है वहाँ भक्ति नहीं। जहाँ रजोगुण और तमोगुण है वहाँ भक्ति नहीं—गाजर और बेर के बाजार में कपूर कहाँ। कर्म-धर्म करके किसी को मुक्ति नहीं मिलती और भक्ति करके किसको मुक्ति नहीं मिलती?

पतिव्रता नारी की भाँति अनन्य भाव से हरि की भक्ति करनी चाहिए। ससल्य से दूर रहना चाहिए। ससल्य वह है जो दीक्षा-मन्त्र से, अपने को कृष्ण का सेवक कहता है किन्तु अन्य देवताओं की ओर दौड़ता है, कर्म-धर्म को नहीं भुलाता, कामवासना में लिप्त रहता है। उसे अनन्य भाव के बिना यम की कठोर यातना सहनी पड़ती है।

अनन्य भक्त वह है जो—सुत, वित्त के प्रेम को तुच्छ समझता है, दैत्य-देवताओं की सेवा नहीं करता, वाणी से किसी अन्य का गुणगान नहीं करता, नेत्रों से किसी अन्य देवता के दर्शन नहीं करता, श्रवण से हरि-भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनता, चित्त से हरि-चिंतन के अतिरिक्त अन्य चिंता नहीं करता। मन-वचन को हरि के अर्पित कर देता है, सकल जीवों को हरि की सत्ता मानता है। हरिभजन में मन लगाता है। ऐसे अनन्य भक्त को किसी का भय नहीं होता।

नवधा में मन लगै तब कर्मनि क्यों डरि है।

कर्म से दुख ही प्राप्त होते हैं। कर्म, तप, व्रतादि को कृष्णार्पित करता हुआ भी जो भागवत को नहीं मानता वह करोड़ों कल्पों तक संसार में भटकता है। कर्म बीज अनन्य भाव

मानव-समाज को भक्ति का उपदेश देते हुए मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाले नाना दुखों के रूप का भी चित्रण किया है। भक्ति को अति सरल एवं सुबोध शब्दों में रखने का प्रयत्न 'द्वादश यश' में स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है।

द्वादश यश का कला पक्ष

द्वादश यश भक्ति-महिमा का स्रोत है। भक्ति का माहात्म्य बताना ही इनका अभीष्ट था अतः साधारण जनता के समझने के योग्य भाषा में विचार व्यक्त किए गए हैं। सरल ब्रजभाषा में लिखित होने पर भी यत्र-तत्र देशज तथा प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा पर बुन्देलखंडी की झपट इतनी अधिक है कि कहीं-कहीं ब्रजभाषा का रूप विकृत हो गया है। प्रचलित लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है जिससे भावाभिव्यक्ति स्पष्ट हो गई है :—

> हस्ती चढ्यो स्वान ते डरहि है ? कहा सांप पावक को करि है।
> दावानलहि न ओझ बुझावै। गज को प्यास न कुहुर गवावै॥
> नहीं प्रबल पावस को पानी रोके तृन यह कौने मानी।
> + + +
> स्वान पूँछ जलनिधि क्यों तरिये दीपक लिये कूप क्यों परिये॥

ब्रजभाषा के शब्दों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। कुछ अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग है जैसे कुरि (योनि), चवै (कहै), नानें (न्यून), फोकट आदि।

भावों को प्रांजल और स्पष्ट बनाने के लिए अलंकारों की भी सजधज मिलती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, निदर्शना का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। अलंकारों का सौंदर्य देखने के लिए कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

उपमा :

> माया को फल गृह सुत जाया। सब संसार धूरि सी छाया।
> बाजीगर को-सी सब चौंधी। तन की गति चपला सी कौंधी॥
> चारवाक् दुष्पनक छबि घुहुर समान तिमिर महा छाये हरि जू।
> तारातनय तरनि सम ह्वै कै अति तम तेज नशाये हरि जू॥

उत्प्रेक्षा :

> कमल बदन पर कुंचित केश, मानहु राजत मधुप सुवेश।
> सेत केश मृत की ध्वज मानो, भयो सही काल को पयानो॥

रूपक :

> दुरलभ तन पायो दुरलभ करि। गुरु संवट हरिनाम नाव धरि॥
> सखी कुमति अति तृष्णा विषया, जिहि तिहि भति नहि आने हो हरि।
> एकनि भरम भवन लै पैठत, मोह सेज तग सोवै हो हरि।
> काम क्रोध घर चोर सिरं कै ज्ञान रतन धन खोवै हो हरि॥

प्रेमा भक्ति में विधि-निषेध मर्यादा की आवश्यकता नहीं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विधिनिषेध मर्यादा का पालन प्रेम की तीव्रानुभूति में बाधक समझकर नहीं किया जाता। विधि-निषेध की उलझन में ही भक्त भटक जाता है, वह प्रभु मे एकात्मना लीन हो कर प्रेम नही कर सकता इसीलिए चतुर्भुजदास ने सर्वत्र विधिनिषेध आदि बाह्य बंधनों का भक्ति के क्षेत्र में तिरस्कार किया है। जहाँ कर्म को महत्व दिया जाता है वहां भक्ति का प्रवेश नही हो सकता :—

'ऐसे विधि निषेध साधन करि। होइ न अभै जो न सेवै हरि।
जहाँ कर्म तहाँ भक्ति न आवै। रवि छत कैसे रात बतावै॥"[1]

'विधि निषेध सब देई देवा। हरि सेवतनि करत सब सेवा।
सुधा सिन्धु तट प्यासो मरई। कर्म करै हरिभक्ति न करई॥'[2]

चतुर्भुजदास ने द्वादश यश में अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है अतः कर्मानुसार मनुष्य का जन्म-मरण होता रहेगा, वह कभी भी मुक्त नही हो सकता। भक्ति ही मुक्ति का साधन है :—

'कर्म धर्म तीरथ व्रत संजम इनके मारग न्यारे जू
आवागमन मिटै नहिं तिनतें, साधुनि सोधि विचारे जू॥'[3]
'एकादशी जू भोग लगावत ताते सन्त कछुक दुख पावत।'

चतुर्भुजदास ने स्थान-स्थान पर चार्वाक, क्षपणक, जैन. शैव, मायावादी, अनीश्वरवादी, शाक्त, सांख्य, बौद्ध-मतावलम्बियों के प्रति उग्र विचार प्रकट किए हैं :—

"चारवाक, छपनक, जैनी अरु मायावादी जेते जू।
शैवो, काल अनीश्वरवादी पशुपातादिक तेते जू॥
सांख्य बौध अरु न्याय तर्कमत चलत ते जम वास पठाये जू।
सुर अरि नाश, सुरनि के कारन शिव आपुन बौराये जू॥"[4]
"चारवाक छप्पनक छांव कुहुर समान तिमिर महा छाये हरि जू।
तारातनय तरणि सम ह्वै के प्रति तम तेज नशाये जू॥"[5]

स्वामीजी ने निर्गुणवाद का भी खडन सूरदास की भांति ही किया है :—

निरालम्ब मन महिं नहिं आवै, वचन अगोचर कहि क्यों पावै।
लीला रस जू भक्त हित कीन्हो, उन कन तजि छोकल मन दीन्हों॥
गुन बिनु धनुष काम नहिं आवै, ऐसे निरगुन गुन बिनु गावै।[6]

---

१. द्वादश (शिक्षा सकल समाज यश) पृष्ठ ३
२. वही वही पृष्ठ ४
३. वही (धर्म विचार यश) पृष्ठ ८
४. वही वही पृष्ठ ८
५. वही (मंगलसार यश) पृष्ठ ४६
६. वही (अनन्य भजन यश) पृष्ठ ३६

राग सारंग

मैं मोहन विहरत बन पाये।
मंजुल कुंज पुंज वर वीथिनि दंपति करत मोद मन भाये॥
उपजत गति जब चलत मुदित अति अंशनि पानि परस्पर नाये।
जनु घन दामिनि इन्दु उभैरवि उडुगन सहित एक मिलि आये॥
कबहुंक कंजकली हरि करि धरि प्रिया घ्रान सौरभ हित लाये।
है मनो बरं भेंटवे कारण कमल सुतावे सोभ मनाये॥
विकसत अब्ज समीप सु विधु के आनंदित अलिगन उठि धाये॥
क्रीडत निकट बरहि अहि मानौं अर्क मकर उर लाय खिलाये।
प्रमुदित पानि धरत उन रुह पर राजत अति एसें जु दिखाये।
कनक कुंभ पीयुष में पन्नग पद्म पत्रफन लाइ दुराये॥
औरे बहुत विनोद सखी री को गनि कहे कोटि गुन गाये॥
मुरलीधर अवलोकि चत्रभुज मकरध्वजके पुंज लजाये॥

मारत हो कत प्रेमहि लाजनि।
करत प्रेम पै नेम न विसरत करत फिरत विधि कुल के काजनि॥
पूरन प्रेम गनत गोपिनको सब कुल तजत जगत भई भ्राजनि।
तिनके प्रेम मगन मोहन भये तजिकें अखिल लोक के राजनि॥
हृदय बसत हरि नेम गयो टरि प्रेम रह्यो भरि विदित विराजनि।
ज्यों कुलवधू गरबवति कोपित प्रगट जपातन लाजनि॥
नीर जानि जब चीर सचे वृथा धरत मद कनको बाजनि।
कर्म धर्म करें काल न विसरत प्रेम कर भूंठो गाथनि॥
रह्यो रिद सूनो कंतपति ज्यों सरिता सागर हि समाजनि।
प्रेम परे निकरे न चत्रभुज मुरलीधर बरकरत निवाजनि॥

निरखत गति मन की पंग भई।
जुगल किशोर केलि कुंजनि में रुचिर भांति ठई॥
सुभग भाल मृग मद यति कलंक बढ़ावति पूरव समुझि दई।
पुनि जो गोरी श्यामा आनन हित हरि जू हाथ लई॥
मानों अंकुज उपहार दरपि ले शशि को जाई दई।
ललित भाल धरिप्रिया भज भुज मुख तन कपुक नई॥
मनों खग पति को त्रास कालमनि विधु को धाइ लई।
उपमा आन न मेरे जिय में अखिल लाके छिई॥
चत्रभुज मुरलीधर ओरी बनो विरच शोभा रितई॥

अर्थान्तरन्यास :

कर्म भरोसो करि शठ सोवै। उलमुख क्यों प्रकासतम खोवै ॥
दरपन दिया नैन बिनु जैसे। देव पितर सब हरि बिनु ऐसे ॥

प्रतीप :

कोटि चन्द्र-सुन्दरता सारु। लै जिनि रचे चरण नख चारु।
मुख शोभा वरणें कवन ॥
लोचन करत कछुक रज रही। खंजन, मीन, कमल मृग लही।
रोमहिं प्रति लजे मैन गन ॥

दृष्टान्त :

बिनु सत्संग भक्ति बिनु कीन्हे। है हरि निकट जात नहिं चीन्हें ॥
ज्यों तिल तैल रहै घृत पय महें। अग्नि दारु संयोग जहाँ, तहें ॥

द्वादश यश में विभिन्न राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है अतः संगीतात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होती है। विलावल, जयति श्री, धनाक्षरी, मारु, सारग, धनाश्री रागों का प्रयोग किया है। छन्दों में त्रिपदी, चौपाई, छप्पय आदि का प्रयोग है।

चतुर्भुजदास के द्वादश-यश का महत्व कला की दृष्टि से उतना नहीं है जितना भक्ति के क्षेत्र में उसकी भाव-सामग्री का है। द्वादश-यश की भावनिधि बहुत ही गंभीर और अगाध है।

'भक्तप्रसाद वेली' में चाचा वृन्दावनदास ने आपकी स्तुति में यह पद लिखा है :—

कियो गौड़ देश पावन सकल।
धर्म अनन्य धरि मन क्रम वच, चत्रभुज श्री हरिवंश बल।
सचित-भक्ति बल जिन उपदेसी, तारे भूत अनन्य थल ॥
माला तिलक इष्ट सम सेयो, मुरलीधर प्रभु छाप भल।
द्वादस यश हरि-हरिजन महिमा, कथौ उधारण महीतल ॥
अगनित विमुख किये, हरि सन्मुख जिन गंज्यौ पाखंड दल।
गुरु वनचन्द्र कृपा को भाजन, भक्ति तेज कियो नाश छल ॥
वृन्दावन हित रूप जाउ बलि जुगल रासि पायो सुफल ॥
—भक्ति प्रसाद वेली, पद सं० ९६।

श्री चतुर्भुजदास के द्वादश यश के अतिरिक्त कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध होते हैं। श्री बाबा वशोदासजी (वृन्दावन) के पास इनके पदों का प्राचीन संग्रह है। उसी में से कतिपय पद नीचे दिये जा रहे हैं :—

अबही आन विचारिये जू।
पुत्र कलत्र सजन सुपनें सौ जागे तें कछु न निहारिये जू ॥
नाना सुतनु विषै सुख भुगते भक्ति न कबहूँ संभारिये जू।
सुकृतन को फल लह्यो अमरपद तहाँ ते लै गहि डारिये जू ॥
जाको विरद पतित पावन है सो कैसे निमिष बिसारिये जू।
चत्रभुज मुरलीधरन भजन बिनु मनुवा जनम हारिये जू ॥

पंचम अध्याय

श्री ध्रुवदास

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त-कवियों में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदासजी की वाणी में उपलब्ध होता है वैसा किसी अन्य महानुभाव की वाणी में नहीं है। ध्रुवदासजी ने राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हितहरिवंशजी की भक्ति-पद्धति के भाष्यकार व्याख्याता थे। सेवक जी ने वृत्तिकार का कार्य किया था तो ध्रुवदासजी ने स्वतन्त्र रूप से व्याख्या और भाष्य प्रस्तुत किया। राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को हृदयंगम करने के लिए आपकी वाणी का अध्ययन-अनुशीलन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हमने सैद्धान्तिक विवेचन में श्री हितहरिवंशजी के बाद आपकी वाणी से ही सबसे अधिक उदाहरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किए हैं।

जन्म-संवत् और जन्म-स्थान

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आपके जन्म-संवत् के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं लिखा गया। आपके जीवन-वृत्त की रूपरेखा तैयार करने के लिए आपकी रचनाओं से ही सामग्री चयन की जा सकती है किन्तु उनमें भी तीन-चार ग्रंथों के रचना-काल के अतिरिक्त और कोई उल्लेख्य बात नहीं मिलती। हमने स्वयं देवबन्द (सहारनपुर) जाकर इनका जीवन-वृत्त जानने का प्रयत्न किया किन्तु कतिपय जनश्रुतियों के सिवा कोई प्रामाणिक वृत्त नहीं मिल सका। श्री भगवत मुदित और गोस्वामी जतनलाल कृत 'रसिक अनन्यसार' में इनका जो परिचय दिया है उसी के आधार पर यत्र-तत्र इनका चरित्र लिखा गया है। चाचा वृन्दावनदास ने अपनी 'भक्त प्रसाद बेली' में ध्रुवदासजी का वर्णन करते हुए इन्हें निकुंज-लीला की अन्तरंग सखी माहिली कहा है। किन्तु परिचय की दृष्टि से कुछ नहीं लिखा। अतः भगवत मुदित और जतनलाल गोस्वामी के रसिक अनन्यमाल को ही प्रमाण मानकर आपका जीवन-वृत्त लिखा जाता है। भगवत मुदित इनकी कथा के प्रारम्भ में लिखते हैं :—

राग विभास

सब मिलि आवो मंगल गावो गहगहे मृदंग बजावो।
घर घर कहत सकल नारी नर चंदन आंगन लिपावो॥
मोतिन चौक पुरावो विप्रनि विविधि दान सनमान करावो।
जनम घोस वनचन्द गुसांई द्वारनि वदन माल बधावो॥
कदली खंभ रुपाइ दीपावलि चित्रित कलस धरावो।
जै-जै शब्द करत सुरनर मुनि कुसुमावलि बरसावो॥
फूले फिरत सकल लोकन जन दुन्दुभि धुनि करवावो।
गोवर्द्धन हित चंदवधाई वृन्दावन के मांझ वसावो॥

राग विलावल

वारी मैं प्यारी हो जाऊं बलिहारी।
चलि कुंज गली दृग देखंगी भली॥
प्रिय सीतलराज रुचिर भ्राजत अति सब भांति भली॥
श्याम सुभग करि करिनी प्यारी कनक बेलि निर्मल सी कली।
प्रिये लाल गुलाल सुरंग रंग मधि पर वर रचि सेत भली॥
हिमकर की वापर छवि छाजत भ्राजत अति सब भांति भली।
पोप यहै रुचि चरन चिह्न अति प्रात गात चाहत बलि लाल मली॥
अतन ताप तन दाप दमत अवलोकत अवनि नलिन अवली।
प्रिये कुंज पुंज वर धाम अभिराम कामकुल केलि थली॥
त्रिविधि पवन सुख भवन तवनि तजि भवन करि कहि ललित लली।
गंध शिखर वर झुपनि निर्भर घोर कमल कर लाल रली॥
बीच बीच छवि छिरकि छोटे कवि चित्रित असित धाराधवल।
कुसुमाकर मधुकर भ्रम भ्राजत छाजत गुच्छ मवली॥
झुलत भंवर गति अति रवनी अवनी पर परम पराग कली।
फल दल द्रुम कमनीय विराजत छाजत ललित लवंग फली॥
कोकिल कल पुनि मिलि धुनि धावत मुनि मन की मनसा सुहली।
तब हित रचि पचि सचि सुंदरि वर जुग वन तन गति मति बदली॥
वचनि रचनि पुनि सुनि वृन्दा के कुंवरि कृपा करि मिलनि चली॥
मिलनि हिलनि की कौन मति मदन कदन सेज्या सुदली॥
जैश्री चत्रभुजहित मुरलीधर वर रति गति आनल ललितादिक महली॥

आज भी आपके वंशज निवास करते हैं। पुरातन घर भी अभी तक उपस्थित है किन्तु आपके वंशजों में आज वैसी वैष्णव-भावना नहीं है।

वंशजों के विषय में प्रसिद्ध है कि वीठलदास (ध्रुवदासजी के पितामह) श्री हितहरिवंशजी के शिष्य थे और जूनागढ़ स्टेट में दीवान थे। ध्रुवदासजी के पिता श्यामदास भी परम भक्त और साधु-सेवी पुरुष थे। इन्होंने हित जी के पुत्र श्री गोपीनाथ जी से राधावल्लभीय दीक्षा ग्रहण की थी। 'राधावल्लभ भक्तमाल' में इनके पिता को विजनौर के राजा सोमदेव के यहाँ नौकर लिखा है।[1] वीठलदास का नाम तो राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनेक जनश्रुतियों में मिलता है। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु जूनागढ़ में उसी दिन हुई जिस दिन वृन्दावन में श्री हितहरिवंश का निकुंज-गमन हुआ। यह भी किम्वदन्ती है कि ध्रुवदासजी परम्परा से राधावल्लभी थे अतः जन्मगत संस्कारों के प्रभाव के कारण शैशव में ही विरक्त हो गये और दस वर्ष की अल्पायु में वृन्दावन चले आये। वृन्दावन आकर भजन-पूजन में ऐसे लीन हुए कि उन्हें अपने चारों ओर के संसार का कुछ बोध नहीं रहा। अपनी भजन-भावना में लीन होकर जब उन्हें सांसारिक विषयों का बोध न रहता तब वे वाणी-रचना करते। इस लीन दशा को कुछ लोगों ने उनकी 'सूरदशा' कह दिया है और इसी आधार पर उन्हें जन्मांध समझने की भूल की है। यथार्थ में उनकी रचनाओं में कहीं भी अन्ध दशा का प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत नहीं है। हाँ, भावना की लीनदशा का वर्णन अवश्य मिलता है, उसे जन्मांध दशा नहीं समझना चाहिए।

दीक्षा-गुरु

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि—'ये श्री हितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। यह जनश्रुति आज भी प्रसिद्ध है कि पहले इन्होंने आराधना के बल से स्वप्न में मंत्र प्राप्त कर लिया था किन्तु मर्यादा-रक्षा के विचार से इन्होंने हित महाप्रभु के तृतीय पुत्र श्री गोस्वामी गोपीनाथ जी से विधिवत् दीक्षा ग्रहण की थी। गोस्वामी गोपीनाथ जी देववन्द में ही निवास करते थे और उनके पास श्री रंगीलाल ठाकुर की सेवा-परिचर्या का दायित्व था। गोस्वामी जी का जन्म काल-सम्वत् १५८८ है। श्री ध्रुवदासजी ने भी गोस्वामी गोपीनाथ जी का गुरु-रूप में उल्लेख किया है :

"श्री गोपीनाथ पद उर धरें महागोप्य रस सार।
बिनु बिसम आवें हियें अद्भुत जुगल विहार॥"

श्री भगवत मुदित तथा रतनलाल जी ने भी गोस्वामी गोपीनाथ को आपका गुरु लिखा है अतः दीक्षा-गुरु के विषय में मतभेद का प्रश्न नहीं उठता।

वृन्दावन-वास

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि आप दस वर्ष की अल्पायु में ही घरबार त्याग विरक्त-भावना से वृन्दावन आ गये थे। वृन्दावन ही आपका निवास-स्थान बना और आगे

1—राधावल्लभ भक्तमाल—लेखक प्रियादास शुक्ल, पृष्ठ ११८।

"काइय कुल देवन के वासी परम्पराइ अनन्य उपासी ।
श्री गोपीनाथ के शिष्यन श्रेष्ठ सेवत राधावल्लभ इष्ट ॥"

देवबन्द में कायस्थ-कुल में आपका जन्म हुआ था । आपके वंश में पहले ही से वैष्णव-पद्धति की अनन्य उपासना प्रवर्तित थी, अतः जन्मजात वैष्णव संस्कार लेकर आप उत्पन्न हुए और शैशव से ही भक्ति-पथ पर सहज रूप से चल पड़े । 'राधावल्लभ भक्तमाल' में इनका जन्म-सम्वत् १६२२ दिया है ।[1] किन्तु इनकी रचनाओं के आधार पर यह सम्वत् आनुमानिक ही प्रतीत होता है । आपने अपने 'रसानन्द लीला' नामक ग्रंथ में रचना-काल इस प्रकार दिया है—

'संवत् सोलह सै पंचासा, वरनत हित ध्रुव जुगल विलासा'

संवत् १६५० में आपने यह ग्रंथ लिखा । इस ग्रंथ को यदि आपकी प्रारम्भिक रचना माना जाय तो उससे कम से कम बीस वर्ष पूर्व आपकी जन्मतिथि माननी होगी । इस अनुमानाश्रित आधार पर आपका जन्म-संवत् १६३० के आसपास निश्चित होता है । ग्रंथरचना-काल के आधार पर ही आपकी निधन-तिथि का भी निर्णय किया जा सकता है । आपने 'रहस्य मंजरी लीला' में रचना-काल संवत् १६६८ दिया है । इस संवत् के बाद का उल्लेख किसी रचना में नहीं मिलता । यदि इसी को अंतिम रचना मान लिया जाय तो आपका रचना काल संवत् १६५० से १६६८ तक ठहरता है । सम्भव है इस के दो-चार वर्ष के भीतर ही आपने इहलोक-लीला संवरण की हो अतः संवत् १७०० के आस-पास आपका मृत्यु-संवत् स्थिर किया जा सकता है । इस प्रकार सत्तर वर्ष की लम्बी आयु तक आप जीवित रहे । 'रहस्य मंजरी लीला' में रचना-काल का इस प्रकार वर्णन है :

सत्रह सै द्वै ऊन अरु अगहन पछि उजियार ।
दोहा चौपाई कहे ध्रुव इकसत ऊपर चार ॥
रहस्य मंजरी लीला—दोहा सं० १०५ ॥

श्री वियोगी हरि ने 'ब्रजमाधुरीसार' में इनका जन्म-संवत् १६५० ठहराया है जो इनकी रचनाओं के आधार पर उचित प्रतीत नहीं होता ।[2] १६५० संवत् की इनकी लिखी पुस्तक मिलने पर जन्म कैसे माना जा सकता है । मृत्यु-संवत् भी आपने १७४० के लगभग माना है और उसका कारण दिया है कि १७३५ तक के भक्तों का जीवन ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त-नामावली' में लिखा है । किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी ऐसे भक्त का जीवन उसमें नहीं है जो १७३५ में उत्पन्न हुआ हो । उन्हीं भक्तों का चरित्र है जो १७०० के आस-पास विख्यात थे । अतः मृत्यु संवत् १७०० के आसपास ही माननी चाहिए क्योंकि अन्तिम रचना का संवत् १६६८ है ।

जन्म-स्थान के विषय में कोई विवाद नहीं है । हमने स्वयं यह स्थान देखा है जहाँ

---

१. राधावल्लभ भक्तमाल—ले० प्रियादास शुक्ल, पृष्ठ ३२८ ।
२. ब्रजमाधुरी सार—वियोगी हरि, पृष्ठ १५६–१६० ।

राधा ने प्रसन्न हो दर्शन दिया । आपने बड़े विनम्र शब्दों में अपना आशय व्यक्त करते हुए प्रार्थना की कि यदि आपकी कृपा हो तो मैं युगलकिशोर के नित्यरस का अपनी वाणी में गान करूँ । कहते हैं कि श्रीराधा ने बड़े उल्लास के साथ अनुमति प्रदान की और उसी दिन से ध्रुवदासजी ने पदरचना प्रारम्भ की । इस घटना का वर्णन भगवत मुदित ने अपने रसिक अनन्य माल में इस प्रकार किया है :—

> निसि दिन जुगल केलि उर मांहे । बानी करि कछु बरन्यो चाहे ।
> सब विधि शेष प्रवेश न मन को । कैसे कह्यो जात गुन तिनको ॥
> देख्यो चाहे इक टक रहै । उर आवे मुख तें नहि कहै ।
> खान पान तजि मंडल पर्यो । देख्यो गुन बरनो हठि कर्यो ॥
> दिन द्वै गये तीसरो आयो । तब राधे को हिय अकुलायो ॥
> आधी रात लात सिर दई । चौंकि पर्यो नूपुर धुनि भई ॥
> बानी भई जु चाहत कियो । उठि सो धर बस ताकों दियो ॥
> ऐसे कहि अन्तर्हित भई । ध्रुव को मति रति बानी दई ॥
> निरखो दम्पति संपति सिगरो । है बैकुंठ कोटि ते अगरो ॥
>
> —रसिक अनन्य माल—भगवत मुदित कृत
> (हस्तलिखित प्रति)

ग्रन्थ-रचना

इष्टाराध्या राधा से वरदान प्राप्त होने पर ध्रुवदासजी निरन्तर पद-रचना में लीन रहने लगे । काव्य-शास्त्र में आपकी नैसर्गिक रुचि थी । छन्दशास्त्र का भी आपने अच्छा अध्ययन किया था, अतः अपनी वाणी का विस्तार आपने किसी एक विशिष्ट शैली तक ही सीमित नहीं रखा वरन् उस समय की प्रचलित सभी पद्धतियों का यत्किंचित समावेश अपनी वाणी में किया । यद्यपि समस्त ग्रन्थ-रचना मुक्तक ही है—क्योंकि आख्यानात्मक प्रबंध के लिये विषय-दृष्टि से अधिक अवकाश भी नहीं था, किंतु आपके मुक्तक काव्य में शैलीगत विविधता देखकर आश्चर्य होता है । जिस विषय को आपने स्वीकार किया उसके अंतरतम में पैठकर पूर्णरूपेण मर्मोद्घाटन करके ही छोड़ा है । आत्मा की भाषा ही आपकी काव्य भाषा है, अर्थात् रस परिपाटी को ग्रहण करने के बाद शुद्ध रसात्मक काव्य-रचना ही आपका ध्येय था । भक्ति-मार्ग की सरसता ही आपका उपास्य तत्व बन गया था अतः शुष्कता, रस विहीनता, क्लिष्टता, दुरूहता आदि दोषों से आपकी वाणी सर्वथा बची रही है । आपने ग्रंथों का नाम आपने 'लीला' रखा है । ब्यालीस ग्रंथों को अब लीला नाम से व्यवहृत किया जाता है । इन ग्रंथों में विविध शास्त्र, स्मृति, पुराण आदि का सार तत्व आपने संकलित किया है । भगवत मुदित आपके ग्रंथों के विषय में लिखते हैं :

> भारव पोथय ग्रन्थ निहारत । कुंजनि नित्य बिहार निहारत ॥
> श्रुति सुस्मृति पुरान मन भाषा । करि उगाइ जननि अभिलाषा ॥
> केलि रहसि दम्पति की बरनी । कही जु रसिक अनन्यनि करनी ॥

पर्यन्त इसी धाम में रहकर श्याम-श्यामा की क्रीड़ाओं का वर्णन कर जीवन कृतार्थ करते रहे। वृन्दावन आने के बाद एक दिन के लिए ब्रज की सीमाओं से बाहर पैर नहीं रखा। वृन्दावन में आपने वनविहार परिक्रमा के रास्ते में अपनी कुटिया बनाई थी। उसी में वास करते हुए भजन में लीन रहते। किम्वदन्ती है कि युगलकिशोर (राधाकृष्ण) इनकी भक्ति-भावना से इतने सन्तुष्ट थे कि जब सायं समय वनविहार को निकलते तो ध्रुवदासजी की कुटिया में विश्राम करते। भगवत मुदित ने इस घटना का वर्णन अपने 'रसिक अनन्य माल' में इस प्रकार किया है।

वन बिहार कों जब प्रभु जाते इनकी कुटी तहाँ ठहराते।
भोग आरती तहाँ जु करते तब निज इष्ट भवन अनुसरते।

गोस्वामी जतनलाल ने भी इस घटना को इन्हीं शब्दों में दुहराया है—

वन विहार को चले प्रभु तब इत कौं आवें।
इनकी कुटी जु देखि तहाँ आपुन ठहरावें॥
भोग आरती भेंट होइ तब भजन पधारें॥

श्री ध्रुवदासजी ने अपनी 'वनविहार लीला' नामक रचना में इसका वर्णन किया है—

देखि विपिन जमुना पुलिन दरें कुटी की ओर।
शोभा आवनि चलनि फिरि जो ध्रुव कहे सु थोर॥

—वनविहार लीला, दोहा सं० ५४।

'वृन्दावन सत' नामक अपनी रचना में आपने वृन्दावन-धाम का जैसा माहात्म्य गाया है वह इस बात का प्रमाण है कि आपकी दृष्टि में वृन्दावन से बढ़कर और कोई धाम नहीं था। उनके मत में धाम (वृन्दावन) के ही आश्रित धामी (कृष्ण) हैं। धाम में जब जो भाव उपस्थित होता है उसी का धामी अनुसरण करते हैं अतः धाम स्वयं सर्वशक्ति-सम्पन्न और समर्थ है। धाम की ऐसी विलक्षण शक्ति है कि जब वह अपने अनुकूल ऋतु उपस्थित करता है तभी धामी उस ऋतु का स्वागत करने को तैयार होते हैं। इस प्रकार धाम के धामी आश्रित हैं। यह राधावल्लभीय भाव है जिसकी सुचारु रूप से ध्रुवदासजी ने अपने ग्रंथों में स्थापना की है।

स्वभाव और शील

ध्रुवदासजी अत्यंत नम्र, विनीत, साधुसेवी, सहनशील, और गंभीर प्रकृति के महात्मा थे। यदि कभी कोई इनके मन के प्रतिकूल कठोर वचन भी कह जाता तो शांत भाव से सुन लेते, कभी आक्रोश या क्रोध में उत्तर नहीं देते थे। शैशव से ही इनका मन युगलकिशोर की रसमयी लीलाओं की ओर आकृष्ट था किन्तु रसलीलाओं के गोप्य होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से पदरचना करके गाने का इन्हें साहस न था। आयु की दृष्टि से भी वे छोटे थे, ऐसी स्थिति में बड़ों और गुरुजनों का संकोच होना स्वाभाविक ही था। अतः उन्होंने अपने इष्टदेव से स्वीकृति प्राप्त करने की तैयारी की। किम्वदंती है कि वे गोविंदघाट के रासमंडल पर सर्वेश्वरी श्री राधा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए राधा नाम का जप करने में लीन हो गये। तीन दिन और तीन रात निरंतर समाधि में राधा का जप करने के बाद अर्धरात्रि के समय

(१) वृन्दावन-माहात्म्य और धाम का राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्थान।
(२) भक्त महानुभावों का संक्षिप्त परिचय।
(३) प्रेम और काम की स्थिति (सैद्धांतिक विवेचन)।
(४) प्रेम और नेम की स्थिति, प्रेम और मान की स्थिति, प्रेम और विरह की स्थिति।
(५) निकुंजलीला और नित्यविहार (व्यापक रूप से आद्योपान्त वर्णन है)।
(६) निकुंज लीला में सखियों का स्थान, और सखियों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन।
(७) युगल ध्यान का महत्त्व और राधावल्लभीय रूप।
(८) विविध लीलाओं का रसपरक वर्णन (दानलीला, मानलीला, वनविहार आदि)।
(९) राधा-कृष्ण के प्रेम की विभिन्न दशाओं का माधुर्यपरक वर्णन (शृंगारपूर्ण)।
(१०) श्रीराधा का स्वरूप और नामावली।
(११) रसोपासना के विविध उपादान और उनकी स्वरूप-स्थापना।
(१२) रसोपासना में विधि-निषेध की स्थिति।
(१३) रसभक्ति में नख-शिख, ऋतु वर्णन और नायक-नायिका वर्णन की अनिवार्यता (शृंगार का भक्ति में पर्यवसान)।
(१४) इष्टाराधना और अनन्य भक्ति का रूप (राधावल्लभीय सिद्धान्त-दृष्टि)।
(१५) नैतिक आचार, मर्यादा और जीवन का व्यवहार-पक्ष (व्यापक जीवन-दृष्टि)।

उपर्युक्त शीर्षकों के भीतर ही अन्य छोटी-मोटी अनेक बातों का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि इन तत्त्वों का विस्तार किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय का समस्त तात्त्विक विवेचन सम्भव है। हम इन्हीं शीर्षकों के आधार पर श्री ध्रुवदासजी की रचनाओं के प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप में अनुशीलन करेंगे। तदनन्तर प्रत्येक लीला (ग्रन्थ) पर स्वतंत्र रूप से भी पृथक् विचार किया जायगा। ग्रंथ-विचार के अंतर्गत ही भाषा, शैली, रस, अलंकार, अभिव्यंजना आदि काव्य-सौष्ठव सम्बन्धी शास्त्रीय विषयों पर विचार होगा।

वृन्दावन का स्वरूप और माहात्म्य

'वृन्दावन सत लीला' नामक ग्रन्थ में सौ दोहों में आपने वृन्दावन धाम का महत्त्व बड़े विस्तार से गाया है। वृन्दावन को आप उपास्य तत्त्व का प्रधान अंग मानते हैं अतः वह भी रहस्यमय, गूढ़ और दुर्बोध है। श्रीराधा-कृपा के बिना वृन्दावन का स्वरूप भक्त के लिए दुर्लभ बना रहता है :—

> यह आशा धरि, चित्त में कहत यथामति मोर।
> वृन्दावन सुख रंग को, काहुन पायो ओर॥ सं० ४।
> दुर्लभ, दुर्घटना सब निते, वृन्दावन निज भौन।
> नवल राधिका कृपा बिनु कहिधौं पावै कौन॥ सं० ५।
> वृन्दावन द्युतिपत्र की उपमा को कछु नाहिं।
> कोटि-कोटि बैकुंठ हू तेहि सम कहे न जाहिं॥ सं० १४।

वृन्दावन नित्य है, उसका आदि-अन्त नहीं है, उसे त्रिगुणात्मक माया का स्पर्श भी नहीं होता

प्रेम नेम सिद्धान्त जु कीनो। व्रज विनोद न्यारो करि दीनो ॥
कुंज महल पिय प्यारी सखी। अद्भुत केलि कही जो लखी ॥
नव-नव लीला हिय में भासी। ते रसिकन हित सबै प्रकासी ॥
सत सिंगार आदि रचि ग्रन्थ। बरसायो जीवन हित पन्थ ॥
नाम बरन पट टहल सखिन की। संग पुरातन मत सु लिखन की ॥
कोमल बानी सबकों भावै। अक्षर पढ़त प्रेम बरसावै ॥

—रसिक अनन्य माल, भगवत मुदित।

श्री ध्रुवदासजी लिखित ब्यालीस ग्रन्थ विख्यात हैं। वे ब्यालीस लीला नाम से भी व्यवहृत होते हैं। यथार्थ में इन्हें ग्रंथ नाम देना उचित नहीं है क्योंकि सब में न तो ग्रन्थ-कोटि की व्यापकता है और न वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से ग्रंथ की मर्यादा का पालन ही। कोई-कोई लीला तो केवल आठ दोहों में वर्णित हुई है। प्रत्येक दोहा मुक्तक शैली से स्वतन्त्र है। ग्रन्थात्मकता का उसमें आभास तक नहीं मिलता फिर ग्रन्थ नाम देने से यह भ्रम होता है कि किसी विषद-व्यापक वर्ण्य-वस्तु का इसमें सर्वांगीण ग्रथन होगा किंतु वस्तु-स्थिति सर्वदा प्रतिकूल दृष्टिगत होती है। इन ग्रंथों के साथ लीला शब्द का व्यवहार भी रस-पद्धति के कारण हुआ है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ग्रंथ में किसी लीला का वर्णन हो। लीला-वर्णन का अधिकांश ग्रंथों में अभाव है किंतु साम्प्रदायिक परिपाटी के कारण इनके ग्रन्थों को लीला कह देते हैं। ब्यालीस लीला के अतिरिक्त आपके १०३ फुटकर पद और मिलते हैं जिन्हें पदावली शीर्षक से 'ब्यालीस लीला' में स्थान मिलता है। प्रत्येक ग्रन्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन हम इसी अध्याय में करेंगे किंतु उससे पहले संक्षेप में इन ब्यालीस ग्रंथों के वर्ण्य-विषय पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। छतरपुर और दतिया के संग्रहालय में कुछ ग्रंथों की सूची मिलती है यदि उनकी पूरी छानबीन की जाय तो सम्भव है ध्रुवदासजी के कुछ अन्य ग्रंथों का पता चले।

ब्यालीस लीला का प्रतिपाद्य

श्री ध्रुवदासजी रचित ग्रंथों का प्रतिपाद्य राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करना है। निकुंज लीला (नित्यविहार) वर्णन करने के लिए लीला के विधायक अन्य उपादानों का वर्णन आवश्यक होता है। ध्रुवदासजी ने अपनी मुक्तक रचना में इस बात का निरंतर ध्यान रखा है कि प्रेमलक्षणा मधुरा भक्ति का जैसा रूप राधावल्लभीय मत में गृहीत हुआ था उसका ही सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण अपनी वाणी द्वारा किया जाय। इसी कारण सैद्धांतिक दृष्टिकोण को हृदयंगम करने के लिए आपकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गंभीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस सम्प्रदाय में आपको छोड़कर किसी और ने नहीं किया। जटिल और दुर्बोध तत्वों को समझाने के लिए आपने वचनिका (गद्यवार्त्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नों को उसमें बड़ी सरल और सुबोध शैली से सुलझाया है।

'ब्यालीस लीला' में प्रतिपादित विषयों को हम निम्न शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—

बसि वृन्दावन आइ लाज तजिकै अभिमानै।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपको तृण सम जानै॥
सकल भजन कौ सार सार तू करि रस रीतौ।
रे मन देखि विचारि रह्यौ कछु इक बीतौ॥

—भजन सत लीला—पृष्ठ ७६।

ध्रुवदासजी ने अपने ग्रन्थों में वृन्दावन को जो महत्त्व दिया है वह साम्प्रदायिक निष्ठा के आधार पर है। भागवत पुराण आदि में भी वृन्दावन को पवित्रतम धाम कहा है किन्तु इस अवनि पर स्थित वृन्दावन को इतना महत्व कहीं और नहीं दिया गया।

नित्यविहार और निकुंज-लीला

निकुंजलीला सम्बन्धी पदों में ध्रुवदासजी ने शृंगार के माध्यम से जिस संयोग भाव की स्थापना की है वह राधावल्लभीय नित्यविहार का पोषक भाव है। 'भजन शृंगार सत लीला' में इस लीला का वर्णन करने वाले १२५ कवित्त और सवैया तथा २५ दोहे मिलाकर १५० पद हैं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से पूर्व 'भजन शृंगार सत लीला' बहुत ही उच्चकोटि की रचना है। निकुंजलीला प्रारम्भ करने से पूर्व श्रीकृष्ण और राधा के स्वाभाविक रूप तथा कृत्रिम वेश-विन्यास और प्राकृतिक वैभव का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण के नीलाम्बर और राधा के सीसफूल की ओर भक्त का ध्यान आकृष्ट करते हुए निकुंजलीला का उपक्रम हुआ है। इसके उपरान्त राधा के वेश-विन्यास का वर्णन बड़े विस्तार के साथ पूरी भव्यता से हुआ है। यदि इन कवित्त-सवैयों में अंतर्निहित विहारभाव का मर्म हृदयंगम न किया जाय तो बाह्य रूप से संयोग शृंगार का वर्णनमात्र ही इनसे व्यक्त होगा। रीतिकालीन कवियों के समान अभिव्यंजना देखकर सामान्य शृंगार-वर्णन का भ्रम होना स्वाभाविक है। निम्नांकित कतिपय उदाहरणों से निकुंजलीला और शृंगार-वर्णन की शैली स्पष्ट हो सकेगी—

फूलि-फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के
रीझि रीझि छवि आइ पाइनि में परी है।
लाड़िली नवेली अलबेली सुख सहज हो
निकसि निकुंज ते अनूप भाँति खरी है।
नखसिख भूषन लावण्य ही के जगमगैं
ओठ सौं छुवत सुकुमार ताहू डरी है।
हित ध्रुव मुकनि हेरत बिकाइ रहे
दामिनी को दुति अपहीरन हरी है॥[1]

नेत्र-वर्णन में आलंकारिक परिपाटी को स्वीकार किया है :—

बड़े-बड़े उज्ज्वल सुरंग अनियारे नैना,
मदन की रेख हुते हियरो बिरात है।

---

1. भजन शृंगार सत लीला—प्रथम शृंखला, पृष्ठ ८३।

समस्त संसार से भिन्न, नित्य-किशोर नित्य-किशोरी की क्रीड़ास्थली वृन्दावन को प्राप्त करना सहज नहीं है। वृन्दावन का वैभव वर्णनातीत है, उसे देख कर कमला को भी लालच पैदा होता है। वृन्दावन की लताओं की समता कल्पतरु भी नहीं कर सकता। जिसके मन में वृन्दावन-वास की इच्छा नहीं है ऐसे माता, पिता, मित्र, पुत्र, पत्नी सबको त्याग देना चाहिए। वृन्दावन में रहते हुए यदि दुर्भाग्यवश भजन-पूजन न भी बन पड़े तो कोई हानि नहीं, क्योंकि व्रजरज और जमुना-जल तो सहज रूप से सुलभ होता ही रहेगा और वही जीवनोद्धार के लिए पर्याप्त है। चौदह भुवनों से न्यारा यह वृन्दावन कभी महाप्रलय के चक्कर में नहीं पड़ता।

'आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि॥'
'न्यारो है सब लोक ते वृन्दावन निज गेह।
खेलत लाड़िली लाल जहं, भीजे सरस सनेह॥'
'वृन्दावन वैभव जितो, तितो कह्यो नहिं जात।
देखत सम्पत्ति विपिन की कमलाहू ललचात॥'
'वृन्दावन की लतासम कोटि कल्पतरु नाहिं।
रज की तुल बैकुंठ नहिं और लोक किहि माँहि॥'
'वृन्दावन के वास को जिनके नहीं हुलास।
माता मित्र सुतादि तिय तजि ध्रुव तिनको पास॥'
'वृन्दावन में जो कबहूं, भजन कछू नहिं होय।
रज तो उड़ि लागै तनहिं, पीवै जमुना तोय॥'
'न्यारो चौदह लोक तें, वृन्दावन निज भौन।
तहाँ न कबहूं लगत है, महा प्रलय की पौन॥'

—वृन्दावन सत लीला—पृष्ठ १८–२१।

'वृहद् बावन पुरान की भाषा लीला' में भी वृन्दावन का वर्णन इसी शैली में हुआ है:

'वृन्दावन महिमा कछू कहत हौं सो सुनि लेहु।
द्रुम द्रुम प्रति अरु लता रति लपट्यो सहज सनेह॥'
'न्यारो चौदह लोकतें वृन्दावन निज धाम।
इक छत विलसत रहत नित सहजहि श्यामाश्याम॥'

—वृहद् बावन पुरान की भाषा लीला—पृ० ४०।

'भजन सत लीला' में भी वृन्दावन का बहुत अधिक महत्व कहा है—

जे नर निन्दत मंद मति वृन्दावन को वास।
सपनेहुँ परस न कीजिए तजि ध्रुव तिनको पास॥

—भजन सत लीला—पृष्ठ ७४।

बहु बीती थोड़ी रही सोऊ बीती जाइ।
हित ध्रुव वेगि विचारिकैं बसि वृन्दावन आइ॥

कौन रस स्वाद गह्यौ कंसे हु न जात कह्यौ।
जानत न छाहि और कैसो होत धूप है।
और गुण जेते सब भये हैं पतंग रस—
राम के गुनन पर प्रेम मान भूप है।'[1]

नित्यविहार को स्पष्ट करने वाले दो सवैये यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

'न आदि न अन्त विलास करें दोउ लाल प्रिया से भई न बिन्हारी।
है नई भाँति नई छवि कान्ति नई नवला नव नेह बिहारी॥
रहे मुख माहि दिये बिन चाहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहे इक पाग करें मृदु हास सुनो ध्रुव प्रेम प्रकट्य कथा री॥'[2]

'रूप की राशि किशोर किशोरी रंगे रस केलि निकुञ्ज विहारा।
माते अनंग प्रवीन सबं अङ्ग फूल सरोसहु ते सुकुमारा॥
बसो उर नैनन में दिन रैन नसो मन के जिते माहि विकारा।
जाँचत बात न और कछू ध्रुव देहु प्रिये रस प्रेम की धारा॥'[3]

प्रेम का स्वरूप

प्रेम का स्वरूप राधावल्लभ सम्प्रदाय में विलक्षण है। यथार्थ में प्रेम के ऊपर ही यह सम्प्रदाय स्थिर है। श्री राधावल्लभ लाल और प्रेमतत्त्व इन दोनों में कोई भेद नहीं है। ध्रुवदासजी ने अपनी सिद्धांत सम्बन्धी वचनिका में (गद्यवार्ता) तथा प्रेमावली लीला में प्रेमतत्त्व का बड़े सूक्ष्म रूप से विवेचन किया है। प्रेम को ही संसार का आदि, मध्य और अवसान मानकर उसी पर समस्त संसार को निर्भर माना है।

प्रेम मदन को सुख जहाँ सहज प्रेम सिंगार।
आदि मध्य अवसान इक-इक रस विमल विहार॥
प्रेमी बिछुरत नाहि कहूँ मिल्यौ न सो पुनि आहि।
कौन एक रस प्रेम को कहि न सकत ध्रुव ताहि॥
अङ्ग-अङ्ग सब लाल के झुकत प्रिया की ओर।
सहज प्रेम का दर पर्यौ बंधे नेह की डोर॥

प्रेमावली लीला—पृष्ठ १७८-८६।

'ख्याल हुलास लीला' में प्रेम की समीक्षा करते हुए ध्रुवदासजी ने प्रेम को सुखातिशय तथा दुखातिशय दोनों का स्रष्टा कहा है। प्रेम-पंथ को दुरूह भी कहा है, उपादेय भी। प्रेम को स्वीकार किये बिना जीना भी व्यर्थ है और प्रेम पाना दुर्लभ भी है। प्रेम-पंथ को उल्टा बताते हुए उसकी विचित्रता का बड़ी सुन्दर शैली से इस लीला में वर्णन मिलता है।

---

१. भजन शृङ्गार सत लीला—तृतीय शृङ्खला—पृष्ठ १०३।
२. " " " — " " " १०२।
३. " " " — " " — " १०६।

चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की,
उपराई मोतिन की पानिप लजात हैं।
सरस सलज्ज नये, रहत हैं प्रेम भरे,
चंचल न अंचल में कैसे हूं समात है।
हित ध्रुव चितवनि छटा जेही कोट परै,
तेही ओर बरषासी रूप की ह्वै जात है॥
डीठि हू को भार जानि देखत न डीठि भर
ऐसी सुकुमारी नैन प्रानहू ते प्यारी है।
माधुरी सहज कछू कहत न बनि आवै
नेकहो के चितवत चकित विहारी है।
कौन भाँति सुख की अनूप कांति सरसाति
करत विचार तऊ जात न विचारी है।
हित ध्रुव मन पर्यो रूप के भवँर माँझ
नेह बस भये सुधि देह की बिसारी है।[1]

रूपक अलंकार में राधाकृष्ण का शैया-विहार वर्णन किया है :—

सेज सरोवर राजत है जल मादिक रूप भरे तरुनाई।
अंगनि आभा तरंग उठै तहाँ मीन कटाक्षनि की चपलाई॥
प्यासी सखी भरि अञ्जलि नैन पियै ते गिरी उपमा ध्रुव पाई।
प्रेम गयन्द ने डारे हैं तोरिकै कंचन कंज चहूं दिशि भाई॥[2]
आनंद पुञ्ज सुहाग को कुञ्ज में सेज सुदेश सुरंग सुहानो।
लै ध्रुव फूल अनूप दुकूल रची सुख मूल सुगंध सों सानो॥
दूलहु दोउ विचित्र महा कलही कल कोक कला कल ठानो।
पै रस रंग तरंग अभंग भई लव रैनि विहात न जानो॥[3]

निरन्तर एक दूसरे की ओर निहारते हुए भी रूपदर्शन की तृषा शान्त नहीं होती, यह संयोग में भी विरह भाव की सृष्टि करने वाली विचित्र दशा है। नित्यविहार में इस दशा का वर्णन अनेक रूप से किया जाता है। ध्रुवदासजी ने राधा के रूप को प्यास (दर्शन की इच्छा) का ही रूप ठहराया है।

'ज्यों-ज्यों लाल देखें मुख नैनन को तृषा होत
प्यारी जू को रूप मानो प्यास ही को रूप है।
डीठि-डीठि रही मिलि जैसे एक धारा ध्रुव,
हौ हूं भूली देख दशा अति ही अनूप है।

१. भजन शृङ्गार सत लीला—प्रथम शृङ्खला—पृष्ठ ८३, ८८।
२. " " " —द्वितीय शृङ्खला—पृष्ठ ६१।
३. " " " —" " —" ६४।

प्रेम का स्वरूप स्थिर करने के बाद माधुर्य भक्ति-परक प्रेम को इसने समझ
इया है। प्रेम के मार्ग में नवधा भक्ति तथा विविध नेम (नियम) सब छूट जाते हैं।

महा माधुरी प्रेम रस पावै जिहि उर मांहि।
नवधा हू निहि रुचैं नांहि नेम सबै मिटि जांहि ॥
प्रीति रीति प्रति कठिन है कहै न समुझै कोइ।
प्रेम बान जिहि उर लगै निसि दिन जानै सोइ ॥

भजन कुंडलिनी, पृष्ठ ६६।

'प्रेम लता लीला' में प्रेम का स्वरूप बताते हुए कहा है जो अपना शरीर-सुख—खान-
न—चाहते हैं वे प्रेम के मर्म को तनिक भी नहीं समझते। प्रेम तत्सुख सुखित्व भाव में ही
ता है, स्वसुख की कामना प्रेम नहीं है।

"जिन नहिं समुझ्यो प्रेम रस तिनसों कौन प्रलाप।
दादुर हूं जल में रहे जाने मीन मिलाप ॥
खान पान सुख चाहत अपने तिनको प्रेम झुकत नहि सपने।
जो या प्रेम हिंडोरे झूलें, तिनको और सबै सुख भूलें ॥
प्रेम रसा सव चाख्यो जबहीं, औरे रंग चढ़ै ध्रुव तबहीं।
रस प्रेम परै मन जाई, मीन नीर की गति ह्वै जाई ॥
निसि दिन ताहि न कछू सुहाई, प्रीतम के रस रहे समाई।
रुचै सोई जो ताको भावै, ऐसो नेह की रीति कहावै ॥
जो रस लाल लड़ैती माहीं, ऐसो प्रेम और कहुं नाहीं ॥"

ध्रुवदासजी ने प्रेम का बड़ा व्यापक रूप से वर्णन किया है। प्रत्येक ग्रंथ में किसी
किसी रूप में प्रेम की चर्चा है और उसे प्राकृत प्रेम से पृथक् करने की ओर उनका सतत
न रहा है। काम और प्रेम, प्रेम और नेम, प्रेम और विरह, प्रेम और प्रतीति आदि विषयों
अलग-अलग वर्णन करके दोनों के व्यावर्त्तक धर्मों का भी निर्णय किया है।

धि-निषेध-मर्यादा

राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता यही है कि विशुद्ध वैष्णव भावना के
क होने पर भी इस सम्प्रदाय में अनेक रूढ़िगत विधि-निषेधों को ग्रहण नहीं किया गया।
दशी व्रत, तीर्थाटन, तिलक-कंठी आदि बाह्याचारों की ओर इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक
मोह नहीं था। भुजमूल पर तिलक-त्रिपुंड बनाने वाले ढोंगी भक्तों का स्वयं हितहरिवंश
ने उपहास किया है। ध्रुवदासजी ने इस विषय में अपने आचार्य का ही अनुगमन किया
'जीव दशा लीला' में नाम-माहात्म्य वर्णन करते हुए अन्य सब कर्मकांडों को व्यर्थ कहा
है :—

'व्रत तप निगम नेम यम संजम करहु कलेस कोटि किन भारो।
इनमें पहुंच नाहिं काहू की परे रहत ज्यों द्वार भिखारी।

प्रीति समान न और सुख, दुखहू होत अपार।
मिलिबो सुख, दुख बिछुरिबो यह कीनौ निरधार।।
महाप्रेम निज मधुर अति सबतें न्यारो आहि।
तहां न मिलिबो बिछुरिबो जीवत रूपहि चाहि।।
चढ़िकैं मैन तुरंग पैं चलिबो पावक माहिं।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन सब कोऊ निवहत नाहिं।।
उलटो पंथ है प्रेम को तहाँ रह्यौ मन हारि।
यशहू सुनि लागत बुरो मीठी लागत गारि।।

—ख्याल हुलास लीला, पृष्ठ २२-२६।

इस प्रसंग में हम एक विशेष दोहे की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसमें ध्रुवदास जी ने स्वदेश (भारतवर्ष) में उत्पन्न होने की कामना की है। भक्ति और रीति-कालीन हिन्दी कवियों में भूषण को छोड़कर किसी का ध्यान स्वदेश-भारतवर्ष की ओर नहीं गया। ध्रुवदासजी ने प्रेम के प्रसंग में 'ख्याल हुलास लीला' में भरतखंड मे जन्म होने की इच्छा व्यक्त की है।

ज्ञान सहित नर देह वर भरत खंड में होइ।
जो नहि समुझै प्रेम रस ताको रहिये रोइ।।

—ख्याल हुलास लीला—पृष्ठ २७।

'प्रीति चौवनी लीला' में भी प्रेम का ही विशद विस्तार है। प्रेम की परिभाषा तथा स्वरूप-निर्धारण के लिए कई सुन्दर दोहे ध्रुवदासजी ने कहे हैं जो प्राकृत, सांसारिक प्रेम को पारमार्थिक प्रेम से पृथक् करने वाले हैं। संसारी प्रेम क्षणिक और स्व-सुख कामनापूर्ण होता है। जब तक मन विषय-वासनाओं में भटकता रहता है तब तक प्रेम-पंथ का पथिक नहीं हो सकता। संसार में भ्रमर, शलभ, हरिण, मछली और हाथी विषय-सुख के कारण प्रेम का मार्ग स्वीकार करते हैं, किन्तु इनकी निष्ठा शाश्वत प्रेम पर नहीं होती फलतः इन्द्रियेच्छा सुख-भोग के लिए शरीर त्याग कर भी अनाविल प्रेम को वरण नहीं कर पाते। प्रेम की चर्चा तो बहुत है परन्तु प्रेम का सच्चा रूप जगत् में बहुत कम दिखाई देता है। समस्त सांसारिक सम्बन्धों में जो रागात्मक सूत्र समान रूप से अनुस्यूत है उसका आधार प्रेम है किन्तु वही ऐकान्तिक प्रेम नही है।

आदि अन्त जाको भयो सो सब प्रेम न रूप।
आवत जात न जानिये जैसे छांह रु धूप।।
प्रेम बात हूँ बात में सूक्षम कहो न जाय।
तन तरवर को छांड़िकै मनहिं भुलावैं आय।।
अलि, पतंग, मृग, मीन, गज चातक चकइ चकोर।
ये सब झूठे नेह में बंधे विषय की डोर।।

—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५८।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने ध्रुवदास जी की रचनाओं को 'ब्यालीस
ा' नाम से प्रकाशित कराया है। अभी तक तीन स्थानों से इनका प्रकाशन हुआ है।
र संस्करण अप्राप्य है। द्वितीय संस्करण कानपुर के सेठ लक्ष्मीनारायण जी ने प्रकाशित
। था जो उपलब्ध होता है। तृतीय संस्करण बाबा तुलसीदास ने वृन्दावन से सम्वत्
१० में प्रकाशित किया है। हमने इसी संस्करण से यथादि उद्धृत किये हैं और इसी
रण की पृष्ठ-संख्या दी है।

ध्रुवदासजी के कुछ ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाशित हुए हैं। भारत जीवन प्रेस में
रामकृष्ण वर्मा ने 'ध्रुवसर्वस्व' नाम से कई ग्रंथ छापे थे। नागरी प्रचारिणी सभा काशी
ाक नामावली' प्रकाशित हुई है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में इनके ग्रंथों
ानेक स्थलों पर उल्लेख है। एक ही ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं
इस बात का प्रमाण है कि इनकी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में पढ़ी जाती रही हैं और
वल्लभीय वैष्णवों से इतर वैष्णव-समाज में भी उनका आदर-मान रहा है। हस्तलिखित
ग्रंथों की एक तालिका हमने इसी अध्याय में दी है जिसे पढ़कर इनकी रचनाओं के
: का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है।

ध्रुवदासजी के ग्रंथों की संख्या अब बयालीस निर्धारित हो चुकी है किन्तु कुछ समय
इसमें थोड़ा-सा विवाद था। श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रजमाधुरी सार' ग्रन्थ में इनके
स ग्रंथों की सूची दी है जिसमें दो ग्रन्थ—'ब्याहुलो और ब्यालीस बानी' हमारी सूची में
हैं। हमारी सूची के चार ग्रन्थ वियोगी हरिजी की सूची में नहीं मिलते—१—प्रियाजी
ामावली, २—आनन्दाष्टक, ३—भजनाष्टक, ४—जुगल ध्यान। वियोगी हरिजी ने जिन
ग्रंथों को छोड़ दिया है वे यथार्थ में ग्रंथ जैसे प्रतीत भी नहीं होते किन्तु ब्यालीस लीला
से जो संकलन प्रारम्भ से चला आ रहा है उसमें इन्हें स्थान मिला है। 'ब्याहुलो' और
ीस बानी' को वियोगी हरिजी ने स्वतंत्र ग्रंथ माना है किन्तु इनमें 'ब्याहुलो' तो स्वतंत्र
ी गिना जाता है। ब्यालीस बानी का नाम भ्रम से दिया गया है। यथार्थ में 'ब्यालीस
' को ही यह नाम प्राप्त हो गया है।[1] वियोगी हरिजी ने अपनी सूची के तीन ग्रंथों के
में सन्देह प्रगट करते हुए लिखा है कि 'मन शिक्षा', 'ख्याल हुलास लीला' और 'ब्यालीस
ग्रंथ इन ध्रुवदासजी कृत प्रतीत नहीं होते। इस संदेह का कोई आधार नहीं लिखा
है। यह ठीक है कि ब्यालीस बानी तो संकलनकर्त्ता का दिया हुआ नाम है कोई स्वतंत्र
नहीं, किन्तु 'मन शिक्षा' और 'ख्याल हुलास लीला' को हम इन्हीं ध्रुवदासजी की रचना
हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ध्रुवदासजी के ३७
की सूची दी है। वियोगी हरि की सूची के ब्याहुलो ग्रंथ का नाम इसमें भी है किन्तु
ीस बानी' का नाम नहीं है। 'मन शिक्षा' और 'ख्याल हुलास' को भी शुक्लजी ने नहीं
ा है। भजनाष्टक, आनन्दाष्टक, प्रियाजी की नामावली और जुगल ध्यान का भी समावेश

---

[1] ब्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृष्ठ १६०।

जोग मइ फल भेंट करत हूं तीरथ सब कर लौनै भारी ।
धर्म मोक्ष कोउ पूछत नाहीं इन मग सिद्ध कौन विचारी ॥'

—जीवदशा लीला, पृष्ठ ३ ।

'मन शिक्षा लीला' में अनेक व्यावहारिक नीतिपरक बातों का वर्णन करते हुए ध्रुवदास जी ने रूढ़ियों को त्यागने का स्पष्ट संकेत किया है—

कहृ प्रचार अपरस कहा, कहृ संयम व्रत नेम ।
कहा भजन विधि सौं किय्यौ, जो नहिं परस्यौ प्रेम ॥

+ + +

अपरस ग्यान समान यम, भजन धर्म आचार ।
पाहन कबहुं न होत मृदु, पर्‌यो रहै जलधार ॥
विधि-निषेध के बंद हैं, और धर्म मग भानि ।
केहरि पुनि निबंन्ध है, भगवत धर्महि जानि ॥

विधि-निषेध के सम्बन्ध में वचनिका में बहुत ही स्पष्ट रूप से सिद्धान्त स्थिर करते हुए इसे गौण ठहराया है। सच्चे भक्त के लिए किसी प्रकार के बाह्य कर्मकाड की कोई आवश्यकता नहीं रहती । 'सिद्धान्त विचार लीला' में कहा है—'श्री वृन्दावन में जो कोई निमित्त, तिथि विधि मानैं सो भली नाहीं, श्री लाड़िलीलाल जू जहां नित्य विहार करत हैं।' एक स्थल पर और कहा है—'अति आचार अनाचार समान हैं। रांधे अन्न विषय कछू न मानैं । जो भोग श्री जी को न लाग्यौ तो सब बराबर। कहा काचो कहा पाको। वैष्णव सदाचार के लिए आचार करैं। मन में विश्वास न धरैं कि याही तें कारज सिद्ध होइगो। बहुत आचार ते हियौ अति कठोर होइ जाइ है। यह भजन अति कोमल है, कोमल कठोर एक संग न बनैं।'

—सिद्धान्त विचार लीला, पृष्ठ ५३ ।

ध्रुवदासजी के ग्रंथों का परिचय

श्री ध्रुवदासजी-रचित ग्रंथों की संख्या ब्यालीस है। हमने इनके ग्रंथों के विषय में प्रारम्भ में कहा है कि इन्हें ग्रंथ या लीला संज्ञा देना अधिक युक्तियुक्त और समीचीन नहीं है क्योंकि इनमें से अधिकांश न तो आकार-प्रकार में ग्रंथ का कलेवर रखते हैं और न विषय-वस्तु की दृष्टि से ही उन्हें ग्रंथ कहा जा सकता है। आठ-आठ दोहों के फुटकर संकलन को ग्रन्थ या लीला संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। लीला शब्द तो अत्यधिक भ्रामक है। सामान्यतः श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बद्ध रचनाओं को ही लीला कहा जाता है, जैसे, दानलीला, मानलीला, माखन लीला, चीरहरण लीला आदि। किसी तत्वबोध को लीला नाम से व्यवहृत करने की साधारणतः परिपाटी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है प्रारम्भ में किसी संग्रहकर्ता ने इनकी समस्त रचनाओं को संकलित कर उन्हें 'ब्यालीस लीला' नाम दे दिया होगा, तब से यही नाम प्रयोग में आता रहा है। इसके वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ का किसी ने विचार नहीं किया, केवल रूढ़ अर्थ में ही व्यवहार होता चला आ रहा है।

दावली

प्रियाजी की नामावली, लालजी की नामावली, शृंगार स्नान के फुटकर पद, पालन समय के पद, वनविहार समय के पद, व्याहुलो के पद, कुल पद संख्या १०३। संभव पद संख्या और भी हो किन्तु प्रकाशित पद इतने ही हैं।

जीवन-दशा-लीला

सांसारिक माया-मोह में आबद्ध जीव के उद्बोधन के लिए इस ग्रंथ की रचना की है। यथार्थ में जीव परमात्मा से विमुख होकर इस संसार में भटकता रहता है। उसे भी पता नहीं रहता कि जिस शरीर को वह अपना समझ रहा है वह क्षणभंगुर है—ार के और नाते-रिश्ते तो काल्पनिक हैं ही। सावन मास की सरिता की तरह आयु ीव हो जाती है और अन्त में पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। जीव-दशा के ंन में ध्रुवदास ने उपनिषद्, पुराण तथा दर्शनशास्त्र का आश्रय लिया है। यह ग्रन्थ ाचार, ज्ञान और वैराग्य का बोध कराने वाला है। व्यावहारिक पक्ष में भी इसका इतना नैतिक और उदात्त है कि सामान्य पाठक भी इसे पढ़कर प्रकाश प्राप्त कर ता है।[1]

जीव का ध्येय शाश्वत सुख प्राप्त करना है। बाह्याडंबरों में फँसे हुये दम्भी साधुओं कपटी भक्तों को क्षणिक सुख भले ही मिल जाय अखंड सुख की प्राप्ति नहीं होती। ाचार द्वारा राधाकृष्ण के दर्शन नही होते।

> व्रत, तप, निगम, नेम, जम, संजम
> करहु कलेस कोटि किन भारी।
> इनमें पहुँच नांहि काहू की।
> परे रहत ज्यों द्वार भिखारी॥
> जोग जज्ञ फल मेंड़ करत हैं
> तीरथ सब कर लीनें भारी॥
> धर्म मोक्ष कोऊ पूछत नहीं
> इन मग सिर्द्ध कौन विचारी॥
>
> —जीवदशा—सवैया सं० ३३।

प्रकाशित 'ब्यालीस लीला' में जीव-दशा ग्रन्थ को प्रथम स्थान दिया गया है। प रचनाकाल-क्रम में यह प्रथम नही है। प्रथम रखने का कारण कदाचित् यही है कि ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय जीवन के प्रारम्भिक स्तर के निर्माण में सहायक होता है। तक जीव अपने स्वरूप को न समझे और वैराग्य, ज्ञान आदि का संचय न करे, रस-का अनुगमन नही कर सकता।

१—श्री ब्यालीस लीला तथा पदावली—बाबा तुलसीदास, मुकुट महल, वृन्दावन से प्रकाशित, सं० २०१०।

नहीं है। इन ग्रंथों को ध्रुवदास कृत न मानने का कोई कारण किसी ने नहीं दिया किन्तु इस संदेह का मूल कारण खोज में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियाँ हैं जिन्हे देखकर इस भ्रम को अवकाश मिला है। इस सम्बन्ध में हम सम्बद्ध ग्रंथ की समीक्षा में ही विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।[1] इनके ग्रंथों के विषय में 'मिश्रबन्धु विनोद' में 'वानी' नामक एक स्वतन्त्र ग्रंथ का उल्लेख है। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।[2]

ग्रन्थों की तालिका

१—जीव दशा लीला	२—वैद्यक ज्ञान लीला
३—मन शिक्षा लीला	४—वृन्दावन सतलीला
५—ख्याल हुलास लीला	६—भक्त नामावली लीला
७—बृहद् बावन पुराण की भाषालीला	८—सिद्धान्त विचार लीला (गद्यवार्त्ता)
९—प्रीति चौवनीलीला	१०—आनन्दाष्टक लीला
११—भजनाष्टक लीला	१२—भजन कुण्डलिया लीला
१३—भजन सत लीला	१४—भजन शृङ्गार सत लीला
१५—मन शृंगार लीला	१६—हित शृंगार लीला
१७—सभामंडल लीला	१८—रस मुक्तावली लीला
१९—रस हीरावली लीला	२०—रस रतनावली लीला
२१—प्रेमावली लीला	२२—प्रियाजी नामावली लीला
२३—रहस्य मंजरी लीला	२४—सुख मंजरी लीला
२५—रति मंजरी लीला	२६—नेह मंजरी लीला
२७—वन-विहार लीला	२८—रगविहार लीला
२९—रसविहार लीला	३०—रंग हुलास लीला
३१—रग विनोदलीला	३२—आनन्ददशा विनोद लीला
३३—रहस्य लता लीला	३४—आनन्द लता लीला
३५—अनुराग लता लीला	३६—प्रेमदशा लीला
३७—रसानन्द लीला	३८—व्रजलीला
३९—जुगल ध्यान लीला	४०—नृत्यविलास लीला
४१—मानलीला	४२—दान लीला

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१९।

२—"इनके ख्यालोस लीला, वानी और पदावली ग्रन्थ हमने छतरपुर में देखे। ये उपर्युक्त नामावली में नहीं है। वाणी में व्रजभाषा द्वारा शृंगार रस के सवैया, कवित्त इत्यादि तथा अन्य छन्दों में श्रीकृष्ण चन्द्र की लीलाओं के वर्णन ३०० पृष्ठ फुलस्केप साइज पर बड़े ही सरस तथा मधुर किये गये हैं।"

—मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३१९

ना कोटि का मार्ग बताने वाला ही है। रस-पद्धति की भक्ति से साक्षात् इसका सम्बन्ध है। इसमें ६० दोहे-चौपाई हैं।

–मन-शिक्षा

ध्रुवदासजी 'जीवदशा' और 'वैद्यक ज्ञान' ग्रंथों में जीवन की स्थिति और संसार के से छूटने का उपाय प्रस्तुत करके अब मन को प्रबोधते हुए संसार से छूटकर जुगल-ार के चर में लीन होने का उपदेश करते हैं। यह ग्रंथ मन के उद्बोधन के लिए लिखा है। क्योंकि मन जब तक सांसारिक प्रपंचों में फंसा रहता है तब तक उसे चैन नहीं ा। इसलिए 'मन शिक्षा' का उपक्रम करते हुए ध्रुवदासजी ने श्रीकृष्ण-चरणों की ा, जगत से वैराग्य भावना, प्रेममार्ग, भजन की शैली, प्रेमी भक्त की रहनी-करनी सत्संग हिमा, आदि आमुष्मिक कल्याण-पथ की बातें इस ग्रंथ में कही हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्री हरिवंश-चरण की वन्दना से होता है। श्री हरिवंशजी को अपने रूप में स्मरण किया है। उसके बाद मनोद्बोधन का प्रसंग है—

> रे मन चंचल तजि विषै, ढरौ भजन की ओर।
> छाड़ि कुमति अब सुमति गहि, भजलै नवल किशोर॥ ४
> रे मन कबहूँ जाइ जिन, भूलि विषै मन रंग।
> मनमथ ठग भारत तहाँ, लिये बहुत ठग संग॥११
> मत्सर क्रोध भरो रहै, अरु सहाइ अभिमान।
> बिनु पावक जरिबो करै, महा मूढ़ अज्ञान॥ २२

मन को उद्बुद्ध करने के बाद भगवद्भक्ति की समीचीन पद्धति का वर्णन किया है। पद्धति का अनुशीलन इस तथ्य का द्योतक है कि यह ग्रंथ ध्रुवदासजी का ही लिखा । इसकी भक्ति-भावना का आधार शुद्ध राधावल्लभीय है। श्री वियोगी हरि ने यह उठाई है कि यह ग्रंथ किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है। उनके मत में कदाचित् स नामक कोई और संत हुए हैं, उन्हीं ने 'मन शिक्षा' ग्रंथ लिखा। अपने मत के समर्थन युक्ति, तर्क या प्रमाण उन्होंने नहीं दिये। यदि इस ग्रंथ का भलीभांति वियोगी हरिजी यन किया होता तो यह शंका उत्पन्न ही न होती। रसिक-मार्गीय अनन्यता का करते हुए ध्रुवदासजी कहते हैं :—

> खान पान तो कीजिये रसिक मंडली माहिं।
> जिनके और उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाहिं॥ २७
> रसिक रंगे जे जुगल रंग तिनकी जूठन खाइ।
> जहाँ तहाँ के पावने भजन तेज घरि जाइ॥२८
> इष्ट मिलै अरु मन मिलै मिलै भजन रस रीति।
> मिलिये तहाँ निसंक ह्वै कीजै तिनसौं प्रीति॥२९

सत्संग और देव-महिमा के वर्णन में ध्रुवदासजी की शैली स्पष्ट परिलक्षित हो रही

जीवदशा में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि कुल मिलाकर ३८ पद हैं। छन्दो का विधान इस बात का सूचक है कि यह ध्रुवदासजी की प्रारम्भिक रचना नही है। भाषा में भी स्वच्छता और प्रांजलता है। कबीर, तुलसी और व्यास ने इस प्रकार के उपदेशात्मक दोहे लिखे हैं। उनका भी प्रभाव इस ग्रन्थ पर दृष्टिगत होता है।

२—वैद्यक-ज्ञान

यह रूपक-शैली में लिखा हुआ पारमार्थिक उपदेश देने वाला ग्रन्थ है। ससार के बन्धनों में फँसा हुआ जीव अपने कष्ट-निवारणार्थ किसी सन्त महानुभाव की शरण में जाता है और अपनी वेदना (रोगकष्ट) उसी प्रकार कहता है जैसे रोगी अपनी कष्टकथा वैद्य से। सन्त-रूपी वैद्य उसके रोग का निदान करके उसे उत्तम भेषज देता है। यहाँ भेषज स्थानीय सदुपदेश है। भवरोग की औषध का वर्णन होने के कारण इस ग्रथ की संज्ञा वैद्यक-ज्ञान है।

ग्रन्थ के आरम्भ में सन्त-वैद्य करुणा से द्रवित होकर आर्त्त भव-रोगियो का आवाहन करता है। और उन्हे आश्वस्त करता हुआ कहता है कि तुम मेरे पास आओ मैं तुम्हारे समस्त दुःखों का शमन करूँगा। जिस व्यक्ति का जैसा दुःख (रोग) होगा मैं उसे वैसी ही औषध दूँगा। मेरी औषध में इतनी शक्ति है कि वह सब प्रकार के तापो को नष्ट कर सकती है। इसके बाद भव-रोगी अपना रोग निवेदन करता हुआ कहता है मैने अनेक पाप किये हैं, विषय-वासना का विष मेरे अन्तर मे व्याप्त है। इसी गरल-पान से मेरा जीवन नष्ट हो रहा है। भव-रोगी अपनी समस्त दुर्बलताओ को सन्त-वैद्य से स्पष्ट बताता है कुछ छिपाता नहीं। वह हाथ जोड़कर निवेदन करता है कि वैद्यराज! मुझे आप इस भव-रोग से बचाइये। तृष्णा में मैं फँसा हुआ हूँ—यह तृष्णा मुझे मारे डाल रही है, आपके सिवा कोई त्राण नही। विषय-वासनाओ से जर्जर हो गया हूँ किन्तु फिर भी इस भव-तृष्णा से पिण्ड नही छूटता—

नैन गये अरु श्रवन हूँ, और गये मुख दन्त।
बुद्धि घटी तन गति लटी, तृष्णा को नहिं अन्त ॥ २२ ।

भवरोगी का वृत्तान्त सुनकर वैद्यराज उसके रोग का निदान करते हैं। पथ्य-परहेज बताते हुए उसे भेषज देते हैं। परहेज यह है —

इंद्री निग्रह जो पथ करही तिय, इमलीते मन परिहरही ॥ २९ ।
लोभ खटाई मोह मिठाई, दही क्रोध के निकट न जाई ॥ ३० ।
जड़ वैराग्य वृक्ष को लावहु, सोंट सन्तोषहि आनि मिलावहु ॥४४
मिरच तितिक्षन करुना चोता, निस्पृह पापर मिलवहु भीता ॥४५
कोमलता सब सोंज गिलोई, मधु बानी सों लेहु समोई ॥ ४६ ।
हरड़ आमरा सुचि अरु दाया, ताते निरमल ह्वै है काया ४७ ।

इस प्रकार रूपक की शैली से भव-रोग से ग्रसित संसारी मानव को स्वस्थ करने का उपचार इस ग्रंथ में ध्रुवदासजी ने प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ भी प्रारम्भिक स्तर की

किया है। प्रेम में विरह, मिलन, नित्य मिलन, पूर्वानुराग, स्वकीया-परकीया-भावपरक प्रेम नित्य विहार-रस, सांसारिक प्रेम की हेय स्थिति, प्रेम-प्राप्ति के उपाय, प्रेमी की स्थिति, प्रेम की उच्चता आदि विषयों को ६० दोहों में ध्रुवदास जी ने लिखा है।

प्रेम-पंथ की दुरूहता का वर्णन प्रायः भक्तों, रसिकों और आचार्यों ने किया है। प्रेम के सांसारिक और आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रायः सभी ने भेद-प्रभेद के साथ बताये हैं। ध्रुवदास जी ने माधुर्य भक्तिपरक प्रेम को पार्थिव प्रेम से—जिसका आधार प्राकृतजन की इच्छा-कामना होता है— पृथक् करने में बड़े कौशल से काम लिया है। प्रेम संसार का सबसे बड़ा सुखकर व्यापार है किन्तु इसके समान दुखदायी भी और कुछ नहीं। मिलन का सुख जितना बड़ा होता है, वियोग का दुख उससे भी अधिक सन्तापकारी और दाहक है।

प्रीति समान न और सुख दुख हू होत अपार।
मिलियो सुख, दुख बिछुरियो, यह कीनो निरधार ॥१॥

मिलन-विरह की स्थिति से परे यदि सच्चा प्रेम कहीं है तो वह नित्यविहार में लीन राधाकृष्ण के प्रेम में ही है। इसलिए वह प्रेम सबसे विलक्षण और आनन्दप्रद है।

महा प्रेम निज मधुर अति सबतें न्यारो आहि।
तहां न मिलिबो बिछुरिबो जीवत रूपहि चाहि ॥६॥

इस ग्रंथ के सम्बन्ध में भी वियोगी हरि का मत है कि यह किसी अन्य ध्रुवदास की रचना है। किन्तु ग्रंथ के अनुशीलन से यह भ्रम सर्वथा दूर हो जाता है। इसी ग्रंथ का एक दोहा ध्रुवदास जी के और ग्रंथों में भी पाया जाता है, जो इस बात का प्रमाण है कि एक ही व्यक्ति की यह रचना है—

चढ़िकैं मैन तुरंग पर चलिबो पावक माँहि।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन सब कोऊ निबहत नाँहि ॥

ध्रुवदासजी ने इस ग्रंथ को बड़े मनोयोगपूर्वक लिखा प्रतीत होता है क्योंकि इसकी प्रेम-भावना बड़ी सूक्ष्म और मनोहारिणी है।

६—भक्त नामावली

ध्रुवदासजी का यह ग्रंथ 'भक्तमाल' कोटि का भक्तों का परिचय कराने वाला ग्रंथ है। यद्यपि मुख्य रूप से वृन्दावन रस के उपासक प्रेमलक्षणा-भक्ति के गायक भक्तों के चरित्र लिखना ही ध्रुवदासजी का उद्देश्य था किन्तु सख्य, वात्सल्य आदि भावों के गायक कृष्णोपासक भक्तों के चरित्र भी लिख दिये हैं। साधारणतः भक्तों का नाम, धाम और विशिष्ट गुण का ही परिचय लिखा है किन्तु कहीं-कहीं भक्तजन की उपासना-पद्धति और उपास्य तत्त्व का भी संकेत मिलता है।

भक्तों की संख्या अनन्त है। अतः सबका परिचय लिखना तो किसी के लिए सम्भव नहीं। ध्रुवदासजी ने अपनी जानकारी के भक्तों का नामोल्लेख इस ग्रंथ में किया है।

रसिक भक्त भूतल घने लघुमति क्यों कहि जाँहि।
बुधिप्रमान गायें कछू जो आये उर माँहि ॥

है। जुगलकिशोर के कृपापूर्ण स्वभाव का वर्णन करके जिस मार्मिकता और रसिकता की ओर इंगित किया गया है वह राधावल्लभीय विचारधारा का प्राण है।

प्रीतम हू के प्रन यहै प्रीति के बस ह्वै जाहिं।
कोटि धर्म किन करो कोउ तिन सब चितवत नाहिं ।।५७
अद्भुत जुगल विहार कौं जिनकैं रहै विचार।
सुन ध्रुव तिनकी चरन रज लै लै सिर पर धार ।। ६४

'मन शिक्षा' ग्रन्थ की मूल भावना प्रेम-साधना की ओर उन्मुख करने वाली है। रसिक और भावुक भक्त के मन को शिक्षित करने के लिए जिस कोटि के उद्‌बोधन की आवश्यकता होती है वही इस ग्रन्थ में है। ग्रन्थ में कुल ६४ दोहे हैं। दो दोहों में 'मन शिक्षा' के भजन की शैली लिखी है।

४—वृन्दावन सत

वृन्दावन का माहात्म्य एवं स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए यह ग्रन्थ एक सौ सोलह दोहों में लिखा गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। धाम अपनी विलक्षण क्षमता के कारण धामी (कृष्ण) को भी अपने वश में रखता है। यह वृन्दावन भूतल पर स्थित होकर भी वैकुंठ, गोलोक आदि से ऊपर है। यही नित्य, शाश्वत और अविनाशी रूप से प्राणिमात्र को सुख देने वाला है। इसकी रज पापों का नाश करने वाली और समस्त सुख प्रदान करने वाली है। वृन्दावन का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ।। २५
वृन्दाविपिन सुहावनो रहत एकरस नित्त।
प्रेम सुरंग रंगे तहां एक प्रान द्वै मित्त ।। २६

इस ग्रन्थ के अन्त में इसका रचना-काल इस प्रकार लिखा है—

सोलह सै ध्रुव छ्यासिया पून्यौ अगहन मास।
यह प्रबंध पूरन भयो सुनत होत अघ नास ।।

वृन्दावन-महिमा के सम्बन्ध में ध्रुवदास ने अनेक ग्रन्थों में लिखा है। उनकी धाम-निष्ठा इस ग्रंथ के प्रत्येक दोहे से झलकती हुई स्पष्ट देखी जा सकती है। इस ग्रंथ का वैष्णव समाज में अत्यधिक सम्मान और प्रचार रहा है। इस ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। खोज-रिपोर्टों में भी इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है।

५—स्याल हुलास

'स्याल हुलास' का अर्थ है प्रेम के आनन्द की उमंग, अथवा उल्लासपूर्ण उत्साह। प्रेमानन्द के उत्साह से परिपूर्ण होने पर भक्त का मन लीन होकर जब आत्मविभोर स्थिति को प्राप्त होता है तब जो अनुभव करता है वही इस ग्रंथ में वर्णित हुआ है। प्रेम-दशा के अंग-प्रत्यंगों के विशद वर्णन को इसमें सैद्धान्तिक पृष्ठाधार पर ध्रुवदास जी ने पल्लवित

ध्रुवदासजी की यह भक्त-नामावली नाभाजी के भक्तमाल के बाद लिखी गई है किन्तु प्रियादासजी की भक्तमाल टीका से पहले इसका रचनाकाल है। इस भक्त नामावली का स्थान भक्तमालों में द्वितीय ठहरता है अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। जिन भक्तों की उपासना-पद्धति पर ध्रुवदासजी ने प्रकाश डाला है वह तो भक्ति-साहित्य के इतिहास में तात्त्विक दृष्टि से भी उपयोगी हैं।[1]

७—वृहद वावन पुरान की भाषा

इस ग्रंथ में वृहद बावन पुरान के उन अध्यायों का पद्यात्मक अनुवाद है जिनमें वृन्दावन-विहार का वर्णन है। महर्षि भृगु ने एक बार ब्रह्माजी से वृन्दाबन में होने वाले नित्यविहार और नित्यपरिकर के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। तब ब्रह्माजी ने यथामति वृन्दावन-विहार का रहस्य उन्हें समझाया। ध्रुवदासजी ने उसी प्रकरण को अपने इस ग्रंथ में पद्यात्मक रूप दिया है।

वृन्दावन-विहार में धाम, सखी, राधा और कृष्ण चारों अवयवों का स्थान है अतः इसमें भी इन चारों का संकेत उपलब्ध होता है। ब्रजलीला में गोपियों का स्वरूप बताने के बाद उनका स्थान निर्धारित किया गया है। इस ग्रन्थ में सृष्टि-विस्तार का भी वर्णन हुआ है। कहीं-कही अद्वैतपरक भावों का आभास मिलता है—किन्तु उसे राधावल्लभीय रूप में समझने से ही प्रासंगिक अर्थ की संगति बैठती है। ध्रुवदासजी की यह मौलिक कृति नहीं है—अनुवाद मात्र है अतः इसके मूलाशय का दायित्व भी उन पर नहीं आता। एक दोहे में कहा गया है—

> एकै पुरुष किशोर है दूजो नाहिन कोइ।
> जाकी इच्छा सहज ही यह कौतुक सब होइ॥

लीला-वर्णन की अनिवार्यता, नित्यविहार की उपादेयता और रासलीला की आनन्द-विधायिनी शक्ति का संकेत भी इसमें चित्रित किया गया है। ध्रुवदास ने इस पुराण को इसीलिए रूपान्तर के लिए चयन किया होगा कि इसमें माधुर्य-भक्ति के अनुकूल उपादानों का संकलन है। यदि वृन्दावन-विहार को हृदयंगम करना हो तो इसी पुराण में सर्वाधिक व्यापक रूप से यह प्रसंग लिखा गया है। सम्भवतः माधुर्य भक्ति के प्रचारित होने के उपरान्त इसकी रचना हुई है। वेद और शास्त्र का इसमें कई स्थल पर नामोल्लेख है, वह केवल परम्परा के कारण है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में किसी भी साधना या उपासना के लिए वेदादि शास्त्रों का आश्रय नहीं लिया गया है। स्वतन्त्र पद्धति से जो उपादेय प्रतीत हुआ ग्रहण कर लिया गया है। इस ग्रन्थ की आत्मा अवश्य ही राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्तिभावना के मेल में है। इसी कारण ध्रुवदासजी ने इसे अनूदित किया। यह ग्रंथ अनुवाद की दृष्टि से ध्रुवदासजी की रचनाओं में ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला माना जाता है। सम्पूर्ण ग्रंथ ७५ दोहों में समाप्त हुआ है।

१—यह ग्रन्थ श्रीराधाकृष्णदास जी द्वारा टीका-टिप्पणी सहित सम्पादित होकर इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

वृन्दावन की रसोपासना से भाव-साम्य रखने वाले रामानन्द, सोभू भंगद भक्त आदि का भी नाम गिना दिया गया है यद्यपि इनकी उपासना-पद्धति रसमार्गी नही है। इस नामावली में कुल १२६ भक्तों के नाम हैं, जिनमें से कुछ भक्तों के नाम इस प्रकार हैं :—

१—गोस्वामी हितहरिवंश, २—गो० वनचन्द्र, ३—गो० श्रीकृष्ण चन्द्र ४—गो० गोपीनाथ, ५—गो० मोहनचन्द्र, ६—गो० सुन्दरवर,

मध्यकालीन भक्त : ७—जयदेव, ८—श्रीधर स्वामी, ९—स्वामी हरिदासजी, १०—श्री विट्ठलनाथ, ११—श्रीकृष्ण चैतन्य, १२—श्रीरूपगोस्वामी, १३—श्रीसनातन गोस्वामी, १४—श्रीजीवगोस्वामी, १५—श्री रघुनाथदास, १६—कृष्णदास, १७—प्रबोधानन्द सरस्वती, १८—श्रीगोपालभट्ट, १९—घमंडी (घमंडदेव), २०—श्री भट्ट, २१—श्री गदाधर भट्ट, २२—श्रीनाथ भट्ट, २३—श्री गोविन्द स्वामी, २४—श्री गंग स्वामी, २५—श्री गिरधर स्वामी, २६—श्री विट्ठल विपुल, २७—श्री विहारीदासजी, २८—श्री व्यासजी, २९—श्री सेवकजी, ३०—श्रीनरवाहन, ३१—चतुर्भुजदास, ३२—वैष्णवदास, ३३—परमानन्द, ३४—लालदास, ३५—बालकृष्ण, ३६—म्यानू नाहरमल, ३७—मोहनदास, ३८—बीठलदास, ३९—सुन्दरदास, ४०—नेही नागरीदास ४१—नागर, ४२—चिन्तामणि, ४३—चतुरदास, ४४—हरिदास, ४५—नन्ददास, ४६—सरस नागरीदास, ४७—परमानन्द, ४८—माधव मुदित, ४९—सूरज द्विज, ५०—कल्याण, ५१—खरगसेन, ५२—राघवदास, ५३—मीराबाई, ५४—गगा, ५५—यमुना, ५६—कुम्भनदास, ५७—कृष्णदास, ५८—जसवन्त, ५९—हरिदास तूंबर, ६०—गोविन्ददास, ६१—परमानन्ददास अष्टछाप, ६२—सूरदास अष्टछाप, ६३—माधवदास, ६४—रामदास वरसानियां, ६५—सूरदास मदन मोहन, ६६—सेनाजी, ६७—नामदेवजी, ६८—पीपाजी, ६९—धन्ना, ७०—रैदास, ७१—कबीर, ७२—माधोदास जगन्नाथी, ७३—विल्वमंगल, ७४—रामानन्दजी, ७५—हरिव्यास देव, ७६—छीत स्वामी, ७७—भक्त रांका-बांका, ७८—नरसीजी आदि।

उपर्युक्त भक्तों का सक्षिप्त विवरण ही ध्रुवदासजी ने दिया है किन्तु यह विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ का रचनाकाल लेखक ने नहीं दिया। रचनाकाल निर्णय करने के लिए उन भक्तो का समय देखना होगा जो इस कालक्रम में बाद के हैं। बियोगी हरिजी का कहना है कि इसमें १७३५ संवत् तक के भक्तों का उल्लेख है। अतः यह ग्रंथ १७४० के आसपास ही लिखा गया होगा। किस भक्त का जन्मकाल संवत् १७३५ है यह नहीं बताया। इतिहास के प्रमाणो से सभी भक्तगण १७०० के समीप उत्पन्न हो चुके थे अतः १७३५ सवत् वाली बात में सार प्रतीत नहीं होता। बीठलदासजी को ध्रुवदासजी का पितामह ठहराया जाता है। हमने भी जीवन-वृत्त में इसका उल्लेख किया है किन्तु यहाँ भक्त-नामावली में उनका स्मरण किसी वंश-गोत्र सम्बन्धी बात का उल्लेख करके नहीं किया गया है—

> बीठलदास मुरलीधरन पद सेये सब काल।
> तैसे हू दास गोपालजी गाये ललना लाल ॥५८॥

है। इन दोहों में आद्योपान्त प्रीति का स्वरूप, उसके विकासक विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का समावेश है। प्रेम के प्रतिपादन का क्रम इस प्रकार है —

प्रेम का स्वरूप, स्वभाव, परिणाम, प्रेम की पावनता, उज्ज्वलता, तन्मयता, लगन, ललक, सूक्ष्मता एवं स्थिरता का वर्णन किया है।

प्रेम का स्वरूप सर्व सुखमय, रसमय एवं अखंड आनन्दमय है। सांसारिक विषय-सुख में प्रेम का आभासमात्र देखा जा सकता है, यथार्थ रूप नहीं। लोक-परलोक के समस्त सुख पुंजीभूत होकर भी प्रेम-दुख (विरह-दुख) की समता नहीं कर सकते, मिलन-सुख की तो बात ही निराली है।

> जेहि दुख सम नहि और सुख, सुख की गति कहै कौन।
> वारि डारि ध्रुव प्रेम पर लोक चतुर्दस भौन॥
> आदि अन्त जाको भयो सो सब प्रेम न रूप।
> आवत जात न जानिये जैसे छांह अरु धूप॥१८॥

प्रेम में निरंतर देखने की कामना का बना रहना ही विरह-भावना का सूक्ष्मरूपेण पोषण करना है।

> तन मन के बिछुरे नहीं चाह बढ़ै दिन रैन।
> कबहुँ संजोग न मानहीं देखत भरि-भरि नैन॥२०॥

प्रेम-पंथ की विकटता और दुर्गमता का वर्णन करते हुए कहा है—

> बंकट घाटी नेह की अतिहि दुहेली आहि।
> नैन पगनि चलिबो तहां जो ध्रुव बनै तो नाहि॥३३॥

प्रेम पंथ का पथिक बनने के लिए ध्रुवदासजी ने कुछ आवश्यक शर्तें रखी हैं। सरस, सरल, सहृदय और कला-प्रेमी ही प्रेम के अधिकारी हो सकते हैं। शृंगार रस को सरणि बना कर इस दिव्य प्रेम-मार्ग पर चलना होता है अतः शृंगार के साधक रूप, आसक्ति, उन्माद आदि को समझना आवश्यक है। रूप की ललक और सौन्दर्य की चटक जिसके मन में नहीं वह प्रेम-मार्ग का पथिक नहीं हो सकता। आकर्षण के लिए इन अवयवों को संजोना अनिवार्य है। प्रेमी उपासक के लिए यह ग्रन्थ बहुत बड़ा सम्बल है। इन चौवन दोहों में भक्त ध्रुवदासजी ने प्रेम का उपाय, मार्ग और ध्येय सब कुछ प्रशस्त करके रख दिया है। प्रेम-साधना में इस ग्रंथ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

१०—आनन्दाष्टक

यह आठ दोहों का एक संकलन मात्र है। इसे ग्रंथ संज्ञा देना समीचीन नहीं। प्रथम चार दोहों में जुगलकिशोर के आनन्दमय एवं रसमय स्वरूप का वर्णन किया गया है और अन्तिम चार दोहों में युगलकिशोर की प्राप्ति के लिए रसमार्गी उपासकों का सत्संग करने का आदेश है। आनन्दाष्टक नाम रखने का अभिप्राय यह है कि इसमें आनन्दस्वरूप—श्री राधावल्लभ के निज स्वरूप का बोध कराया गया है। जो इस रस को नहीं समझते उनके समीप जाने का निषेध है।

८—सिद्धान्त-विचार

ध्रुवदासजी की रचनाओं में 'सिद्धान्त-विचार' का बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यह वचनिका (गद्यवार्त्ता) में लिखा हुआ ग्रंथ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के उद्घाटन में इस ग्रंथ से जितना योग मिलता है उतना किसी अन्य ग्रंथ से नहीं। पद्य के बंधन को छोड़कर इसमें गद्य का प्रयोग इसी कारण स्वीकार किया गया कि स्पष्ट रूप से तर्क, युक्ति और प्रमाण-पुरस्सर विवेचन प्रस्तुत किया जा सके। साधारणतः पद्य में छन्द और यति-गति का बंधन होने से शंका-समाधान की शैली का सम्यक् निर्वाह नहीं हो सकता; जिज्ञासा शांत नहीं होती और मन में व्याख्यात्मक शैली से वस्तुबोध की आकांक्षा बनी रहती है। ध्रुवदासजी ने इस तथ्य को हृदयगम कर गद्यवार्ता का आश्रय लिया। इस गद्य में तार्किक शैली का प्राधान्य है। उन प्रश्नों को ध्रुवदासजी ने अपनी ओर से उठाया है जिनके विषय में किसी भी भक्त-जिज्ञासु के मन में शंकाएं उठ सकती हैं।

प्रथम प्रश्न है कि प्रेम और नेम के लक्षण क्या हैं ? प्रेम किसे कहते हैं ? इसका उत्तर बड़ी सजीव शैली में व्रजभाषा गद्य में दिया है—

'प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस, रुचि तरंग बढ़त रहै। सहज, सुछन्द, मधुरता, मादकता। जाकी आदि अन्त नाहीं, छिन छिन नूतनता, स्वाद अरु नेम अनेक भांति हैं।'

—सिद्धान्त-विचार और पृष्ठ ४२।

इसके बाद राधावल्लभीय प्रेम-दर्शन पर विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रेम और विरह, प्रेम और काम, प्रेम और मान आदि का स्वरूप समझाया गया है। तदुपरान्त रसिक की परिभाषा दी गई है। अनन्यता का स्वरूप स्थिर किया गया है। रस-माधुरी में ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य, आदि को आवरण बताया गया है। अतः भक्त को इनसे दूर ही रहना चाहिए। विधि-निषेध के प्रपंच तथा आचार का निर्णय करते हुए बताया है कि किन मर्यादाओं में रहकर इन्हें स्वीकार या अस्वीकार करें। विवेक क्या है और विवेकी कौन है ? संक्षेप में, इस ग्रंथ में राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धान्तों का बड़ी सटीक शैली से वर्णन हुआ है। यदि इस ग्रंथ का विधिवत् पारायण किया जाय तो अनेक गहन-गूढ़ गुत्थियाँ अपने आप सुलझती चली जाती हैं। साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व के व्रजभाषा गद्य का यह नमूना अभी तक विद्वानों के समक्ष नहीं आया है। भाषा के सहज प्रवाह को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय गद्य का प्रयोग नहीं होता था। विरह-वर्णन का एक उदाहरण देखिए :—

'जहाँ संयोग में देखत-देखत विरह रहै तहाँ या सूक्ष्म विरह की समाई नहीं। सब रस, सब सिंगार सबके प्रेम, सब नेम मूरति धरें श्री किशोरी-किशोर जू को सदा सेवत रहत हैं।'

—सिद्धान्त-विचार, पृष्ठ ४४।

९—प्रीति चौवनी

प्रेमतत्व का प्रतिपादन करने वाले चौवन दोहे इस ग्रन्थ में संकलित हैं अतः इसे 'प्रीति चौवनी' संज्ञा दी गई है। शतक और सतसई की भाँति चौवनी भी संख्यावाचक संज्ञा

वृन्दावन रसोपासना में अनन्यता का आदेश देते हुए ध्रुवदासजी ने विधि-निषेध की ओर ध्यान न देने का संकेत स्पष्ट शब्दों में किया है।

ह्वै अनन्य इक रस गहे वृन्दावन रस रीति।
विधि-निषेध मानै न कछु करै भजन सों प्रीति ॥१८॥

राधावल्लभीय मत में वृन्दावन स्वयं सच्चिदानन्द घन-स्वरूप है जिसमें प्रवेश करते ही जीव तद्रूप हो जाता है। वृन्दावन परम पावन, प्रेममय, रसमय एवं सर्वगुण-सम्पन्न है। इसके रजकण की वांछा ब्रह्मा, शिव, उद्धव और नारद आदि भी करते हैं।

१३—भजनसत

यह ग्रंथ दोहे-सोरठों में साधना-उपासना सम्बन्धी समस्त आवश्यकीय बातों का बोध कराने के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। 'भजनसत' में सौ दोहे-सोरठों का संकेत स्पष्ट है किन्तु इस ग्रंथ की पद-संख्या ११४ है जिसमें एक कुंडलिया भी सम्मिलित है। ग्रंथ में प्रतिपादित विषयों का क्रम इस प्रकार है—भजन का मूल, सेवा-भावना, प्रेम-भावना, सेवा द्वारा प्रेम, रसिकों के प्रति दैन्य, प्रेम और भक्ति के अन्तराय। इन विषयों का निरूपण करने के उपरान्त भगवद्धाम, भगवदावतार तथा रसों की कनिष्ठ दशाओं का निरूपण हुआ है। अन्त में प्रेम-मूर्ति युगलकिशोर को सर्वोपरि ठहरा कर उनकी उपासना का लक्ष्य कराया गया है।

भगवत्प्रसाद की महत्ता तथा भक्तगण के सम्मान का उपदेश भी इसी प्रसंग में बड़ी सैद्धान्तिक शैली से कहा है। श्वपच भक्त का भी सम्मान करना चाहिए, ऐसा स्पष्ट आदेश है। अन्त में क्षणभंगुर शरीर की महत्ता बताते हुए ज्ञान और वैराग्य द्वारा युगल-किशोर के चरणों में आश्रय पाने का वर्णन है।

भक्त के दैन्य भाव का बड़ा महत्व माना गया है—

मन की गति यों चाहिये भयो रहे बिन दीन।
रसिकन की पद रज तरें लुठत सदा ह्वै लीन ॥२०॥

भजन की दृढ़ता और अनन्यता का उपदेश तो ध्रुवदास के ग्रंथों में भरा पड़ा है—

ज्यों चातक स्वांती बिना परसत नहिं जल और।
दृढ़ता यों मन चाहिए फिरै न बहुतै ठोर ॥८८॥

जाति-अभिमान को त्याग कर भक्तों का सम्मान आवश्यक है—

जाति अभिमान न कीजिये भक्त जननि सों भूल।
सुपच आदि वे होइ जो मिलिये तिनसों फूलि ॥१०१॥

मानव-शरीर की क्षणभंगुरता का जीव को संकेत करते हुए ध्रुवदासजी सावधान करते हुए कहते हैं:—

कुंडलिया—

बहु बीती थोड़ी रही सोऊ बीती जाइ।
हित ध्रुव बेगि बिचारि कै बसि वृन्दावन आइ ॥

यह रस जिन समुझ्यो नहीं ताके ढिग जिन जाहु ।
तजि सतसंग सुधा रसहिं सुध सुतहिं जिनि खाहु ॥७॥
वृन्दावन रस अति सरस कैसे करौ बखान।
जेहि आगे बैकुंठ को फीको लगत पयान ॥८॥

अन्तिम दोहे में फलस्तुति कही गई है ।

११—भजनाष्टक

भक्ति-मार्गीय आचार्यों ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पांच भावों में से किसी एक भाव का आश्रय लेकर भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करने का निर्देश किया है। ये भाव उत्तरोत्तर प्रकर्ष को प्राप्त होते जाते हैं और मधुर भाव में इनका चरम विकास होता है अतः मधुरभाव ही श्रेष्ठतम भाव है। किन्तु जो वृन्दावन रस के उपासक हैं वे मधुर रस के उत्कृष्ट रूप 'उज्ज्वल रस' को स्वीकार कर ज्ञान, ऐश्वर्य, माहात्म्य से रहित मधुर स्थिति में पहुँच जाते हैं। इस रस की कल्पना करते समय संयोग-वियोग, स्वकीया–परकीया आदि भावों को तिलाजलि देनी होती है। इस अष्टक में आठ दोहे हैं, इन दोहों में उज्ज्वल रस की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

सर्वोपरि है मधुर रस युगल किशोर विलास ।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास ॥३॥

उज्ज्वल रस के उत्पन्न होने पर साधक विभोर हो उठता है :—

विवश भयो सुधि रही न कछु मोहो महा अनंग ।
लज्जित ह्वै रह्यो नमित अति करत नसीस उतंग ॥८॥

इस अष्टक के दोहों का गूढ़ाभिप्राय साम्प्रदायिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व रखता है क्योंकि गोपी-प्रेम आदि से उज्ज्वल रस-पूर्ण प्रेम को ऊँचा ठहराया गया है।

१२—भजन-कुंडलियाँ

इस ग्रंथ में दोहे और दस कुंडलियों में रसिक उपासकों के भजनीय तत्व का लक्ष्य कराया गया है। उपासक की रहनी, इष्ट भावना, विहार की रसरूपता और युगल-किशोर के सौन्दर्य-माधुर्य की छटा की ओर भी संकेत है। ग्रंथ का प्रारम्भ उपासक की रहनी से होता है।

कुंडलिया—

हंस सुता तट विहरिबो करि वृन्दावन वास।
कुंज केलि मृदु मधुर रस प्रेम विलास उपास ॥
प्रेम विलास उपास रहे इक रस मन माहीं।
तेहि सुखको सुख कहा कहौ मेरी मति नाहीं ॥
हित ध्रुव यह रस अति सरस, रसिकनि कियो प्रसंस।
मुकतन छांड़ि चुगत नहिं, मानसरोवर हंस ॥१॥

सवैया—

सारी हरी ने हर्यो मन लाल को,
मोहिनी सोहनी के तन सोहै।
अंगिया लाल सुरंग बनी,
लहि गातहि रंग खरो मन मोहै॥
रूप को रासि सबै गुन आगरि,
या छवि की उपमा कहो कोहै।
राजत है 'ध्रुव' कुंज विहारिनि,
सौ छवि लाल पलोपल जोहै ॥१४॥

राधा के लावण्य की एक झाँकी देखने योग्य है :—

कवित्त—

कंचन के बरन चरन मृदु प्यारी जू के,
जावक सुरंग रंग मनहि हरत है।
हित ध्रुव रही फबि सुमिलि जै हरि छवि,
नूपुर रतन खचे दीप से बरत हैं।
रीझि रीझि सुन्दर करनि पर पट धरे,
आरसी सी लिये लाल देखिबो करत हैं।
नख मनि प्रभा प्रतिबिम्ब झलमले कंज,
चंदनि के जूथ मानौ पायन परत हैं ॥१८॥

नीचे के पद में रूपक अलंकार की शैली से छवि का अंकन द्रष्टव्य है :—

रूप जल में तरंग उठै कटाछनि के,
अंग अंग भौंरनि की अति गहराई हैं।
नैननि कौं प्रतिबिम्ब पर्यौ है कपोलनि में,
तेई भये मीन तहाँ ऐसो उर आई है।
अरुन कमल मुसकानि मानौं फबि रही,
थिरकनि बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयौ है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है ॥२७॥

छवि-वर्णन में ध्रुवदासजी ने नखशिख का आश्रय लिया है और प्रायः सभी अंगों को इस वर्णन में समेटा है। नेत्र, कपोल, अधर, चरण-सौकुमार्य, स्मित, केलि, लावण्य आदि अनेकानेक विषय इस प्रसंग में आये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों के इतने सुन्दर और समर्थ उदाहरण इन कवित्त-सवैयों में आये हैं कि अलंकारप्रिय रीतिकालीन आचार्यों की रचना में भी कम ही मिलेंगे। कहीं राधा के शरीर को रूप की फुलवारी बनाया है तो कहीं उसे रूप का बन ठहराया है। फुलवारी के सांगरूपक का उदाहरण है—

बसि वृन्दावन आइ लाज तजिकैं अभिमानैं।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपकौं तृनसम जानैं॥
सकल भजन को सार सार तू गहि रस रीति।
रे मन देखु विचारि रही कछु इक बहु बीती॥१०२॥

ग्रंथ की फलस्तुति में सोरठा द्वारा स्पष्ट किया है कि जब तक रसपद्धति से शुद्ध भजन हृदय में नहीं आता तब तक कल्याण नहीं होता। 'भजन-सत' में जो पद्धति विस्तार से लिखी है वह प्रेममार्गी भजन की निसैनी (सरणि) है। इसके द्वारा भक्त भक्ति-पथ पर चलने का अधिकारी हो सकता है।

तब पावै रस सार, शुद्ध भजन आवै हियें।
याते कह्यौ विस्तार भजन निसैनी प्रेम की॥

१४—शृङ्गार सत (प्रथम शृङ्खला)

ध्रुवदासजी के ग्रंथों में सिद्धांत-प्रतिपादन और काव्य-सौष्ठव दोनों दृष्टियों से 'शृंगार सत' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है। सम्पूर्ण ग्रंथ तीन शृङ्खलाओं में विभाजित है। प्रथम शृङ्खला में राधा की रूप-माधुरी, द्वितीय शृङ्खला में राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम और रूपासक्ति तथा तृतीय शृङ्खला में दिव्य केलि (रति-विलास) का विशद वर्णन है। इस ग्रंथ में दोहा, कवित्त, सवैया, आदि अनेक सुन्दर छंद देखने को मिलते हैं। काव्य-बंध रीतिकालीन कवियों के अनुकरण पर हुआ है और पद-शैली पर भी रीतिकालीन शृङ्गार-भावना का प्रभाव है।

'शृंगार सत' में सत शब्द से 'सौ' छंदों का बोध होता है किन्तु इस ग्रंथ में एक सौ चौदन पद (दोहे, कवित्त, सवैये) हैं। ध्रुवदासजी ने तृतीय शृङ्खला के अंत में छंद-संख्या निर्धारण करने वाला एक दोहा लिखा है।

भये कवित्त सिंगार के इक सत अरु पच्चीस।
दोहनि मिलि सब ठीक भये इकसत अरु चालीस॥

अर्थात् एक सौ पच्चीस कवित्त-सवैये तथा पच्चीस दोहे होने चाहिएं। किंतु वर्तमान उपलब्ध प्रतियों में १२७ कवित्त-सवैये तथा २६ दोहे मिलते हैं। सम्भव है ३ पदों का समावेश बाद में किसी ने कर दिया हो।

प्रथम शृङ्खला का प्रारम्भ मंगलाचरण तथा प्रस्तावना से होता है। उसके बाद राधा-वेश-रचना तथा शृंगार-प्रसाधन का वर्णन है। इस शृङ्गार-प्रसाधन में राधा की साड़ी, कंचुकी, बेंदी, चूरी, हार आदि विभिन्न वस्तुओं पर कवि का ध्यान गया है और शृङ्गार-रस के अनुकूल उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आने वाले सुन्दर वर्णनों की झड़ी लगी हुई है। छवि-वर्णन के ये कवित्त-सवैये रीतिकालीन देव, मतिराम, पद्माकर, आदि कवियों की रचना के इतने समान हैं कि यदि इन्हें उनकी कृतियों में मिला दिया जाय तो सामान्य पाठक पहचान नहीं सकेगा। राधा की साड़ी और कंचुकी (अंगिया) का वर्णन देखिए :—

प्यारी सखी भरि अञ्जलि नैन पिये तें गिरी उपमा ध्रुव पाई,
मानो मयन्द ने डारे हैं तोरकैं कंचन कंज चहूँ दिसि माई ॥६१॥

रस-दशा में लीन युगलकिशोर की आनन्द-पद्धति का सुन्दर चित्र निम्न पद में अङ्कित हुआ है—

माधुरी की कुञ्ज तामें मोद की सं सेज रची,
तेहि पर राजें अलबेले सुकुमार री।
रूप तेज मोद के युगल तन जगमगें,
हावभाव चातुरी के भूषन सुघर री।
नेह नीर नैननि की सैननि में रहे भींजि,
कौन रंग बाढ्यो जहां बोलिबोऊ भार री।
अति ही आसक्त सखी रही मोहि जोहि जोहि,
हित ध्रुव प्राननि को यहै है अहार री ॥७४॥

तृतीय श्रृंखला : इसमें शैय्या-बिहार (रति-विलास) सम्बन्धी पदों का विस्तार है। शैय्यासीन कृष्ण के अङ्क में राधा को चन्द्रमा के क्रोड़ में बैठी चांदनी कहकर उत्प्रेक्षाओं का ठाठ खड़ा किया गया है।

भांति भली नवकुञ्ज विराजत राधिका वल्लभलाल विहारी।
प्राननि की मनि प्यारी विहारिनि प्यार सों प्रीतम लै उर धारी।
ज्यौं छवि चन्द्रिका चन्द्र के अङ्क में बाढ़ी महा छवि की उजियारी।
त्यौं चहुं कोद चकोरी भई ध्रुव पीवत रूप अनूप सुधारी ॥१०१॥

राधाकृष्ण की रति-लीला रात्रि-पर्यन्त निर्विघ्न चलती रही—प्रभात होने पर भी यह नहीं लगा कि रात्रि समाप्त हो गई है। वे यही समझते रहे कि अभी तो सन्ध्या ही हुई है। एक-दूसरे के प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग है कि रात्रि-पर्यन्त साथ रहने पर भी उनकी अभिलाषा अतृप्त ही बनी हुई है और वे समझते हैं कि हम अभी दो क्षण ही साथ रहे हैं। इतने लम्बे काल तक मिलने को भी वे न मिलना या न्यून मिलना ही समझते हैं। यही भाव निम्न पद्य में वर्णित हुआ है :—

भोर भये सांझ ही को धोखो है दुहुंनि मन,
सपुनो सो चेति कहैं कहा बात है भई।
ऐंकि हम मिलै नांहि, बैठे है अब हि आइ,
ऐंकि निसा आज कछू बीच ही ते है गई ॥
भूषन बसन छूटे देखे पुनि समुझत,
कौन एक प्रेम रसा उपजी है सुखमई ॥
हित ध्रुव यहै जानें मिल्यौ अनमिल्यो मानें,
नैननि में रुचि ही को प्रेम बेलि है बई ॥११०॥

रस-विहार की नित्यता व्यक्त करते हुए ध्रुवदासजी ने सांसारिक प्रेम से इसे उच्च-

रूप की सी फुलवारी फूलि रही सुकुमारी,
मङ्ग-मङ्ग नाना रंग नवल विहार ही।
नैन कर कमल, मधर है बधूक मानों,
बसन झलक पर कुन्द वारि डार ही।
बेंदी लाल है गुलाब, नासिका सुवर्नफूल,
मोती बने जहाँ-जहाँ जुही सी विचारही।
छवि ही के खंजन रसीले नैन प्रीतम के,
खेलें तहाँ ध्रुव सखी चितै प्रान वार ही ॥४३॥

सुकुमारता के वर्णन में ध्रुवदासजी ने काव्य-सौष्ठव का चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। ध्वन्यात्मक मर्थ-व्यंजना मौर मलंकारों की सफल योजना ने सौकुमार्य को दिव्य बना दिया है—

डीठिहु को भार जानि देखत न डीठि भरि,
ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हू ते प्यारी है।
माधुरी सहज कछु कहत न बनि मावै,
नेकु ही के चितवत चकित विहारी है॥
कौन भाँति मुख को मनूप कान्ति सरसाति,
करत विचार तऊ जात न विचारी है।
'हित ध्रुव' मन पर्‌यो रूप के भँवर माँझ,
नेह बस भये सुधि देह को बिसारी है ॥४७॥

द्वितीय शृंखला : इस शृङ्खला में युगलकिशोर की पारस्परिक प्रीति का वर्णन है। शृङ्गार-परक वर्णन होने पर भी साम्प्रदायिक भक्ति-भावना के कारण उसमें उदात्त भाव झलकता हुमा स्पष्ट परिलक्षित होता है। राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम का वर्णन मालंकारिक शैली से मनेक पदों में हुमा है :—

जैसी मलबेली बाल तैसे मलबेले लाल,
दुहुँनि में उलही सहज शोभा नेह की।
चाहनि के मंबु दै-दै सींचत है छिन-छिन,
मालवाल भई सेज छाया कुंज गेह की।
मनुदिन हरी होति पानिप बदन जोति,
ज्यों-ज्यों ही बौछार ध्रुव लागे रूप मेह की।
नैननि की बारि किये हरें सखी मन दियें,
चित्र सी ह्वै रही सब भूली सुधि देह की॥

राधाकृष्ण का सेज-विहार-वर्णन करते हुए कवि ने उत्प्रेक्षा का सुन्दर चमत्कार प्रस्तुत किया है—

सेज सरोवर राजत है बस मादिक रूप भरे तरुनाई,
मङ्गनि माभा तरंग उठें तहाँ मीन कटाच्छिनि की चपलाई॥

'वृन्दावन एक दिव्य प्रेम का साम्राज्य (देश) है। इस दिव्य देश के सम्राट् हैं रसिक युगलकिशोर राधावल्लभलाल। पक्षी, पशु-पक्षी, मृग-मयूरादि इस देश के प्रजाजन हैं। युगलकिशोर यौवनरूपी राजसिंहासन पर विराजते हैं और रूप (सौंदर्य) का छत्र उनके ऊपर रहता है। निकुञ्ज भवन ही उनका राजमहल है। सखियाँ, मृगी, मयूरी, हंसी, चकोरी आदि राजदरबारी हैं। वृन्दावनरूपी राजोद्यान को सींचने के लिए षट्ऋतुएँ अपने समस्त साज-सम्भार के साथ सदा उपस्थित रहती हैं। उस उद्यान में सदा सुख के पुष्प विकसित रहते हैं। इस प्रकार निकुञ्जमहल में राजसिंहासन पर समासीन युगलकिशोर ने मदन-शतरंज का खेल प्रारम्भ किया। मदन-शतरंज ही हितशृङ्गार (प्रेम-शृङ्गार) को व्यक्त करने वाला है। मदन-शतरंज की रूपकमयी केलि-वर्णन को ही हितशृङ्गार कहा जा सकता है।'

इस ग्रंथ में वृन्दावन-वर्णन, प्रेम-शतरंज का खेल, प्रिया-छवि वर्णन, संभ्रमसुख, रूपासव-पान की मादकता, प्रियाजी की उदारता, लालजी को रस चोप, केलिरस, तथा सुरतान्त छवि का वर्णन है।

प्रेम-शतरंज का रूपक इस प्रकार खड़ा किया है :—

मन नृप मंत्री चोंप सों रचि कीन्हों छल घाल।
उरज गयंद तुरंग दृग पाइक अंगुरी लाल ॥१३॥
रति नागरि वे अधर रस हेत बिसात सँवारि।
आलिंगन चुंबन मनों खेलत फेरि संभारि ॥१४॥

इस खेल में मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, प्राण, चित्त की समस्त वृत्तियाँ ही बिसात—गोट—हैं। चोप की चाल चली जाती है, चाह ही हार-जीत का निर्णय करती है। इस रूपक से स्पष्ट है कि उस समय राजदरबारों में शतरञ्ज का खेल अत्यधिक प्रचलित था। इसी खेल पर ध्रुवदास ने दिव्य प्रेम को चरितार्थ करके अपनी विलक्षण चातुरी का परिचय दिया है।

प्रेम का स्वभाव चपल होता है। चापल्य के वशीभूत होकर प्रेमी अपने प्रेमपात्र को बार-बार देखना—निहारना चाहता है। यह देखना प्रेमपात्र के लिए कभी-कभी तंग करने वाला भी हो जाता है। निम्नलिखित पद में राधा की इसी आकुलता का वर्णन है।

परी है कठिन अति नवल किसोरी जू कों,
छिन छिन नई छवि कहाँ लों छिपावहीं।
जोई अङ्ग प्रीतम की दीठि सों परस होत,
नीरज से नैना नीर भरि-भरि आवहीं।
हित ध्रुव अधिक दिवस भये जात पिय,
ताही हेत सुकुमारी जतन बनावहीं।
और अंग राखे पट भूषननि में दुराइ,
लोचन चपल चल कहे में न आवहीं ॥५५॥

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को नित्यमिलन की स्थिति में ही पूर्ण माना गया है। उसमें पल भर को भी विरह नहीं होता। यह सिद्धान्त बहुत जोरदार शब्दों में स्थिर किया जाता है। ध्रुवदासजी ने भी इसी भाव को निम्न कवित्त में कहा है।

भूमि पर पहुँचाने के लिए आद्यन्तहीन बताया है और इसे युगलकिशोर की अन्योन्यासक्ति का प्रकृष्टतम रूप दिया है—

न आदि न अन्त विलास करें दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई-नई भांति नई छवि कान्ति नई नवला नव-नेह विहारी॥
रहे मुखचाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वसहारी।
रहे एक पास करें मृदु हास सुनो ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री॥११३॥

१५: मनि-शृंगार :

शृङ्गार-मूर्ति श्रीकृष्ण के लिए श्रीराधा की रूप-छवि सौन्दर्य-विधायक मणिरूप हैं जिन्हें माला-रूप में पिरो कर श्रीकृष्ण अपने हृदय में धारण करते हैं। राधा की रूप-माधुरी को मणि-रूप मानकर इस ग्रंथ का नाम 'मनि-शृंगार' रखा गया है। प्रारम्भ में राधा की रूपमाधुरी का वर्णन है, तदुपरान्त युगल के रति-विलास का सामान्य रूप से रति-विलास वर्णन करने के बाद उसे ज्योनार की रूपक शैली में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में रसिक जनों की कृपा का प्रभाव भी सांकेतिक रूप से कहा है। दूसरे शब्दों में यो भी कह सकते हैं कि युगलकिशोर का रति-विलास ही 'मणि-शृङ्गार' है जिसे राधा और कृष्ण दोनों धारण करते हैं। इस रति विलास-सुख का बोध श्री हरिवंशजी की कृपा से होता है अतः प्रारम्भ में मंगलाचरण में उनका स्मरण किया गया है।

श्रीराधा की रूपमाधुरी वर्णन करने वाले ४४ दोहे हैं। राधा के सौंदर्यातिशय पर कृष्ण इतने आसक्त और अनुरक्त हैं कि उसे त्यागकर वे क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। १० दोहों में यही भाव गाया है। उसके बाद कृष्ण की रूपछवि, युगल-छवि, रसमय विहार का वर्णन है। यह क्रम ८१ दोहों तक गया है। इसके आगे 'रति-विलास रूपी ज्योंनार' का वर्णन प्रारम्भ होता है जो ११ दोहों में है। प्रेम-शैया का विहार और रसिक उपासक का धर्म बताकर १०२ दोहों में यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। ग्रंथ का उपसंहार करते हुए ध्रुवदासजी ने कहा है—

रचि कीन्हीं सिंगारमनि जो लै राखै सीस।
ताके हिय में बसत हैं श्री वृन्दावन ईस॥
जे है मनि सिंगार को सब गुन भरि अनुराग।
पहिरो पिय हिय प्यार सों पोइ प्रेम के ताग॥

इन दोहों से स्पष्ट है कि इसका नाम 'सिंगार मनि' है। किन्तु प्राचीन काल से 'मनि सिंगार' लिखा चला जा रहा है। अतः हमने भी मणि नाम देकर ही लिखा है। यथार्थ में तो 'सिंगार मनि' ही नाम होना चाहिए।

हित-शृंगार

हित-शृङ्गार शब्द का अर्थ है 'प्रेम का शृंगार'। प्रेम का शृङ्गार यहाँ सामान्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है वरन् इसका अर्थ है दिव्य प्रेम-केलि का वर्णन। इस ग्रन्थ में भी रूपक शैली से हित-शृङ्गार का वर्णन किया गया है। रूपक संक्षेप में इस प्रकार है—

अति ही अगाध सिंधु पार नहिं पावै कोऊ,
थोड़ी बुद्धि सीप मांझ कैसे के समात है।
छिन छिन नई नई माधुरी तरंग रंग,
देखे नख चन्द्रिकन चन्द्रहू लजात है।
हित ध्रुव अंग अंग बरसत छवि स्वाँति,
नैना पियै चातक तौ कहूँ न अघात है।

प्रेम की विलक्षणता बताते हुए सुन्दर दोहा लिखा है :—

उलटी चाल है प्रेम की, को समुझै बिन लाल।
ज्यौं ज्यौं हारे अपनपौ त्यौं त्यौं बढ़ै विसाल॥

श्याम-श्यामा की नित्य-विहार-लीन आत्म-विभोर स्थिति का वर्णन पूरी शृंगारिक भावना के साथ निम्न कवित्त में किया गया है :—

नवल रंगीले लाल रस में रसीले अति,
छवि सौं छबीले दोऊ उर धुरि लागे हैं।
नैननि सौं नैन कोर मुख मुख रहे जोर,
रुचि कौन ओर छोर ऐसे अनुरागे हैं।
परे रूप सिन्धुमांझ जानत न भोर सांझ,
अग अंग नैन रंग मोद मद पागे हैं।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कहूं,
जद्यपि लड़ैती लाल सब निसि जागे हैं॥

ग्रन्थ के अन्त में इसके पदों की संख्यासूचक तीन दोहे लिखे हैं जिनमें २२२ पद-संख्या दी है।

दोहा कवित्त अरु सोरठा इंसत तिथि गुन बेद।
या रंग में जे रंगिरहे तेई पैहैं भेद॥
इंसत ऊपर अष्टदस और सवैया चार।
अद्भुत युगल विहार रस छिन-छिन ध्रुव उरधार॥

१८—रस मुक्तावली

यह ग्रंथ भी रस-वर्णन से सम्बन्ध रखता है। दोहा-चौपाई की शैली में लिखा गया है। सखियों का स्वभाव-शील पुरस्सर वर्णन इसकी विशेषता है 'त्रिवटी सखी' द्वारा सखियों के आठ विभाग किये गये हैं।

इस ग्रंथ में ११० दोहा-चौपाई है। शृंगार रस में सुरत प्रसंग का भी स्थान-स्थान पर वर्णन है :—

दोहा चौपाई एक सत ऊपर अति अभिराम।
हितध्रुव रस मुक्तावली रसिक अवनि विश्राम॥११०॥

मधुर तें मधुर अनूर तें अनूप अति,
रसनि कों रस सब सुखनि को सार री।
विलास को विलास निज प्रेम की है राजें सदा,
राजें एक छत दिन बिमल बिहार री।
छिन छिन त्रिषित चकित रूप माधुरी में,
भूलें सेई रहैं कछु आवें न विचार री।
अमहू कों विरह कहत जहाँ डर आवें,
ऐसे हैं रंगीले ध्रुव तन सुकुमार री ॥६५॥

ग्रंथ के उपसंहार में नित्यविहार रस की उत्कृष्टता बताते हुए कह दिया है कि जिनके मन में इसे स्थान नहीं स्वप्न में भी उनका साथ नही करना चाहिए। इस ग्रंथ की दोहा कवित्त तथा सवैया संख्या ८२ है। ध्रुवदासजी ने स्वय अन्त में संख्या-सूचक दोहा लिख दिया है।

यह रस जिनके सुनत मन नाहिंन होत हुलास।
सपनेहुँ परस न कीजिए तजि ध्रुव तिनको पास ॥८१॥
अस्सी दोइ दोहा कवित्त हितसिंगार के कोन।
जाके उर में बसें ध्रुव युगल चरन ह्वै लीन ॥८२॥

१७—सभा-मंडल

इस ग्रंथ के नाम से विदित होता है कि विहार के लिए मंडलाकार स्थित होकर सभा रचना की गई है। उस मंडल-सभा में श्रृंगार रस का विशद वर्णन हुआ है। यथार्थ में नित्य विहार-वर्णन के लिए ही इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है। संवत् १६८१ में यह ग्रन्थ रचा गया। रचना-सवत् 'मंडल सभा सिंगार सोनह से इक्यासिया' स्पष्ट लिखा है। सभा-मंडल में श्रृंगार रस की परिपूर्णता लाने के लिए ध्रुवदासजी ने काव्य-शैली का अनुगमन किया है। नख-शिख वर्णन, ऋतु-वर्णन, रूप-वर्णन, हाव-भाव वर्णन इसमें काव्य-शैली से ही किये गये हैं। नित्य-विहार वर्णन की शैली में नवीनता नही है। नख-शिख और ऋतु वर्णन सुन्दर है। कृष्ण के रूप-वर्णन में नखशिख की शैली देखने योग्य है :—

लाल भाल पर फबि रह्यो, बेंदी लाल अनूप।
मनो मूर्ति अनुराग की प्रकट भई धरि रूप ॥
नासापुट मुक्ता फब्यो चितैं रहैं दृग द्वन्द्व।
भाजन भरि तन छलिक परी मनो रूप को बुंद ॥
अरुन अधर दसनावली, झलकत परम रसाल।
हीरन की पंक्ती मनो वन्दन में करी लाल ॥

राधा-रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

कोटि-कोटि रसना जो रोम-रोम प्रति होइ,
प्यारी जू के रूप को न प्रमान कह्यो जात है।

है। किन्तु राधा के व्यवहार में किसी प्रकार की जड़ता, अरुचि, अशोभनता प्रदर्शित नहीं की गई है। प्रियतम अपनी चतुरता से प्रिया को अपने वश में करने का उपक्रम करते हैं, दृष्टि कहीं रखते हैं और स्पर्श किसी और अंग का करते हैं किन्तु राधा इतनी सावधान और सतर्क है कि वे इस व्याजक्रीड़ा से पराजित नहीं होतीं।

> चितवन औरैं अंग पिय छुयौ चहत अङ्ग और।
> तऊ बचत नहिं चतुरई, कुँवरि चतुर सिरमौर ॥४॥
> अलक सँवारन ब्याज कै, परस्यौ चहत कपोल।
> मृदुल करनि डारत झटकि, रसमय कलह कलोल ॥५॥

इस ग्रंथ में शृंगार रस का विस्तार सुरत-प्रसंग, विपरीत रति आदि काम-प्रसंगों तक हुआ है। ध्रुवदासजी की निपुणता इसमें है कि वे इस वर्णन को जिस कोटिक्रम से उत्तरोत्तर बढ़ाते गये हैं वह सहज स्वाभाविक क्रम है। भक्त कोटि के कवि के लिए इस सूक्ष्म और ब्योरेवार वर्णन का ज्ञान निसर्ग-सिद्ध ही मानना होगा। लौकिक काम-वासना के उन्नयन के लिए इस प्रकार के सविस्तर वर्णन की आवश्यकता कदाचित् आज के युग में युक्ति-संगत प्रतीत न हो। कभी-कभी तो इस वर्णन का पृष्ठाधार इतना कामोत्तेजक प्रतीत होने लगता है कि यदि नित्यविहार का मर्म अन्तर्नेत्रों के सम्मुख न रहे तो इस प्रकार का समस्त वर्णन आद्योपान्त शुद्ध भोग-शृंगार ही लगेगा। ध्रुवदासजी के मन में भी यह बात किसी न किसी रूप में थी तभी इस ग्रंथ के अन्त में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह रस साधारण जनता के लिए नहीं है इसे गोप्य ही समझ कर अनधिकारी से इसका उद्घाटन नहीं करना चाहिए—

> महा गोप्य अद्भुत सरस चितत रहै मनमाहिं।
> या रस के रसिकनि बिना सुन ध्रुव कहिबो नाँहि ॥५०॥

२१—प्रेमावली

भक्तिमार्ग के आचार्यों ने भक्त के अधिकार-विचार से भक्ति के विविध मार्गों का उपदेश किया है। भक्ति के वे विविध मार्ग 'विधि-मार्ग' कहलाते हैं। इस विधिमार्ग से न चलने वाले भक्तों के लिए 'रागमार्ग' का विधान है। रागमार्ग से रागानुगाभक्ति का अनुसरण किया जा सकता है। यह राग-मार्ग भक्त की भावना के अधिक गंभीर और सुकर होने से विधिमार्ग से श्रेष्ठतर है। किन्तु इस रागमार्ग में भी कुछ विधि-विधान रहते हैं अतः हितहरिवंश जी ने अपनी भक्ति को शुद्ध प्रेममयी बनाकर स्वतन्त्र रूप से 'हितमार्ग' का निर्देश किया जो समस्त वैधी व्यवधानों से रहित अविच्छिन्न प्रेममय मार्ग है। इस मार्ग में साधन, साध्य, उपासना, उपास्य आदि सब कुछ प्रेम या हित में ही है।

प्रेमावली में इसी प्रेममार्ग का वर्णन ध्रुवदासजी ने किया है। विषय-वर्णन का क्रम इस प्रकार है—आरम्भ में श्री हितहरिवंश जी का स्वरूप, श्री लालजी की प्रेमाधीनता, श्री राधाजी की उदारता, [illegible] स्वभाव, रूप, गुण, सौन्दर्य, आदि का वर्णन।

श्री हितहरिवंश जी का स्वरूपनिरूपण करते हुए मंगलाचरण में सैद्धान्तिक भावना और स्पष्ट इंगित किया गया है :—

१९—रस हीरावली

राधाकृष्ण की रूप-छवि, बाह्य अलंकरण और वेश-रचना आदि का इसमें वर्णन है। ऋतु-वर्णन की दृष्टि से यह आलंकारिक शैली का अनुगमन करता है। राधाकृष्ण की द्युति और कान्ति वर्णन में काव्य-सौष्ठव की सुन्दर छटा दृष्टिगत होती है।

जहाँ लगि द्युति अरु कांति बखानो, कुंवरि अंग देखत सकुचानी ॥६१॥
छवि ठाढ़ी आगे कर जोरे, गुन की कला चौंर सिर ढोरे ॥६२॥
चित्र भई तेहि ठां चतुराई, पंगु भई चितवत चपलाई ॥६३॥
छुअ न सकत अद्भुत मृदुताई, अति सुकुमार कुंवरि तन भाई ॥६४॥

ऋतु वर्णन :—

वसन्त—

खेलत दामिनि कन्त वसंत बढ्यो मन मोद विनोद अनंगा।
तैसो रह्यो बन फूलनि फूल रंगे दोऊ प्रीतम प्रेम सुरंगा॥
प्रिया मुख चन्द्र की ओर किशोर चकोर भये पिवें रूप तरंगा॥
सखी चहुँ कोद विलोकत हैं ध्रुव आनन्द को सुखसार अभंगा ॥८१॥

ग्रीष्म—

ग्रीषम को रितु जानि सहेलिन, कज कपूर की कुंज बनाई।
चन्दन चंद के खंभ रचे दल कोमल रग सुरंगनि छाई॥
उज्ज्वल सेज सुरंग सुहावनि वारि गुलाब सों लै छिरकाई।
राजत हैं ध्रुव लाड़िली लाल विनोद को मोद बढ्यो अधिकाई ॥९९॥

पावस—

स्याम घटा उमड़ी चहु ओरनि पावस की रितु आई सुहाई।
नाचत मोर मयूरी विनोद सों आनंद की वरषा वरषाई॥
कौंधे जहाँ तहाँ दामिनि कामिनि प्रीतम अंक रही दुरि माई।
कैसे कही ध्रुव जात है सो छवि देखत नैन रहे हैं लुभाई ॥११०॥

षट्ऋतु वर्णन में एक ओर काव्य-शैली का पूरा निर्वाह दृष्टिगत होता है तो दूसरी ओर नित्यविहार-परक आध्यात्मिक भावना को भी ध्रुवदासजी ने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। ऋतु-सम्बन्धी छहों सवैयों को पढ़कर कवित्त-शक्ति का बोध होने के साथ विहार में ऋतु-परिवर्तन से होने वाली भाव-सृष्टि भी भावुक-भक्त के मन में होती है।

इस ग्रंथ में १६२ कवित्त, दोहा, सवैया और चौपाई हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है।

२०—रसरत्नावली

शृंगार रस की पृष्ठभूमि पर नित्यविहार का उपक्रम इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है। प्रथम समागम के समय लाज और संकोच से घिरी हुई नवोढ़ा जिस प्रकार अपने सहज शील का परिचय देती हुई रति-विलास से उपरत रहती है वैसा ही संकोच-शील-वर्णन इस ग्रंथ में हुआ

खटपटी भाँति की बिरह सुनि भूलि रह्यौ सब कोइ।
जल पीवत है प्यास कौ प्यास भयौ जल सोइ॥६३॥

इस ग्रंथ का रचनाकाल अंत में इस प्रकार दिया हुआ है :—

सत्रह सं छूं अन अब अगहन पछि उजियार।
दोहा चौपाई कहे ध्रुव इकसत ऊपर चार॥१०५॥

२४—सुख मंजरी

इस लीला में प्रियाजी की हित सखी श्रीकृष्ण की दशा का वर्णन राधा से करती है और राधा से कहती है कि तुम जल हो और कृष्ण मीन हैं। कृष्ण तुम्हारे बिना क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकते। तुम उनके लिए संजीवनी बूटी हो। कृष्ण की मदन-व्यथा को चिकित्सा के लिए तुम्हे सन्नद्ध होकर शीघ्र उनके पास चलना चाहिए। यह सुनकर राधा कृष्णमिलन के लिए आतुर होकर चल पड़ती है और मिलते ही आलिङ्गन-चुम्बन आदि द्वारा उनकी कामना पूर्ण करती है। विहार-रत होने पर भी दोनों सदा अतृप्त बने रहते हैं—

ज्यों ज्यों करत विहार दोऊ बाढ़त चाह विलास।
जल पीवत है प्यास कौ सोई जल भयौ प्यास॥२२॥

इस ग्रन्थ में २५ दोहे हैं। भाषा साधारण है। विषय भी नवीन नहीं है।

२५—रति मंजरी

शृङ्गार रस वर्णन के लिए इस ग्रंथ का निर्माण हुआ है। रतिविलास के विविध रूप इसमें पल्लवित किये गये हैं। दोहा-चौपाई की शैली में ८२ पद हैं। राधावल्लभीय विरह का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है। एक बार प्रेम-प्रसंग में राधा ने भ्रूभंग से लालजी को देखा और सगर्व वचन बोलीं; उसे सुनकर श्रीकृष्ण भयभीत से हो गये और उन्हें अपनी देह की सुध-बुध तक न रही। उन्हें लगा कि जैसे राधा मुझसे क्रुद्ध है। यह ध्यान आते ही उनके मन में विरह-दुख (सूक्ष्म) समा गया।

विवस भये विरहज दुख भारी, लटकि परे गहि चरन बिहारी॥३०॥
प्रेम प्यार की मूरति प्यारी लये लाल भरिके अंक वारी॥३१॥

राधा के चरणों पर क्षमा-प्रार्थना की मुद्रा में झुक गये। राधा ने उन्हें प्रेमविह्वल हो अङ्क में ले लिया।

२६—नेह मंजरी

राधाकृष्ण के स्नेह और नित्यविहार का वर्णन करना इस ग्रंथ का लक्ष्य है। नित्य-विहार वर्णन के प्रसंग में वृन्दावन और सहचरी का वर्णन स्वयमेव समाविष्ट हो गया है। सहचरी को गोपी से ऊपर स्थान देकर दोनों का भेद स्पष्ट कर दिया गया है।

नारदादि सनकादि सब उद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन को सुख देखि कं, भजन आपुनो वादि॥१५२॥
तिन गोपिन्ह ते दुर्लभ भाई, नित्यविहार सहज सुखदाई॥१५३॥

प्रकट प्रेम को रूप धरि श्री हरिवंश उदार।
राधावल्लभ लाल को प्रकट कियो रस सार ॥१॥
हरिवंश चन्द सब रसिक जन राखे रस में बोरि।
प्रेमसिन्धु विस्तार के नेम मेंड़ दई तोरि ॥२॥

प्रेम का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण की तन्मयता का बड़ा सटीक वर्णन है :—

रूपबेलि प्यारी बनी प्रीतम प्रेम तमाल।
द्वै मन मिलि एकै भये राधावल्लभ लाल ॥३॥

इस ग्रंथ में १२६ दोहे और एक कुंडलिया छन्द है। इस प्रकार कुल १३० पद हैं। इसका रचना-काल अन्त में इस प्रकार दिया हुआ है :—

हित ध्रुव भई प्रेमावली, सुनत जुगल दरसाहिं।
सोलह सै इकहतरा श्री वृन्दावन माहिं ॥१३०॥

२२—प्रियाजी की नामावली

इस नामावली में राधा के उन नामों का ध्रुवदासजी ने संकलन किया है जो राधा के प्रेम, सौंदर्य, रूप, भाव एवं रस के आदि गुणों के द्योतक हैं। दूसरी विशेषता यह है कि सभी नाम नित्यविहार से सम्बन्ध रखने वाले हैं। ब्रजलीला या अवतारवाद से इन नामों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी नाम किसी न किसी विशिष्ट भाव को दृष्टि में रखकर दिये गये हैं। एक प्रकार से ये राधा के नित्यविहार-परक स्वरूप के बोधक-परिचयात्मक नाम हैं। प्रत्येक नाम स्वतंत्र और निरपेक्ष है। केवल एक शृङ्खला में छन्दोबद्ध करने के लिए ग्रथित कर दिये गये हैं। ब्रजमंडल के सुपरिचित लाड़िली, छबीली, रसीली, दुलहिनी, स्यामा, भावती आदि भी इस नामावली में दृष्टिगत होते हैं। सम्पूर्ण रचना में १०१ नाम गिनाये गये हैं। इस रचना को 'ललित नामावली' भी कहा जाता है क्योंकि इसके अंत में फलस्तुति वाले दोहे में ध्रुवदासजी ने यही नाम लिखा है :—

ललित नाम नामावली जाके उर झलकन्त।
ताके हिय में बसत रहै, स्यामा स्यामल कन्त ॥१०३॥

२३—रहस्य मंजरी

यह ग्रंथ नित्यविहार का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। प्रारम्भ में वृन्दावन का वर्णन है। वृन्दावन-वर्णन करने में भक्त ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा है—

वृन्दावन छवि कहा कहौं, कैसेहुँ कहत बनै न।
नैननि के रसना नहीं, रसना कै नहिं नैन ॥१५॥

नित्यविहार वर्णन में सूक्ष्म विरह का भाव बड़ी सुन्दर शैली से प्रस्तुत किया गया है। आलिंगन के क्षणों में उर से आबद्ध होने पर नेत्रों को दर्शन का विरह हो जाता है। यह क्षणिक विरह ही सूक्ष्म विरह है—

जब ही उरसौं उर लपटाहीं, तब नैना बिरही ह्वै जाहीं ॥३७॥
छूटे जब ही छवि देख्यो करैं, विरह आनि अङ्गनि संचरै ॥३८॥

मधुमय अधर सुरंग मृदु छवि सीवां सुकुमारि।
दसननि पंगति ज्योति पर दामिनि अगनित वारि ॥२६॥
उरजन की छवि कहा कहौं, तैसी झलकनि होय।
भूलत नहिं मन के करनि, धरें रहत है पीय ॥३१॥
नखसिख दोऊ उरझि रहे नेकहु सुरझत नाहिं।
ज्यों-ज्यों रुचि बाढ़ै अधिक त्यों-त्यों अति उरझाहिं ॥३५॥

सूक्ष्म विरह का राधावल्लभीय भाव निम्न दोहे में वर्णित हुआ है—

नेक कुँवरि मुरि सखी सों बात कही लगि कान।
पिय की गति औरे भई कोटिक विरह समान ॥४०॥

दोहों की संख्या अन्त में इस प्रकार दी है—

छप्पन दोहा कहे ध्रुव रंग विहार अनंग।
या रस सों जे रंग रहे तिनहीं सों करि संग ॥५६॥

२९. रसविहार

राधाकृष्ण की प्रेम-लीला वर्णन करने के लिए इस ग्रंथ में रूपक अलंकार का आश्रय लिया गया है। प्रथम दोहे में ही सांग रूपक खड़ा करके नाव में लीला करने का उपक्रम है।

रूप नदी करिया मदन, नवल नेह की नाव।
चढ़े फिरत दोऊ लाड़िले छिन-छिन उपजत चाव ॥१॥

२२ दोहों में यह लीला समाप्त हुई है। विषय और भाव की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता नहीं है।

३०—रंग-हुलास

इस लीला में राधाकृष्ण का नखशिख-वर्णन सुन्दर शैली से हुआ है। उत्प्रेक्षा की झड़ी लगा दी है और रूपक की तह पर तह जमाई गई है।

नखशिख—

कजरारे उज्ज्वल सुरंग अनियारे दोऊ नैन।
उपमा और कहा कहौं मोहन मन हरि लैन ॥७॥
अधरनि की छवि कहा कहौं रसमय अधर सुरंग।
सींचत पिय हियलोचननि पानिप वारि तरंग ॥८॥
अति सुन्दर वर चिबुक पर सांवल बिन्दु समान।
मनहु स्याम मन भ्रमर ह्वै बैठ्यो तहाँ परि बान ॥९॥
नासा बेसरि फबि रही बिरकनि मुक्ता भग।
मनहु खिलावत बिधु बुधहि हित सों लिये उछंग ॥२८॥
कुंडल के रतननि जबै करै तरौना कान।
मानो छवि के कमल हिम झलकत छवि के भान ॥३१॥

शिव श्रीपति जद्यपि ललचाई, मन प्रवेस तिन हू को नाई ॥१५४॥
हित ध्रुव दुर्लभ सबनिते नित्य विहार सरूप।
ललितादिक निज सहचरी सो सुख लहति अनूप ॥१५८॥

इसी मंजरी में वृन्दावन के महत्व के सम्बन्ध में लिखा है :—

वैभव सब ऐश्वर्यता ठाढ़ी सेवत दूरि।
परसन पावत कबहु नहिं, वृन्दावन की धूरि ॥१६७॥

२७. वन-विहार

इस लीला में राधाकृष्ण के वन-विहार का वर्णन है। दोहा-शैली में ग्रंथ लिखा है। ५४ दोहे हैं। दो दोहे फल-स्तुति और गणना-सूचक हैं।

दोहा कहे पचास पर चार विचारि निहारि।
श्री राधावल्लभ लाल जस पल-पल ध्रुव उरधारि ॥५५॥

राधाकृष्ण के विहार-वर्णन में आलंकारिक छटा देखने योग्य है। राधा-रूप-वर्णन में प्रतीप, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार है—

कहा कहौं बानिक बनक सुन्दर परम उदार।
चरननि तर लोटत विवस निरखि रूप सिंगार ॥६॥
किंकिन धुनि मनो दुंदुभि बाजत है चहुँ ओर।
कहा कहौं कह सकत नहिं आनंद बढ़यो न थोर ॥६॥
लई लाड़िली अङ्क भरि, कहा कहौं आनन्द।
मानो छवि को चन्द्रिका लीनो गहि छवि चन्द ॥४३॥

२८. रंग-विहार

युगलकिशोर की प्रेममयी क्रीड़ाओं का इसमें वर्णन किया गया है। राधा के प्रति कृष्ण की ललक और भाव-व्यंजना सुन्दर शैली से व्यक्त की गई है। रस की लीन दशा का एक दोहे में अच्छा चित्र खड़ा किया है—

छिन-छिन माहि अचेत ह्वै पलपल माहि सचेत।
नहिं जानत या रंग में गये कलप जुग केत ॥२०॥

नखशिख-वर्णन के लिए अनुकूल प्रसंग की अवतारणा करके रूप-सौन्दर्य के भी कुछ चित्र अंकित किये गये हैं। माँग, बिन्दी, आँख, नाक, चितवन, अधर, दसन, चिबुक, मुसकान आदि स्थूल प्रसाधक वस्तुओं, अङ्गों और अनुभावों का संश्लिष्ट वर्णन इस नखशिख में दृष्टिगत होता है—

अति सुरंग मोतिन सहित बनी माँग रस ऐंन।
मनो हाँसि अनुराग मिलि, राजत रतपति ऐंन ॥२४॥
कहि न सकत नासा बनिक, उन्नत समिति अनूप।
चितवत मोती को छविहि भूल्यो रूपहिं रूप ॥२७॥

३४—आनन्द-लता

इस ग्रंथ में नित्यविहार के आनन्दमय स्वरूप का परिचय कराया गया है। वृन्दावन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उसके अंतरंग रूप की सूक्ष्म विवेचना की गई है। वृन्दावन के बाह्यरूप सौन्दर्य का बहुत विस्तार से वर्णन है। वृन्दावन की भूमि ही नहीं वरन् उसका आकाश, दिशाएँ जलवायु-वेष्टित वातावरण सब कुछ आनन्दमय है। वृन्दावन स्वयं सच्चिदानन्द घन-रूप है। अंत में यहाँ तक कह दिया है कि वृन्दावन ही आनन्द है और आनंद ही वृन्दावन है।

प्रारम्भ के साठ दोहों में वृन्दावन के आनन्दमय रूप का वर्णन है, उसके बाद १२ दोहों में युगलकिशोर की आनन्दासक्ति बताई गई है। तदनन्तर नित्यविहाररत युगलकिशोर को देखकर सखियों के दर्शन-आनन्द का वर्णन है। विहार के समय एक बार राधाकृष्ण को प्रेम-सम्भ्रम हुआ। अर्थात् राधा अपना अहंभाव विसर्जित कर 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रतीति में निमज्जित हो गई और श्रीकृष्ण अपना रूप भूलकर 'मैं राधा हूँ' ऐसा समझने लगे। बस दोनों सम्भ्रम में लीन होकर पारस्परिक आनन्दानुभूति का रसपान करने लगे। ध्रुवदास जी ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

> एक समं भ्रम प्रेम को बढ़्यो दुहुँनि के होय।
> पीय कहत हौं हो प्रिया, प्रिया कहत हौं पीय ॥४०॥
> उपजत अंगनि अंग रंग छिन-छिन औरे और।
> अति प्रवीन विलसत रहैं परम रसिक सिरमौर ॥४२॥

यह ग्रंथ ४१ दोहों में समाप्त हुआ है। इसके वृन्दावन-वर्णन में आनन्द ही का प्राधान्य है, यही इस ग्रंथ की विशेषता है।

३५. प्रेम-लता

इस लता में प्रेम का विवेचन है। प्रेम को राधावल्लभ सम्प्रदाय में समस्त क्रिया-व्यापारों का मूल और नित्यविहार का मेरुदण्ड माना जाता है। प्रेम और राधाकृष्ण एक ही है। इस प्रेम में लीन रहकर आसक्त भाव से आनन्द उठाने वाली है सहचरी। सहचरी तत्सुखी भाव से युगलकिशोर की क्रीड़ाओं के निकुंज रन्ध्रों से देखकर आनन्दानुभूति प्राप्त करती है। माधुर्य भक्ति-निष्ठ चैतन्य, वल्लभ, निम्बार्क आदि सम्प्रदायों में व्रज-गोपियों के प्रेम को त्याग-भावना के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में सहचरी का प्रेम गोपियों से भी उच्चकोटि का है। इन गोपियों को नित्यविहार सुख का दर्शन तक नहीं होता अतः उनका स्थान निम्न कोटि में ही रहता। इस ग्रंथ में इस तथ्य की समीक्षा करते हुए ध्रुवदासजी ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> [illegible] ॥
> [illegible] ॥१८॥
> [illegible] ॥१६॥

कजरारे सुठि सोहने उज्ज्वल स्याम सुरंग।
नैननि छवि पर वारि सत खंजन कंज कुरंग ॥४१॥

३१—रंग-विनोद

काव्यशास्त्र में जिस प्रकार नवरस होते हैं ऐसे ही प्रेम के राज्य में नव रसों की कल्पना इस लीला में की गई है। सलज्ज चितवन, मधुर मृदु वचन, सरस संस्पर्श, उरोज-स्पर्श, परिरम्भन-चुम्बन, भाव-तरंग, काम की तरंग, विविध रति-केलि, वचन-रचना और रस में लीन होना, ये नव रस गिनाये गये हैं। इस लीला में नखशिख का वर्णन है। चालीस दोहों की यह लीला है। माधुर्य भक्ति में नवरस की यह मौलिक कल्पना है।

३२—आनन्द-दसा

इस ग्रंथ में यद्यपि रस-विहार का ही वर्णन है किंतु नायिका-भेद की शैली का प्रारम्भ में आभास मिलता है।

नौढ़ा मध्या अति चतुर प्रौढ़ा परम प्रवीन।
कुंवरि चरन नख चन्द्रिकनि सेवत ज्यों जल मीन ॥३॥

रस की लीन स्थिति का चित्र—

प्रेम चाह रस सिन्धु में मगन रहत दिन रैन।
उरसों उर अधरनि अधर जुरे नैन सौं नैन ॥२७॥
रस समुद्र गहरे परे तृपित होत तऊ नाहि।
नैन मीन ललितादिकनि तिरति फिरति तिहि माहि ॥२८॥

नित्यविहार-परक सुन्दर कवित्त-सवैये इस लीला में हैं—

प्यार ही को कुंज और प्यार ही की सेज रची,
प्यार ही सौं प्यारेलाल प्यारी बात करहीं।
प्यार ही की चितवनि मुसकनि प्यार ही की,
प्यार ही सौं प्यारी जु कौं प्यारे अंक भरहीं।
प्यार सौं लटकि रहे प्यार ही सौं मुख चहे,
प्यार ही सौं प्यारी प्रिया अंक भुज भरिहीं ॥
हित ध्रुव प्यार भरी प्यारो सखी देखें खरी,
प्यारे प्यार रह्यो छाइ प्यार रस ढरहीं ॥

३३—रहस्य लता

नित्यविहार-वर्णन इस लीला का प्रतिपाद्य है। प्रायः वे ही भाव यत्किंचित् शब्द परिवर्तन से इसमें रखे हैं जो रस-वर्णन करने वाली अन्य लीलाओं में है। रस की गोपनीयता पर इसमें बल दिया गया है।

यह रस परस्यो नाहि जिन तिनहि न नेकु जताइ।
जैसे धन को धनी ध्रुव राखत दूरि दुराइ ॥५५॥

५८ दोहे तथा अन्त में एक कुंडलिया देकर यह ग्रंथ समाप्त हुआ है।

अनुराग उत्पन्न होने पर मन उसी ओर बार-बार दौड़ने लगता है। चित्तवृत्तियाँ आकर्षण की ओर से बँधी एक ही दिशा में सतत उन्मुख रहती हैं। तब प्रेम का बीज, अंकुर बनकर वृक्ष का रूप धारण करने लगता है। शनैः-शनैः उसी वृक्ष पर फूल-फल लगते हैं। किन्तु यह प्रेम-तरु सबको सुलभ नहीं, इसके अधिकारी विशिष्ट कोटि के प्रेमी-भक्त ही होते हैं। बड़े-बड़े योगी-तपी-साधु भी इस प्रेम-तरु के फल प्राप्त करने के अधिकारी नहीं बन पाते। वैभव और ऐश्वर्य से अभिभूत हुए बिना केवल माधुर्य पक्ष पर ही दृष्टि रखने वाले भक्त इस प्रेम-प्रीति के अधिकारी माने जाते हैं।

शुक सनकादि न जानत भेवा। जद्यपि करत बहुत विधि सेवा ॥५७॥
ऐश्वर्यता में सब अरुझाने। नित्यबिहारी नहिं पहिचानें ॥५८॥
या रस जो समुझै सो जाने। और भजन विधि मन नहिं आने ॥५९॥

इस ग्रन्थ में कुल ७४ दोहा-चौपाई हैं।

३७—रसानन्द

'रसोवैसः' के रूप में विख्यात रसमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, ब्रह्म रसानन्दमय किस प्रकार है, कौन-सी स्थिति उसे रसलीन करने में समर्थ है, इसे केवल वृन्दावन-विहार से ही जाना जा सकता है, इस गूढ़ तत्त्वज्ञान के लिए ही ध्रुवदासजी ने 'रसानन्द' नामक ग्रंथ की रचना की है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों रीतियों से रस विलास की अद्भुत माधुरी प्राप्त करने के लिए रसानन्द का मनन आवश्यक है।

ध्रुवदासजी ने जिन ग्रन्थों के अंत में रचना-संवत् दिया है उनमें यह सबसे प्रथम है। संवत् १६५० में इस ग्रन्थ की रचना हुई।

संवत सै षोडस पंचासा, बरनत जस ध्रुव जुगल विलासा।
—पद सं० १८४।

इस ग्रन्थ की वंदना, प्रस्तावना आदि की शैली से यह स्पष्ट है कि किसी दिव्य वस्तु के निर्देश के लिए इसमें उपक्रम किया गया है। इष्ट-वंदना और गुरु-वंदना के साथ रस की श्रेष्ठता और रस-वर्णन में अपनी अक्षमता का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ को ध्रुवदासजी ने अपने रसवर्णन के प्रारम्भिक दिनों में ही लिखा होगा यह इस कारण और स्पष्ट है कि बाद के ग्रंथों में इस प्रकार अपनी असामर्थ्य का कोई संकेत नहीं किया गया।

ग्रंथ दोहा-चौपाई की शैली में है। प्रारम्भ में मंगलाचरण है जिसमें श्रीहितहरिवंशजी की वंदना है। इसके बाद वृन्दावन-कुंज का वर्णन है। कुंजशृङ्गार के लिए प्रसाधन की सामग्री का सविस्तर वर्णन मिलता है—

चौपाई—

गोरी सीस सुरंग सुहाई, मोतिन माँग रची सुखदाई।
बेनी फूल देखि छवि न्यारी, मनु घन में प्रकटी उजियारी ॥

नित्यविहार अखंडित धारा, एक बंस रस मधुर बिहारा ॥२०॥

सूक्ष्म प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

सूक्ष्म प्रेम न मन में आवै, स्थूल रूप सबहीं को भावै ॥४३॥
महा मधुर रस सबतें न्यारो, जेहि ठाँ दुहुनि अपनपौ हारो ॥४४॥
तिनहि देखि आसक्तिहु भूली, ह्वै आसक्त सुरस में झूली ॥४५॥

सखियों का सुख नित्यविहार दर्शन है। यह सुख जुगलकिशोर के प्रेम से भी सरस माना जाता है क्योंकि राधाकृष्ण तो एक दूसरे के सुख में सुखी रहकर भी एक अङ्ग से निज सुख के भी भोक्ता हैं किन्तु बिहार का दर्शन करने वाली सखियाँ तो किसी भी रूप में निज सुख के समीप नहीं पहुँचतीं। उन्हें निज सुख की न तो कामना है और न निज सुख पाने का कोई अवकाश ही है। वे पूर्णतया तत्सुखमयी और निष्काम हैं, अत: सहचरी का प्रेम बहुत ऊँचा है।

एक सूक्ष्म बात यह भी है कि केलि-क्रीड़ाओं में प्रेमानन्द अनुभव करते हुए राधाकृष्ण जब लीन दशा में पहुँचकर अचेत हो जाते हैं और अपने निज सुख एवं तत्सुख की स्मृति तक विस्मृत कर देते हैं उस समय भी सखियाँ सचेत रहकर उस सुख का आस्वादन करती रहती हैं। राधाकृष्ण प्रेम-समाधि में निमग्न होकर रसानुभव और रूपानुभव से रहित हो जाते हैं तब भी सखियाँ सावधान रहकर सभी रसों का आस्वादन करती रहती हैं।

इस ग्रन्थ में सहज विलास-रत राधाकृष्ण की प्रेम-दशा का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है। ग्रंथ में दोहा-चौपाई मिलाकर कुल ६८ पद हैं।

२६. अनुराग-लता

राग उत्पन्न होने के पश्चात् मन का उसी दिशा में बार-बार प्रवृत्त होना ही अनुराग है। राग का यह अनुगमन ही प्रेम को बद्धमूल करने में सहायक होता है। ध्रुवदासजी ने इस ग्रंथ का नाम 'अनुराग-लता' इसी कारण रखा है कि इसमें प्रेम की परिपक्व स्थितियों का वर्णन न होकर प्रेमोदय के पूर्व की विभिन्न अनुरागमयी स्थितियों का वर्णन है। प्रेम के विकसित रूप को इस ग्रंथ में स्थान नहीं मिला है, प्रेम-परत्व स्थिति ही इसका प्रतिपाद्य है। प्रेम-प्राप्ति के के लिए प्रेमी को क्या-क्या करना चाहिए, यह सब इसमें क्रमशः लिखा गया है। प्रेमी की आन्तरिक स्थिति अनुराग से बढ़कर जब प्रेम में पहुँचती है तब वह विषय-वासना, कामना-वाञ्छाहीन हो जाता है।

प्रेम बीज उपजै मन माहीं, तब सब विषै वासना जाहीं ॥१॥
जगतें भयो फिरो बैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी ॥२॥

प्रेम के क्षेत्र में निष्काम-भाव को अक्षुण्ण रखना कठिन होता है किन्तु जो निष्काम प्रेम को प्राप्त कर लेता है वही सच्चा प्रेमी है—गोपियाँ प्रेममूर्ति कही जाती हैं किन्तु ज्यों ही उनके मन में सकामता (वाञ्छा) उत्पन्न हुई कि वे भी अपने उच्च पद से च्युत हो गईं।

गोपिनु के सम भक्त न आहीं, उद्धव बिधि तिनको रज चाहीं ॥२३॥
तिन मन कछु सकामता आई, तातें बिच अन्तर पर्यो भाई ॥२४॥

इस दोहे में चिबुक, कपोल, अधर और मुसकान का वर्णन इस शैली से किया गया है कि राधा और कृष्ण दोनों के लिए समान रूप से घटित होता है। भक्त के अंतर्मन में ध्यान करते समय इस दोहे के द्वारा जुगल मूर्ति एक साथ उपस्थित होगी और वह एक ही वर्णन से दोनों की वेश-रचना को साकार बना सकेगी। छवि-वर्णन मुख से प्रारम्भ होकर चरण तक जाता है। देवता-विषयक नखशिख को साधारणतः नख से प्रारम्भ होकर शिख तक जाना चाहिए किन्तु इस ग्रन्थ में लौकिक शृंगार वर्णन-पद्धति को ही स्वीकार किया गया है। हितहरिवंशजी ने भी व्रज-नवतरुणि कदम्ब मुकुटमणि श्यामा का नखशिख वर्णन इसी शैली से किया है और कबरी की शोभा सबसे पहले वर्णित की है। क्रमपूर्वक चिकुर से भ्रकुटि, नैन, तिलक, नासा, चिबुक, कंचुकि भुज, नाभि, कटि, नितम्ब, जंघा तथा अन्त में पद-अम्बुज का वर्णन है।

> व्रज-नवतरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी।
> नखशिख लौं अङ्ग-अङ्ग माधुरी मोहे श्याम धनी॥
> यौं राजत कबरी गूँथित कच, कनक कंज वदनी।
> चिकुर चन्द्रकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी॥
>
> —हित चौरासी, पद सं० २९।

जुगलध्यान में युगलशृङ्गार-वर्णन करते समय सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से काम लिया गया है। युगल के श्याम-गौर ललाट पर श्याम और लाल रंग की बेंदी (बिंदी) फब रही है मानो चन्द्र पर अनुराग और शृङ्गार मूर्तिमान हो रहे हैं—

> श्याम लाल बेंदी बनी सोभा बढ़ी अपार।
> प्रकट विराजत ससिन पर मनो अनुराग सिंगार॥४॥

काव्यशास्त्र में अनुराग का रंग लाल और शृङ्गार का श्याम माना जाता है। इन दोनों के वर्णन में गूढ़ार्थ यह है कि गौरवर्ण राधा ने श्याम बिंदु धारण करके शृङ्गार-रूपी कृष्ण को धारण किया है और श्याम वर्ण कृष्ण ने लाल बिंदु धारण करके मानो अनुराग-रूपा राधा को धारण किया है। इसी प्रकार के अनेक भाव इस ग्रन्थ में मिलते हैं।

इसमें अठारह दोहों में जुगलध्यान-वर्णन किया है। दो दोहों में इस वर्णन का महत्त्व बताया है। 'जो चाहत विश्राम ध्रुव यह छवि उर में आन।'

४०—नृत्य-विलास

इस लीला में राधा की नृत्य-कामना का वर्णन है। एक समय मानसरोवर के किनारे राधा अपनी सखियों सहित मदनाकार खड़ी होकर सरोवर के तट पर सारस, हंस, चकोर, मयूर आदि का नृत्य-विलास देख रही थीं। उनके मन में भी नृत्य का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने पैरों में नूपुर पहन, साज-शृंगार धारण कर नाचना प्रारम्भ किया। इस नृत्य से उन्होंने कृष्ण को भी चकित कर दिया। इस प्रकार सखियों सहित युगल-किशोर नृत्यलीला-रस का आनन्द उठाते रहे। यही इस लीला का कथ्य-विषय है। पैंतालीस दोहे-कुंडलियों में लीला समाप्त हुई है।

मृग मद तिलक भाल पर कीयो, मधि बिंदुका कुमकुम को दीयौ ।
लुटिला खुभी श्रवन झलकाई, बने नैन प्रतिबिम्ब की झाँई ॥
—रसानन्द लीला—पृष्ठ ३१–३४

राधा के रूप को आसव बनाकर उसकी मदिरता का बड़ी आलंकारिक भाषा में वर्णन है। अष्ट सखियों का ध्रुवदासजी ने यहाँ सेवा-भाव दिखाया है। द्यूतक्रीड़ा, वनविहार, वसंतक्रीड़ा, फूलडोल, उद्बोधन, युगल छवि-वर्णन, शरद रास नृत्य, जलविहार, पारस्परिक वेश-परिवर्तन आदि प्रमुख विषय इस ग्रंथ में उपन्यस्त हुए हैं। इन समस्त विषयों का मूलाधार नित्यविहार है, उसी के पोषण के लिए ध्रुवदासजी ने विभिन्न स्तरों की लीलाओं का इसमें वर्णन किया है। यह ग्रन्थ निकुंजलीला तथा नित्यविहार को समझने के लिए उपयोगी है। इसमें कुल मिलाकर १८४ दोहे-चौपाई हैं।

३८—ब्रजलीला

ब्रजलीला आख्यानात्मक शैली से कृष्ण-राधा के मिलन का वर्णन करने के उद्देश्य से लिखी गई लीला है। इस लीला में कृष्ण किशोर हैं और राधा के प्रति आकृष्ट होकर उसके पास सखियों द्वारा पहुँचते हैं। सखियाँ राधा को कृष्ण से मिलाने में सहायक होती हैं। कृष्ण के रूप को देखकर राधा उस पर मुग्ध हो जाती है और उन्हें अपना पूर्व परिचित-सा समझकर प्रेम करने लगती है। राधा कृष्ण के लिए व्याकुल रहती है और कृष्ण का मन भी राधा के लिए निशिदिन तड़पता रहता है। पारस्परिक मिलन की बलवती आकांक्षा के कारण उन्हें खेलना, खाना, हँसना, सोना कुछ अच्छा नहीं लगता—

भूल्यौ हँसिवौ खेलिवौ भूल्यौ अंग सिंगार।
निसिदिन रहैं या सोच में रुचत नहीं उर हार ॥७८॥

राधा से कृष्ण को मिलाने में ललिता सखी की चातुरी का वर्णन बड़ा विनोदपूर्ण है। कृष्ण को नारी-वस्त्रों में ढककर राधा के पास ले जाने में ललिता की कुशलता का वर्णन पठनीय है। ब्रजलीला शब्द से सामान्य ब्रजलीला का अर्थ नहीं समझना चाहिए। यहाँ राधा-कृष्ण के प्रेम-मिलन अर्थ में ही इसका व्यवहार हुआ है। गोचारण, माखनचोरी, चीरहरण आदि उक्त ब्रजलीला के विषय नहीं हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में ब्रजलीला का वर्णन परवर्ती कवियों ने तो उस शैली से कर दिया है जिसमें अष्टछाप के कवियों ने किया था; किन्तु प्रारम्भ में ब्रजलीला को यहाँ स्वीकार ही नहीं किया गया क्योंकि नित्यविहार के समक्ष ये सब लीलाएँ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होती हैं। राधावल्लभीय ब्रजलीला को इसीलिए विशिष्ट रूप में ही समझना चाहिए।

३९—जुगल-ध्यान

इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण और राधा के बाह्य शृंगार का सम्मिलित रूप से वर्णन किया गया है। एक ही वर्णन में राधा और कृष्ण दोनों के प्रसाधन, वस्त्राभरण आदि को देखा जा सकता है। जैसे—

सुन्दर चिबुक कपोल मृदु अधर सुरंग सुदेश।
मुसकनि बरषत फूल सुख कहि न सकत छबि लेस ॥

'नेही नागरिदास अति जानत नेह की रीति।
बिन दुलराई लाड़िली, लाल रंगीली प्रीति॥
व्यासनन्द पद कमल सों जाके दृढ़ विश्वास।
जेहि प्रताप यह रस कह्यौ, अरु वृन्दावन दास'॥[1]

चाचाजी ने हरिवंश सहस्र नाम में लिखा है :—

'नमामि श्री हरिवंश रीति रस प्रीति आगरी।
श्री हरिवंश सरोज चरन रतिवास नागरी॥'[2]

जन्म-संवत्

इनके जन्म-संवत् का निर्णय समसामयिक भक्तों के उल्लेख से ही किया जा सकता है। चतुर्भुजदास के आप समकालीन थे। ध्रुवदासजी के भी समकालीन रहे होंगे। चतुर्भुजदासजी संवत् १६१० के बाद गोंड़ देश वापस गये थे। वहाँ से प्रचार करके लौटते समय बेरछा पहुँचे। यदि संवत् १६१५ के आसपास चतुर्भुजदासजी का बेरछा आना माना जाय और नागरीदास की उस समय २५ वर्ष की आयु की कल्पना की जाय तो संवत् १५६० के आस-पास आपका जन्म-संवत् बनेगा। इतना तो निश्चित ही है कि विक्रम की १७वीं शती के मध्य तक आप जीवित थे।

नेही नागरीदासजी की हितवाणी और नित्यविहार में अनन्य निष्ठा थी। वे हितवाणी के अनुशीलन में इतने लीन रहते कि उन्हें अपने चारों ओर के वातावरण का भी बोध न रहता। भागवत-कथा और नवधा भक्ति के मार्मिक प्रसंगों का वर्णन भी आपको हितवाणी के आगे फीका लगता। किम्वदन्ती है कि एक बार आपके साथियों ने गुरुजी से आपकी चुगली करते हुए कहा कि नागरीदासजी भागवत-कथा में रुचि नहीं रखते। गुरुजी के पूछने पर आपने स्पष्ट कहा कि हितवाणी के समक्ष मुझे कुछ और अच्छा नहीं लगता। किन्तु दूसरे दिन से गुरुजी की मनस्तुष्टि के लिए भागवत-कथा में आने लगे। एक दिन कथा में धेनुकासुर का प्रसंग आया। ठीक उसी समय नागरीदास जी अपने मन में 'हित चौरासी' के 'चिबुक सुचाइ प्रलोय प्रबोधत' पद की भावना में लीन थे। कहाँ एक ओर श्रीराधा के चिबुक का स्पर्श करके मनुहार करने वाले प्रियतम का ध्यान और कहाँ धेनुकासुर की टाँग पकड़कर वध करने की क्रूर कठोर भावना। दोनों का तादात्म्य होते न देख एकदम खीझकर कथा के बीच ही उठ खड़े हुए और खिन्न होकर घर चल पड़े। गुरुजी के पूछने पर आपने यथार्थ वस्तुस्थिति उन्हें बता दी। प्रसिद्ध है कि इस घटना के बाद उनका मन कथा-वार्त्ता से सदा के लिए उचट गया तभी एकान्तवास की इच्छा से वृन्दावन छोड़ बरसाना चले गये।

बरसाना-प्रवास के सम्बन्ध में भी अनेक जनश्रुतियाँ सुनी जाती हैं। कहते हैं कि एक बार इनकी राधाभक्ति से प्रियाजी इतनी प्रसन्न हुईं कि इन्हें उन्होंने सखियों सहित रास का साक्षात् दर्शन कराया और तदनन्तर इनसे भोग भी माँगा। प्रियाजी के भोग माँगने पर

---

१. भक्त नामावली लीला—ध्रुवदास कृत, (बयालीस लीला) पृष्ठ ३२।
२. हरिवंश सहस्र नाम—चाचा वृन्दावनदास (प्रकाशित) पृष्ठ २०।

४१—मान-लीला

अट्ठाईस दोहों की यह छोटी-सी लीला राधाकृष्ण के प्रेम में सूक्ष्म मान का स्वरूप-बोध कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। कृष्ण के मानयुत होने पर राधा अपने हृदय की व्याकुलता व्यक्त करती है और राधा के उदासीन होने पर कृष्ण उसके लिए व्यथित-व्याकुल होते हैं। काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है। केवल मान-सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ही इसे लिखा है।

४२—दान-लीला

एक बार श्रीकृष्ण यमुना-किनारे वंसीवट पर सघन निकुंज मे छिप कर खड़े हो गये। मार्ग से निकलने वाली गोपियो से दान (कर) माँगने लगे। ललिता ने कृष्ण से कहा यह वनप्रान्त तो राधिका का है, तुम इसमें दान माँगने वाले कौन होते हो। यदि तुम्हे दान माँगना ही है तो राधा के चरणों मे पड़ कर प्रार्थना करो—तभी तुम्हे कुछ मिलेगा। कृष्ण ने दीनतापूर्वक राधा से प्रार्थना की और राधा ने उन्हें रतिदान देकर कृतार्थ किया। यही इस लीला का वर्ण्य विषय है। २२ दोहो में लीला कही गई है।

श्री ध्रुवदास कृत पद्यावली (स्फुट पद)

ध्रुवदासजी ने कुछ फुटकर पद भी लिखे हैं जिनका मूल भाव नित्यविहार और उसके विधायक चतुर्व्यूहात्मक तत्त्वों का गान करना मात्र है। इन पदों में ध्रुवदासजी ने सूरदास, हितहरिवंश, हरिराम व्यास, आदि की शैली मे रागों का भी विधान किया है। पदो की कुल संख्या १०३ है। इन पदों के प्रमुख विषयों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

प्रियाजी की नामावली, लालजी की नामावली, शृंगार समय स्नान के पद, उत्थापन समय के पद, वन विहार के पद, ब्याहुलो। इनमें ब्याहुलो को कुछ लेखकों ने स्वतन्त्र ग्रंथ भी माना है। ब्याहुलो में जो पद दिये हैं उनमें नित्यविहार का रूप देखकर इसे ब्याहुलो का ऐकान्तिक रूप नहीं माना जा सकता। इसमें आख्यानात्मक शैली तो कही भी नहीं है। मुक्तक शैली से ही पद-रचना है। पद भाषा और शैली की दृष्टि से सुन्दर है—

"तेरे नैन देखत नैन भूले उपमा कही न जाय।
मोहि रहे बिसरी सुधि तनकी रूप तरग रहे हिय छाय॥
परम प्रवीन प्रेम रंग सीर्वा रुचि लिये चितवन मोहन भाय।
हित ध्रुव रीझि रसिक रंग भीने पाय पाय मुख चुम्बत पाय॥४२॥"

प्रेम की बात अटपटी भाई।
झुकि आई प्यारे लालन सों मन में रह्यो न जाई॥
गहि रहे चरण और दश अंगुलि मुख पर हा हा खाई।
रहे मनाइ बहुत नहिं मानी अवनि पर्यो अकुलाई॥
तो सों कहो सखी तू प्यारी याते नाहिं दुराई।
उनकी सोच रहत मन मेरे दुख यं है अधिकाई॥

उन्होंने हरिवंशजी की वाणी का यशोगान ही अधिकांश दोहों तथा पदों में किया है। उनके मत में हितवाणी मंजुल-मधुर, अगाध, अमल और रतिभाव से ओत-प्रोत है। उसकी गंभीरता को केवल रस-मर्मज्ञ ही अनुभव कर सकते हैं। हरिवंशजी ने वाणी-रूपी गुन (डोर) में राधा-कृष्ण की पल-पल में नवीन रूप धारण करने वाली छवि रूपी नगों को पिरोया है। उसी हार को रसिक अपने हृदय में धारण करते हैं :—

श्याम सुजन बानी अमल, अति गुन अमित अगाध,
मोद विनोद सहावने सोभ ललक रति साध ॥१०४॥
अति अगाध आनंद अमल, प्रेम ललक रस मूल।
हास विलास हुलास में बानी में अति फूल ॥११४॥
मरमी भजन गंभीर जिन (को) सहै मरम की चोट।
तन मन कोरो ह्वै गयो लिये प्रेम की ओट ॥११०॥
नव नव छवि अति विमल नग, गुन बानी मृदु पोहि।
रूप भेद रचि रसिक मनि सुजन धरै मन मोहि ॥९७॥

वाणी के पारायण से सुख की प्राप्ति होती है। पूर्णविश्वास के साथ वाणी में चित्त स्थिर करने के लिए अनेकों उपदेशात्मक पद तथा दोहे लिखे हैं जिनमें सांसारिक विषय-वासना का परित्याग कर, भक्ति-सागर में अवगाहन किया जा सकता है। वाणी के महत्व प्रदर्शन के लिए लिखे गये दोहे और पद सरस, उज्ज्वल भक्तिपरक और मनोहारी हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

बानी सुधा समुद्र सुख मोद माधुरी नीर।
खेलैं मंगल मीन-मन वस तरंग गंभीर ॥२८॥
हारक लता तमाल सुख गुन फल अमी अघाइ।
बानी छाँह विहंग मन किलकतु निजु निधि पाइ ॥१॥
श्री हरिवंश विमल वर बानी।
वृन्दाविपिन विलास माधुरी पूरन रसिक अनन्य सुखदानी।
फूले फिरत मुदित मन रंग मगे श्री व्यास रस जस के गानी॥
नागरी दास रसिक वर सेवत सुलभ विहारि विहारनि रानी ॥६३॥

नागरीदास जी ने अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति पर जोर दिया है। अनन्य प्रेम का लक्षण करते हुए कहते हैं—'प्रेमी का मन सदैव चिन्ता में लीन रहता है जबकि प्रिय की झाँकी उसके हृदय में बस जाती है। प्रेम बिंधे नेत्रों की चितवन कुछ और ही हो जाती है। उसको संसार में कुछ और अच्छा नहीं लगता, प्रिय की निरन्तर खोज ही उसकी साधना बन जाती है :—

सदा सोच में मन रहै परी जाय जिय झाँखि।
वह चितवन कछु और है प्रेम जु बीधी आँखि ॥१५३॥
प्रेम गह्यो ज्यों जासु कौ ताहि न और सुहाइ।
तिनही तन खोजत फिरै, जग कहै लागी बाइ ॥१४॥

आपने निशीथी भोग तैयार किया। राधाजी ने तभी इनसे अपनी वर्षगांठ मनाने को भी कहा। उसी समय से बरसाने में राधाजी की वर्षगांठ बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है।

अनन्य निष्ठा

उपर्युक्त किम्वदन्तियों में सत्यांश कितना है इसका विवेचन न करके हम नेही नागरीदासजी की अनन्यनिष्ठा और भावना पर ही विचार करना आवश्यक समझते हैं। आपका राधाष्टक ही आपकी भावना का प्रमाण देने के लिए पर्याप्त है।

रसिक हरिवंश सरवंश श्री राधिका, सरवंश हरवंश वंशी।
हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रमावली हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी॥
राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवंश श्रुतावतंशी।
रसिक जन मननि आभरन हरिवंश हतिहरिवंश आभरन कलहंस हंसी॥

इस अष्टक में राधा और हरिवंश के सिवा किसी और को कुछ भी स्वीकार नहीं किया है। सच्ची अनन्यनिष्ठा का प्रतीक आपका यह अष्टक ही है। इस अष्टक का सम्प्रदाय में बहुत मान है। अनेक भक्तों ने इस पर टीका भी लिखी है। बरसाने के सम्बध में आपने लिखा है :—

बरसानो हमारी रजधानी रे।
महाराज वृषभान नृपति जहाँ को कीरतिदा शुभरानी रे॥
गोप गोप ओपसों राजें बोलत मधुरी बानी रे।
रसिक मुकुट मनि कुंवरि राधिका वेद पुरान बखानी रे॥
खोरि सांकरी मोहन रूक्यो दान केलि रति ठानी रे।
गहवर गिरिवन वीथिन बिहरत गढ़ बिलास सुख दानी रे॥
दूध दही माखन रस घर-घर रसना रहत लुभानी रे।
पान करन कौं आरत सार सर मानौं सर को पानी रे॥
दोने लेत न चार पदारथ जाचक जन अभिमानी रे।
नागरीदास वास बरसाने भाग्य भलो जग जानो रे॥

नेही नागरीदासजी की वाणी का प्रतिपाद्य

नेही नागरीदासजी की वाणी में अष्टक ही अभी तक प्रकाशित हुआ है। शेष रचनाएं हस्तलिखित रूप में प्राचीन पोथियों में मिलती हैं। इन रचनाओं का विषयानुसार निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है।

१—सिद्धांत दोहावली ६३५ दोहे।
२—पदावली १०२ पद।
३—रस पदावली (स्फुट पद सहित) कुल संख्या २१२।

सिद्धांत दोहावली में भक्ति-सिद्धांत संबंधी ६३५ दोहे हैं। इन दोहों का मूलभाव हितहरिवंश-प्रतिपादित प्रेमलक्षणा-भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करना है। नागरीदास ने रसिक

प्रबल प्रेम वर तत्त्व पायौ ।
जाकौ आदि अन्त मधि नाहीं रसिक नृपति जु अखिल दिखायौ ॥४॥

नित्य-विहार दर्शन से ही भक्त को परम आनन्द की प्राप्ति होती है । भक्त नित्य विहार दर्शन की कामना करता है :—

वर विहार चित्त चाइ चढ़ै ।
प्रमुदित फूले न समात परस्पर परिरंभनि चुंबननि बढ़ै ।
फँसि परें अब दृग छवि खग मानौ बाज राज जुग कुलह कढ़ै ॥

इस भाँति राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धांतों की स्थापना नागरीदास ने अपनी दोहावली, पदावली और रस पदावली में सर्वत्र की है ।

नागरीदासजी षट् ऋतुओं के वर्णन में कहते हैं :—

ऋतु बसन्त फूलत वनराजी ।
ललित लता मिलि अंग तरगनि भांति-भांति तरु सभा समाजी ।
मधुर मोर चातक कोकिल कुल मनहर मदन मंडली साजी ॥
कौतुक कुशल केलि कानन कुंवरि तव नागरीदास संग सुखकाजी ॥

पावस का वर्णन है :—

प्रेमवलि पावस बांट पर्‌यो ।
पशु पक्षी थिरचर अनुरागी सब इक मना कर्‌यो ।
प्रीति उमा हौ सलक के बस परि धीरज रह्यो धर्‌यो ॥
नागरीदास यहो वरषा ऋतु सबको तन मन हर्‌यो ॥

काव्य-सौष्ठव

नागरीदासजी की वाणी के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही उत्कृष्ट कोटि के हैं । भावाभिव्यक्ति में भाषा, शैली, अलंकार, छंद सबका महत्वपूर्ण योग दिखाई देता है ।

आपकी वाणी की भाषा शुद्ध ब्रज है । यत्र-तत्र देशज (बुन्देलखंडी) शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है । संस्कृत पदावली से उसे बोझिल बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया । अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता और सरलता पाई जाती है । वाणी में कुछ इने-गिने अलंकारों का प्रयोग मिलता है । सिद्धान्त दोहावली में रूपक का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है :—

रूपक :

बानी-कानन, मन-कुरो मुदित भयो संतोष ।
छबि गिरि सौरभ सुख भर्वे सरिता सर रस पोष ॥२२॥
भजन मनोहर मानसर रूप सुधा रस वारि ।
गुन मुक्ता मन हंस चुनि लच्छन वानु विचारि ॥७१॥

रूपक के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और अनुप्रास का भी प्रयोग किया है ।

अनन्य व्रत धारण करना असिधारा पर चलना है। ज़रा-सा डगमगाने पर जीवन, जन्म, धन, मर्यादा सब की हानि उठानी पड़ती है।

असिधारा पथ निवहनों, चलि, जो राखै चित्त।
डगमगाइ पति खोइ है, जीवन, जनम, सुवित्त ॥३६॥

भक्त को केवल राधा-कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ हो अनन्य भाव से भक्ति रखनी चाहिए अन्यथा अनन्यता की टेक निभ नहीं सकती। लोक-रीति के अनुसार अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा करने से अनन्यता नही रहती, भक्ति भ्रष्ट हो जाती है। अनन्य भाव से की गई भक्ति को नागरीदासजी ने पतिव्रता-धर्म के सदृश तथा विविध देवी-देवताओं की आराधना करने को गणिका-धर्म से उपमित कर क्रमशः श्रेष्ठ और हेय बताया है :—

'भक्ति भजन ज्यों पतिव्रता, जग गनिका की बानि।
रागादिक ब्यौपार भरि, सुजन भक्ति गति कानि' ॥५६॥

पाखड और कपट जिस हृदय में वास करते हैं वहाँ भक्ति निवास नही कर सकती। भजन से हृदय शुद्ध होता है और आराध्य देव की प्राप्ति होती है। नागरीदास ने हरिभजन पर विशेष रूप से आग्रह किया है। भजन द्वारा अगम्य भी गम्य और अलभ भी सुलभ हो जाता है :

भजन सलिल संग मीन-मन अगमहिं पहुँचे जाइ।
स.वन जल बल प्रीति सौं सैल सिलन चढ़ि धाइ ॥२७॥

भजन मानसरोवर के सदृश है जिसमें रूप सुधा का जल है। मन-रूपी हंस गुण-रूपी मुक्ताओं को चुगकर आनन्द प्राप्त करता है :—

भजन मनोहर मानसर रूप सुधा रस वारि।
गुन मुक्ता मन हंस चुगि लच्छन वस्तु विचारि ॥७३॥

भजन के साथ ही सत्संग को भी महत्व दिया है। श्री हितहरिवंश के चरण कमल जिसके हृदय में वास करते हैं वही भजन कर सकता है। हितहरिवंश की भक्ति से ही नित्य-विहार के दर्शन हो सकते हैं। राधा रानी की कृपा बिना हितजी की शरण नही मिल सकती :—

बिना कृपा राधा रानी के क्यों व सरन हित जू की पावै।
जाको नाम सुनत परवस ह्वै स्याम सहित स्यामा उर आवै॥
दपति रूप रसासव पीवे धर्मी धर्म बिन और न भावै।
नागरीदास श्री व्यास सुवन बल नित्यविहार औरनि दरसावै ॥२६॥

पदावली और रस पदावली में रतिक्रीड़ा, रास, वृन्दावन और बरसाने के पद पाये जाते है। ऋतु वर्णन, हित हरिवंश महिमा गान, मन-प्रबोधन सम्बन्धी कुछ पद भी मिलते है। पदावली में १०२ और रस पदावली में २३२ पद प्राप्त हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धांतानुसार राधा रति (प्रेम) को श्रेष्ठतम तत्त्व माना जाता है। इसका आदि, अन्त और मध्य नहीं :—

प्रबल प्रेम वर तरङ्ग पायौ ।
जाको आदि अंत मधि नाहीं रसिक नृपति जू प्रदिस दिखायौ ॥
दुर्लभ दुर्घट दुर्गम ठाहर जाको प्रभु अलि मारग धायौ ।
नागरीदास श्री व्यास सुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायौ ॥६॥
काँचो पारो खाय न पचि है ।
श्री हरिवंश भजन गद सेवन जहँ तँह मन ललचै कहावचिहै ॥
रसिक नरेश सुधासा धन बिनु आन सपान न रचि है ।
श्रीव्यास सुवन पद पाछौ न गहै नागरिदास तरसि बहु तजिहै ॥७॥
विरलौ कोऊ जाननि हारौ ।
अद्भुत रूप अनूप अनोखौ बानी विमल गरव गुन गारौ ॥
कौतुक कुशल कमनीय रमोली मोद विनोद कोलाहल भारौ ।
लाडिलीलाल खेल की परावधि नागरिदास अनुराग पसारौ ॥८॥
श्री हरिवंश सरन जे आये ।
श्री वृषभानु कुंवरि नंद नंदन निज कर अपनी चिठोप चढ़ाये ॥
दिये मुकराय कछु नहिं गोयौ किये मनोरथ मन के भाये ।
व्यास सुवन चरननि रज परसत नागरिदास से रंक जिवाये ॥९॥
मेरो झूमत हथिया मद को ।
विघ हिय हिलग परी पग साँकरि मेमत अपनी सदको ।
सुरत नदी मरजादा ढाहति मानगुमान मरजाद जलद को ॥
नागरीदासी विनोद मोह मृदु आनंद वर विहार बेहद को ॥१०॥
मो पर कछु करत है सखि नेहु ।
तू कहि मो अनुचर आरत को अधर सुधा है लेहु ।
हौं तो जब उर धरौं मृदुल पद मानत धनि करि देहु ॥
नागरीदासि अकुलात अंक भरि अंखियन बरस्यो मेह ॥११॥
प्रेम बलि पावस बाँट पर्‌यो ।
पशु पक्षी थिरचर अनुरागो सब इक मना कर्‌यो ।
प्रीति उमाहो ललक के बस परि धीरज रह्यो धर्‌यो ॥
नागरीदास यहो वरषारितु सबको तन मन हर्‌यो ॥१२॥
आजु सुहायनों कल काननु ।
तैसो ये सजल स्याम घटा सघन सुरंग नवललित उठावनु ॥
रटत चातिक नटत मोर आनन्द छवि कोकिल कल गन गाननु ।
नागरीदासी बलि देखिये आछी हरित भवनि तामे कुंज सु ठाननु ॥१३॥
उदरि मुख मुसकि मृदु ललित करताल दै सुरति तांडव अलग लाग लीनी ।
विविध विधि रमित रति देति सुख प्रानपति छाम कटिकिंकिनी क्वनित कीनी ।

उत्प्रेक्षा :

वानी प्रम्बुद दामिनी दिरति वरपि प्रवमोद ।
मनु चातक विधि बीच प्रड़ि सुख भकोर चहुँ कोद ॥

वाक्यार्थोपमा :

प्रागम बादल देखिकें हिये थरथरी धरक ।
जैसे बिटिया लाड़िली सावन पीहर खरक ॥

अनुप्रास :

सुभग, सलोनी, सरस, सुख सुंदर, सुलप सुकुंवार ।
सब सच समरथ सेइये सुलभ सुधा सर सार ॥

पदावली के पद रागों से सम्बद्ध हैं। रास सम्बधी पदों में स्वाभाविक नृत्यात्मक संगीतात्मकता पाई जाती है। काव्य की दृष्टि से नागरीदास की वाणी प्रति ललित और मधुर है। छंद, अलंकार, ध्वनि, आदि की ओर आपने विशेष ध्यान नहीं दिया।

नेही नागरीदासजी का साहित्य प्रद्यावधि प्रकाश में नही आया है। हस्तलिखित पोथियो में ही आपकी सरस वाणी बंद पड़ी है। हम पाठकों के अवलोकनार्थ कुछ स्फुट पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

स्वाहा शक्ति होम की जैसे ऐसे ही रति दम्पति जानि ।
प्राकरषति निजु अलि समाज सुख राखति ज्यों प्रपु प्रभ्यंतर प्रानि ।
ऐसे ही उनमानि जानि जिय जैसे पी जतु पानी छानि ।
नागरीदास गुरु पद प्रसाद तें परे जिय सरसि सलौनी बानि ॥१॥
मनुवां मैं तू बहुत जतन करि तिखयो ।
रसिक सिरोमनि व्यास सुवन जू बिमल भजन तोहि दिखयो ॥
प्रब तो प्रौर चलन नहि बनि है प्रपनो करि प्रभु रखियो ।
नागरीदास भजन ढंग ढरि है प्रसंगति चितवत बिषयो ॥२॥
सुद्ध शरीरी साधु सजातो ।
तेई सुहृद भजन के पात्र बिमल वस्तु भरो छातो ।
धरमी मरमी मेरे मन मिले मंगल मन मति भाँति ॥
नागरीदास बड़भ गन पइए सुकृती सुजन सघाती ॥३॥
श्री हरिवंश चरन प्रानद घन ।
बरसत संतत सुखनि सुजन हित पावन पाइ प्रान जीवन धन ।
मगल रूप माधुरी मूरत सुजन प्रवधि गंभीर गुननि गन ॥
श्री व्यास सुवन पद सद शुभ संपति सदा प्रकासो नागरीदास मन ॥४॥
भजनो क्यों ढरि है उपहासहिं ।
प्रपनी वस्तु तो हरि के काजें (क्यों) सहे जातको त्रासहिं ।
सुहृद सनेही प्रपनो प्रपनो प्रातम मान करहु वसवासहिं ॥
वे परवाहो व्यास सुवन को बलु है नागरीदासहिं ॥५॥

सप्तम अध्याय

श्री कल्याण पुजारी

श्री कल्याण पुजारी जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म-संवत् ठीक-ठीक विदि[illegible] नहीं है किन्तु गोस्वामी वनचन्द्र के शिष्य होने के कारण आनुमानिक रूप से सत्रहवीं श[illegible] का प्रथम चरण ही इनका समय माना जायगा। गोस्वामी वनचन्द्रजी से आपने संवत् ११२[illegible] में दीक्षा ली थी। उस समय यदि आपकी आयु २० वर्ष की मानी जाय तो जन्म-संव[illegible] १६०० ठहरता है। इनकी साधुनिष्ठा और प्रसाद-निष्ठा इतनी ऊँची थी कि इन्हें इसी निष्ठ[illegible] के बल पर श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर में पुजारी का स्थान प्राप्त हो गया था। किंवदन्ती है कि साधुओं का उच्छिष्ट तक खाने में इन्हें कोई ग्लानि या परहेज न था। बड़े गर्व के साथ साधुओं का उच्छिष्ट लेकर अपने को कृतकृत्य समझते थे। श्री भगवत मुदित ने अपने 'रसिक अनन्य माल में' इनका चरित्र लिखा है। वे लिखते हैं :—

"बड़े रसिक कल्याण पुजारी, रहनि कहनि सबही ते न्यारी।
द्विज सनाढ्य रहे शुभ गात, गुरु मु कृपा तें भये विख्यात॥
श्री वनचन्द्र ते पायो नाम, सेवा ही सो पूरन काम।
श्रीजी को अंग सेवा करें, निज मन्दिर तें नेकु न टरें॥
अपने प्रभु को भोग लगावें, सन्तन खिवाइ उच्छिष्ट हि पावें॥"

भगवत मुदित आगे लिखते हैं कि इनकी इस प्रवृत्ति से कुछ लोग बुरा मानने लगे और उन्होंने गोस्वामी जी के पास जाकर कल्याण पुजारी की शिकायत की और इन्हें पुजारी के पद से हटवाना चाहा। कल्याण पुजारी को गोस्वामी जी ने बुलाया और सब बात पूछी तो उदास होकर पुजारी ने मन्दिर की ताली उन्हें सौंप दी। उस दिन कल्याण पुजारी ने सेवा नहीं की। रात्रि में गोस्वामी जी को स्वप्न में श्रीजी के दर्शन हुए और उन्होंने कहा कि हमारा भोग कल्याण पुजारी को ही लगाना चाहिए। उसकी सेवा के बिना हम भूखे हैं। प्रभात होते ही गोस्वामी जी ने कल्याण पुजारी को बुलाकर फिर से श्रीजी की सेवा-पूजा का भार सौंप दिया।

उरप तिरपनि लेति सरस आलाप गति मुदित मद मैंन मधुर ऊधर दीनी ।
अमित उपजन सहित सार सुख संचरन माम हिय लसत रमि रंगभीनी ॥१४॥
अद्भुत कौतुक नृत्य होतु है ।
कुँवरि किशोर रङ्ग रचि माते उमड़त पानिय प्रेम पोतु है ।
कुंडल लोल ललित नासा मनि छवि समूह मुख हास उदोतु है ।
बिंब ऊधर स्याम दसनावलि जगमगात अति ललक सोतु है ।
झमक्त हार उरज श्रीफल बिच लचक छाम कटि गति न गोतु है ।
नागरिदासी बिलास अकह गति सो रस सत सद मनिन भोतु है ॥१५॥
सौख सार सुकुमार कलेवर ।
अंग अग रग हिलोर उमड़ि छबि फैलि समूह सुबसि भिले उर ।
नव नव मन अहलाद स्वाद सद मंद किंकिन कंकन पगनेवर ।
नागरिदासी धन धान धूमि घर चले जात लच्छन तव तेवर ॥१६॥
वर विहार चित्त चाह चढ़े ।
प्रमुदित फूले न समात परस्पर परिरंभन चुंभननि बढ़े ।
फंलि परे ऊब दृग छबि खग मानों बाज राज जुग फुलह कढ़े ।
नागरीदासि विवि प्रेम परावधि निज सजनी सुख सुजस रढ़े ॥१७॥
सुभग वहतु सब सीतल पवन ।
पुलिन नलिन मकरंदी बहु रङ्ग विकट प्रवाह निकुंज भवन ।
झकुरति लहरि अम्बुकन वरषत सौरभ मारुत श्रमनि दवन ।
नागरिदास विलास पीययतु फूल परस्पर लाडिली रवन ॥१८॥
प्रेम पपीहा की बलि हौं री ।
रटत रहत मेरो सुभग सांवरो इकटक तेरी सौंरी ।
मगन भयो तन मन गुन गावै परी है रूप उर औंरी ॥
नागरी छिनक परी है फंसें तो विनकल कहि धौरी ।
इतनौं श्रवन सुनत आतुर ह्वै लली अली सग हो री ।
नागरीदासि मिलि प्रीतम सों लतालालित प्रह मौरी ॥१९॥

कोऊ कहै याहि कछु लागि बंधी उर पैठ्यो,
कोऊ कहै याहि काहू जरी दई मड़िकं ॥
कोऊ एकं लाइ है कल्यान घनस्याम बोलि,
याही नीको करौ अब बात कहैं गांठ कं ॥"

वंशी की तान सुनकर व्रजबालाओं की दशा बड़ी विचित्र हो गई है। उन्हें विवेक न रह गया है। अपने शरीर की सुध नहीं रही है; उन्मत्त सी हुई इधर-उधर घूम रही है—

"वंसी की तान कं बान मनोज के कान परं हरं प्रान हमारे।
छूटि गये गृह काज सबै सखि धीरज लाज विवेक सिधारे॥
डोलत बोलत बावरी सी गति गात के चीर न जात संभारे।
भई व्रजनारि सुभाव 'कली' यही बांस की बांसुरी को नहिं मारे॥"

कल्याण पुजारी की उपलब्ध वाणी में लगभग २०० पद हैं जिनमें कवित्त, सवैय दोहा, सोरठा आदि छन्दों का ही प्राधान्य है। कल्याण पुजारी काव्य रस के पूर्ण वेत्ता र कोटि के भक्त-कवि हैं। भाव्य व्यंजना के लिए पुजारी जी ने अप्रस्तुत योजना का आधा शुद्ध काव्यमय रखा है। भक्ति का उत्कर्ष और रस मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादन आप अनेक पदों में सरस काव्य शैली से उपमानों और प्रतीकों के माध्यम से किया है—

"ओसनि प्यास बुझै न गयंद की जो लगि सिन्धु न जाइ झकोरें।
ऐसे ही श्री हरिवंश उपासक आस नहीं कहुं और सों जोरें॥
मत्त सदा रस में जस गावत भावत ब्यास कुमार किसोरें।
कल्याण कियौ निहचै मन में जिन सोई धनी धरमी धन भोरें॥"

अनुप्रास और यमक की सुन्दर छटा के साथ श्री हरिवंश की उपासना का वर्ण करते हुए कल्याण पुजारी कहते हैं—

"नारि हली ऐं पै नारि न छूटी यों नारि में छूटनि जोगभई है।
देह लटी घटी जाति घटी घटी त्योंहीं त्यों तृष्णा बहोत नई है॥
कह्यो चाहे कछू कहि आवत और वैसो ह्वौ भयो मतिभ्रष्ट भई है।
श्री हरि सेवै अजों किन पामर चावर की छवि वार लई है॥"

पुजारी की कविता में माधुर्य भाव और माधुर्य गुण दोनों का ऐसा सुन्दर समावेश हुआ है कि उसे पढ़ने के साथ ही मन में आनन्द की लहरियां उठने लगती हैं। प्रत्येक पद में लालित्य के साथ मार्दव है, शृंगार रस के साथ भक्ति का पुट है। शृंगार, शान्त और भक्ति-रस की दृष्टि से आपकी कविता प्रथम कोटि में रखे जाने योग्य है। पुजारी जी की वाणी से कतिपय सुन्दर कवित्त-सवैये हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। इनमें विवेक, भक्ति, विषय-वासना का त्याग, श्याम-छवि आदि प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है—

करुना वरुनालै सदा प्रभुजू यह नाम सुन्यौ मैं तिरो गुरते।
अब नाम प्रताप कहां लौ कहौं, अजामेल फिर्यो जम के पुरतें॥
जम-व्याध असाधक देखि डरें, स्वर ग्राह के चिह्न सुने उरतें।
अब ऐसी कल्यान कहा लौं कहै, चली आई तुम्हारी कथा धुरतें॥

कल्याण पुजारी अपनी इष्ट-अनन्यता के लिए प्रसिद्ध थे। ये कभी किसी और देवी-देवता की न तो पूजा करते और न किसी और मन्दिर में दर्शन करने ही जाते थे। जो लोग इधर-उधर दर्शन करते घूमते रहते उनसे भी वे यही कहते कि अपने आराध्यदेव की निरन्तर भावना करो, भटको मत।

"अपने इष्टहि देख्यो कीजै, और कहूं मन जान न दीजै।
जो ह्यां सुख सम्पति अधिकाई, अपने लखि मानिये घटाई।"

कल्याण पुजारी की वाणी काव्य की दृष्टि से अति ललित, प्रवाहमयी और सार-गर्भित है। आपने रस सम्बन्धी तथा गुरु-उत्कर्ष सम्बन्धी बहुत ही सुन्दर पद लिखे हैं। पुजारी जी की वाणी का सम्पूर्ण संग्रह वृन्दावन में बाबा तुलसीदास जी के पास उपलब्ध है। हमने इसी संग्रह से पद-चयन किया है। कल्याण पुजारी की कविता में कल्याण और कली दो छाप हैं। कवित्त, सवैया और छप्पय लिखने में आपको अच्छी सफलता मिली है। शृंगार और भक्ति के पदों के साथ शान्त रस के भी पद आपने उत्तम कोटि के लिखे हैं। चंचल मन को प्रबोधते हुए कहते हैं—

"अजहूं तजि रे घर कूं भरुवा करवा गहि क्यों न चले वन कों।
सिर सेत भयो गयो खोखरी ह्वै समुझावत क्यों नहिं या मन को।
सठ स्वान लौं धाम ते धाम फिरै धनि कारन धावतु है धन को।
हरिदासनि की करि आस 'कली' बहुरो पछितैहै रे या तन को॥"

घरबार छोड़कर वन में चले जाने पर भी जिनका मन भोग-विलास से उपरत नहीं होता उनका वन जाना एक प्रकार का मिथ्या दम्भ ही है। जब तक मन में धन, मान, स्त्री आदि की कामना रहती है तब तक सब व्यर्थ है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

'घर तजि गयौ हुतो वन में विचरिवे कौं,
भूलि वन गयो पर वनिता न भूली यों।
माया को मनोरथ करतु नैन मूंदि मूंदि,
कबहू कमाते गज चढ़ि चढ़ि भूली यों॥
कबहुंक कंचन के धामनि चिनावत है,
कबहुंक नृप भयो देखि देखि फूली यों।
जग के जनाइवे कों करत उपाइ सब,
देखत कल्यान हरि सब ही को तूली यों॥

रूपक की शैली से स्याम की वंसी का वर्णन करते हुए उसे काले सर्प का विष बताया है और उस विष को उतारने के लिए केवल घनश्याम का दर्शन ही उपाय ठहराया है।

"देह तौ छुटेगी पर नेह न छुटैगो भाई,
जब तें बजाई हरि वंसी कछु पढ़िकैं।
ज्यों ज्यों उन ताननि की सुधि करो मन मांझ,
त्यों त्यों कछु कारे सो विष गयो चढ़िकैं।

पुरान के औरहुर धाइ धाइ देखियत,
डिग गये संत काहू हाथ न परत है।
मृग तृष्णा को भ्रम ऐसे ही संसार मधि,
हरि तें विमुख नर नरकन गिरत है।
दुख गुण निकुतनि धातु न ह्वो जात बधि,
सुवा को स्वभाव बिनु फंदहि डरत है।
जाति पांति हीन भयो दीन विषया कों फिरै
कल्यान गुपाल बिन जनमहि निदरत है॥

सवैया—

"काल के गाल में गालु बजावत गावत है कुछ जाइ बिचारे,
ऐसे में केतो सुखो करि मानत जानत है सबही को पधारे।
ज्यों अहि के मुंह में परयो दादुर मानते भच्छि को पच्छो पसारे,
ऐसे ही भांति गसे सब जीव कलो बिनु स्याम, सुजीवन हारे॥"

"देख्यो हों कौतुक थोगुह को बयो विवेक
सपने के हाथी बड़े-बड़े सूर मारे जू।
जहां तहां भाजि दुरे तहीं तहीं संग जाइ,
दौरि पौरि देत हैं किवारि कुंजी तारे जू।
कबहूं न पावहिं जान लागत प्रीतम प्रान,
धरनि गिरत भयभीत ह्वै पुकारे जू।
हरि ते विमुख नर पावै न कल्याण चैन;
डोले गज खजों भ्रमैं भीम के पखारें जू॥"

"काल को कलेऊ तें कलेवरू धर्यो है नर,
ताकेवर वरनु नहीं तू काहू और को।
करतु कलेश देस मेरो है मुजाद यहां,
पूछ हू बुलाइ न्याउ करो याही ठोर को॥
जैसे अहि दादुर गस्यो है जनु काल वस,
होत सत विषया बिकारनि के कौर कों।
बूड़त कल्यान तेई ढूंढे हो न पाइयत,
जे न निजु गावत रसिक सिरमौर को॥"

'बरसै बरसाने की गोरी घटा नंद गाँव के सांवरे ऊपर री ॥
गुन रूप रसें धुरवा घहरें गरजें कटि किंकिन नूपर री ॥
अधरा मधु सब्द भला झलकें रति नीर बढ्यो सेज भूपर री।
ललितादि 'कली' सलिता उँमगी उमें संगम सिंधु मिलें वर री ॥
'सांप के खाये को मंत्र लगें परि आँखि के खाये को मत्र न तता ॥
वह पीर करें निवरे छिन में, यह घायल घूमें रहै रस मता ॥
वह देखत याहि तजें तबही यह याही में जोरतु ज्यों जल जता।
यह फूली कली अली धेरु करे चित राधिका गोरी रु सामरी कता ॥
रचना जु कछू भगवान रची न घटै न घटै न घटै न घटै।
सूर सदाई लरें रन में निवटैं निवटैं निवटैं निवटैं ॥
हरिदास कहाइ प्रपंचनिकौ न लटैं न लटैं न लटैं न लटैं।
हरि के सरनें बिनु काल वली झपटै झपटै झपटैं झपटै ॥
प्रेम के घाले भये घर ऊजर ते बहुरयौ फिरिकें न बसे।
नँदलाल चितै चितु चोरि लियौ कियौ ताकौ कछू फिरि नेंक हँसे ॥
जगमारग भूल गये सगरे, हग, दय म के रूप में जाइ धँसे।
ब्रज में बसि बावरी को न भई कली जाके हिये महँ लाल गसे ॥
"दृष्टि कुसो कर औंहड़ोवे वरि ले गयौ सावरो चोर-मनें।
रूप ठगौरी सी डारि कछू हौं तो भूलि रही न सभार तनें ॥
सब देखतु लूटतु मोहि सखी, गयें आज लै चित्त सौ वित धनें ॥
जा दिन ते भई ऐसौं-कलौं घर कों तजि, कुंजत डोलौं वनें ॥
"आजु प्रिया मुख की छबि देखत ह्वै गयौ मोहनलाल लटू।
पलकें न लगें उत नैन लगे इत देह सभारत नाहि सटू ॥
अब हाथ से छूट गई मुरली अरु आपुही ते गयो छूटि पटू।
धाई प्रिया हिय लाय लये कहे फूली 'कली' अली देख भटू ॥

कवित्त—

मोहि सीख देति सासु, नन्द, बहू बार-बार
सांवरे से ढोटा तन जिनि न निहारें री।
आँखि मूँदि मूँदि कहो कहाँ लौं चलोरी माई,
वहा धाय आगें काम बाननि से मारे री।
कबहूँ बजावे बेन कबहूँ नचावें नैन
मृदु मुसिकाय पढ़ि मोहनी सी डारें री।
मनु तो कल्याण एक सोई हरि हाथ परयो।
होनी हो सु भई, गई बात, फंल पारे री ॥

उन्होने भगवानदास से कहा कि तुम विवाह के बन्धन में मत पड़ना। तुम को हम वृन्दा ले चलेंगे। तब संवत् १७५६ ज्येष्ठ वदी द्वितीया को वृन्दावन आये। उस समय मुगलों उत्पात के कारण श्री राधावल्लभ जी का विग्रह वृन्दावन के मन्दिर से कामवन ले जा गया था अतः श्रीजी के दर्शनार्थ आप कामवन (अजानगढ़) गये। श्रीजी के दर्शन में रा का विग्रह न देखकर आश्चर्य हुआ किन्तु दूसरे स्वप्न में गादी-सेवा का रहस्य समझ में आया

दर्शन करते समय इन्हें ऐसा लगा कि इनके भाई भी वहाँ उपस्थित हैं। भाई ने पू कि तुम भीतर (मन्दिर में) कैसे आ गये। तब आपने उत्तर दिया कि मुझे साक्षात् श्री ने दर्शन देकर बुलाया है। फिर कामवन से वापस आकर गुरुजी के दर्शन करने गये। वृन्दा में अपना निवासस्थान ध्रुवदासजी की कुटी के समीप बनाया। उस समय स्वप्न में अपने वाणिज्य-व्यापार का इन्हें ध्यान आने लगा। वाणिज्य-व्यापार की चिन्ता से मन खिन्न हुआ तब गुरु से इन्होने अपने मन का क्लेश कहा। गुरुजी ने अधिक सोने का निषेध किया रात्रि के समय ध्रुवदासजी रचित लीलाएँ गाते रहते और निद्रा से दूर रहने का प्रयत्न करते एक दिन स्वप्न में दामिनी के समान प्रखर दीप्ति इन्हें दिखाई दी। उसकी चमक में इन्हें सब कुछ प्रकाशमय भासित होने लगा। बाद में इन्हे प्रतीत हुआ कि यह राधाजी का साक्षात् दर्शन था। इसके बाद श्री राधासुधानिधि के श्लोक कंठ करने प्रारम्भ किये। दो सौ श्लोक तो स्मरण हो गये किन्तु बाद के सत्तर श्लोक कंठ नही हुए। तब सावन की तीज को पुनः कामवन श्री राधावल्लभजी के दर्शनार्थ गये। उसके बाद श्री राधाजी के दर्शन की इच्छा से तीन दिन तक सघन वन में बैठ गये, जलपान तक न किया। राधाजी ने प्रसन्न होकर कहा कि हम तो तेरे हृदय में विराजती हैं तू उठ और प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद ग्रहण कर। उसी समय उन्हें ढूंढते हुए सन्त जन जंगल में आये और उन्हे साथ लिवा ले गये।[1]

अगले स्वप्न-प्रसंग में एक बनैनी का जीविका सम्बन्धी स्वप्न है। 'श्री गुरुजी को एक बनैनी सेवक हो। सोई नातो जानि मोकों बहुतेरो दयो चाहै, मैं उनको लेऊ नहीं, काहे ते जो उनको पिता भैया म्लेच्छनि के चाकर हैं। मैं उनको कहि समुझाई, सुनि बोवी, ये म्लेच्छनि को धान्य है, मैं लेत नाहीं, इनते हियो मलिन होत, भजन भावना छीन होइ, इष्ट तें विमुख होइ, ठिकानें पहुँचे नाहीं'। अनन्य अली जी ने इस प्रसंग में यही दिखाया है कि भोजन का भी शरीर और मन दोनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उस बनैनी ने एक दिन खीर बनाकर गुरुजी की माता जी के यहाँ भेजी और सेवक भगवानदास ने उसे खा लिया। रात्रि में इस भोजन का बुरा प्रभाव हुआ और बुरे स्वप्न दिखाई दिये। उस स्वप्न में औरंगजेब बादशाह के आने का भी स्वप्न आया जो बहुत ही बुरा था। ग्यारहवें स्वप्न में भी एक वणिक के घर के प्रसाद का वर्णन है और उसके ग्रहण करने से भी मन पर बुरे प्रभाव की बात दुहराई गई है। इस स्वप्न में गुरुजी की बहिन अदाकुँवरि का नामोल्लेख भी है। बुरे अन्न का तन-मन दोनों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता यह इसमें दिखाया है।[2]

---

१. स्वप्न-प्रसंग—अनन्यअली कृत—प्रकाशक—बाबा तुलसीदास, वृन्दावन, पृष्ठ १,२,३,४।
२. „ „ „ „ „ „ ८,६,१०,११।

अष्टम अध्याय

श्री अनन्य अली

श्री अनन्य अली का जीवन-वृत्त उन्हीं के द्वारा लिखे गये 'स्वप्न-प्रसंग' नामक वार्त्ता ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इस स्वप्न-प्रसग में छोटे-छोटे पन्द्रह प्रसंग हैं जिनमें अपने शैशव से वृन्दावन आने तक की कतिपय प्रमुख घटनाओं का लेखक ने वर्णन किया है। इस ग्रंथ का रचना-काल कहीं नहीं दिया अतः यह निश्चय करना कठिन है कि यह कब लिखा गया। इन पन्द्रह स्वप्न-प्रसंगों के आधार पर संक्षेप में अनन्य अली का परिचय निम्न प्रकार है।

अनन्य अली व्रज-प्रदेश से बाहर कहीं दूर के रहने वाले थे। आठ वर्ष की आयु में श्रीजी के चरणों की शरण ग्रहण की। उनके घर में राधावल्लभीय उपासना-पद्धति पहले से प्रचलित थी। शैशव में ही हित चौरासी के चार पद याद किये। घर में रहते तो उन्हीं चार पदों को गाया करते—स्कूल में जाते तो वहाँ भी पद-गायन जारी रहता। खेल के समय अपने साथियों से भी उन्हीं पदों को गवाते रहते। हित चौरासी के चार पद कंठस्थ करने के बाद ध्रुवदास जी लिखित 'वृन्दावन सत' कंठ किया। इसी प्रकार दो-चार वर्ष व्यतीत हुए। तब एक बार स्वप्न में उन्हें लगा कि कोई उनका नाम—भगवानदास-भगवानदास कह कर पुकार रहा है और कह रहा है कि, हे भगवानदास तू उठ और शीघ्र वृन्दावन चल। यह घटना प्रात.काल होने पर उन्होंने अपनी माता तथा भाई को सुनाई तो माता ने समझा कि उसका लड़का भक्ति के कारण पागल हो गया है।

इसके बाद इनके भाई ने इन्हें हित चौरासी का अध्ययन कराया। 'चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर' इस पद को छोड़ कर शेष सब पद आपने कंठस्थ कर लिये। यह पद बार-बार याद करने पर भी याद नहीं हुआ। उस समय आपकी आयु बीस वर्ष की थी। उसी साल इनके भाई का शरीर छूटा। भाई से श्रीजी ने कृपापूर्वक प्रश्न किया कि क्या मरने से पूर्व भगवानदास (अनन्य अली) के लिए कुछ कहना है। तब भाई ने केवल यही कहा कि वह श्रीजी का भजन करे। भाई के निधन के बाद फिर वृन्दावन आने की प्रेरणा करने वाले स्वप्न दिखाई पड़े। तब स्वप्न में ही एक दिन श्री गोस्वामी गोविन्दलालजी के दर्शन हुए और

श्री अनन्य अली की वाणी

श्री अनन्य अली की वाणी का विपुल विस्तार है। आपने सिद्धान्त, नित्यविहार, लीला, वृन्दावन वर्णन, जीव-दशा, ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन, रूप-वर्णन, हास-विलास वर्णन आदि विविध विषयों पर रचना की है। आपकी सम्पूर्ण वाणी का संग्रह लगभग ६००० पदों का होगा। हमारे देखने में जितने पद आये हैं उनकी विषयानुसार सूची अन्त में दी जा रही है। सिद्धान्त प्रतिपादन और रसभक्ति का शृंगारपरक शैली से वर्णन आपकी वाणी का मुख्य विषय है।

अनन्य अली की वाणी में प्रसाद और माधुर्य का बहुत ही सुन्दर योग हुआ है। छन्द-रचना में भी आपकी विलक्षण गति दिखाई देती है। जाति से वैश्य होने के कारण व्यापार सम्बन्धी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आपकी वाणी में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

जुगल भजन की हाट करि ऐसी विधि व्योहार।
रसिकन सौं सौदा बने चर्चा नित्यविहार ॥
चित डांडी पलरा नयन प्रेम डोरि सौं बानि।
हियो तराजू लेहु कर तौल रूप मन सानि ॥

—आशा अष्टक।

षट्ऋतु वर्णन में आपने बड़े रसपूर्ण सवैये लिखे हैं। ऋतु-वर्णन के साथ ही उनमें निकुंजलीला का भी दृश्य उपस्थित होता है। वसन्त ऋतु के वर्णन में कहते हैं—

माधुरी कुंजनि में विवि प्रीतम खेल वसंतनि को सरसाई।
सेत सिंगार सुगंध पगे सुलगे तन में न कछू दरसाई ॥
अवनि ओर धरे कलसा मनि चीर गुलालनि सौं बुरकाई।
श्री हरिवंश कृपा बलते बन खेल अनन्य अली निरखाई ॥

ग्रीष्म ऋतु

लागत सीत न पागत अंग मनौ घन में चपला चमकाई।
रूपनि केलिन की वरषा वरषै ऋतु ग्रीषम कौं जु बहाई ॥
शीतल होत सखी सर देखत नैननि को पल कौन लगाई।
श्री हरिवंश कृपा बलतें छवि केलि अनन्य अली दरसाई ॥

वर्षा ऋतु

पावस की रितु आइ सुहाइ घटा रंग-रंग वितानिनि ताने।
कौंधत है चपला चहुं ओर मनो पिक के हिय भाय छिपाने ॥
भांतिन भांति बलाकन पांति सुराग मलार विलास बखाने।
श्री हरिवंश कृपा बलते-घन वानि अनन्य अली हरसाने ॥

शरद ऋतु

भानु सुता तट चैन सुघाट खच्यो मणि मंडल ही भलकाई।
तीन समीर सुगंधिन भीर सुफूलनि फूलि रहे रुचिदाई ॥

द्वादश स्वप्न में श्यामदास गुजराती के साथ कर्कश वचन बोलने का वर्णन
श्यामदास गुजराती को बुरा-भला कहने पर स्वप्न में यम के दर्शन हुए। प्रातःकाल श्याम
के पैर पकड़ कर क्षमा-याचना की और यम-दर्शन का सन्ताप दूर हुआ। त्रयोदश स्व
प्रसंग में श्रीराधाजी के दर्शन का वर्णन है। राधाजी ने प्रसन्न होकर ही अनन्य अली न
दिया और तभी से अपना पूर्व नाम भगवानदास छोड़कर अनन्य अली नाम स्वीक
किया।[1] अगले एक प्रसंग में वर्णन है कि एक दिन ज्वराक्रान्त और दुर्बल होने
कारण श्रीजी को व्यारू कराना भूल गये तब स्वयं श्रीजी ने प्रकट होकर आपसे व्यारू म
और आपने उन्हें प्रीतिपूर्वक व्यारू कराया।

इन स्वप्न-प्रसंगों के बाद आपने लिखा है कि यद्यपि स्वप्न की बात लिखना उ
नहीं है किन्तु मेरा हृदय अति दुर्बल है जो बात मन में आती है, पचती नहीं। बाहर नि
आती है, इसी कारण लिख दी है—

"ये सुपने लिखने उचित नाहीं है, पै मेरो हियो अति काचो है वस्तु परो प
नाहीं। तातें निकसि पर्‌यो ताते लिखी है। और मोसो पतित कोऊ नाहीं सकल ब्रह्माड
पतितनि को हौं महाराज हौं।"

उपर्युक्त स्वप्न-प्रसंग-वर्णनों के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) अनन्य अली जी का पूर्वनाम भगवानदास था। इनके घर में वणिक्-वृत्ति ह
थी। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वे जाति के वैश्य थे। कुछ विद्वान् आप
जाति का ब्राह्मण कहते हैं किन्तु इनकी रचना के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ये वैश्य ही प्रत
होते हैं।

(२) शैशव से ही राधावल्लभीय उपासना-पद्धति का अनुगमन करते चले आ
थे। गुरु गोविन्दलाल गोस्वामी से दीक्षा लेकर अविवाहित जीवन व्यतीत किया।

(३) बीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आये। वृन्दावन आने का संवत् १७५६ है
जन्म-सम्वत् १७४० के आसपास मानना होगा।

(४) ध्रुवदासजी के कुटी के समीप वृन्दावन में रहे और आजीवन वहीं रह कर
रचना करते रहे।

आपके लिखे ७६ ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थ अनन्य अली की वाणी नाम
संकलित हैं। प्रियादास नामक किसी व्यक्ति ने इनकी प्रतिलिपि की है जिसमें २८० पृष्ठ
यह हस्तलिखित प्रति गो॰ मनोहरलालजी अहमदाबाद के पास सुरक्षित है। लिपि करने
संवत् १८५३ लिखा है। रचनाकाल संवत् १७५६ से संवत् १७६० तक है। संवत् १७६०
बाद का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता अतः इसके आसपास ही आपकी निधन-तिथि समझ
चाहिए। आपकी वाणी से यह भी सिद्ध होता है कि वृन्दावन आने के बाद फिर कभी
अपने घर (जन्मस्थान) नहीं गये और वृन्दावन में ही निकुंजगति को प्राप्त हुए।

---

१. स्वप्न-प्रसंग—अनन्यअली कृत—प्रकाशक बाबा तुलसीदास, वृन्दावन, पृष्ठ १४,१५,१

लाड़िलीलाल सखी तिहि ऊपर राजत भ्राजत हैं छवि छाई।
श्री हरिवंश कृपा बसलें बन रास ग्रनन्य ग्रली बरसाई ॥

रीतिकालीन कवियों की पद्धति से नखशिख वर्णन में ग्रनन्य ग्रली जी ने सह
दोहे लिखे हैं। इन दोहों में काव्य-सौष्ठव, ग्रभिव्यंजना की कुशलता ग्रौर विषय-
व्यापकता देखकर भक्त-कवि के ज्ञान पर ग्राश्चर्य होता है। रूप-माधुरी-विषयक कु
उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं :—

बदन चंद की माधुरी निरखत नवल किशोर।
पान करत छवि की सुधा तृषित न होत चकोर ॥
पग तल कल की माधुरी नवल विमल चमकन्त।
तिनमें सुन्दर स्याम मुख प्रतिबिम्बित दमकन्त ॥
परसन कों कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सौं लंपट ग्रति तरलाइ ॥

'भोरता लीला' में जुगलकिशोर को भोला ग्रौर बावला बता कर बड़ा सुन्द
किया है—

'ये भोरे ये बावरे दोऊ एक हवाल।
निरखि निरखि निज सखी सब कहत निहाल निहाल ॥
श्री राधा के पदकमल विमल नवल सुखदाइ।
स्याम भृङ्ग जिनमें बसे ते मकरन्द ग्रघाइ ॥
श्रीफल कंचन गिरि किधौं कुन्दन कलस ग्रनूप।
उपमा सब फिसली परें सुनि लें इनको रूप ॥'

श्री ग्रनन्य ग्रली ने चरण प्रताप लीला में स्वामी हरिदासजी का वर्णन कि
इस वर्णन को पढ़कर यह विदित होता है कि स्वामी जी श्री हितहरिवंशजी के ग्रति
थे ग्रौर उनकी उपासना-पद्धति पर भी उनका प्रभाव था। हम नीचे स्वामीजी
प्रसंग को उद्धृत कर रहे हैं—

श्री स्वामी हरिदास रसीले, वृन्दावन में ग्रहि बसीले।
ग्रति प्रसिद्ध जग भगतहि जानैं, सेवत श्री नरसिंह प्रमानैं ॥
पहिले ते नरसिंह उपासी, नैननि ग्रागे दरस प्रकासी।
इनकी कथा बहुत है ग्रोरे, पढ़त रसिक जन ठौरहि ठौरे ॥
भगवत मुदित जु ग्रौर उपासी, रसिक माल में लिख्यौ प्रकासी।
तिनमें नीकी भांति निहारो, मन सन्देह दूरि करि डारो ॥
तिनमें ते हम हू कछु जानी, वही कही सो बात बखानी।
श्री व्यासनन्द को सब पर जान्यौ, वचन रचन सुनि मन में ग्रान्यौ ॥
श्री हित जू के शरने ग्राये, श्रवनहि में वर मन्त्र सुनाये।
लोक वेद की करी न कान्यौं, श्री व्यासनन्द परसौ मन ठान्यौ ॥

श्री अनन्य अली की वाणी

श्री अनन्य अली की वाणी का विपुल विस्तार है। आपने सिद्धान्त, लीला, वृन्दावन वर्णन, जीव-दशा, ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन, रूप-वर्णन, वर्णन आदि विविध विषयों पर रचना की है। आपकी सम्पूर्ण वाणी का संग्रह लग पदों का होगा। हमारे देखने में जितने पद आये हैं उनकी विषयानुसार सूची अन्त रही है। सिद्धान्त प्रतिपादन और रसभक्ति का श्रृंगारपरक शैली से वर्णन आप का मुख्य विषय है।

अनन्य अली की वाणी में प्रसाद और माधुर्य का बहुत ही सुन्दर योग हुआ रचना में भी आपकी विलक्षण गति दिखाई देती है। जाति से वैश्य होने के कारण सम्बन्धी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आपकी वाणी में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

जुगल भजन की हाट करि ऐसी विधि ब्यौहार।
रसिकन सों सौदा बने चर्चा नित्यविहार॥
चित डांडी पलरा नयन प्रेम डोरि सों वानि।
हियो तराजू लेहु कर तौल रूप मन सानि॥

—आशा अष्ट

षट्ऋतु वर्णन में आपने बड़े रसपूर्ण सवैये लिखे हैं। ऋतु-वर्णन के साथ ही निकुंजलीला का भी दृश्य उपस्थित होता है। वसन्त ऋतु के वर्णन में कहते हैं—

माधुरी कुंजनि में विवि प्रीतम खेल वसंतनि को सरसाई।
सेत सिंगार सुगंध पगे सुलगै तन में न कछू दरसाई॥
अवनि मौर धरे कलसा मनि चीर गुलालनि सों बुरकाई।
श्री हरिवंश कृपा बलते बन खेल अनन्य अली निरखाई॥

ग्रीष्म ऋतु

लागत सीत न लागत अंग मनों घन में चपला चमकाई।
रूपनि केलिन की बरषा बरषं ऋतु ग्रीषम कौं जु बहाई॥
शीतल होत सखी सर देखन नैननि को पल कौन लगाई।
श्री हरिवंश कृपा बलतें छवि केलि अनन्य अली दरसाई॥

वर्षा ऋतु

पावस की रितु आइ सुहाइ घटा रंग-रंग वितानिनि तानें।
चौंधत है चपला चहुं ओर मनो रसिक के हिय भाव छिपानें॥
मोतिन भांति बनावन पांति सुराग मलार विलास बखानें।
श्री हरिवंश कृपा बलते बन बानि अनन्य अली हरखानें॥

शरद् ऋतु

भानु सुता तट चंद सुधाट सरद्यो मनि मंडल ही झमकाई।
सीत समीर सुगंधित धीर सुकुंजनि झूलि रहे छविदाई॥

७५—सौरभ विलास लीला	४०
७६—चातुर्य विलास लीला	३१
७७—मोरला विलास लीला	७१
७८—नैत्र विलास लीला	३६
७९—दरस विलास लीला	८८
फुटकर दोहे	१८

उपर्युक्त ग्रन्थों की तालिका हमने श्री बाबा वंशीदासजी (हिताश्रम, वृन्दावन) के हस्तलिखित संग्रह के आधार पर तैयार की है। उनके पास जितने ग्रंथों के पद हैं वे ही इसमें दिये गये हैं। जहाँ हमने संख्या नहीं दी है वे ग्रन्थ भी अहमदाबाद और टोडी वाली रानी के कुंज में उपलब्ध हैं। बाबा वंशीदासजी के संगृहीत पदों की संख्या ३४५६ है। यदि समस्त ग्रन्थों की पद-संख्या उपलब्ध हो सके तो वह लगभग ६००० होगी। इतनी विशाल पद-रचना ही श्री अनन्य अली के वाणी विस्तार को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

अनन्य अलीजी के गद्य का नमूना प्रस्तुत करने के लिए हम उनके 'स्वप्न प्रसंग' से तीन प्रसंग नीचे उद्धृत कर रहे हैं। यह ढाई सौ वर्ष पुराना ब्रजभाषा गद्य है किन्तु भाव-व्यंजना की दृष्टि से यह पर्याप्त पुष्ट और प्राजल होने के कारण आज भी सुन्दर प्रतीत होता है।

लीला स्वप्न प्रकाश सूधीवात

"स्वप्न भले-बुरे भाँति-भाँति अनेक भये, तिनमें जो जो कछु सुधि रहे सो लिखते हैं। जब मैं आठ बरस को भयो तब श्री जू के चरनं-शरनं आयो, और तब ही श्रीजी की श्रीचौरासी में के पद चार कंठ किये एक पद गौरी में, 'धेनु माई आजे बजी बट'। और दंव धारि, 'मोहन पद न त्रिभंगी'। और राग विलावल—'आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोर कहा कहौं अङ्ग-अङ्ग परम माधुरी'। और—'आज देखि बृज सुंदरी मोहन बनी केलि'। और श्रीचौरासी ते एक पद न्यारो न रह्यो कोऊ काहू मनहि दिये'। और श्रीचौरासी को एक पद, 'मदन मथन घन निकुंज खेलत हरि राश रुचिर सरद रजनी' एई पद सब बालकनि संग हम गावं और गवावं। खेलत में, डोलत में, उठत में, बैठत में, एई गावं। और पढ़ने को जाऊं तहाँ एई गाऊं एई लिखौं एई पढ़ौं और पढ़ाऊं।

तृतीय प्रसंग—तब मेरे भाई ने श्रीजी को चौरासी सिखाई, पढ़ाई कंठ कराई। तिन में एक पद कहोंहू कंठ न होइ, पद—'चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर', यह पद कंठ नाही भयो। तब हौं बीस बरस को भयो, तब ताई पाठ करयो, एक घटि पद। तब भाई ने शरीर छोड्यो निकुंज महल को पधारे। भाई के ऊपर श्रीजी की बहुत कृपा भई। जब शरीर छूटिबे को समयो भयो तब सब कृपारामनी पूछी, कि भगवानदास को कहु कहोगे, तब भाई ने कही कहा कहूं श्रीजी को भजन कीजियो। जब राधो दापी रही तब मोसों कही तू उठि श्रीजी को चौरासी को पाठ करि। तब मैंने उठि के पाठ कीनों। तब प्रातःकाल भयो कह्यौ मेरो शरीर अब ही छूटेंगो। शरद को हंस को दिन हो, तब ही भाई खाट परतें उतरे, स्नान कीन्हो, महाप्रसाद लीन्हो, प्रसादी बीरी पाई। और कही ध्रुवदासजी को बमार काद

कुंजबिहारी सिर पधराये, विधि निषेध जंजाल छुड़ाये।
भये सु धनि दृढ़ रसिक उजागौ, श्रीमु नाम धर्यौ हरिदागौ॥
अपनी सगी करि मेरे लीनी, महल टहल गान की दीनी॥
—चरण प्रताप लीला, पद सं

श्री अनन्य अली की वाणी का मुख्य विषय युगल प्रेमलीला तथा युगल माधु है। किन्तु प्रासंगिक रूप से आपने अपनी वाणी में अनेक विषयों को स्थान दिया की वाणी में ग्रन्थों के नाम ही विषय-वस्तु या वर्ण्य-विषय का द्योतन कराने वाले है अली की वाणी सिद्धान्त प्रतिपादन के साथ काव्य-रस का पूरी तरह अनुगमन क प्रायः देखा जाता है कि धार्मिक सिद्धान्तों के सघन आवरण में काव्य-रस या तो सि है या नष्ट हो जाता है किन्तु इनकी रचना इसका अपवाद है। हम नीचे आपकी रचनाओं की सम्पूर्ण तालिका दे रहे हैं—

नाम ग्रंथ	पद संख्या
१—स्वप्न विलास (गद्यवार्ता)	—
२—जीव प्रकार	११३
३—मन विनती लीला	१२६
४—आशा अष्टक	८ दोहे
श्री हरिवंशाष्टक	८ चौपाई
६—वृन्दावन वास की प्रथम अवस्था	१०३ दुरई
,, ,, द्वितीय अवस्था	१०९
,, ,, तृतीय अवस्था	३३ त्रिपदी छन्द
क—श्री हितजू के चरननि कौ नेम	८
ख—,, ,, नाम को नेम	१०
ग—,, ,, वानी को नेम	१०
घ—श्रीरसिक अनन्य संग को नेम	१०
ङ—जीविका को नेम	४
च—श्रीराधावल्लभ सों नेम	
छ—श्री वृन्दावन के वास	
चतुर्थ अवलोकन अवस्था—	
क—वसन्त ऋतु	
ख—ग्रीष्म ऋतु	
ग—फूल रचना	
घ—गेंद-खेल	
ङ—प्रेम सरोवर क्रीड़ा	
च—पावस ऋतु	
छ—शरद ऋतु	

नवम अध्याय

श्री रसिकदास

श्री रसिकदास का जन्म-सम्वत् तथा जन्म-स्थान आदि निर्णय करने से पूर्व यह निर्णय करना आवश्यक है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों में जिन पाँच व्यक्तियों का रसिकदास नाम से उल्लेख मिलता है उनमें कौन से रसिकदास का वर्णन हम कर रहे हैं। हमने जिन रसिकदास को समीक्षा के लिए चुना है उनकी रचनाएं सर्वाधिक हैं तथा काव्य-गुण की दृष्टि से उनकी कृतियां इतनी समृद्ध हैं कि किसी अन्य रसिकदास की रचना उनके समकक्ष नहीं ठहरती।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में रसिकदास नाम से पांच महानुभावों का वर्णन मिलता है। हम नीचे उन चार का संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं जिनकी समीक्षा हमें अभिप्रेत नहीं है ताकि उनका प्रकृत प्रसंग से व्यावर्त्तन हो सके।

१—गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य रसिकदास प्रथम हैं जिनका चरित भगवत मुदित ने लिखा है। इनका समय सम्वत् १६५० से १७०० तक के समीप है। ये वैराठ के रहने वाले और जाति के कायस्थ थे। प्रेम-दशा में उन्मत्त रहकर विचरण करते रहते थे और आनन्द के साथ पद-रचना भी करते थे ऐसा वर्णन मिलता है। इनकी रचनाओं का कोई संकलन नहीं है। कुछ फुटकर पद प्रसिद्ध हैं।

२—दूसरे रसिकदास भोरी सखीजी के साथी हैं जिनके विषय में गोविन्द अली ने परिचयात्मक छप्पय लिखा है। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि राधावल्लभ जी के मन्दिर में रातभर जागकर ग्रीष्म ऋतु में आप श्रीजी का पंखा खींचते थे। अपनी टहल-सेवा से इन्होंने तत्कालीन भक्तों में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। भोरी सखीजी का समय १७२० से सवत् १८०० तक है अतः आपका समय भी इसी के आस-पास ठहरता है। यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि इन्होंने किससे दीक्षा ली थी। या तो आप हरिलालजी के शिष्य थे अथवा हो सकता है भोरी सखीजी से ही दीक्षा ली हो। 'भोरी सखी सींचौ हियौ रसिकदास भरपूर' पद से यही प्रतीत होता है कि भोरी सखीजी ही इनके गुरु थे। इनके अनेक पद प्रसिद्ध हैं। किसी मुख्य रचना की सूचना नहीं मिलती।

रचना शैली को ही आपने सर्वतोभावेन अपना लिया है। द्वितीय खड में अतिधृति छन्द में लिखते हैं :—

> एकान्ते सुकिशोर कामिनि कला कल्लोल कुशला कृते।
> नाना केलि विलास हास ललित लीला अपांगा गिंने॥
> अद्भुत गति वितरंत कंत विलसं तश्च वरानने।
> सानंगी रंगो करोति हृदि मे अङ्गीय दासाश्रये॥

इस छन्द में यद्यपि अनेक स्थलों पर छन्दोभंग है जो या तो बाद में लिपिकार के प्रमाद से हुआ या किसी और कारण से किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि पद-रचना पर संस्कृत का पूरा-पूरा प्रभाव है। केवल अनुस्वार के प्रयोग से ही संस्कृत भाषा नहीं बनाई है अपितु तत्सम शब्दों का सुन्दर चयन भी किया गया है।

रसिकदास की वाणी

१—प्रसाद लता (संवत् १७४३)	
२—मनोरथ लता (मात्रिक वृत्त)	११७ पद
३—मनोरथ लीला (वर्ण वृत्त)	३४ छन्द
४—अभिलाषा लता	२७ कुंडलियां
५—सौन्दर्य लता	१४२ दोहे
६—माधुर्य लता (सं० १७४४)	१०१ दोहे
७—सौभाग्य लता	४७ दोहे, कवित्त, सवैये
८—विनोद लता	६६ पद, ४१ कवित्त ८ दोहे
९—तरग लता	६२ दोहे
१०—विलास लता	७४ दोहे, चौपाई, कुडलियां
११—सुखसार लता	४० पद
१२—अद्भुत लता	५७ ,,
१३—कौतुक लता	६० ,,
१४—रहस्य लता	४६ ,,
१५—रतन लता	४५ ,,
१६—मतन लता	२७ ,,
१७—रतिरंग लता (संवत् १७४६)	३४ ,,
१८—हुलास लता	२४ ,,
१९—आनन्द लता	५६ ,,
२०—चारुलता	५४ ,,
२१—सुकसारीलता	१०१ ,,
२२—रसकदम्ब चूड़ामणि—(संवत् १७५३)	१०० ,,
रसकदम्ब चूड़ामणि—द्वितीय भाग—	१६ ,,

३—तीसरे रसिकदास वैराग्यपरायण भक्त थे। इनके विषय में भी गोविन्दअली का छप्पय मिलता है। ये नागरीदासजी के संगी-साथी थे। नागरीदासजी का समय संवत् १७८० से १८५० तक है अतः आप भी इनके समसामयिक रहे होंगे। किसी रचना की सूचना नहीं मिलती—फुटकर पद ही प्रसिद्ध हैं।

४—चौथे रसिकदास चन्द्रसखी की गद्दी पर बैठने वाले महानुभाव हैं। इनके गुरु-भ्राता खेमदास थे; 'वसन्त प्रबंध' में चाचा वृन्दावनदास ने इसका संकेत दिया है। विशेष विवरण नहीं मिलता। चन्द्रसखी की राधावल्लभीय भावना का अभी तक बहुत कम विद्वानों को पता है। 'चन्द्रसखी' का मन्दिर वृन्दावन में अभी तक है और उनकी शिष्य-परम्परा का इतिवृत्त भी उपलब्ध है।

उपर्युक्त चारों का हमने इसलिए नामोल्लेख किया है कि समीक्षा के समय कहीं इनकी कृतियों का अन्तर्भाव न हो जाय और भ्रमवश एक की रचना दूसरे की न समझी जाय। जिन रसिकदास का वर्णन हमें अभीष्ट है वे इन चारों से भिन्न पांचवें हैं। इनके सम्बन्ध में चाचा वृन्दावनदासजी ने परिचय-छप्पय लिखा है और इन्हें भेलसा का निवासी बताया है।

'प्रथम भेलसा वास बहुरि वृन्दावन बसियौ।
श्री राधावल्लभ इष्ट भजन में सदा हुलसियौ॥
रहत भावना मगन प्रेम भरि धावत होयौ।
गुरु पद्धति रसरीति विचारि रसिक सुख दीयौ॥
श्री हरिवंश प्रसाद तें चित कुंज केलि कौतुक भर्यौ।
गुपत गांस रस मिथुन कौ श्री रसिकदास उर सचि धर्यौ॥

जन्म-सम्वत् और गुरु

इनकी कृतियों के अध्ययन से विदित होता है कि आप गोस्वामी धीरीधर के शिष्य थे। गोस्वामी धीरीधर का समय संवत् १६७०-१७६० तक है अतः आप भी इसी काल में रहे होंगे। रसिकदासजी की रचनाओं के नाम लताओं पर हैं। इन लताओं में रचनाकाल दिया हुआ है जो संवत् १७४३ से १७५३ तक है। अतः अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ इनका जन्म-संवत् माना जा सकता है। इनकी लिखी २० लताएं और एक ग्रन्थ 'रसकदम्ब चूड़ामणि' उपलब्ध है। प्रसाद लता में, जिसका रचनाकाल संवत् १७४३ है, आपने अपने गुरु का नाम इस प्रकार दिया है :—

'हृद धरि श्री धीरीधर चरण, मंगल रूप अमंगल हरण॥
तिनके ज्येष्ठ तात बात कहि, रसिकदास सुख रासि पहिंलहि॥

गुरु नाम का उल्लेख निम्न छन्द में मिलता है :—

धरि हित श्री धीरीधरहि चितरूप अवधारि।
श्री हरिवंश कृपा करें उपजै भक्ति विचारि॥

श्री रसिकदासजी संस्कृत भाषा के भी धुरन्धर पंडित थे। 'मनोरथ लता' नामक आपके ग्रन्थ में वर्णवृत्तों की छटा संस्कृत छन्द-शास्त्र के आधार पर है। कहीं-कहीं तो संस्कृत पद

शैली अपनी है। उसका विभाजन भी उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से एकदम नवीन ढंग से किया है। लताओं में काव्य-सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में है।

रसिकदासजी की वाणी का सम्पूर्ण संग्रह उपलब्ध है। इस संग्रह से हम उदाहरणार्थ कतिपय दोहे तथा पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं :—

छप्पय—

वृन्दावृन्दारण्य वृन्द सम्पत्य मुकटमनि।
वृन्द रूप गुन वृन्द वृन्द आनन्द सकल धनि॥
वृन्द सुजस रसवृन्द वृन्द मह वृन्द प्रतापहि।
वृन्द प्रभाव सुभाव वृन्द निधि रिधि आलापहि॥
वृन्द महत जहँ लगि कहत रहत व वृन्दावन सरन।
दुरित वृन्द छिन्दन करत सु वृन्दावन तारन तरन॥
वृन्दावन के वृन्द को रसिक जु वंदित नित्त।
वृन्द विविधि वन माधुरी वेगि उदौ करि चित्त॥

झूलना—

प्रकट हो निकट हो वन विलासी।
संग सुकुंवारि भुज डारि अंसनि सुभग हार उर चारु मंदारलासी।
प्रेम उद्‌गार पिय प्यार तन भार जुत धार अपार छवि यों प्रकासी॥
सिंगार तर मूल सों फूल के छवि लता प्रनय अनुकूल रस केलि कासी।
भलड अपार हो पलक लागत नहीं प्रगट हो निकट हो वन विलासी॥
चित्त वित्त वन चरन तुव चिहुं ठरहो दिन रैन।
चित्र किये चित्रन विविध चतुर चलन दे नैन॥

चौबोला—

चितं पाद सरोजं नित्त मयाधारं परमाधारं।
श्री पुंजपराग दिने रविराज सुलाकारं परमाकारं॥
श्री राधा नंद तनय रस मूरति तं वदं परमानन्दं।
नित्यं कुंज कुटीरं मंजुल रविजा तीर सज्जानीरं॥

इन्द्र छंद—

सार संभार निहार निवारित भूवन धारन कारन जेतो।
चारु विचार करें सुकुंवार निहारि उदार उदारनि एतो॥
वैननि चैन सु नैननि सैन लहै सुख दैन जु भारन केतो।
रंग कपोलनि अगनि डोलन केलि कलोलनि मारनि केतो॥

नवधरी छंद—

बरषत सुखधारा अद्‌भुत गति विहारा।
नवल नवकुमारा परम प्रेमाभिसारा॥

रसिकदास की वाणी का प्रतिपाद्य

रसिकदासजी ने अपनी वाणी में राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं को विविध रूप से अंकित किया है। अपने ग्रंथों को लता नाम देकर उनके वर्ण्य-विषय को प्रायः शीर्षक से ही व्यक्त करने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ मनोरथ लता, आनन्द लता, सौन्दर्य लता, विलास लता आदि नाम अपने प्रतिपाद्य का स्पष्ट संकेत देते हैं। इन लताओं में राधाकृष्ण के मनोरथ, सौन्दर्य, विलास आदि का वर्णन है। सौन्दर्य लता में परम्परागत नखशिख वर्णन किया गया है जिसमें केश से लेकर पैर के नाखून तक उपमानों द्वारा सौन्दर्य-कथन हुआ है। इस नख-शिख वर्णन का उद्देश्य रीतिकालीन शैली से शृंगार-वर्णन मात्र न होकर राधाकृष्ण की रूप-छवि अंकित करना है जो भक्त के मन में अपने आराध्य के प्रति आकर्षण का भाव उत्पन्न कर उसे तल्लीन कर सके। यह वर्णन काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम कोटि का है। सौभाग्य लता में प्रेम की महिमा वर्णन करते हुए नेम को विस्मृत करने और प्रेम में लीन होने का सवैयों में बहुत सुन्दर प्रतिपादन हुआ है :—

> छिन ही छिन प्रेम दसा प्रिय की नव अङ्ग तरंगिन रूप प्रिया।
> तितने ही उपाइ अपार विलच्छन राजत हैं सु छबीली त्रिया॥
> चेतत चेत अचेत ह्वै जात सुनावत बात बिसारि हिया।
> प्रेम को नेम लड़ावत छेम निछावर होत प्रभूत भिया॥

विनोद लता में राधाकृष्ण के हास्य-विनोद का वर्णन बड़ी सरस पद्धति से किया गया है।

> छके छकाये छैल ये छके छबीले रूप।
> छिन में छन सों छजनि पर छाजत भये अनूप॥

रहस्यलता में राधा की सखियों का विस्तारपूर्वक वर्णन उनके कार्यों का निर्देश करते हुए किया गया है। चित्रा, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी, सुदेवी, चम्पकलता, ललिता और विशाखा नाम से जिन अष्ट सखियों का उल्लेख माधुर्यभक्ति के सम्प्रदायों में मिलता है, वही इस लता में हैं। 'आनन्दलता' में वस्त्राभूषण आदि का वर्णन है। 'हुलास लता' में वन-भ्रमण और वन-विहार का वर्णन है। 'बाललता' सौन्दर्य-वर्णन के उद्देश्य से लिखी गई है किन्तु इसमें नखशिख को ग्रहण न करके विशेष रूप से अँगुलियों का ही वर्णन मिलता है। प्रत्येक अँगुली के चिह्नों का भी संकेत और अर्थ कहा गया है। 'सुवा मैना चरित्र लता' एक परिहास वार्ता है जिसमें राधा और कृष्ण अपने सुआ-मैना को बदल लेते हैं। तोता-मैना का संवाद होता है और वे अपने-अपने स्वामी का यशोगान करते हैं। रसकदम्ब चूड़ामणि सिद्धान्त प्रतिपादन के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें ऐकान्तिक माधुर्य नहीं है। वर्णन की सरणि भी पौराणिक अधिक है। विषय को परिभाषात्मक शैली में वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है। काव्य का सहज धर्म रस और आनन्द इसमें नहीं है।

रसिकदासजी की वाणी में नवीनता न होने पर भी विषय को व्यवस्थित करने की

सौन्दर्य-लता

केश—

कुटिल लंब कल चीकने घने मिही महकान।
बार बार वर देत प्रिय बार बार निज प्रान॥
प्रति छबीलो स्वच्छ रचि वृक्ष लिलार लसाइ।
पियमन पक्षी लक्ष्यगति विहरत हित मड़राय॥
बिन्दु विविधि छवि वृन्द लै निदतु इंदुनि कोटि।
नौतन नहिं वेइ कला नाम कलानिधि प्रोटि॥
कहा अनंगी-धनुष सम भ्रूभंगी नव बाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगी लाल॥
नासा स्वास्त सौरभनि मनि मुक्ता अदोल।
मनो हास अनुराग की शोभा चढ़ी हिंडोल॥
कवि दाड़िम, दामिनि मनै कुंद, हीर सुर स्वांति।
फल प्रसन्न के बीज ये कहैं ललन दृग पांति॥
प्राहि मैन खरसान ये कुंडल कहौं न बैन।
तीक्षन अनियारे भये जिन सौ लगि लगि नैन॥
कंठ रेख नहि देखि दुति प्रेम प्रतिज्ञा तीन।
लालन को हनसी करे मन क्रम, वचन अधीन॥
चित्र विचित्र सु तरु लता उर गिरि गह्वर चारु।
हरि मन कर विहरत फिरत मत्त मदांध निहारु॥
नाभि सरोवर रूप जल मधुमादिक अधिकाय।
मन मतंग नव रंग पिय क्रीड़त नाना भाय॥
कटि केहरि श्री कुंवरि की तवही गई लखाइ।
लाल सु चाल गयंद के घर सल परत न पाय॥
कल कुंदन हीरनि जलज श्रुति कुंडल झलकानि।
मनहुं कुंवरि कीरति लसत अपनी छबिन कलानि॥
कंचन मनि नूपुर चरन रव नव नव सुर वैन।
मनु सावक कल हंस के कहैं कमल जस बैन॥
मृदुता कलता अरुनता उज्ज्वलता बहु भीर।
देखनि गई न बाहरो एडी स्याम सुतीर॥

माधुर्य-लता

माधुर्य सु वैभव को लता जुता विहार विलास।
विविधि छविन फल फूल दल राजत आनंद रासि॥
हरित दलनि पाता झलक नाम लाल सम जोइ।
पीत हेम हरताल दुति जुत छबि अगनित होइ॥

प्रमथि। मद मारा कोक कुशला न पारा।
ललित सुसित हारा। माधुरी मधुर सारा॥

धृति छंद—

वट तट खेलत कटि तट बांधे जंघा फंके दंडे।
सरपट चढ़ियो झटपट धावें लाते बहु दडे॥
नटचट लाघव ग्रटपट ताकें स्वेदा भाषों गडे।
डट खट कूदन भट घट रोवयो छीवा दाई मंडे॥

आकृति—

मंजु सुभाव निकुंज में आवनि रस उत्सव वर छावनि से।
नैन नचावनि सैन जनावनि विहँसि सुख सुख चावनि से॥
सेजहि पावनि के मन भावनि कोकनि रस उपजावनि से।
हियो सिवा रावनि प्रेम बढ़ावनि गावनि गुनवर भावनि से॥

विकृति—

चंद से कुंदज, सूर से अंबुज, कंबु कै नागपं काव्य जेजो कयां।
खंजनं कुंजरं कंजयो कोकिलं कीर सौ केलियं विविधोर्जोमदं॥
कुन्दनं सुन्दरं दामिनी जो प्रभं मेघदो मानिकं आदि दै ये सदं।
चन्दनं मन्दिरं राधिकावल्लभं ध्यापते मानसं प्रेम नामे कदं॥

कुंडलियां—

दीन अकेलो लुटति हौं हे वृन्दावन चन्द।
वटपारी पीछे फिरें डारत अपनो फन्द॥
डारत अपनो फन्द मनोरथ वन में देहों।
सर्वस सुमिरन पूंजि तहां हीमन को करहौं॥
तुच्छ हीन बेहाल दरद हमको नहिं आवै।
तुम्हरे बिन को आइ कहो प्रभु यहां बचावै॥
भक्तिराज मारग भले निपहैं सब स्वच्छन्द।
दीन अकेलो लुटति हौं हे वृन्दावन चन्द॥
स्वांग प्रभू नीको बन्यो भीतर भरी भगार।
भद्र वेष माला तिलक दर्पन देखि सिंगार॥
दर्पन देखि सिंगार सबै सत कारज सरहीं।
कामादिक विषे त्रास ग्रास हमको ये दहहीं॥
रंचक सुमिरन ध्यान महातम बहुतक चाहें।
कैसे कै सल परै भक्ति निहिकाम कहाँ है॥

भूषन बसन चारुलाल लाडिली सिंगार,
कृष्नागर गंधसार प्राय कर लगाइ हैं।
लै ऐहों कटोरी हाथ बारबार लेहि नाथ,
भागही सों उझरि छींट प्र ग मो पराहि हैं॥
सौरभ सुगंध मोद भांति भांति के विनोद,
प्र'गनि प्रनग केलि रंग सर साद हैं।
'रसिकदास' सुखरासि वारिधि विलास दोऊ,
सींचि सींचि नैन हिय मेरे सिमराइ हैं॥

सवैया—

छिन ही छिन प्रेम दसा प्रिय की नव प्र'ग तरंगिन रूप प्रिया।
तितने ही उपाइ प्रपार बिलच्छन राजत है सु छबीली त्रिया॥
चेतत चेत प्रचेत ह्वं जात सुनावत बात बिसारि हिया।
प्रेम को नेम लड़ावत छेम निछावर होत प्रभूत श्रिया॥
सुमिरें कल सील सुभाव सुभाव सनेह भरी प्रवलोकन कों।
मृदु माधुरी मोद विलास विनोद विनोदनकी रति भौंकन कों॥
लटके रस रूप छमे गहि थामि दोऊ करके कर रोकनिकों।
सुख प्रेम के नेम कहूँ रस लोचत सोचति है पिय कोकनि को॥
प्रानंद निधे प्रनुराग निधे प्रति रंग निधे मन जाप जपें।
लावण्य निधे कारुण्य निधे तारुण्य निधे तन ताप तपें॥
सौगंध निधे सौभाग निधे कल केलि निधे गननापन पें।
वर प्रेम निधे रस नेम निधे विवि प्रच्छर छेरछ छाप छपें॥
कंचन को मनि को धन को बन धातुन को धनि को गहनो।
कै दलको फलको जलको जल जातनि पातनि कोलहनो॥
लाड़न को लड़कावनि कानि को लाड़ लड़ावन को गहनो।
प्रेम के नेम लिये पहिरावत भावति है छबि में रहनो॥

विनोद-लता

चौपाई—

बलि बलि श्रीहरिवंश गुसाईं। गुन निधि कुँवरि कृपानिधि गाईं।
धाम विनोद बिहार विलासी। प्रद्भुत केलि बेलि परकासी॥
कह्यो धन रम्य सुगम्य कृपावल, कुँवरि प्रसप्रारन्य दरसफल।
निर्मिति विद्रुम विविधि फटिकमनि। नव कर्पूर पराग रह्यो बनि॥
चंपक बकुल केतरी लता। बिकसी ससी मालती जुता॥
छके छकाये छैल ये छके छबीले रूप।
छिन में छल सों छरनि पर छाजत भये प्रनूप॥

रत्नलता मुक्तालता लता विद्रुम कंचन बेलि।
कुसुम लता एला लता लता सदन रचि केलि॥
को सरवेसर की रही छबि-सर लागत नेज।
बेधत मोहन मन मृगहिं समर खेत सुठि सेज॥
इन्द्रकला इन्द्रावती इन्द्रानी इन्द्राति।
इन्द्रमती इन्द्रामुहा इन्दुमती बरवालि॥
रस सागर में जे परे मगन अगाध अपार।
'रसिकदास' रस सिंधु भजि तजि व सिन्धु संसार॥

सौभाग्य-लता

कवित—

कस्तूरी अगरसार कास्मीर घनसार,
कंज के पराग राग सौरभ मिलाइकें।
बेलो चंबेलो चारु मल्ली गुलाब गंध सार,
प्रकृति अनुसार आलि देहें रलाइकें।
उबटौगी प्रिये नहाइ शोध हौं सु अंग लाइ,
कान्ति को विलोकि कहुँ उपमा पलाइकें।
रूप को अनूप भांति हेरे प्रिय ललचति,
अपने मुख मंडन को आगे लिलाइकें॥
वृन्दावन कुंज भूमि सोभा समूह भूमि,
मृदु मनि मूरत कलवन तरसात है।
सिखि मुख चद अरबिंद के प्रसून कन,
तिन पर रहे बनि घन झलकात है।
कहूँ प्यारी पग रचे पिय जावक सह,
रंगनि सुरंग मिलि रंग बरसात है।
बदन विमान हासी कोमि हैं सु कहि,
हासी, हौस को [illegible] को मन ललचात है॥
प्रेम के विमान मांझ भूमि माहि और मांझ,
मोहु मचे है संचार [illegible] परिपूर।
कहूँ और कोरा कहूँ चंपा रंग राचे पूरे,
मुक्ता के हार रहे लिपट पर कपूर।
[illegible] किंकिनी कुरी कुरी [illegible],
हरी भरी [illegible] [illegible] सन्तूर।
[illegible]
[illegible]॥

वायु श्रायु बाढ़्यो सखी श्राइ श्राइ सुख दैन ।
धाइ धाइ तितही चले चाइ चाइ चख नैन ।।
वन विभूति भूषित तनहिं, भौंह भूमि लखि जाय ।
बैठ्यो श्रासन मारिकैं, श्रासन को ठहराय ।।
रोचन दे लोचन लये, सोच सोच मन मांहि ।
जोग बनो जोग न बनों जु गये लोचन चाहि ।।
श्रलप भावि ढिग तलप रमि जलप सुलभ पहिचान ।
कलप कलप मन कलपता, कलपत पूजो श्रान ।।

रहस्य-लता

रूप सार रस सार निधि प्रेम सार को सार ।
ऐसी रचि वृन्दा विपिन, तामें करत विहार ।।
सुगंध पनारी सभारि कियारि, परागनि पूरि महा छवि छाजै ।
बनी फुलवारिन नारंग वारि, दिखें रिझवारि सभा सब राजै ।।
मनीनिकी पांति पना श्रति कांति बँधी रचि शांति सची साचि साजै ।
छुटै फारंज करै मन रंज सखी जन पुंज समूह सु भ्राजै ।।
जल सुगंध श्ररु माधुरी राखै रुचिर बनाइ ।
श्रति सनेह रस सौं पगी धावत बहुत मल्हाइ ।
राग रागिनी तानजुत सबै श्रंग परवीन ।
ताके रस में जुगलवर भइ जात रसलीन ।।
हाव भाव बस करनके तामें श्रधिक प्रवीन ।
सावधान सब चातुरी, राखत पिय श्राधीन ।।
भूषन सेवा प्रीति सौं करै श्रधिक हित लाय ।
भावति भामिनि स्याम को, धन्य धन्य सो भाय ।।
कवरी सुघर संभारई, सोछे मेलि श्रनूप ।
उपमा ताको को कहै बनै जु ऐसो रूप ।।
निपुन रसोई करन विधि श्रधिक विपुनता श्राइ ।
कैसें के कहिजात है, रसना एक बनाइ ।।
ललिता पान डिबा लिये (प्यारसौं) प्रानप्रिया कों देत ।
मान करावत मान है, रस सिंगार के हेत ।
(विशाखा) वसन सुधारन चातुरी सौंध सुघर बनाइ ।
तत्पर सेवा में श्रधिक मूरति हित की श्राइ ।
प्रकट टहल यह सबनिकी हेत कह्यौ सुनि लेहु ।
भावक प्यारे भाव सों मन कौ यों सचु देहु ।।

विलास-लता

कहा कहौ कोविद सखी कोक कलनि निप्रनाइ।
पीवत जीवित इसीरस बारंबार लड़ाइ॥

सुखसार-लता

चौपाई—

उडमंडल सहचरि जन वृन्दा। मंडित मंडल बिबि वन चन्दा।
अवलंबे आलंबन रहें। महा सिंगार सार रस लहें॥
विविधि विनोदन मोद बढ़ावें। तिनके प्रेम कहें क्यों आवें।
नित प्रति प्रीति रीति दुलरावें। हितचिंतक अति हित दरसावें॥
थल क्रीड़ाश्रम उपसमन जलक्रीड़ा सुख देत।
जलक्रीड़ा श्रम समन थल क्रीड़ा रसहेत॥
परसनि सरसनि अंक की हुलसति हिय दुहुँ ओर।
नैन बैन अङ्ग माधुरी लये चित्त वित चोर॥

अद्भुत-लता

सहज सु वृन्दा विपिन विराजै। अद्भुत भाँति-भाँति छवि राजै।
तरुतोरन जमुना के शोभा। प्रफुलित फलनि लहलहो गोभा।
कुसुम गुच्छ नौतन मंजरी। शोभित पंकति भँवर गुंजरी।
मूल नील तरु कंचन वेली। घन विछुत जनौ घर पर केली॥
जटित जराइ अवनि सुखकारी। जल थल विकसित पुष्प महारी।
मोर मृगी कल हंस सुहाये। रहन संग भय कुँवरि लड़ाये॥
बढ़यौ सिंधु अति प्रेम को आनन्द कह्यौ न जाय।
ऊलभ लाभ वल्लभ लह्यो, वल्लभा कंठ लगाइ॥
विलसत विविध बिलास विहारी। या सुख की सखि है अधिकारी।
या अद्भुत लतहि जो उर धारै। सो सुख वृन्दा विपिन निहारै॥
अद्भुतता अद्भुतलता अद्भुत कही न जाय।
रसिकदास अद्भुत हियें झलर चढ़र सरसाय॥

कौतुक-लता

करि प्रनम्य वन रम्य सुहावनि। गम्य अगम्य कृपावस पावनि।
जमुना नीरहि नीरज सोभा। नौतन नूतन मंजरि गोभा॥
कीरनि भौरनि कोकिल गावैं। मोर चकोर फिरैं सँग चोवैं।
लतालता पर फूलनि फूली। रचना रचित उचित अनुकूली॥
मधुरितु मधुकर मत्त तहाँ मुदित मनोज अवास।
मुकलित महँकत विविधि रंग रह्यो प्रकास प्रकास॥

तहां मंडलाकार कहि श्रीमद दस अवतार ।
कहें वहां श्रीमत्सजी कूरमजी उच्चार ॥
चारिन श्रोरन चारि फल कहे सरोवर भव्य ।
महिता महत प्रताप तिन कह्यौ अपूरब दिव्य ॥
नाना वन सौरभ रुचिर नाना छवि उल्लास ।
कह्यो रास रस पीठि अरु अद्भुत रास बिलास ॥
रूप छकी अटकी रहें बरनें भाव अनन्त ।
कमल कोष संज्ञा वहां कहि आये सुनौ सन्त ॥
नाना रूप सिंगार बर नाना छवि उल्लास ।
नाना गुन रस प्रेम कल पूरन आनन्द रास ॥

चाह-लता

विमल कमल कल अरुन तल श्री श्यामलालजीके ।
रेखा रेखा छवि घटानें, परी रसिक जन हेत ॥
जटित सु भूषन पटित छवि घटित कविन बुधि पाइ ।
जुरी गुटी अंगुरी निरखि उपमा हाथ न आइ ॥
इन अङ्गुरिनतें झमझमे एड़िन लों जे चिह्न ।
जिनको ध्यावत महत सब कहत सोई अनभिन्न ॥

सुआ-मैना चरित्रलता

तोषत पोषत हितनु हिय सरस रूप रसखानि ।
केलि कमल मकरंद रह अली नैन अलि जानि ॥
मैना कीर चरित्र यह हित दंपति परिहास ।
सखिन हेतु सुख देन को चोज पुंज सुखरासि ॥
ललित लाड़िली मैना पाली । मन वांछित उच्चरित रसीली ।
ताहि लाल के नाम सिखाये । सुंदर परम विचित्र सुहाये ॥
मधु मंगल सुनि हो अटपटी । सुक पालनकी उर चटपटी ॥
अति सुंदर अति जाति प्रवीना, लावउ परम विचित्र नवीना ॥
परचो दृष्टि इक सुक मन मान्यों । मदन फूंदना विधिना बान्यो ।
कर अंगुरी पर लाल लियो जब, मोह प्रेम रस बरसि परयो तब ॥

रस कदम्ब चूड़ामणि ग्रंथ

राधाकृष्ण किशोर श्री नित्य विहारी नाम ।
श्रीवृन्दावन कथन फल सर्वोपरि निज धाम ॥
परंब्रह्म संपन्नषेपडगुन अंसी मूल ।
इष्टि देवता ग्रन्थ के कही कृपा अनुकूल ॥
परम व्योम सु सुनाथ कहि देव देव बलदेव ।
कारनोंद साई कहे दस अवतारनि भेव ॥
प्रथम आवरन को कह्यो कला हरित बरन आकार ।
ताके चार दुआर कहि पुनि भोगांग उचार ॥
दिव्य स्वर्ग संज्ञा कही अधिकारी मन ओइ ।
भक्ति कर्म मिश्रा करे तिनको प्रापति होइ ॥
अष्ट जु दल ताके कहे सिद्धि निद्धि तहं भाषि ।
द्वितिय आवरन कों कहों अब सुनि मन में राखि ॥
चारों द्वारनि के ऊपर द्वारपाल जुन शक्ति ।
कहें चतुर्भुज चारितहं महा महिम अनुरक्त ॥

'सेवक परिचयावली' में रचनाकाल १८४४ सम्वत् दिया है अतः इसी सम्वत् के आसपास आपकी मृत्यु हुई होगी।

जाति और वंश—हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में आपको ब्राह्मण या गौड़ब्राह्मण लिखा गया है। श्री लाड़सागर की भूमिका में चाचाजी की वाणी में ही ब्राह्मण होने के अस्पष्ट संकेत मिलने का उल्लेख है किन्तु वे स्थल उद्धृत नहीं किये गये जिनसे उनकी जाति पर कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रकाश पड़ता है।[1] व्रज की अनुश्रुतियों में इन्हें कायस्थ भी कहा जाता है और कुछ लोग वैश्य भी बताते हैं। यथार्थ में इन्होंने अपने पूर्व स्वरूप या पूर्वाश्रम की कहीं किसी प्रकार की चर्चा नहीं की है। अतः मनगढ़न्त आधार पर इनकी जाति का निर्णय होता आ रहा है। वंश और परिवार के सम्बन्ध में भी दो मत हैं। कुछ लोग इन्हें शैशव से ही विरक्तसाधु मानते हैं और कुछ विद्वानों के मत में गृहस्थाश्रम छोड़कर इन्होंने वैराग्य लिया था। वैसे इनकी रचनाओं में विरक्त भावना का ही प्राधान्य दृष्टिगत होता है। यदि गृहस्थाश्रम में रहे होते तो उसका कहीं न कहीं आभास अवश्य मिलता। इनकी रचनाओं में न तो कहीं अपने पुत्र-कलत्र आदि का वर्णन है और न अपने निवास-स्थान का ही। विरक्त साधु के रूप में कभी सेवाकुंज में डेरा डालते हैं तो कभी गुरुगृह में वास करते हैं, या फिर साधुमंडली के साथ देशाटन करते हैं। अपने जन्मस्थान या निवासस्थान का कहीं संकेत नहीं देते। लाड़सागर की भूमिका में ग्रन्थ-कर्त्ता का परिचय लिखते हुए उन्हें गृहस्थी बताया गया है और उनके विरक्त होने का सम्वत् १८०१ माना है जो उनकी वाणी के आधार पर प्रमाणित नहीं होता।[2] सम्वत् १७९४ में वे वृन्दावन में थे और इससे पूर्व गोस्वामी हित रूपलालजी से दीक्षा ग्रहण कर चुके थे। इस तथ्य का वर्णन उन्होंने 'श्री हित रूप चरित्र वेलि' में स्वयं किया है। सम्वत् १७९४ में गोस्वामी रूपलालजी की माता श्रीमती कृष्ण कुँवरि अस्वस्थ हुईं और उन्हें वृन्दावन लाया गया।

> सत्रह सै चौरानवे सम्वत् कह्यौ बखानि।
> कृष्ण कुँवरि माता कछू दुखित भयो तन जानि॥
>
> —श्री हित रूप चरित्र वेलि (हस्तलिखित)

इसके आगे उनकी (कृष्ण कुँवरिजी) मृत्यु का वर्णन है। वंशीवट (वृन्दावन) में रहते हुए अपने गुरु गोस्वामी रूपलालजी के चरण चाँपने का भी आपने वर्णन किया है। अतः सम्वत् १७९४ में उन्हें गृहस्थी नहीं माना जा सकता। वे उस समय विरक्त रूप में ही थे।

> पौढ़े रजनी प्रसत रहि प्रति श्रमित भये तन।
> चाँपत चरन नित तहां, दास हितहि वृन्दावन॥

---

१. श्री लाड़सागर (प्रकाशित)—प्रकाशक लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक, भूमिका—पृष्ठ ५।

२. वही — वही पृष्ठ ५।

दशम अध्याय

श्री वृन्दावनदास (चाचाजी)

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त-कवियों में परिमाण की विपुलता और शैली की विविधता की दृष्टि से वाणी का जितना व्यापक विस्तार श्री चाचा वृन्दावनदास का है उतना और किसी का नहीं। हिन्दी साहित्य की भक्ति एवं रीतिकालीन काव्य-परिपाटी का जितनी समग्रता के साथ आपने निर्वाह किया, गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर और कोई कवि नहीं कर सका। राधाकृष्ण की छद्म लीलाओं के वर्णन में तो आपकी समता कोई और कर ही नहीं सकता। सरस्वती का दिव्य वरदान लेकर आप अवतीर्ण हुए थे इसीलिए काव्यमयी वाणी का अजस्र निर्झर आपके कंठ से आजीवन सतत प्रवाहित होता रहा।

जन्म-संवत् —श्री वृन्दावनदासजी के जन्म-सम्वत् का अभी तक प्रामाणिक रूप से निर्णय नहीं हो सका है। मिश्रबन्धु विनोद, ब्रजमाधुरी सार और पं० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका जन्म-सम्वत् १७६५ दिया गया है। श्री लाड़सागर (प्रकाशित) की भूमिका में चाचा वृन्दावनदास की वाणी के आधार पर जन्म-सम्वत् १७४४ के आसपास लिखा है किन्तु वाणी का कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।[1] इनकी सबसे पहली रचना जिसमें लेखनकाल के सम्वत् का उल्लेख है अष्टयाम (समय प्रबंध) है। इसका रचनाकाल १८०० सम्वत् कार्तिक शुक्ला एकादशी है। सम्भव है इससे पूर्व भी आपने कोई ग्रन्थ लिखा हो किन्तु हमें अपनी शोध में प्राप्त ग्रंथों में इससे पहले के किसी ग्रन्थ का पता नहीं मिला। यदि इस ग्रंथ को ही प्रथम माना जाय तो जन्म-सम्वत् के लिए मिश्रबन्धुओं का अनुमान ठीक प्रतीत होता है। आनुमानिक आधार पर सम्वत् १७५० से १७६५ के बीच में ही इनका जन्म हुआ होगा। 'सेवक परिचयावली' आपकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है क्योंकि उसके बाद 'रसिक परिचयावली' अपूर्ण है जिसे समाप्त करने के पूर्व ही आपका निधन हो गया।

---

१. श्री लाड़सागर (प्रकाशित)—प्रकाशक लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक, भूमिका—पृष्ठ ४।

सोरठा—

बरसानैं कियो वास, लीला निज थापी उहाँ
अब ह्याँ कियो प्रकास, वृन्दावन वपु धारिकैं ॥

कवित्त

श्रीवृन्दावनदास जू की हृदय निकुंज मांझ
निसिदिन स्यामा स्याम खेलत रहत हैं ॥
तिनही कौं लखिगात पुलकात हरषात
रस में विरस ह्वै कें प्रेम सौं कहत हैं ॥
सुद्ध ब्रजबासी सुख रासी हैं उपासी गाढ़े
दंपति प्रकासी केलि दासी है गहत हैं ॥
रूप श्री किशोरी कौसी हित सौं रसिक देखें
दासि बन वास आस 'चंद' उमहत हैं ॥

खुस्याल कवीस्वर कृत छप्पय—

बानी रचना रुचिर चारु पद प्रचुर रस भरि ।
स्वास वृथा नहिं जात मनों लागी सावन झरि ॥
ब्रज घन कुंजनि केलि लाल ललना हुलरावत ।
रसिक जननि मन तोषि-पोषि हिय सबनि सिरावत ॥
कहँ कहालौं दासमति सुलभ राज गुन रवि उदित ।
रूपलाल रस मद छके श्री वृन्दावन चाचा विदित ॥

छप्पय—व्यास हरिलालजी कृत—

अति अगाध गुन ललित गिरा लहरी ज्यौं उमड़ै ।
रोको नाहिन रुकत प्रबल नातो हिय घुमड़ै ॥
गदगद सुर विह्वल विलास जुग रति चित रूंधे ।
बाँको जिनकी कहनि रहनि दरसत अति सूधे ॥
हित रूप छाप परचे विदित सुप्रगटे श्री वृदावन विजय ।
दंपति रस वारिद सिंधु सम श्री हित वृंदावनदास जय ।

छप्पय—हीरादास जी कृत—

श्रीहित वृन्दावनदास भूरि भागे अति जिनको ।
श्री व्यासनंदपद प्रीति रीति अद्भुत गति तिनकी ॥
ब्रज निकुंज रस अवह कह्यौ सुनि मुसकति दंपति ।
सखा सख बानी रचि दुलरावे राधापति ॥

श्री वृन्दावनदासजी के वृन्दावन वास का यह सर्वप्रथम संकेत उनकी रचना द्वारा ही मिलता है। यह भी निर्णय नहीं है कि वे वृन्दावन में कहीं बाहर से आ कर रहे थे या जन्म से ही ब्रजवासी थे। उनके ब्रज प्रदेश का होना तो निश्चित है क्योंकि उनकी रचना में जो ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है वह बोलचाल की ग्रामीण भाषा की पदावली प्रधान है। ब्रज प्रदेश में तीन-चार तरह की बोलियां आज भी प्रचलित हैं। विशेषत: वृन्दावन और मथुरा के ब्राह्मण तथा वैश्य परिवारों की भाषा ग्रामों के ठाकुर तथा अन्य जातियों की भाषा से कुछ भिन्न है। चाचा वृन्दावनदास ने ब्रज के ग्रामों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को अपनी वाणी में प्रचुर परिमाण में स्थान दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपका निवासस्थान पुष्कर क्षेत्र लिखा है।[1] 'भार्तपत्रिका' में आपके कृष्णगढ़ से पुष्कर जाने का उल्लेख तो है किन्तु पुष्कर को अपना जन्मस्थान या निवासस्थान कहीं नहीं लिखा। कृष्णगढ़ नरेश बहादुरसिंहजी के पास इनका रहना तो रचनाओं से सिद्ध होता है किन्तु शैशवावस्था या युवावस्था में उनके पास रहने का कोई संकेत नहीं है। चाचाजी ने अपनी अनेक रचनाओं में ऐसे संकेत दिये हैं जिनके आधार पर इनके जीवन के उत्तरार्द्ध का ब्यौरेवार विवरण संकलित हो जाता है किन्तु अपने जीवन के पूर्वार्द्ध के विषय में उन्होंने कहीं कुछ नहीं लिखा। इसी कारण प्रामाणिक रूप से प्रारम्भिक इतिवृत्त प्रस्तुत करना कठिन है। तत्कालीन श्री हीरादासजी कृत छप्पय की छाया ग्रहण कर श्री गोविन्दअली ने अपनी वाणी में चाचाजी के सम्बन्ध में एक छप्पय लिखा है।

> 'वृन्दावन' बस विपिन दूर आलय अति मन को।
> व्यासनन्द पद प्रीति रीति अद्भुत गति जिन की॥
> अति अगाध वाणी विमल सुनि दम्पति मुसकात।
> ब्रज निकुंज अरु अकह रस भनै सकल विख्यात॥
> और बहुत अवतार कथ निज चित सार विहार।
> अटल छाप चाचा दई श्री हित रूप उदार॥

—गोविन्दअली की वाणी (हस्तलिखित प्रति) प्रतिकाल—सम्वत् १८४४।

गोस्वामी चन्दलालजी, खुस्याल कवीश्वर, हरिलाल व्यास तथा हीरादास जी ने चाचाजी के सम्बन्ध में छप्पय आदि लिखे हैं उनमें से प्रासंगिक पदों को हम पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

अथ श्री वृन्दावनदास जी के स्वरूप को बरनन।
श्रीगोस्वामी चंदलाल जी कृत कतिपय पद—

दोहा—

> प्रगट नागरीदास कौ वपु श्री वृन्दावनदास।
> बरसाने कौ रस सरस बरनौं सहित हुलास॥१॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ १८८।

वृन्दावन छाप से भी आपने अनेक पद लिखे हैं अतः उनके सम्बन्ध में किसी अन्य की रचना होने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

रचनाओं के आधार पर जीवन-वृत्त

चाचा वृन्दावनदासजी ने सम्वत् १७६५ के आसपास काव्य रचना करना प्रारम्भ किया होगा। इनकी सम्वत् उल्लेख सहित रचना १८०० की मिलती है किन्तु उससे पहले आप वृन्दावन आ चुके थे और दीक्षा लेकर सेवाकुंज आदि पुण्यस्थलो में समययापन करते थे अतः यह अनुमान करना ठीक ही है कि तभी से पदगायन भी प्रारम्भ कर दिया होगा। ऐसा कहा जाता है कि चाचाजी स्वयं लिखते नही थे, उनके साथ हमेशा एक लेखिया (लिपिक) रहता था। लेखिया केलिदास का नाम अनेक रचनाओ में लिखा मिलता है। सबसे पहली लिखित रचना, अष्टयाम (समय प्रबन्ध) में भी केलिदास का नाम है। अतः यही कहा जा सकता है कि केलिदास के सम्पर्क होने से पूर्व की आपकी रचनाओ का लिखित रूप नही रहा और वे आज उपलब्ध नहीं होती।

संवत् १८०० से संवत् १८११ तक की आपकी जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें आपके वृन्दावन-निवास का स्पष्ट उल्लेख है अतः यह कहा जा सकता है कि इन बारह वर्षों में वृन्दावन में रहकर ही आपने पद-रचना की। संवत् १८१२ में 'श्री हित हरिवंश सहस्र नाम' लिखा। इस ग्रंथ में हितजी के अनेक प्रमुख शिष्यों का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश है। व्यासजी को भी स्पष्ट शब्दों में शिष्य माना है—'नमामि श्री हरिवंश व्यास उर संसय छेदन।'

संवत् १८१३ में आपने 'हरिकलावेलि' लिखना प्रारम्भ किया। इसमें यवनो के ब्रज प्रदेश पर आक्रमणों का वर्णन है। ये आक्रमण अहमदशाह अब्दाली और उसके सरदारों ने ईस्वी सन् १७५७ में किये थे। इनका विस्तृत विवरण इतिहास में मिलता है। ब्रज में अब्दाली के प्रवेश और लूटपाट का वर्णन इस प्रकार है:—

'२२ फर्वरी सन् १७५७ को अब्दाली दिल्ली से दक्षिण चलकर ब्रज में घुसा। + + उसका एक सरदार जहानखाँ मथुरा से चलकर वृन्दावन गया और वहाँ वैष्णवो की बड़ी संख्या में हत्याएँ की। उपर्युक्त प्रत्यक्षदर्शी ने अपनी डायरी में लिखा है कि 'जिधर नजर जाती मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई पड़ते थे। सड़कों से निकलना तक मुश्किल हो गया था। लाशों की ऐसी विकट दुर्गन्ध आती थी कि सांस लेना दूभर हो गया था। + +। १५ मार्च को अहमदशाह अब्दाली स्वयं मथुरा पहुँचा। + +। रास्ते में वृन्दावन को चार दिन तक पुनः लूटा-फूँका गया, मथुरा वृन्दावन आदि स्थानों में अब्दाली को लूट में लगभग १२ करोड़ रुपये की धनराशि प्राप्त हुई जिसे वह तीस हजार घोड़ों, खच्चरों और ऊँटों पर लाद कर ले गया।'[1]

चाचाजी ने 'हरिकलावेली' में यवनों के उत्पात का वर्णन करते हुये उन प्रमुख

१—'ब्रज का इतिहास'—ले० कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ १८७–१८६।

औरौ बहु अवतार कवि निज चित्त सु विपिन विहार रवि।
यह अटल छाप चाचा दई गुरु श्री हित रूप उदार सुवि॥

प्रमाण:—

छप्पय—चाचा जी के लिपिक श्री केलिदास के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र कुछ लिखे मिलते हैं—

लघु वय ही में मोह त्याग वृन्दावन परसे।
श्रीवृन्दावनदास्य पाइ रस भावक सरसे॥
गुरु पद भक्ति गरिष्ठ प्रवत हियमिष्ट सु बोलैं।
बानी लिखत अखंड निरालस सोस न डोलैं।
काम क्रोध मद रिपु प्रबल पै न छिद्र पावैं जु कोउ।
महामीन या सिंधु के केलिदास सम नाहिन कोउ॥

छप्पय—हीरादासजी कृत—

चाचाजी को हाथ सदा माथे पै सोहै।
भली भाँति सोरहनि कहनि सबको मन मोहै॥
भजन भाव हित रीति प्रीति सों करत निरंतर।
गुरुग्रंथन की लालसै जिनके उर अंतर॥
भाव चाव निज गुरुन की बानी लिख रसिकनि सुख दियौ।
श्रीगुरु आज्ञा पाइक निपुन केलिदास सम को बियौ।

श्री नाम सेवा में लिखी स्वरचित—

श्रीराधावल्लभ श्रीहरिवंश। गुरुहित रूप जगत परसंश॥
हित वृन्दावन तिनको भृत्य। बानी सदा लखय तिन कृत्य॥
केलिदास पुस्तक लिख हाथ। ओरी पद सेवें रहि साथ॥७॥

दोहा—

श्रीराधाकृष्णकृपाजलद श्रवत रहत रसधार।
वृन्दावन हित सिंधु हिय भरत करत उधार॥१॥

छाप या उपनाम

श्री वृन्दावनदासजी के नाम के साथ 'चाचा' शब्द का प्रयोग कुछ विस्मयजनक अवश्य प्रतीत होता है किन्तु यह संज्ञा गोस्वामी-परिवार की ओर से इन्हें प्रदान की गई थी। तत्कालीन गोस्वामीजी के पिता के गुरु-भ्राता होने के कारण गोस्वामीजी की देखा-देखी लोग इन्हें चाचाजी कहने लगे और शनैः-शनैः आप इसी उपनाम से प्रसिद्ध हो गए। अपनी वाणी में आपने अपनी छाप में अपने नाम के साथ अपने गुरु श्री रूपलालजी का भी नाम जोड़ लिया था। इस प्रकार आपकी तीन छाप मिलती हैं : वृन्दावन हित रूप, वृन्दावन हित, और केवल वृन्दावन। प्रथम दो छाप तो स्पष्टतः राधावल्लभीय मर्यादा पर हैं। केवल

तक के समय में आप ब्रज छोड़कर यवनों के उत्पात की आशंका से कृष्णगढ़ चले गये। यवनों का यह दूसरा आक्रमण नजफखां का है।[1] पहले जाटों और मुगलों के बीच बरसाना में युद्ध हुआ। समरू जाट ने सेना का नेतृत्व किया किन्तु अन्त में नजफखां ही विजयी हुआ। इस हमले के साथ ही ब्रजभूमि की सामूहिक शान्ति भंग हो गई और चारों ओर उत्पात के लक्षण दीखने लगे। तभी चाचाजी वृन्दावन छोड़कर कृष्णगढ़ चले गये। 'श्रीकृष्ण विवाह वेली' में इस यवन-उत्पात का सविस्तर वर्णन मिलता है—

जमन कछू संका दई, ब्रज जन भये उदास।
ता समये चलि तहाँ ते कियौ कृष्णगढ़ वास॥
नृपनि बहादुरसिंह सुत, वृद्धि सिंह तिन नाम।
सादर लाये संग करि, दीनौ पुर विश्राम॥
अठारह सौ इकतीसवों, वर्ष भयौ परवेस।
वदि वैसाखी सप्तमी, रविवासर जु सु देस॥
केलिदास निरमल सुमति, अक्षर अर्थ विचारि।
कृपा सन्त गुरु पाइकें, करवर लिखौं सुधारि॥

'आर्तपत्रिका' में भी यवनों के आक्रमण का वर्णन चाचाजी ने बडी मार्मिक भाषा में किया है—संवत् १८१४ से सम्वत् १८३२ तक ब्रज पर बार-बार आक्रमण होते रहे फलतः बीस वर्ष तक ब्रज में सुख-शान्ति का वातावरण स्थिर नहीं हो सका—

जमन की जम की जातना भुगताई इह देह।
अब अपने अपनाई देहु, वास रावरे गेह॥
कांपत कपिला गाय ज्यों कहत भरतहों लाज।
कलि केहरि तें अब करौ रच्छा सुत ब्रजराज॥
अजू बरस दस बीसते खुले विपति भंडार।
या ब्रज गरुवे सुजनि को विदित दुरी हटतार॥

'कृष्ण विवाह वेली' में करुणा के पद गाये गये हैं। इनमें से केवल ६ पद उपलब्ध हो सके हैं जिन्हें देखकर भक्त की अन्तर्भावना का पता चल सकता है। भक्त सब प्रकार के अन्याय और अत्याचारों को सहन करता हुआ भगवान् की ही शरण में रहना चाहता है। वह यह अनुभव करता है कि जो दुख, कष्ट, वेदना उसे भोगनी पड़ रही है वह कर्मफल के कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाचाजी को यवनों के उपद्रव काल में जीवन-यात्रा के साधन भी उपलब्ध नहीं हुये थे और उन्हें प्राण-रक्षा के लिए बहुत ही कष्टसाध्य उपायों का आश्रय लेना पड़ा था। निम्नांकित पद में यह भाव बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ।

प्रभु इच्छा आँधी चली।
लै तिनुका ज्यों उड़ाय स्वामी माया बली।

---

१. ब्रज का इतिहास—ले० कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ १६६।

व्यक्तियों का नाम निर्देश भी किया है जो इस आक्रमण में वध किये गये। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध मर्मी कवि घनानन्द का भी इसी आक्रमण के समय वध हुआ था। कुछ प्रमुख व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं :—

गोस्वामी मुकुन्दलालजी (गो० रूपलालजी के अग्रज) बाबा प्रेमदासजी (चतुरासी के सुप्रसिद्ध टीकाकार), कृष्णदासजी भावक, जादौदासजी (मीराबाई के शिष्य) घनानन्द (शाहआलम के मीर मुंशी) जुगलदास (अवधूत साधु) पुजारी कृष्णदास और भगवानदासजी आदि।

'हरिकलावेलि' का रचनाकाल पाँच वर्ष का लम्बा समय है। ब्रज पर यवनों का आक्रमण होते ही चाचाजी यहाँ से भरतपुर चले गये। उस समय भरतपुर की गद्दी पर राजा सुजानसिंह थे। वहीं रहकर आपने यह पुस्तक सम्पूर्ण की। इसका रचनाकाल संवत् १८१३ से १८१७ तक है। प्रारम्भ करने का समय इस प्रकार दिया है :—

'अठारह सौ तेरह बरस हरि यहि करी। जमन बिगोयो देस बिपति गाढ़ी परी।' सम्पूर्ण रचना तीन कलाओं में विभक्त है। प्रथम कला में औरंगजेब के काल में जब वृन्दावन पर आक्रमण हुआ था उसका वर्णन है। यह चाचाजी के जन्म से पूर्व की घटना है किन्तु यवनों के आक्रमण से सम्बद्ध है तथा राधावल्लभ जी के लाल मन्दिर के टूटने से भी इसका सम्बन्ध है अतः चाचाजी ने इसका भी वर्णन किया है। दूसरी कला में अपने समय में अब्दाली के आक्रमणों का वर्णन किया है। यवनों का यह उत्पात तीन-चार वर्ष तक किसी न किसी रूप में ब्रज की जनता को पीड़ित करता रहा था। तीसरी कला में भविष्य का संकेत किया है। इस प्रकार यह हरिकला वेलि चाचाजी के जीवन-वृत्त के साथ ब्रज का भी वृत्त अपने अन्तर में समेटे हुए है।

सम्वत् १८१७ में डीग (भरतपुर) में थे, कलावेलि में इसका वर्णन है। इसी सम्वत् में 'जमुना प्रताप वेली' लिखी। फाल्गुन मास में वहाँ से कुशस्थली (कोसी) गये और वहाँ रहकर 'श्री वृषभानु-नन्दिनी नन्दनन्दन ब्याह-वेली' की रचना की।

सम्वत् १८१८ में आपने 'राधाजन्मोत्सव वेली' पूर्ण की। इस वेली का लिखना आपने सम्वत् १८१२ में प्रारम्भ किया था किन्तु बाद में यवनों के उत्पात के कारण छोड़ दिया था।

सम्वत् १८२० में चैत्र मास में वृन्दावन में रहकर 'हित रूप चरित्र वेली' काशीराम के मन्दिर में लिखी। उसके बाद फिर घूमते हुए कोसी चले गये। इसी सम्वत् में वहीं 'गिरि पूजन वेली' का प्रणयन किया। सम्वत् १८२१-२२ की रचनाओं के आधार पर कुछ पता नहीं चलता किन्तु यह निश्चय है कि इस समय आप ब्रजमण्डल में ही भ्रमण करते रहे थे।

सम्वत् १८२३ में श्रावण मास में वृन्दावन में थे और यहीं अष्टयाम पट्ट प्रबन्ध लिखा। सम्वत् १८२३ से सम्वत् १८२६ तक लगातार वृन्दावन में ही रहे। विभिन्न रचनाओं में वृन्दावन का ही संकेत दिया है।

सम्वत् १८३० में कामवन में राधावल्लभजी के मन्दिर में रहे। सम्वत् १८३१ से १८३६

'रसिक परिचयावली' है। इस पर सम्वत् १८४४ लिखा है। रसिक परिचयावली अपूर्ण रूप में मिलती है। वृन्दावन में यह सुनने में आया था कि यह रचना पटना में एक वैष्णव के पास पूर्ण आकार में है किन्तु व्यक्ति का नाम तथा पता विदित न होने से उपलब्ध करना संभव नहीं हो सका। अतः १८४४ सम्वत् की रचना को ही अन्तिम मानना ठीक होगा। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उक्त सम्वत् के एक दो वर्ष के भीतर ही चाचाजी ने अपनी इहलोक लीला संवरण की। यदि जन्म १७६० सम्वत् माना जाय तो आपकी आयु ८५ वर्ष के लगभग होती है। यह तो आर्त्तपत्रिका के पदों से स्पष्ट है कि आपको वार्धक्य का कष्ट भोगना पड़ा था और आपने बहुत बड़ी आयु में शरीर त्याग किया था। वार्धक्य और व्रज से बाहर जाने का वर्णन निम्नाङ्कित पदों में बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है—

> इच्छा कहों कि भाग्यफल जिहि कृत पर्‌यो विदेस।
> हियो भयो अति गादरो उज्ज्वल भये जु केस॥
> छिन डूबत उछरत जु छिन प्राण विदा से लेत।
> जा दिन तें सीमा तजी वृन्दाकानन खेत॥
> तन जु भयौ अति दूवरौ मन दूवरौ विराट।
> डगमगाति है नावरी अब लगाइये घाट॥
> जरा ग्रसित यह तन भयौ, लीनो रोग दबाइ।
> यह व्रजभूमि सुमेरु सम, चलौं कौन के पाइ॥

—हस्तलिखित आर्त्तपत्रिका से उद्धृत।

चाचा वृन्दावनदासजी की रचनाएँ

व्रज के भक्ति-सम्प्रदायों में जितने वाणीकार महानुभाव हुए हैं, परिमाण की दृष्टि से चाचा वृन्दावनदासजी की रचनाओं की संख्या सर्वाधिक है। राधावल्लभीय ग्रन्थसूची 'साहित्य रत्नावली' (प्रकाशित) में इनके ग्रन्थों की संख्या १५८ लिखी है। इसमें अष्टयाम, समय प्रबन्ध तथा छोटी-छोटी वेलियाँ भी स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में परिगणित हुई हैं। वैसे सवा लाख पद रचना की बात तो जनसाधारण में इतनी अधिक प्रचलित है कि इस विषय में छानबीन किये बिना सभी इस पर विश्वास करते चले आ रहे हैं। राधावल्लभीय भक्तों के अनुसार तो चार लाख पद-रचना का श्रेय चाचाजी को दिया जाता है। अष्टयाम के सम्बन्ध में ही यह प्रसिद्धि है कि इन्होंने वर्ष के प्रत्येक दिन को दृष्टि में रखकर ३६० अष्टयाम लिखे थे। हमें अपनी शोध में कुल १४ अष्टयाम मिले और अपनी शोध के आधार पर इससे अधिक होने की सम्भावना भी हमें नहीं लगती। जो अष्टयाम हमने देखे हैं उनमें रचनाकाल लिखा है। सम्वत् १८०० से १८३७ तक के समय में इन्हें लिखा गया है। चाचाजी ने स्वयं चौदह अष्टयाम लिखने की बात कही है—

> लीला साँवर गौर की यह सागर बिनु पार।
> चौदह रतन प्रकट भये औरों भरे अपार॥

डूंगरनि में वास दीना छुड़ाई बन थली।
कहाँ वे तरवर विहंगम तीर दिनमनि लली॥
कौन कारन को बिसर ब्रजराजसुत सुनि छली।
यह विचारत रात दिन हिय रहत है कलमली॥
छिमौ अब अपराध भारौ मानि विनती भली।
दरसावौ ब्रजभूमि बंदौ तो पग तली॥
कौन छिन को घरी धनि जब विचरिहौ बन गली।
कबहि रसिक समाज की होइ दृष्टिपथ अवली॥
कंस मागध संग जैसे पृथक ही दल मली।
विघ्न करत निवरिहौ अब अहो प्रनतनि पली॥
कई ऊपर कोस सत राख्यौ जु मति बदली।
देखि प्रभुता डरयौ बुद्धि अधीर ह्वै के अली॥
रच्यौ कौतुक खेल हरि हम भाग महिमा फली।
वाछरू पालक भये कब नीतिमति कुशली॥
पिता कौ यह देस उजरौ ब्रजमही दहली।
वृन्दावन हित रूप मानी स्याम रंग रली॥

—करुणा के फुटकर पद सं० ३।

जैसा कि हमने ऊपर की पंक्तियों में लिखा है कि १८३१ से १८३६ सम्वत् तक चाचाजी को व्रजभूमि से बाहर रहना पड़ा। उनका मन इन दिनों बड़ा ही विक्षुब्ध था किन्तु वे इसी काल में अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'लाड़ सागर' की रचना करने में सफल हुए। लाड़ सागर का रचनाकाल आषाढ़ सुदी एकादशी सम्वत् १८३२ से १८३५ नवमी शुक्ला है। राजा बहादुरसिंह के साथ रहकर कृष्णगढ़ में यह ग्रंथ लिखा गया। सम्वत् १८३३ में एकान्तवास के लिए आप पुष्कर भी गये थे। सम्वत् १८३५ में आपने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आर्त्तपत्रिका' लिखी। इस पत्रिका में व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का बड़े निरपेक्ष भाव से वर्णन किया है। 'आर्त्तपत्रिका' के विषय में हम आपकी रचनाओं के आलोचनात्मक अध्ययन में विस्तार से लिखेंगे। सम्वत् १८३६ में 'युगलस्नेह पत्रिका' की रचना की। सम्वत् १८३७ में वृन्दावन वापस आ गये और अपने गुरुगृह में वास किया। 'कृपा उद्योताष्टक' में इसका वर्णन किया है। गुरुगृह में रहते हुए 'व्रजप्रेमानन्द सागर' लिखना प्रारम्भ किया। सम्वत् १८३८ में अपने गुरुजी के पुत्र गोस्वामी किशोरीलाल जी के यहाँ रहकर व्रजप्रेमानन्द सागर लिखना समाप्त किया। सम्वत् १८३९ में भरतपुर गये और वहीं रहकर प्रहेलिका में 'प्रेम-पहेली' नामक रचना की। १८४० में पुनः वृन्दावन आ गये और गुरुगृह में वास करते हुए 'वृन्दावन प्रेम विलास बेली' तथा 'कृष्ण नामरूप मंगल वेली' नामक दो बेलियां दो दिन में लिखीं। इन बेलियों पर रचना का दिन दिया हुआ है। इसके बाद कहीं बाहर जाने का संकेत रचनाओं के आधार पर हमें नहीं मिला। अतः यही प्रतीत होता है कि १८४० से १८४४ तक वृन्दावन में ही रहकर पद रचना करते रहे। आपकी अन्तिम रचना 'सेवक जस विरदावली' और

की प्रेरणा से लाला जुगलकिशोर काशीराम रोहतक मंडी द्वारा प्रकाशित हुआ है। वृन्दावन दासजी रचित सात सागरों की चर्चा वृन्दावन के राधावल्लभी साधुओं और भक्तों में प्रायः सुनी जाती है किन्तु हमारे देखने में अभी तक केवल दो सागर ही आये हैं : 'लाड़सागर' और 'ब्रजप्रेमानन्द सागर'। ये दोनों विशाल आकार की रचनाएं हैं। ब्रज प्रेमानन्द सागर अभी तक हस्तलिखित रूप में ही है। हम यहाँ इन दोनों की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे। छोटे ग्रन्थों में से जो उपलब्ध हो सके हैं और जिनका साम्प्रदायिक सिद्धांत, साहित्यिक सौष्ठव तथा ऐतिहासिक उल्लेख की दृष्टि से हमें महत्त्व प्रतीत हुआ उनकी भी समालोचना करेंगे। प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त जो पुस्तकें हमने स्वयं देखी हैं और असंदिग्ध रूप से जिन्हें हम चाचाजी कृत मानते हैं उन्हीं का इस प्रसंग में विचार होगा। जो ग्रन्थ प्रयत्न करने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हो सके उनका नामोल्लेख करना ही पर्याप्त है। समीक्षात्मक शैली से उनके विषय में कुछ लिखना उचित नहीं है। ऐसे कुछ ग्रन्थ हमारे देखने में आए जिनके कतिपय पद इधर-उधर छिटके पड़े हैं पर सन्दर्भ-विहीन, मात्र पदों के आधार पर उनका सर्वांगीण मूल्यांकन सम्भव नहीं, अतः हमने उन्हें छोड़ दिया है। फिर भी एक दर्जन छोटे-बड़े ग्रंथों का इस प्रसंग में समीक्षात्मक शैली से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आलोच्य ग्रन्थों की सूची

१—लाड़ सागर (प्रकाशित)
२—व्रज प्रेमानन्द सागर (हस्तलिखित) प्रतिकाल सं० १६४८। श्री ब्रजवल्लभजी मुखिया प्रेमगली, वृन्दावन से प्राप्त।
३—वृन्दावन जस प्रकास वेली।
४—विवेक पत्रिका वेली (प्रकाशित)
५—कलि चरित्र वेली (प्रकाशित)
६—कृपा अभिलाषा वेली (प्रकाशित)
७—रसिक पथ चन्द्रिका (प्रकाशित फुटकर पद संग्रह)
८—जुगल सनेह पत्रिका (प्रकाशित)
९—श्री हित हरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित)
१०—छद्म लीला (रास छद्म विनोद में संकलित) प्रकाशित
११—आर्त्त पत्रिका (हस्तलिखित)
१२—स्फुट पद (प्रकाशित तथा हस्तलिखित)

उपलब्ध ग्रन्थों की कालक्रमानुसार तालिका

इस तालिका में हमने उन्हीं ग्रंथों का नामोल्लेख किया है जिन्हें हमने स्वयं देखा है। इनके अतिरिक्त ८० ग्रंथों की सूचना 'साहित्य रत्नावली' में है किन्तु हमें अभी तक वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में जो ग्रंथ प्राप्त हैं उन्हें भी हमने अपनी उपलब्ध ग्रंथों की सूची में समाविष्ट कर लिया है। छतरपुर, कृष्णगढ़ और भरतपुर में भी कुछ ग्रंथ हैं। प्रायः एक ही ग्रन्थ की तीन-तीन, चार-चार

कहे जु काढ़त कढ़ेंग मित कर सके न कोय।
कृपा इष्ट गुरु की भली तो सावें सु टटोय॥

उक्त पदों में चौदह का उल्लेख होते हुए भी और अधिक होने की बात का भी संकेत है। किन्तु और अधिक अर्थात् ३६० की बात तो सर्वथा असत्य है। केवल १४ ही शेष बचे और सब नष्ट हो गये यह बात न तो तर्काश्रित है और न सम्भव ही।

अब रही चार लाख या सवा लाख पद रचना की बात। श्री राधाचरण गोस्वामी ने चार लाख पद रचना की बात लिखी थी। उन्होंने अपनी बात की पुष्टि में न तो कोई प्रमाण प्रस्तुत किया था और न इस विराट सम्भावना का कोई कारण ही लिखा था। केवल अर्थवाद के आश्रय से प्रशस्ति के लिए चार लाख पद रचना की बात कही गई प्रतीत होती है।[1] सवा लाख पद रचना की बात चाचाजी के लेखिया केलिदास ने 'मन प्रबोध वेली' में कही है। 'मन प्रबोध वेली' सम्वत् १८१३ की रचना है। वेली की तालिका में केलिदास लिखते हैं—

'हित वृन्दावन निजको मुख्य, वाणी सवा लक्ष तिन कृत्य, केलिदास पुस्तक लिखि हाथ, जोरि पद सेवे इहि साथ।'

हमने अपनी शोध में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें ऐसी देखी हैं जिनके आधार पर यह अनुमान तो सहज ही में होता है कि चाचाजी के दैनिक नित्य कर्म में वाणी रचना उसी प्रकार समाविष्ट था जैसे श्री राधावल्लभ लाल की सेवा-पूजा। कभी-कभी रात्रि को भी मन की तरंग आने पर पद गायन कर उठते थे। किम्वदन्ती है कि चाचाजी जब कहीं बाहर घूमने निकलते तब भी लेखिया केलिदास उनके साथ होता और मार्ग में भी चाचाजी पद रचना करते और बोलकर केलिदास को लिखवाते जाते। उनके जीवन का सबसे अधिक आनन्द विधायक कार्य पदरचना ही था। अतः सवा लाख पदरचना की बात अतिशयोक्ति मात्र नहीं हो सकती। हाँ, चार लाख पदरचना का कोई प्रमाण अद्यावधि कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है।

चाचा वृन्दावनदासजी के विशाल साहित्य-सागर की सीमाओं का अभी तक न तो पूर्ण रूप से पता चला है और न आज साहित्य का अवगाहन ही हुआ है। उनकी रचनाओं में से छोटे-छोटे वेलियों का साधु-महात्माओं ने अपने मनोरंजन के लिए प्रकाशन कराया है किन्तु साहित्य-जगत् में प्रचार न होने से उनका मूल्यांकन तो दूर पठन-पाठन भी संभव नहीं हो सका है। बड़ी रचनाओं में 'लाड़सागर' संवत् २०११ में सेठ श्री रतनलाल जैरी वाला

१—वरतमान—राधाचरण गोस्वामी कृत छप्पय—

सरस मधुर अति ललित दिव्य कोमल मन भाँती,
चार लाख ते अधिक रचन जग विस्मय दैनी॥
पद पद भाव अपार सार सज्जन की आली।
परम विरद अति सुरस कर हित की प्रतिपाली॥
श्री कल्याण गुरु कृपा ते हितवाणी हारन बढ़ी।
हित वृन्दावन मधुर रस हित वृन्दावन सौं चढ़ी॥

२१—श्रीकृष्णसगाई-अभिलाष बेली (राधा लाड़सागर में प्रकाशित)	१८१२ फागुन शुक्ला एकादशी (वृन्दावन सेवाकुंज तीरे)	३५० छं०
२२—श्रीकृष्ण प्रति यशुमति शिक्षा बेली	१८१३ चैत्र सुदी दुतिया (वृन्दावन सेवाकुंज तीरे)	१९२ छंद
२३—ज्ञानप्रकाश बेली	१८१३ चैत्र शुक्ला नौमी	८४ छं०
२४—बारह-खड़ी-भजनसार बेली	१८१३ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी	१५२ छं०
२५—हित प्रताप बेली	१८१३ माघो कृष्ण त्रयोदशी	८४ पद ८ दोहे
२६—हरिकला बेली	१८१३	प्रारम्भ
२७—मन प्रबोध बेली	१८१३ श्रावण मास	८७ छंद
२८—अष्टयाम समय प्रबंध	१८१३ माह वदी पंचमी	१५६ छं० [१४९ पद ७ दोहे]
२९—मन चेतावन बारहमासी	१८१७ जेष्ठ शुक्ला तृतीया	१६ छन्द
३०—हरिकला बेली	१८१७ आषाढ़ वदी एकादशी (भरतपुर में)	१९१ छं०
३१—जमुना प्रताप बेली	१८१७ कार्तिक वदी एकादशी (डीग)	१०९ कुल
३२—श्री वृषभानुनन्दिनी श्री नंदनंदन ब्याह मंगल बेली (प्रकाशित लाड़सागर में)	१८१७ फागुन बदी एकादशी (कुन्तस्थली)	२१० छं०
३३—राधा जन्मोत्सव बेली	१८१८	१२१ छं०
३४—अष्टयाम	१८१८ माघ बदी द्वितीया	१४२ छं० [१३१ पद ११ दोहे]
३५—हित रूप चरित्र बेली	१८२० चैत्र शुक्ला पूर्णिमा	४६२ छं०
३६—दास-पत्रिका	१८२० जेष्ठ बदी एकादशी (प्रकाशित)	६५ छं०
३७—श्रीकृष्ण गिरि-पूजन बेली	१८२० कार्तिक बदी दौज रविवार (कुन्तस्थली)	३१५ दो०
३८—अष्टयाम समय प्रबन्ध	१८२३ सावन सुदी षष्ठी सोमवार	१७७ छं० [१५६ पद, २१ दोहे
३९—विमुख उद्धारन बेली	१८२१ चैत्र पूर्णिमा	१६४ छं०
४०—सुबुद्धि चितावन बेली	१८२४ कार्तिक शुक्ला ११ गुरुवार	५४ पद ५ दो०
४१—वृन्दावन जस प्रकास बेली	१२५ माघव शुक्ल पक्ष ११ वृन्दावन	७५ पद ६ दो०
४२—(अ) अष्टयाम समय प्रबंध (प्रकाशित)	१८२६ मार्गशीर्ष बदी दसमी	२४१ छं० [२३२ पद, ९ दोहे]
(ब) अष्टयाम समय प्रबंध	१८२६ माघ बदी द्वितीया	२१२ छं० [२०२ पद १० दोहे]
४३—जुगल-प्रीति-प्रकास-पच्चीसी पदबंध	१८२९ फागुन सुदी सप्तमी	२५ पद

प्रतियां मिलती हैं, अतः बार-बार उनका नाम नहीं लिखा है। ग्रन्थों का विभाजन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। जैसे चरित्र ग्रंथ, वेली ग्रंथ, लता ग्रंथ, मांझ, सांझी, धमार, अष्टयाम, बधाई आदि। फुटकर पदों को भी कहीं-कहीं ग्रंथ का रूप प्राप्त हो गया है। यदि विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध वर्षोत्सवों के आधार पर पद-संकलन किया जाय तो पद-संख्या भी कई सहस्र होगी। वैसे छोटे-छोटे संकलनों को यदि ग्रंथ माना जाय तो दो सौ से ऊपर ग्रन्थों का पता चलता है। इस सम्बन्ध में शोध के लिए अभी पर्याप्त अवकाश है।

नाम ग्रंथ	संवत्	छंद संख्या
१—अष्टयाम समय प्रबन्ध	१८०० कार्तिक शुक्ला एकादशी	१८० छन्द [१७१ पद ९ दोहे
२—हरिप्रताप वेली	१८०३ माघ बदी सातें	१०६ छन्द
३—सत्संग महिमा वेली	१८०४ माघ कृष्णा त्रयोदशी	८८ छन्द
४—ब्रज विनोद वेली	१८०४ माघ शुक्ला सातें	१५१ छंद
५—करुना वेली	१८०४ ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी	६६ छंद
६—भक्त सुजस वेली	१८०४..................	८१ छंद
७—जमुना महिमा वेली	१८०४ पौष सुदी सातें	११० छंद
८—श्री वृन्दावन महिमा वेली	१८०५ माघ शुक्ला एकादशी	२१० छंद
९—रसना हित उपदेश वेली	१८०५ पूष बदी एकादशी	१०१ पद ५ दोहे
१०—मन उपदेश वेली पद बंध	१८०६ पूष सुदी दुतिया	१२६ पद १३ दोहे
११—भक्त प्रसाद वेली पद बंध	१८०६ पोष शुक्ला त्रयोदशी	१७६ पद ८ दोहे
१२—अष्टयाम समय प्रबन्ध	१८१० श्रावण सुदी तीज	१६० छंद [१५१ पद ९ दोहे
१३—अष्टयाम समय प्रबन्ध	१८१० माघ बसंत पंचमी	१७० छंद [१६५ पद ५ दोहे
१४—ब्रज प्रसाद वेली पद बंध	१८११ माघ सुदी पून्यौं	२१६ पद २ पद और कवित्त
१५—श्री राधा जन्मोत्सव बेली	१८१२ भादों सुदी	६० कवित्त पूर्वार्द्ध
१६—वृन्दावन अभिलाष बेली	१८१२ आषाढ़ शुक्ला एकादशी	१६५ छं०
१७—श्री हरिवंश सहस्रनाम	१८१२ अगहन सुदी दुतिया (धनराज राठौर)	१०६६ छं०
१८—मंगल विनोद बेली	१८१२ पौष सुदी तीज (प्रकाशित)	
१९—कृपा अभिलाष बेली	१८१२ पौष शुक्ला एकादशी	११२ छं०
२०—राधा प्रसाद बेली	१८१२ माघ शुक्ला पंचमी	१२६ छं०

६३—राधा-रूप-नाम-उत्कर्ष बेली	१८४०	
६४—वृन्दावन प्रेम विलास बेली	१८४० पौष शुक्ला सप्तमी (वृन्दावन मध्ये)	१४६ छं०
६५—कृष्ण-नाम-रूप-मंगल बेली	१८४० पौष शुक्ला दशमी गुरुवार	११० छं०
६६—दृष्ट मिलन-उत्कंठा बेली	१८४१ श्रावण शुक्ला द्वितीया	११८ छं०
६७—हरि भक्ति गीता (प्रकाशित)	१७४२ चैत्र शुक्ला सप्तमी प्रकाशित	११३ छं०
६८—लीला सार विचार (इष्ट पद वन्दना)	१८४३ पौष कृष्णा द्वादशी	
६९—सेवक भक्ति परिचयावली	१८४४ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार ७६ छं० संख्या	
७०—सेवक यश विरदावली	१८४४ मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी गुरुवार	७३ छं० संख्या
७१—रसिक परिचयावली	अपूर्ण·········	२४६ छप्पय तक

जिनमें सम्वत् नहीं दिया गया है

१—गुरु परम्परा नामावली	अपूर्ण	छं०	६०
२—कृष्ण चरणाष्टक	···	कवित्त	६
३—जमुना स्तव अष्टक	···	छं०	६
४—कुमारपली अष्टक	···	छं०	८
५—फल स्तुति सेवक वाणी	···	छप्पय	२२
६—स्वामिनी चरण प्रतापाष्टक	···	कवित्त	६
७—प्रिया लाड अष्टक	···	छं०	६
८—बारह मासा बिहार बेली	···	छं०	१८
९—कृपा मनोरथ पत्रिका	···	छं०	१०७
१०—कुंज सुहाग पच्चीसी	···	कुल छं० ३२ [२५ पद ७ दोहे]	
११—मथुरा प्रतापाष्टक	···	पद	६
१२—पुष्कर माहात्म्य	···	पद	४
१३—करुणा (सिद्धान्त) पद	···	पद	६
१४—अभिलाष बत्तीसी	···	दोहा	३२
१५—ललिता प्रेम कहानी हृदबंध अष्टक	···	पद	८
१६—हित कृपा विचार सार बेली	···	पद	८४
१७—तेरहों अष्टयाम	···	१७९ छं० [१७५ पद ४ दोहे]	
१८—स्वामीजी चरण चिह्न प्रतापाष्टक	···	···	८
१९—श्रीकृष्ण चरण चिह्न प्रतापाष्टक	···	···	८
२०—शृंगाराष्टक	···	···	८
२१—मंगल घोरी चढ़न	···	···	खंडित

ग्रंथ	रचना-काल / स्थान	परिमाण
(ग) अष्टयाम समय प्रबंध	१८३० माघ कृष्णा नौमी (कामवन)	१८० छं० [१७५ पद ५ दोहे]
४४—राधा-नाम-उत्कर्ष-बेली	१८३१ अगहन बदी दौज रविवार (कृष्णगढ़ वृद्धिसिंह)	
४५—श्रीकृष्ण विवाह उत्कण्ठा बेली (लाड़सागर में प्रकाशित)	१८३१ बैसाख बदी सप्तमी रविवार (कृष्णगढ़ वृद्धिसिंह)	१२१ पद १२ दोहे
४६—कृष्ण बाल बेलि पच्चीसी	१८३२ आश्विन कृष्णा दसमी (कृष्णगढ़ पुष्कर)	२५ पद १० दो०
४७—(घ) अष्टयाम समय प्रबंध	१८३२ माघ सुदी पंचमी (प्रकाशित) (कृष्णगढ़)—प्रबंध	१५० छं० [१४१ पद ६ दोहे]
(च) अष्टयाम सेवा प्रबंध	१८३३ पौष सुदी द्वितीया कृष्णगढ़	२६० छं० [२५० पद १० दोहे]
४८—आर्त्त-पत्रिका	१८३५ माघो एकादसी (कृष्णगढ़)	२२६ दो०
४९—विवेक-पत्रिका (प्रकाशित)	१८३५ आषाढ़ बदी पंचमी (बहादुरसिंह)	१८९ दो०
५०—लाड़िली की मेंहदी छवि-उत्कर्ष षोड़षी पदबंध	१८३५ पौष शुक्ला एकादसी	१६ पद
५१—प्रेम प्रकास षोडषी पदबंध	१८३५ पौष शुक्ला त्रयोदसी	१६ पद
५२—राधा लाड़-सागर	१८३५ माघ शुक्ला नौमी (बहादुरसिंह)	१७० छं० [५ दोहे-१५४ पद-११ दो०] प्रका०
५३—राधा गान षोड़षी	१७३६ माघो शुक्ला तृतीया सोमवार (श्रोता रसिक किशोर)	छं० २० [१६ पद ४ दोहे
५४—प्रिया-रूप-गर्व-पच्चीसी	१८३६ जेष्ठ बदी सप्तमी	३० छं० [२५ पद ५ दोहे]
५५—जुगल सनेह पत्रिका	१८३६ कार्तिक सुदी पंचमी (बहादुरसेर) प्रकाशित	१६१ छं० [१५४ मांझ ७ दोहे
५६—कृपा उद्योताष्टक	१८३६ पौष कृष्णा एकादसी	८ पद २ दो०
५७—चौदहों अष्टयाम समय प्रबंध	१८३७ कार्तिक सुदी सप्तमी (गुरुवार, वृन्दावन)	१२६ [११६ पद १० दोहे
५८—व्रज प्रेमानन्द सागर	१८३८ (वृन्दावन)	६७ लहरी
५९—प्रेम-पहेली	१८३९ अगहन सुदी त्रयोदसी (भरतपुर मध्ये)	१४२ छं०
६०—भक्ति प्रार्थना बेली	१८४० चैत्र सुदी सातें	३३४ दुपई छं०
६१—राधा रूप प्रताप बेली	१८४० वैशाख कृष्णा सप्तमी	११३ छं०
६२—मन परचावन बेली	१८४० भाद्रपद शुक्ला तृतीया रविवार (वृन्दावन में)	२२८ छं०

विषय है । इसी विषय को कवि ने दस मुख्य प्रकरणों में विभक्त किया है । लाड़सागर में माता-पिता के द्वारा वात्सल्य के स्थान पर माधुर्य भाव की पुष्टि 'लाड़' के रूप में की गई है। कवि ने कहा भी है—

> कीरति जसुमति सम कहूँ लाड़ सुन्यो नहिं और—
> \+ + +
> नाते लाड़ जु बरन ते बली प्रेम हिय होइ । पृ० ३६४

लाड़सागर के दस प्रकरण इस प्रकार हैं :—

१—राधा बाल-विनोद
२—कृष्ण बाल-विनोद—विवाह उत्कंठा
३—कृष्ण सगाई
४—कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा
५—विवाह मंगल
६—लाड़िली जू को गौनाचार
७—लाल जू को महिमानी कौ बरसाने जाइवौ—श्री ब्रज-विनोद
८—राधा छवि सुहाग
९—जसुमति मोद प्रकाश
१०—राधा लाड़ सुहाग

लाड़सागर का रसामृत पान करने के निमित्त उक्त प्रकरणों में उपन्यस्त वर्ण्य-वस्तु संक्षेप में दी जाती है ।

श्रीराधा बाल विनोद

श्रीराधा बाल-विनोद में २५ पद हैं । अन्त में ६ दोहे प्रकरण समाप्ति के लिए हैं । राधा की आयु लगभग चार-पाँच वर्ष की है । अपनी चंचल क्रीड़ाओं द्वारा वह माँ को सदैव प्रफुल्लित करती रहती है । कीरति माता से पूर्व ही जागकर कभी लड्डू, कभी मक्खन, कभी दूध, कभी धारोष्ण दूध माँगती है । राधा गुड़िया खेलने में अधिक अनुरक्त है । बाल-जिज्ञासा के अनुरूप एक दिन वह माँ से पूछती है कि सगाई कैसे होती है । यह प्रश्न राधा के सहज कुतूहल और माँ-बाप के विनोद का कारण बनता है । माता राधा के जन्म से अपने घर को पुण्य तीर्थ समझती है क्योंकि शिवजी तथा महामुनि भी राधा के दर्शनार्थ आते रहते हैं और अपना 'लाड़' आशीर्वाद रूप में प्रगट करते हैं ।

श्रीकृष्ण बाल-विनोद—विवाह-उत्कंठा

इसमें श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के प्रति उत्साह और विवाह-उत्कंठा का विशद वर्णन है । कृष्ण अपनी पौगंड अवस्था में हैं । वे ग्वाल-बालों के साथ खेलते रहते हैं । बछड़ों को चराने जाते हैं । माँ से हठ भी करते हैं, माँ की बात नहीं सुनते किन्तु माता उनकी उन्हीं क्रीड़ाओं में प्रमुदित रहती है । उसको बड़े लाड़ से अपनी गोद में बैठाकर भोजन कराती है । भोर होते ही मक्खन, दूध, लड्डू आदि खाने को देती है । उसका शृङ्गार करती है ।

२२—गौनीचार (लाड़िलीलाल को) (लाड सागर में प्रकाशित)	...	...	१२४
२३—कवित्त पच्चीसी	...	...	२७ [१४ कवित ११ सवैये]
२४—हित कल्प तरु (चारों पुत्रों का वंश-वर्णन)	अपूर्ण	...	४५८ सं० दोहे चौपाई
२५—भ्रमर गीत पदबन्ध			पद ७२ खंडित पोथी
२६—छद्म षोड्षी—प्रकाशित			१६ लीलायें
२७—जोगी लीला—प्रकाशित			८ लीलाएँ

श्री चाचा वृन्दावनदास जी का साहित्य हस्तलिखित पोथियों के रूप में प्रचुर मात्रा में वृन्दावन में उपलब्ध है। जो कुछ हमें प्राप्त हुआ है उसके आधार पर भी हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा के भक्त कवियों में वह सर्वाधिक है। यदि ब्रजभाषा काव्य को आदि कवि वाल्मीकि के रूप में प्रारम्भ करने का श्रेय सूरदास जी को है तो उसे विशद-व्यापक विस्तार देने का श्रेय महाकवि व्यास के रूप में चाचा वृन्दावनदास जी को मिलना चाहिए। निश्चय ही वे ब्रजभाषा काव्य के व्यास हैं।

ग्रन्थालोचन

१—लाड़सागर

श्री चाचा वृन्दावनदास रचित लाड़सागर, आराध्या राधा के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक श्रीकृष्ण के प्रति व्यक्त किए गए प्रेम का अगाध सागर है। शैशवावस्था की चपल क्रीड़ाओं का स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि ने अपनी भावना द्वारा श्रीराधा का जैसा मोहक चित्र अंकित किया है, वैसा इस विषय को लेकर किसी अन्य कवि ने नहीं किया।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को विशेष महत्व दिया गया है। लाड़ भी प्रेम का एक बाह्य रूप है। लड् धातु का अर्थ है—थपथपाकर दुलराना, प्यार करना, लालन-पालन करना। जहाँ शिशुओं की चपल क्रीड़ाओं के प्रति विमुग्ध भाव से लालन-पालन की सहज वृत्ति होती है वहीं लाड़ की सृष्टि होती है। राधा और कृष्ण के प्रति वृषभानु-कीर्ति तथा नंद-यशोदा का लाड़ ही 'लाड़सागर' है। यह लाड़ केवल माता-पिता के लाड़-चाव तक ही सीमित नहीं, अपितु देवता और महामुनियों के द्वारा भी व्यक्त होता है। भक्त भी अपनी भक्तिभावना से उनका लाड़ करते हैं। इस प्रकार 'लाड़सागर' में राधा और कृष्ण की शैशवावस्था, पौगंड और किशोरावस्था तक लाड़ के द्वारा ही प्रेम की पुष्टि की गई है जो कि भक्त का लक्ष्य है।

राधा और कृष्ण के माधुर्यभाव की पुष्टि लाड़ द्वारा करवाई गई है। लाड़सागर में राधा-कृष्ण के बाल्यकाल से विवाहोपरान्त माधुर्यभाव की परिणति है। जिस प्रकार राधा और कृष्ण का प्रेम लाड़ के द्वारा माधुर्य भाव तक पहुँचता है वही इस काव्य का कथ्य

दोनों पक्षों में होने लगती है। वर और वधू दोनों पक्षों में उत्साह छाया हुआ है। लगन, भाव, हरद हाथ तथा तेल, बान, मंडप आदि विवाह से पूर्व की सभी रीतियां बड़े उत्साहपूर्वक मनाई जाती हैं।

बरात का आगमन और स्वागत भी भव्य होता है। ज्योंनार के अवसर पर नारियां गालियाँ देती हैं। कन्यादान, भाँवर, गौरनी चारू, कुँवर कलेऊ, बढ़हार, पलकाचार और विदाई आदि यथाक्रम विस्तार से ब्यौरेवार सम्पन्न होते हैं।

विवाह के उपरान्त राधा वधू रूप में व्रज में आ जाती है। यशोदा राधा के रूपातिशय पर मुग्ध हो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती है तथा बड़े प्रेमपूर्वक सदा अपने साथ रखती है। कुछ दिन बाद राधा वापस बरसाने आ जाती है।

इस वर्णन के बाद वृन्दावनदासजी ने राधा-कृष्ण के विवाह को शास्त्र-सम्मत रूप देने के लिए पुराणों तथा महाकवियों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

श्री राधा जू की गौनाचार

राधा का दूसरी बार ससुराल में आगमन हुआ। राधा के आते ही व्रज में नवजीवन आ गया।

राधा और कृष्ण का प्रथम मिलन होता है। दोनों एक दूसरे के प्रेम में निमग्न हो जाते हैं। सखियां उनकी क्रीड़ाओं को छिपकर देखती हैं। भोर होने पर सखिया वीणा पर राग गाकर उन्हें जगाती हैं।

यशोदा राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम से बहुत प्रसन्न होती हैं। दोनों की सुन्दर जोड़ी देखकर फूली नहीं समाती। तेल उबटन लगाकर, दोनों को अपने हाथ से स्नान कराती हैं। दोनों को पास बैठाकर भोजन खिलाती हैं और उस समय वे राधा की सतत प्रशंसा करती रहती हैं। राधा कभी उदास हो जाती है तो यशोद अनेक प्रकार से उसका मन बहलाती है।

इधर जब कीरति राधा के वियोग को अधिक नहीं सह पाती तो श्रीदामा को भेजकर राधा को बरसाने बुलवा लेती है।

श्री लाल जू को महिमानो कौ बरसाने आइबौ

४ दोहे १४७ चौपाई। वृषभानु जी ने नन्द तथा कृष्ण को कुछ दिन रहने के लिए बरसाने बुलवा लिया। नंद, कृष्ण, बलराम और उनके मित्रों को लेकर जाते हैं। वृषभानु इनका बड़ा स्वागत-सम्मान करते हैं।

राधा कृष्ण को देखने के लिए बहुत उत्सुक हो उठती है। एक दिन वह अटारी पर चढ़ कर भांक रही थी कि कृष्ण और राधा के नयन सहसा मिल जाते हैं। दोनों एक दूसरे को देख कर तृप्त तो नहीं होते किन्तु राधा संकोचवश देर तक अटारी पर खड़ी नहीं रह पाती और चली जाती है।

कृष्ण ने इधर-उधर घूम कर सारे नगर को देखा और फिर राधा को विदा कराकर ले आए।

इसी क्रीड़ामय जीवन में कृष्ण के मन में विवाह की उत्कण्ठा जाग्रत होती है। वे नितप्रति विवाह की बातें कहना और सुनना पसन्द करते हैं। उनकी खेल में भी रुचि नहीं रही। जहाँ विवाह की बातें होती सुनीं झट खेल छोड़कर वहाँ जा पहुँचे। माँ से अपना विवाह शीघ्र करने के लिए कहते हैं। स्वप्न में वह बरसाना और अपनी दुलहन देखते हैं। तब से वह बरसाने आने-जाने वाले व्यक्तियों को रोक कर वहाँ के सम्बन्ध में नाना प्रकार के प्रश्न पूछते रहते हैं। एक बार राधा का समाचार सुन कर वह मूर्छित भी हो जाते हैं।

यशोदा भी उसकी विवाहोत्कण्ठा में सहयोग देती है। वह कहती है कि मैं तेरी शादी वहीं करूँगी जहाँ तू चाहता है। वह ज्योतिषी को उसकी जन्म-पत्री दिखाती है। वह पुत्र का बड़ा लाड़-चाव करती है जिससे वह बड़ा हो और विवाह योग्य हो जाए। इन सब क्रीड़ाओं के व्याज से कवि ने कृष्ण के सांसारिक बालरूप की झाँकी प्रस्तुत की है। इस रूप में कृष्ण को पाकर भक्त प्रमुदित और आनन्दित हो जाता है।

श्रीकृष्ण सगाई

यह प्रकरण दोहा, अरिल्ल, सोरठा, कवित्त में लिखा गया है। कुल पद-संख्या ३५० है। कृष्ण सगाई के योग्य होते हैं तो माता भी कृष्ण की सगाई के लिए उत्कण्ठित हो जाती है। सगाई की सफलता के लिए वह नाना देवों की पूजा करती है और मनाती है कि कृष्ण की राधा के साथ सगाई हो। एक बार जब वह नारायण की पूजा करने आती है तब बरसाने की एक स्त्री से मिलकर राधा की सगाई के विषय में बात करती है। यशोदा राधा को वहाँ खेलता हुआ पाकर उसका शृंगार करती है। अपनी नाइन को कीरति के पास सगाई करने के लिए कहने भेजती है। उसी समय शिवजी कीरति से राधा की सगाई कृष्ण से करने के लिए कहते हैं। अब कीरति ने निश्चय कर लिया कि वह कृष्ण के साथ ही राधा की सगाई करेगी। 'शारदा' गोपी वेश धारण कर यह निश्चय यशोदा को सुना जाती है।

वृषभानु ने पंडितों की सम्मति से राधा की सगाई कृष्ण से कर दी। व्रज में बहुत खुशियाँ मनाई गईं। मंगलाचार, उत्सव, भोज आदि हुए। यशोदा राधा का लाड़ लड़ाने के लिए वस्त्र आदि सुहाग की सभी वस्तुएँ भेजती है।

श्रीकृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा

दोहा, कवित्त, अरिल्ल, सोरठा, कुल पद-संख्या १६२। सगाई हो जाने के बाद यशोदा कृष्ण को मक्खन चोरी और लड़ने-झगड़ने की आदत छोड़ने की सीख देती हैं। वे कहती हैं कि तुम्हारे कुलक्षणों के कारण सगाई बहुत कठिनाई से हुई अब अपनी उन आदतों को छोड़ दो, क्योंकि सज्जनों की प्रीति कच्चे धागे के समान होती है।

उधर बरसाने से कीरति भी ढाढिनि के द्वारा यशोदा को कहलवा कर भेजती है कि कृष्ण की बुरी आदतों को छुड़वा दें।

यशोदा राधा के लिए प्रत्येक त्यौहार पर प्रेमपूर्वक सुन्दर वस्त्राभूषण भेजती है।

विवाह-मंगल

२०६ पद, कवित्त, छप्पय। राधा-कृष्ण की सगाई के पश्चात् शादी की तैयारियाँ

राधा लाड़ मूरति बनी।
जदपि काम बिगारि भाजति तदपि प्यारी घनी ॥
—पृष्ठ ८, पद १७।

यशोदा भी कृष्ण की शरारतों में इसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करती है।

बालकों की स्वाभाविक जिज्ञासाओं को सुनकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। राधा और कृष्ण की विवाह-सम्बन्धी जिज्ञासा भी उन्हे प्रमुदित करती है। यशोदा और कीरति कृष्ण और राधा का नाना भांति से लाड़ लड़ाती हैं। उन्हें घी, दूध, मक्खन खिलाती हैं, अपने हाथ से स्नान कराती है और शृंगार करती हैं।

विवाह के अवसर पर पुत्री के प्रति माता का वात्सल्य उत्कट कोटि का हो है जाता। कीरति में भी यही बात पाई जाती है। उधर वधू के प्रति लाड़-प्यार की मात्रा यशोदा में प्रबल रूप से बढ़ जाती है। यशोदा राधा को अपने हाथ से खाना खिलाती है, अपनी गोद में बैठाकर प्यार करती है, राधा और कृष्ण की क्रीड़ाओं को देखकर प्रसन्न होती है। वस्तुतः इसमें लाड़ का ही सागर लहरा रहा है। वत्सल भाव की सरस उर्मियाँ बीच-बीच में उछलकर सागर को तरंगायित करती रहती हैं।

माता का स्नेह संयोग के समय तो रहता ही है वियोगावस्था में यह और भी प्रबल हो जाता है। राधा की विदा के अवसर पर माता की प्रेम पूर्ण आकुलता की स्थिति का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण हुआ है :—

लली चलन दिन आज मात अरबरति है।
थोरे जल में मीन मनौं तरफरति है ॥
पुनि पुनि ताकति बदन नैन जल भरति है।
लीनो प्रेम दबाइ न धीरज धरति है ॥
—पृष्ठ २०६, पद सं० १६८।

राधा के ससुराल चले जाने पर कीरति का मन नही लगता, वह उसके लिए बेचैन हो उठती है :—

श्री राधा विरह हियौ व्याकुल कीरति निसि नींद न आवै।
छिन आंगन छिन मंदिर रानी जुग सम पल जू बितावै ॥
लीनो प्रेम दाबइ जबै बोली सुनौ रावल राई।
अरबरात दृग प्राण बेगि दै कुँवरिहिं लेहु बुलाई ॥
कुँवरिहिं लेहु बुलाइ बेगि दै व्याकुल प्राण महाई।
पृष्ठ २२५, पद सं० १८६।

विवाह से पूर्व एक दिन राधा के अपराध करके छिप जाने पर मां के आकुल हृदय का एक और सुन्दर चित्र देखिए :—

हँसति लसति मान धरनि ललिता सों बूझतिहौ
कहाँ कनक तनो बेगि दै बताउ री।
फिरत बह्यौ अजिर दही तदपि हौं सोच रही
अति लड़ि उरि गई भाजि खोजि लाउ री ॥

श्री राधा छवि सुहाग

पद २५ । जब से राधा नन्दगृह में आई है तब से वहाँ नित नवीन मंगल होते हैं। यशोदा राधा को पाकर अपने भाग्य की सराहना करती है। उसके रूप को देखकर वह अति प्रसन्न रहती है। कृष्ण ने भी अब बाहर जाना छोड़ दिया है। कृष्ण और राधा नाना प्रकार की केलि-क्रीड़ाएँ कर सबको प्रसन्न प्रमुदित करते रहते हैं।

श्री जसुमति मोद प्रकाश

२५ पद अन्त में दोहे। यशोदा राधा के मुखचन्द्र की चकोरी बन गई है। वह उसके रूप तथा अपने भाग्य की सराहना करती नहीं थकती। वह देवताओं की इस अपार कृपा के लिए उनकी सदैव पूजा करती है। राधा को बिना देखे उसे चैन नहीं पड़ता। राधा को अपने हाथ से उबटन लगाती और नहलाती है। उसका शृङ्गार करती है। उसको बड़े प्रेम से पास बैठाकर भोजन खिलाती है और उसे कृष्ण से भी अधिक प्यार करती है। कृष्ण और राधा की केलि-क्रीड़ाओं से वह अति प्रसन्न रहती है।

श्री राधा लाड़ सुहाग

१५४ पद अन्त में दोहे। राधा और कृष्ण निरन्तर क्रीड़ा करते हैं। राधा अपनी सास से सदैव आशीष पाती है। यशोदा राधा का शृङ्गार अपने हाथ से करती है। रोहिणी भी राधा को बहुत प्यार करती है। राधा यशोदा को गाना सुनाती है।

कीरति राधा को बुलाती है। यशोदा को उसे छोड़ते हुए बहुत दुख होता है।

इसी प्रकार राधा कभी ससुराल रहती है कभी पीहर। दोनों जगह उसका खूब लाड़-प्यार होता है। राधा और कृष्ण सदैव क्रीड़ा करके सबको प्रसन्न रखते हैं। वह कभी रासलीला करते हैं, कभी जल-क्रीड़ा करते हैं। इनकी क्रीड़ा नित्य और अपार है।

संक्षेप में, इस लघुकाय कथा-पयस्विनी को इस प्रकार एक सागर का रूप दे दिया है। इसमें विवाह मंगल सबसे बड़ा है। विवाह की प्रत्येक रीति का सविस्तर वर्णन पढकर व्रज प्रदेश की वैवाहिक रीति-रिवाजो का जैसा ब्योरेवार विवरण मिलता है वह चाचा वृन्दावनदासजी की विलक्षण जानकारी का प्रमाण ही नही वरन् उनकी काव्य-कुशलता का भी द्योतक है।

लाड़सागर का भाव-पक्ष

'लाड़सागर' प्रेम का सागर है। कृष्णाख्यान के एक अंश—बाल-चरित्र को मेरुदंड बनाकर उसी पर क्षीण कथापट को बुना गया है। यद्यपि जीवन के सर्वांगीण क्रमिक रूप को प्रस्तुत करने वाली कोई कथा इसमें नहीं है फिर भी शैशव की कहानी का बोध हो जाता है। माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति जो निश्छल, निस्वार्थ, नैसर्गिक लाड़ की भावना होती है वही इसमें पाई जाती है। माता-पिता अपने बच्चों की भोली, सरल और निष्कपट चेष्टाओं और सहज-स्वाभाविक रूप से की गई शरारतों से प्रसन्न होते हैं। कीरति को राधा के मचलने में, उसके बर्तन फोड़ने में, रूठने में एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है :—

लाड़-सागर में पूर्वानुराग की भी स्थिति मिलती है। कृष्ण में यह पूर्वानुराग स्वप्न-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन और श्रवण-दर्शन से उत्पन्न होता है। श्रवण-दर्शन में ही इसकी उत्कण्ठावस्था मिलती है। इनके प्रेम को विवाह के द्वारा ही पूर्ण किया गया है। वैवाहिक जीवन के शृंगारिक रूप को साधारण अनुभूतियों से मिलाकर सुन्दर बना दिया है। इसी प्रसंग में लोक में प्रचलित सभी वैवाहिक रीतियों का विस्तृत चित्रण किया गया है। विवाह काल में होने वाले प्रत्येक लोकाचार का चित्रण करके कवि ने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है। विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गालियाँ भी इसमें वर्णित हुई हैं। गाली गाने वालों को रोकते हुए एक गोरी कहती है :—

गारी न देहों रे सजना गारी न देहों।
गोप चरित वरनौ कछू पै नाम न लैहों॥

—पद सं० १२३, पृष्ठ १८०।

ब्रजमंडल में आज भी विवाह के समय गाली गाये जाने का रिवाज है। इन गालियों में दंश न होकर सरल और सरस हास्य-भरा व्यंग रहता है जिसका उद्देश्य केवल मनोविनोद है किसी को क्लेश पहुँचाना नहीं। ऐसी गालियों का वर्णन लाड़सागर में प्रचुर परिमाण में है।

लाड़सागर का कला-पक्ष

लाड़सागर का कला-पक्ष काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से उच्चकोटि का नहीं है। यह ठीक है कि लाड़सागर वात्सल्य रस की दृष्टि से सुन्दर रचना है और लाड़ की जितनी सबल व्यंजना हो सकती है वह इसमें पाई जाती है किन्तु काव्य-कला के अन्य अङ्ग अलंकार, भाषा, गुण, रीति आदि का स्तर सामान्य कोटि का ही है।

लाड़सागर में कुछ गिने-चुने अलंकारों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु जब अलंकारों का प्रयोग करने लगते हैं तब उस पद में कुछ चमक अवश्य ला देते हैं। अलंकारों की अप्रस्तुत योजना पूर्णतः परम्परामुक्त और शिथिल है अतः उनके द्वारा भाव या शब्दार्थ का उत्कर्ष विधान नहीं हो पाता।

उपमा, रूपक, प्रतीप, वाक्यार्थोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक आदि अलंकारों का साधारणतः प्रयोग किया गया है। सबसे अधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का है, और वह भी अधिकतर राधाकृष्ण के रूप-वर्णन, तथा मातृ-वात्सल्य की भावना के चित्रण में हुआ है।

उत्प्रेक्षा

राधा चलना सीख रही है उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

शोभा का बिरवा मनौं यह पवन झोका खाइ।

—पृष्ठ २, पद सं० ३।

राधा के विवाह का दृश्य है। विवाह से पूर्व हरद तथा उबटन लगाने की रीति सम्पन्न हो रही है। उस समय राधा के रूप पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

मैया वैसी जु मैं न कहाँ गई मृगज मैन
दामिनि सी कौंधि छिपी कर उपाउ री।
थेठो अकुलात हीय बेले बिनु कल न जीय
मों सो गई रूठि ताहि तू मनाउ री॥
मांगै सो सो जु देउ हिय सौं लगाइ लेउ
नैननि की थाती अबही मिलाउ री।
डांटौं नहि याहि फेरि कहि वै तू टेरि टेरि
आउ प्राण प्यारी मो उर सिराउ री॥
आई घर घर निहारि बुधि बल सब रही हारि
ससिनु शोभ देन सखी मुख दिखाउ री॥
मैया उर सबल नेह राधा बिनु रुचि न गेह
भोजन थार करि हैं सुधि रावल राउ री॥
—पृष्ठ ८, पद सं० १६।

उधर यशोदा भी कृष्ण के प्रति इसी प्रकार व्याकुल रहती है। अपने पुत्र की विवाहोत्कण्ठा को उसने अपनी ही स्पृहा-उत्कण्ठा का रूप दे दिया है।

माता के लाड़ के सुन्दर भावपूर्ण चित्रों के साथ ही चाचा वृन्दावनदास ने बालकों की चेष्टाओं और जिज्ञासाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है। बालिकाएं गुड़ियों का खेल खेलती हैं, उनका ब्याह रचती हैं और उसी में जननी का सुख प्राप्त करती हैं। राधा भी माता से गुड़िया बनाने का आग्रह करती है :—

मैया गुड़िया देहि बनाइ
जिनको सुन्दर रूप भूषण बसन दे पहराइ॥
—पृष्ठ ४, पद सं० ८।

बच्चों में यह स्पर्धा रहती है कि हम मां के प्यारे बन जाएं। राधा में भी यही इच्छा है और वह मां से ही पूछती है कि बता तुझे इस सब में कौन अधिक प्रिय है :—

हौं जु प्यारी लगौं बीर श्रीदाम के
कै लगै अधिक प्यारी जु तुहि तात री॥
—पृष्ठ ११, पद सं० २३।

बच्चों में विवाह के प्रति जिज्ञासा भी स्वाभाविक होती है। राधा और कृष्ण में इस जिज्ञासा का वर्णन मनोवैज्ञानिक शैली से हुआ है।

वात्सल्य रस के अतिरिक्त इसमें शृंगार रस का भी गहरा पुट है। लाड़सागर का शृंगार विवाह के बंधन से परिमार्जित शृंगार है। कृष्ण और राधा गृहस्थ में ही रहकर प्रेम करते हैं, केलि-क्रीड़ा करते हैं किन्तु कभी भी उच्छृंखल नहीं होते। राधा और कृष्ण का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। इसलिए इनके प्रेम में परकीया प्रेम की-सी तीव्रता और आकुलता नहीं है।

यशोदा कृष्ण को प्यार कर रही हैं :—

अंक धरि लाड़ति ब्रजपति घरनी
मनो घन बिछा बयौपांवरो रच्यो कनक मनि धरनी ॥

—पृष्ठ ६२, पद सं० १२५।

कृष्ण विवाह के अवसर पर स्नान कर रहे हैं। शृंगार किये हुये बालाएँ चारों ओर घूम रही हैं। उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

बनी ठनी मंदिर में बाला रमकी झमकी डोलें।
मनु हरि घन अभिषेक होत है दामिनि निकट कलोलें ॥

—पृष्ठ १४५, पद सं० ६६।

कृष्ण अपनी वधू के आने की कल्पना कर मुस्कराते हैं; उस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए:—

कालिह दुलहिनि आइ है यों कहि जु आनन्द भरयो।
खिली बारिज कलि मुसुकनि मनु पराग सुभरयो ॥

—पृष्ठ ३८, पद सं० ६६।

कृष्ण जलक्रीड़ा कर रहे हैं। इस दृश्य का उत्प्रेक्षा द्वारा चित्रण देखिए :—

तरत कमल दल लोचन तिन मधि कहा छवि बरनि सुनाइये।
क्रीड़त मनो मत्त गज सावक अति कौतूहल छाइये ॥

—पृष्ठ ५८, पद सं० ११३।

राधा का रूप-चित्रण :—

पिय मन उर वर चौक क्रीड़त सुघुपाइकै।
नाभि सुधा सर पैंठतु पुनि पुनि धाइकै ॥
ता ढिग त्रिबली रेख महा कमनी खची।
प्रीतम मन अविलंब सिढ़ी मानो रची ॥
रचि मानौं सिढ़ी सजनी दरत मोतिनु हार है।
गिरि कनक पै पग पांति अनुपम करति मनहु बिहार है।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के द्वारा अनेकों सुन्दर रूप-चित्र तथा भावचित्र अंकित किये गए हैं। माता की विरहाकुल अवस्था का भावपूर्ण चित्र देखिए :—

लली चलन दिन आज मात अरबरति है।
थोरे जल में मीन मनौं तरफरति है ॥
पुनि पुनि ताकति वदन नैन जल भरति है।
लीनो प्रेम दबाइ न धीरज धरति है ॥
नेह पङ्क मनु कुंजर दहल्यौ जात है।
फिरि आवन की आस लागि ललचातु है ॥
उर वर उमड्यौ प्रेम न मुख तें कहति है।
कुँवरि भुवन भूषन मुख ओरी चहति है।

गोर गुना तन करनि उमहनी मन मानी छवि मान ।
मनु सिसु तड़ित-सहित सौ उरमी बनत न उपमा आन ॥

—पृष्ठ ११६, पद सं० ३१ ।

दुलहिन रूप में राधा की छवि का सुन्दर वर्णन किया गया है :—

चोट सरकनि पीठि गुही सारी लसी ।
मनु अनुराग गुलाल आनि नागिनि डसी ।
मनहुँ सुरसुरी धारि कनक गिरि ते चली
ससति असत मनि पाँति सोई मनु सुरधुनी ।
इत-उत रविजा धारि भई छवि सतगुनी
भई छवि सतगुनी मधि संगूर त्रिवेनी मनो
मुनि मन जन जु मन प्रीतम भयौ मज्जन करत पुनि-पुनि जनौ ।

—पृष्ठ २४६, पद सं० २४ ।

रोते हुए बालकृष्ण की सुन्दर मुद्रा का उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णन :—

दोऊ कर मीड़त है अँखियाँ यह छवि कहा बखानौं ।
कमल-कमल भयौ संपुट मनु आँसू मकरंद चुचानौ ॥

—पृष्ठ २०, पद सं० २२ ।

नंद के कंधे पर चढ़े हुए कृष्ण का वर्णन सुन्दर है :—

तात के कांधे चढ़े कन्हाई ।
कंचन विटप शिखर चढ़ि कमनी मनु तमाल छवि छाई ।
किधौ कनक के मेरु महा मर्कत मनि देहि दिखाई ।
किधौ महा कमनी गिरि ऊपर श्याम घटा झुकि आई ।

—पृष्ठ ३५, पद सं० ६१ ।

कृष्ण का दूलह रूप में छवि-वर्णन उत्प्रेक्षा द्वारा सुन्दर हुआ है :—

मरवट वदन बिलोकि सखी री अद्भुत अवसर जान
उत्सव बड़ो मानि मनु पूज्यौ इंदु इन्दिरा पानि
श्याम कपोलनि में अस झाँई सुन्दर कुंडल कान
दुहुं तट मनौ मोर रविजा जल जुग रवि बैठे न्हान
कज्जल बलित नैन रुचि रेखा इहि छवि उपमा नांहि
मानो तम सूक्ष्म जु रूप धरि दिप्यौ चन्द के मांहि
भौंह गरूर गोल सुठि नासा भयौ छैल छवि ऐंड़
सरसत विपुल उमाह ब्याह मन भरत झुको दै पेंड़
करवर बन्यौ मखतूल डोरना महा कहा यह सोभा ।
कमल कंठ मनु मधुपानि पाँती बैठी सौरभ लोभा ॥

—पृष्ठ १५७, पद सं० ८२ ।

ा आभास होने लगता है। रासलीलाधारियों ने इसी कारण चाचाजी की रचनाओं से और वशेषतः लाड़सागर से प्रसंग चयन करके छोटी-छोटी लीलाओं की रचना कर ली है। पद यों के त्यों रखे हैं केवल बीच-बीच में वचनिका जोड़ दी है। गुड़िया लीला, स्वप्न लीला, योंनार लीला आदि इसी प्रकार की लीलाएँ हैं। इनका आधार चाचाजी का लाड़सागर ंथ ही है।

मुहावरे और लोकोक्तियों के प्राचुर्य से भाषा में सजीवता, गति और प्रवाह आ गया ै। मुहावरों के बहुत ही सुन्दर और व्यापक प्रयोग इसमें मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस कार हैं :—

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

१—एक समै कह्यौ तें सबनि के लाड़को कौन सनमानि है सजन जु बरात रो ॥

—पद २३, पृष्ठ ११।

२—निपट गुनीले हम जानति हैं कहा बजावत गाला।

—पद ३६, पृ० २५।

३—हंसनी ठगनी जाति परति है तें कत मुँह जु लगाई।
बचननि और पेट कछु औरै लरचति है चतुराई ॥

—पद २८, पृ० २५।

४—ताहि न घर में आवन दीजै काटै बात पराई।

—पद ३८, पृ० २५।

५—नैननि और बैन कछु औरै हिये और दरसात।

—पद ४८, पृ० २६।

६—बातन पंथ करै नहि मैया जब लगि धरै न पग रे ॥

—पद ७७, पृ० ४१।

७—जल में बसि कै बैर मगर सौं किन छाती जु सिराई।

—पद ७८, पृ० ४२।

८—बरन्यौ न्याइ विवेकिनु देखौ दीपक तरैं अंधेरौ।
+ + +
फिरत बिकाऊ सौ मुँह चुपरैं कहत ब्याह करौ मेरौ ॥
+ + +
सेंवर फूल देखि कैं सूवा तरवर लियौ बसेरौ।
भयो फल धारिव निरास आपुरौ बहुरि न बैठ्यौ नेरौ ॥

—पद ८५, पृ० ४५।

९—घर बैठे ही गाल बजायो देख्यो पर न निकेत है।

—पद १०६, पृ० ५५।

१०—यह रस चाख्यो जिननि ब्रह्मानंद दियौ बिहाइ।
समौ तजि को कूप खारी नीर कौं ललचाइ ॥

—पद २, पृ० ३०६।

मंगल श्रौस विचारि बहुरि चुप रहति है।
मन तुरंग की डोरी गाढ़ी गहति है॥
—पृष्ठ २०६, पद सं० १५८।

निदर्शना

जैसे खेवट बिन भ्रमैं भरी नाव जल धार।
मो मन गति ऐसी भई नाय लगावौ पार॥
—पृष्ठ ७७, पद सं० २१८।

जैसे उमंगे सिंधु जब रुकत न बारू भीत।
मकराज वेपथ भये प्रेम प्रबल लये जीत॥
—पृष्ठ ७७, पद सं० २२२।

सन्देह

खेल नाना रचति कुँवरि गौरांग जहाँ
किधौं छबिलता कै क्षामिनी को निकर॥
किधौं कीरति सुकृत पुंज दरस्यौ दृगनि।
किधौं रावल घनौ लह्यौ कोउ भूरि घर॥
किधौं यह प्रमी को जलद रहे ऊनयौ।
ग्राठहू पहर लाग्यौ जहाँ विपुल भर॥
—पृ० १०, पद सं० २१

भाषा

लाड़सागर की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की ब्रजभाषा है। चाचाजी ने इस ग्रंथ में ब्रजभाषा का वह रूप स्वीकार किया है जो ब्रजवासियों की घरेलू भाषा का रूप है। साहित्यिक कोमलकान्त पदावली और तत्सम शब्दों को यथाशक्य बचाया है। ब्रज के गाँवों में ग्राज भी इसी प्रकार की भाषा का व्यवहार देखा जा सकता है। चाचाजी रीतिकालीन कवियों के समकालीन थे। देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द और पद्माकर की सरस काव्यरचना से उनका साक्षात् परिचय था। किन्तु उन्होंने उस भाषा को इस ग्रन्थ में कदाचित् जानबूझकर ग्रहण नहीं किया। लाड़सागर ब्रज के रीति-रिवाजों, त्यौहार-पर्वों और सामाजिक कृत्यों के वर्णन से भरा पड़ा है अतः ब्रज की आत्मा उसी भाषा में व्यक्त हो सकती है जिसमें ब्रजवासी बोलते और व्यवहार करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भाषा की परख करते हुए भी हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि जिस बोलचाल की ग्रामीण ब्रजभाषा को चाचाजी ने स्वीकार किया है वह साहित्यिक कसौटी पर भी उन्हीं नियमों से परखी जायगी। फिर भी व्याकरण-सम्बन्धी विपर्यय प्रायः नहीं है।

लाड़सागर की भाषा का एक उल्लेख्य गुण है उसकी संवादात्मकता। संवादों के द्वारा आख्यान-पट को जिस रूप में फैलाया गया है वह भाषा में प्रवाह और गति का स्वयं संचार कर देता है। कहीं-कहीं तो पदों में इतने सजीव संवाद हैं कि उन्हें पढ़कर नाटकीय कथा

रचना काल उन प्रकरणों के रचनाकाल को देखकर ही निश्चित किया जा सकता है।

लाड़सागर के प्रथम प्रकरण—श्री राधा बाल विनोद—की रचना सम्वत् १८३२, आषाढ़ सुदी एकादशी को हुई थी :

ठारह सै बतीसयौ वर्तमान है वर्ष, सुदि असाढ़ एकादशी कह्यौ इष्ट उत्कर्ष।—पृ०१२

'श्री कृष्ण बाल विनोद—विवाह उत्कण्ठा' की रचना सम्वत् १८३१ बदी बैसाख सप्तमी को हुई थी :

अठारह सै इकतीसयौं वर्ष भयौ परवेश।
बदी बैसाखी सप्तमी रविबासर जु सुदेस॥
—दोहा ११, पृ० १४।

'श्रीकृष्ण-सगाई' की रचना सम्वत् १८१२, फाल्गुन, शुक्ल पक्ष, एकादशी को हुई :

ठारह सै बारह बरस रस मय फागुन मास।
शुक्ल पक्ष एकादशी बेली भई प्रकास॥
—दोहा ३४७, पृष्ठ ८५।

'श्रीकृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा' की रचना सम्वत् १८१३, चैत्र सुदी द्वितीया को हुई :

ठारह से पर तेरहौं वर्ष जु भयो प्रवेस।
चैत्र सुदी दुतिया सु दिन कयृ‍ो प्रबंध सुदेस॥
—दोहा १८६, पृष्ठ ६६।

'विवाह-मंगल' की रचना सम्वत् १८१७ में हुई :

ठारह सै पर वर्ष सत्रहौं साके गति जु बखानौं।
फागुन बदि हरिबासर पूरन ग्रन्थ भयौ यह जानौ॥
—पद सं० २००, पृष्ठ २३१।

'श्री लाड़िली जू को गौनाचार' में कोई समय नहीं दिया गया।

'श्री ब्रज विनोद' का रचनाकाल सम्वत् १८०४, माधव मास की सप्तमी है :—

सम्वत् से दस आठ बिचारौ। चारि वर्ष ऊपर चित धारौ। १४६॥
माधौ मास सुभग दिन सातैं। ब्रज विनोद कह्यौ सुमति सुहातैं॥
—पृष्ठ २६७।

'श्री राधा छबि सुहाग' की रचना सम्वत् १८३१, श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुई :

ठारह सै पर जानियो वर्ष और बतीस।
सावन शुक्ला सप्तमी शुभ वासर गुरुवार॥
पद २६, पृष्ठ ३०५

'श्री जसुमति मोद प्रकाश' की रचना संवत् १८३२ श्रावण शुक्ला द्वादशी को हुई :

ठारह सै बत्तीसयौ वर्ष जु सावन मास।
सुकल पक्ष पुनि द्वादशी कीयौ ग्रन्थ प्रकास॥
—दोहा सं० २, पृष्ठ ३१४।

११—गुन के साड़ रंग्यौ ही मो मन यह जु रंग पै रंग चढ़ावैं
अमल रवाद अमली ही जानें नहिं पर ब्रम्ह ताहि परसावै ॥
बाम दाहिने लोचन दोऊ होनी होई सो नाम धरावें ।
—पद १०२, पृष्ठ ३३९ ।

तत्सम तथा विदेशी शब्दों का विरल प्रयोग है—फिर भी कुछ शब्द मिलते हैं—

तत्सम :—अभिराम, अनुराग, अद्भुत, द्रुम, अखिल, आलय, तिमिर, उलूक, अनुग, मारत, सुरभि, प्रतीति, अनुकूल, दृग, दक्षिण, अग्रज, अनुज, वारिधि, प्रतिकूल, संक्रांति, सहोदर, सरसी, द्रव्य, दुंदुभी, मुदित, वारिज, श्रम, स्वेद, उद्योत, विस्मित, उद्गार, तव, तम, ग्रीवा, उद्भव, कन्दर्प, अलंकृत, अभिषेक, व्योम, उच्छिष्ट आदि ।

संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त लाड़सागर में फारसी, अरबी और तुर्की के शब्दों का भी समावेश पाया जाता है :

फारसी—साज़ी, जरकसी (जरकश), जीन, लगाम, नीसान, (निशान), दरबारा (दरबार), दरियाई (दरियाइ), गिलम, आतसबाजी, चाबुक ।

अरबी—रकम, इजार, जहाज, तुर्रा, मसाल (मशाल), साव, तास (ताश), गरूर, मुरब्बा (मुरब्बः), बाग ।

तुर्की—चिक (चिक), कलगी ।

एक दो स्थान पर वाक्य-रचना उर्दू व्याकरण के अनुसार हुई है, जैसे :

मन सोभा मनजुब जहां लसैं बसन बादले जामें ।
—पद १६०, पृ० २०८ ।

नगनि की जोति चल चौंधि दृग होति है ।
बादले बसन को छबि जु बाढ़ी घनी ॥
—पद ४, पृ० २४२ ।

जिन विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है वे सब बोलचाल में नित्य प्रयोग में आने वाले शब्द हैं । उनके प्रयोग से भाषा की सरसता में किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँची है ।

छन्द

लाड़सागर गेय पदों में ही लिखा गया है । किन्तु उसमें दोहा, अरिल्ल, सोरठा, कवित्त, छप्पै (छप्पय) मंगल करषा और चौपाई छंदों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इसके पद राग-रागिनियों में बँधे हैं । सम्पूर्ण लाड़सागर में लगभग ४० रागों का प्रयोग हुआ है । शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से ये पद गाए जा सकते हैं और राधावल्लभीय समाज में गाए भी जाते हैं । राग और छन्द के साथ लाड़सागर में लोकगीत भी पाए जाते हैं—बन्ने, बन्नी, गारी पर बने गाने, भात, लगन, घोड़ी, आदि लोकगीत के अन्तर्गत ही आते हैं । किन्तु ये लोक-गीत की मार्मिकता से रहित हैं ।

लाड़सागर का रचनाकाल

लाड़सागर की रचना किसी एक विशेष काल में नहीं हुई । इसके विभिन्न प्रकरणों की रचना विभिन्न काल में बिना किसी निश्चित क्रम से हुई है । अतः लाड़सागर का

की दृष्टि से सहायक हो सकती हैं। किशोर उपासना के कारण महाभारत के अथवा योग-शास्त्र के कृष्ण को यहाँ कोई स्थान नहीं है। यदि वृन्दावन-रस की कसौटी पर 'राधाकृष्ण' के मधुर रूप की परख करनी हो तो व्रजप्रेमानन्द सागर की लहरियों में अवगाहन करके ही यह सम्भव है। व्रजप्रेमानन्द सागर माधुर्य भक्ति के उस रूप का प्रतीक है जो वात्सल्य के मार्ग से शृंगार के उज्ज्वल पक्ष तक पहुँचता है। भावों का गांभीर्य उसमें नहीं है किन्तु सरसता से आप्लावित होने के कारण शान्त-स्निग्ध पयस्विनी की निर्मल जल-धारा के समान पाठक के मन को आनन्द और उल्लास के सागर में निमज्जित करने की उसमें अद्भुत क्षमता है।

वर्ण्य-विषय-विस्तार

व्रजप्रेमानन्द सागर की रचना में प्रवृत्त होते समय भक्तकवि वृन्दावनदासजी श्री हितहरिवंशजी की वंदना करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि—'तुम प्रिय दम्पति चरित सु कथा सौ प्रेरौ मो बानी जथा।' अर्थात् राधाकृष्ण का चरित वर्णन ही उनका अभीष्ट विषय है। किन्तु राधाकृष्ण चरित व्रज में केवल किशोरावस्था तक माधुर्य रस में ही स्वीकृत होता है। इसे स्पष्ट करते हैं—

> व्रज लीला माधुर्य रस सकल रसनि सिर मौर।
> या सुख कनकी बानगी मिलै न दूजी ठौर॥

व्रजलीलाओं का भी अमित विस्तार है। चाचाजी ने यथासम्भव उन सभी छोटी-बड़ी लीलाओं को अपनी वाणी में स्थान दिया है जो कहीं भी किसी भी रूप में प्रचलित रही हैं। पुराणों की आख्यानात्मक लीलाओं के साथ छद्ममयी मोहक लीलाओं का विस्तार करने में तो आपको पूर्ण दक्षता प्राप्त है। व्रजप्रेमानन्द सागर का विभाजन लहरियों में किया गया है। प्रत्येक लहरी में जो विषय वर्णित हुआ है उसका सारत. नामोल्लेख लहरी के अन्त में मिलता है। ६८ लहरियों का यह विशाल सागर ६१४७ छन्दों (दोहा चौपाई) में समाप्त हुआ है। हम इसके प्रमुख विषयों का लहरियों के अनुसार निर्देश करके यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि चाचाजी का मन किस आधारभूत भाव-वस्तु को पकड़कर इस रचना में लीन हुआ था।

प्रथम लहरी मंगलाचरण-वंदना-स्तुति तथा काव्य-विषय संकेत प्रस्तुत करती है। इसमें १२ छन्द हैं। दूसरी लहरी में व्रजपति के भवन में कृष्ण के उत्पन्न होने और माँ यशोदा के शिशु को खिलाने का वर्णन है। बच्चों की शिशु-क्रीड़ा के वर्णन में चाचाजी की सूक्ष्म दृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। बच्चे का सांगोपांग चित्रण व्रज की वेशभूषा के सर्वथा अनुरूप और आकर्षक है। इसी शिशु-क्रीड़ा में पूतना का आना और परास्त होना, शकटासुर का वध, तृणावर्त का नाश, इस शैली में वर्णित हुआ है कि माधुर्य भक्ति की सुकुमार भावना में किसी प्रकार की परुष और कठोर, भयावह और बीभत्स भावना नहीं आने पाई है। जिस सहज स्वाभाविक रूप में इन घटनाओं को चाचाजी कह गये हैं वह इस बात का निदर्शन है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के लिए ये समस्त क्रियाकलाप नगण्य और तुच्छ हैं। वे इनसे

'श्री राधा लाड़ सुहाग' की रचना सम्वत् १८३५, शुक्ल पक्ष नवमी को हुई :

ठारह सै पैंतीसयौ नौमी सुकला माह।
पूरन कीयौ ग्रन्थ यह रसिक दैन उत्साह॥

—पृष्ठ ३५४।

उपरिलिखित प्रकरणों का रचनाकाल क्रमानुसार इस प्रकार है :—

श्री राधा बाल विनोद	सम्वत्	१८३२
श्री कृष्ण बाल विनोद	"	१८३१
श्री कृष्ण सगाई	"	१८१२
श्री कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा	"	१८१३
श्री विवाह मंगल	"	१८१७
श्री ब्रज विनोद	"	१८०४
श्री राधा छवि सुहाग	"	१८३१
श्री जसुमति मोद प्रकाश	"	१८३२
श्री राधा लाड़ सुहाग	"	१८३५

'श्री ब्रज विनोद' की रचना सबसे पूर्व हुई और 'श्री राधा लाड़ सुहाग' की रचना सबसे अन्त में। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि 'लाड़सागर' का रचनाकाल सम्वत् १८०४ से १८३५ तक है।

२—ब्रजप्रेमानन्द सागर

बाबा वृन्दावनदासजी के ग्रन्थों में 'ब्रजप्रेमानन्द सागर' अपनी विशालता, विविध रसों की परिपूर्णता, महाकाव्य-शैली की अनुरूपता और वर्ण्य-विषय की विविधता के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गो० तुलसीदास के रामचरितमानस की दोहा-चौपाई शैली में कथानुबन्धपूर्वक राधाकृष्ण के शैशव से लेकर विवाह पर्यंत क्रीड़ा-कौतुक का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। ब्रज संस्कृति का अध्ययन करने के लिए इस ग्रन्थ को पीठिका बनाया जा सकता है। ब्रज का लोक-जीवन जितनी समग्रता के साथ इस ग्रन्थ में प्रतिपादित हुआ है कदाचित् सूर के पदों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। सूरदास की रचना मुक्तक शैली में है अतः कथा की सतत आकांक्षा और युग के प्रति उत्सुकता का उसमें प्रायः अभाव रहता है किन्तु ब्रजप्रेमानन्द सागर की आख्यानात्मक शैली में मुक्तक की निरोध वृत्ति नहीं है। राधाकृष्ण के जीवन की घटनाओं को समेटकर उन्हीं के ताने-बाने पर काव्य का ढांचा खड़ा किया गया है। फलतः पाठक कथा के मोहक आकर्षण में बंधकर इसे पढ़ने में तन्मय हो जाता है।

ब्रजमंडल की कृष्ण-लीलाओं का आधार भागवत पुराण है। राधा को कृष्ण के साथ अन्य कवियों ने स्वकीया और परकीया दोनों रूपों में सम्बद्ध कर अपनी-अपनी साम्प्रदायिक धारणा का पोषण किया है। किन्तु राधा और कृष्ण के वर्णन में शैशव से कैशोर तक की उन्हीं घटनाओं को ग्रहण किया गया है जो माधुर्य-भक्ति के क्षेत्र में रसातिरेक (अतिशय)

२१वीं लहरी तक वर-वधू का नन्दपुर आना और नन्दपुर में विवाहोपरान्त की क्रियाओं का उल्लेख किया है। इसके बाद ५७ से ६८वीं लहरी तक लाड़िलीलाल और राधा के प्रेम-वर्णन के साथ गौना-प्रसंग, प्रथम-समागम तथा मन्दिर प्रवेश, शृंगार वर्णन, वसन्त होली आमोद, पुरजन-परिजन आनन्द-वर्णन, वन-विहार, शैया-सुख, आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

समस्त ब्रजप्रेमानन्द सागर ६८ लहरियों में समाप्त हुआ है। दोहा-चौपई मिलाकर कुल ६१४७ पदों का यह विशाल सागर चाचाजी की वर्णन-कुशलता का परिचायक है। वर्णन-विस्तार के साथ गृहस्थ-जीवन की उन सूक्ष्म बातों का चित्रण इस ग्रंथ में हुआ है कि जिनको पकड़ने और व्यक्त करने के लिए सूक्ष्म और प्रखर दृष्टि वांछनीय होती है। बाल-लीला और बाल मनोविज्ञान के पारखी सूरदास के समान चाचा वृन्दावनदासजी भी उन सभी गुह्य स्तरों में प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं जो मनोविज्ञान के पारंगत पंडित के लिए ही सम्भव होता है। ग्रंथ के अन्त में यह दोहा लिखा है—

दूलह दुलहिन के भरे लाड़ रतन या माहि।
ब्रज प्रेमानन्द सिंधु की सीमा की मिति नाहि॥
अड़सठ लहरी में गनी बुधिवल सहित विवेक।
ब्रजरस चरित उदधि लहैं बीते कल्प अनेक॥

ग्रंथ रचना का काल भी अन्त में इस प्रकार दिया है—

ठारहसौ अड़तीस सुभ संवत् पौष जु मास।
सुदिन ग्रन्थ पूरन भयौ दुतिया ससि जु प्रकास॥
वाणी अर्थ विचार चित भजन भीजि रस रीति।
केलिदास हस्ताक्षरनि लिखो जु गरवी प्रीति॥
नृपति बहादुरसिंघ के जुगल चरित हिय लाल।
इहनातें छिन-छिन बढ़ें कहन सुनन अनुराग॥
इकसत ऊपर षटसहस संतालीस जु और॥
एते दोहा चौपई लीला सांवर गौर॥
—ब्रजप्रेमानन्द सागर (हस्तलिखित प्रति)
(श्री व्रजवल्लभजी मुखिया, प्रेमगली, वृन्दावन से प्राप्त)

काव्य-सौष्ठव

'ब्रज प्रेमानन्द सागर' वात्सल्य, शृङ्गार, हास्य और करुण रस का अगाध भंडार है। राधा और कृष्ण की बाललीलाओं में वात्सल्य अंगीरस है और हास्य उसका अंग बन कर स्थान-स्थान पर बिखरा पड़ा है। तीसरी लहरी की कृष्ण दामोदर लीला में वात्सल्य के साथ अद्भुत रस की सृष्टि करके अच्छा चमत्कार खड़ा किया गया है। 'दूधमोचनी खेल', 'मूसलाक कौतूहल', 'प्रथम गो दोहन मैयासुख', 'सांझीखेल' आदि से सम्बद्ध लहरियां वात्सल्य और

चारों ओर के वातावरण में सौंदर्य और माधुर्य के अतिरिक्त किसी और दृश्य या घटना को जैसे देखना ही नहीं चाहते। वर्णनात्मक शैली के प्रवाह की दृष्टि से भी दूसरी लहरी का शिशु-प्रसंग बहुत सुन्दर है। ५८ छंदों में कृष्ण के बाल-विहार का वर्णन हुआ है। बाल-विहार का एक प्रसंग हम यहां उद्धृत करते हैं—

दोहा—अब बरनौं ब्रजपति भवन जसुमति लाडलिलाल।
हरषि झुलावति पालनें देति चक्रोडा भाल॥

चौपई—कर डोरी जु पाट की गहि कै सुन्दर करटारित रटि रहिकैं।
सुतहि निरखि मैया मन हुलसे लाल अंगूठा पुनि-पुनि चौसें॥
चुटकी दै-दै कैं दुलरावें, नारायन को कृपा मनावें।
पीत झुगुलिया तन प्रति राजें, टोपी सिर तासकी बिराजें॥
नाक नथूली बघ नख गरें, माइ खिलावति अंकन धरें।
निरखि-निरखि कैं सुन्दर आनन, जननी चिबुक प्रलोकति पानन॥
कबहूं कांधें धरि दुलरावें, पुनि उर धर पयपान करावें॥
तहां पूतना विहँसित आई, लाल गोद भरि लियो उठाई॥
तिन कछु खोटी बुधि निमेई! जननी को गति ताकें दई॥
गोप गोपिकन अचरज मानौ, कियो सहाय नरायन जान्यो॥
औरो जतन अनेक जु करें, मंगलदीव आन ढिग धरें॥
टूक-टूक गाडा करि डारयो, सकटासुर इहि विधिसौं मारयो॥
त्रिनावर्त्त गोदी में धरि कैं, ले गयो गगन बहुत बल भरि कैं॥
गरोप करिकैं ताकौं मारयो, असुर प्रचंड अवनि लै डारयो॥

इसके पश्चात् ३, ४, ५ और ६ लहरियों में कृष्ण की दामोदर लीला, वच्छ पालक लीला, दधि माखन चोरी लीला का वर्णन है। वच्छ पालन लीला में ब्रज संस्कृति की बड़ी सुन्दर झांकी देखने में आती है। सातवी लहरी से १९वीं लहरी तक राधा की शिशु-क्रीड़ाओं का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इनमें केवल बालचरित्र ही नहीं वरन् सांझी लीला, अष्टसखी की वर्षगाठ, ढूंकमीचनी खेल आदि का बड़ी सजीव शैली से वर्णन हुआ है। २०वीं लहरी से ३८वी लहरी तक पुनः श्रीकृष्ण की विभिन्न क्रीड़ाओं और लीलाओं को प्रस्तुत किया है। इनमें कन्दुक-क्रीड़ा, गोचारन लीला, वसन्त, होली, ग्रीष्म ऋतु वर्णन, वर्ष-गांठ, उत्सव वर्णन आदि मुख्य हैं। प्रत्येक लीला में, क्रीड़ा में, उत्सव और ऋतु वर्णन में ब्रज संस्कृति की अद्भुत छाप दृष्टिगत होती है। ३९वीं से ४२वी लहरी तक राधा के विवाह की तैयारी और हल्दी चढ़ना, तेल लगना आदि प्रारम्भिक क्रिया-कलापों का विस्तार है। ४३वीं से ४६वीं लहरी तक कृष्ण के विवाह की तैयारी तेल चढ़ना आदि का तथा बारात की तैयारी का पूर्ण ब्यौरेवार विवरण दिया गया है।

४७वीं से ५२वीं लहरी तक विवाह की ज्योंनार, भांवर, कुंवर कलेऊ, पलकाचार, मंगल विदा का वर्णन इतनी सरस और सजीव शैली में चाचाजी ने लिखा है कि समस्त वैवाहिक कृत्य पढ़ने से ही नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष से उपस्थित हो जाते हैं। ५३वीं लहरी से

कनक कदलि छवि जंघ विशेखी, पिंडी सु ठौन अनूपम देखी ॥
नखनि कान्ति ससि पांति लजावै, नव दुलहिन इह विधि छवि पावै

उपर्युक्त दोनों नखशिख वर्णन परम्पराभुक्त आलंकारिक शैली में लिखे गये हैं। इनमें यद्यपि न तो कोई नवीन सादृश्य-विधान है और न अप्रस्तुत-योजना में ही कोई प्रतीकात्मक चमत्कार। फिर भी परम्परा का निर्वाह और प्रवाहपूर्ण शैली में लिखे हुए इन दोनों वर्णनों को पढ़कर यह मानना होगा कि चाचा वृन्दावनदास अलंकारों के समीचीन प्रयोग में प्रवीण थे और परम्परा का उन्हें पूरा-पूरा बोध था।

३—जुगल-सनेह-पत्रिका

श्याम-श्यामा के दिव्य प्रेम का वर्णन करने के लिए चाचा वृन्दावनदासजी ने मांझ शैली में जुगल-सनेह-पत्रिका लिखी है। इसमें १५४ माँझ हैं, ६ दोहे अन्त में पत्रिका की प्रशंसा में लिखे हैं। यह पत्रिका राजा बहादुरसिंह राठौर के आग्रह पर कृष्णगढ़ में लिखी गई थी—

कुल राठौर जु भक्ति पति नृपति बहादुर नाम।
जुगल सनेह यह पत्रिका लिखी जु तिनके धाम॥
इकसत चौवन मांझ मधि भरी जु हित रस रीति।
केलिदास हस्ताक्षरनि लिखी सु गरुवी प्रीति॥[1]

जुगल-सनेह-पत्रिका में राधाकृष्ण प्रेम के विविध रूपों का माहात्म्य मांझों में वर्णित हुआ है। राधाकृष्ण के स्नेह को प्रेम का महाभाव माना गया है जो प्राकृत प्रेम से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी मेंढक और मीन को कमल-गन्ध का आनन्द प्राप्त नहीं होता, केवल भौंरा ही उसका आस्वादन करता है, इसी प्रकार इस प्रेम के मर्म को प्रत्येक सांसारिक व्यक्ति नहीं समझ सकता। केवल वे उपासक ही इसके अंतरंग मर्म को समझते हैं जो इस मार्ग के रसिक उपासक हैं :—

महाभाव दम्पति रसवर्तिया समुझति सखि सहेली।
कमलागन्ध को अलि ज्यौं मरमी जा उर लगन गहेली॥
दादुर मीन चिन्हार न तासौं जदपि रहै नित मेली।
वृन्दावन हित रूप जान तत सुख जु उपास दुलेली।[2]

राधाकृष्ण के प्रेम को गंभीर और अगाध मानकर उसे सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर की बात माना है। लालजी (कृष्ण) के मन में जब राधा-प्रेम हिलोरें मारता है तब वे उन्मत्त होकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं :—

गरुवो नेह नवल नागरिको कोऊ थाह न पावै।
लाल नेह उर उछरि परत है तातैं नाच नचावै।

१. जुगल-सनेह पत्रिका—प्रकाशक—भीमसेन रामानन्द वकील, भिंड (ग्वालियर) पृ० ३०
२. „ „ „ „ „ „ „ २

हास्य की सुन्दर निदर्शन हैं। राधाकृष्ण के विवाह-मंगल-वर्णन में श्रृङ्गार रस का सुन्द परिपाक हुआ है। इसके बाद ५२वीं और ५३वीं लहरी में शृंगार के साथ ही करुण र की अद्भुत छटा देखने में आती है। राधा का नन्दपुर जाना और अपने 'मायके' (पितृगृह के लिए अधीर होना बड़े सहज रूप से कन्या के पितृगृह-मोह का व्यंजक है। इन दोन लहरियों में शृंगार रस की अजस्र निर्झरिणी झर रही है।

इस ग्रंथ की भाषा ब्रज है किन्तु दोहा-चौपाई के कारण कहीं-कहीं रामायण की शैली पर अवधी की पदावली इसमें समाविष्ट हो गई है। कदाचित् यह रामायण के पारायण का अलक्षित प्रभाव हो। उदाहरणों द्वारा रस, भाव, भाषा आदि पर समुचित प्रकाश पड़ सकता है किन्तु हम यहां संक्षेप में ही ग्रन्थ-परिचय मात्र दे रहे हैं अतः व्यापक समीक्षा को बचाया गया है। ६२वी लहरी से हम शृंगार-रस की व्यंजना करने वाले राधाकृष्ण के नखशिख-सम्बन्धी दो उदाहरण प्रस्तुत करके ब्रज प्रेमानन्द की प्रवाहमयी भाषा और अभिव्यंजना को स्पष्ट करना चाहते हैं। इन उदाहरणों से चाचा वृन्दावनदास की लेखनी की क्षमता बड़े सुन्दर रूप से व्यक्त हो जाती है।

श्रीकृष्ण के नखशिख का वर्णन—

आनन शशि के निकट लजावें, नासा की सम शुक क्यों पावें ॥
नैन बान खर सान जु धरें, मदन यलो से घायल करें ॥
गोल कपोलनि निर्मलताई, कुण्डल की द्युति तिन मधि छाई ॥
अरुन अधर की अद्भुत ओभा, पाक बिंब की हरिलई सोभा ॥
बेसरि मोती राजत ऐसे, रमैं स्यामगिरि भृगु सुत जैसे ॥
कंबु कंठ उपमा सम नाहीं, भुज बेलत जु भुंवग लजाहीं ॥
पीन अंस उर सोभा सरसैं, भृगु रेखा कौस्तुभ मणि बरसैं ॥
उदर सुधाद नाभि अति गहरी, जहाँ उठत सोभा की लहरी ॥
लंक देखिकैं केहरि झुरहीं, मुखन दिखावें बन बन दुरहीं ॥
जघन सघन छबि पिडुरी गोल, पद तल सोहित मनसिज टोल ॥
सीस मुकुट बैजन्ती माला, अग छबि सोभा अजरति लाला ॥

राधा का नखशिख वर्णन—

गोल गरूर भौंह धच राजें, मनु धुन सति कर धनुष बिराजें ॥
दृग बिसाल अंजन जुन लोने, भीजत कछू लाल जुन कोने ॥
ऐसे राजत त्रिबलो ग्रीवा, मुख रचिविधि मनु काढ़ी सीवा ॥
भुज मृनाल की छबि हरि लीनी, छोब चन्द्र बाजू छबि दीनी ॥
अंगुरिन मुंदरी अनि से लसें, नखरंजनी मनु अनि लगि हँसें ॥
पग्गा हरिन हमेल बिराजें, मनु गिरि कनक पांति सुक राजें ॥
हूरनी नाभि उदर पर त्रिबली, मानो कनक सिढ़ीगुहि अवली ॥
कहा कहों सोभा कटि खीनी, उपमा केहरि की पर कीनी ॥

लोचन लोल ठुमुकि पग राखति चलत देखि परछाहीं।
छवि छाकी इहि विधि ग्रलबेली प्रीतम के गरबाहीं॥
रहि रहि जाति खगनि के कौतिक ठाढ़ी जहाँ तहाँही।
वृन्दावन हित रूप बहुरि उरझति रसवति मनि माहीं॥
उच भाल पर बैंदी मनु ससि ग्रंक लसै मसि छौना।
ता ग्रागे जु मीन द्वै चंचल मानौ रुचिर खिलौना॥
छूटो मुख मंजुल जु मयूखें शोभा बढ़ी ग्रंगौना।
वृन्दावन हित रूप लाल दृग ग्रोक जु ग्रभी ग्रंचौना॥[1]

राधाकृष्ण के प्रेम के बिना संसार में ग्रानन्द की प्राप्ति संभव नहीं। जिस प्रकार ग्राकाश में उड़ते हुए पक्षी की कूप में पड़ी परछाहीं को झपटकर कोई नहीं पकड़ सकता वैसे ही बिना राधाकृष्ण प्रेम के कोई दिव्य सुख नहीं मिल सकता।

गौर श्याम के भजन न भीजौ प्रेम नहीं उर कपटी।
कूँवा पर्यो ग्रकास उड़त खग तिनकौं करै जु झपटी॥
रसिक कहावै सोई जाकैं वम्पति मिलन चटपटी।
वृन्दावन जिस रूप प्रेम की जानौं सृष्टि ग्रटपटी॥
महिली की गति महिली जानै लखै न बाहिर बारौ।
नृप की रहनि कहनि क्यों पावै भेड़ चरावन हारौ॥
गौर स्याम चरितन कौ मरमी धरमी कौ व्रत भारौ।
वृन्दावन हित रूप रसिक जन कौ रस गहर ग्रखारौ॥[2]

रसिकों के लिए भी इस पथ को दुर्गम बताते हुए उन लोगों को चाचाजी ने सावधान किया है जो केवल बाहरी ग्रनुकरण द्वारा रसिक बनने का दम्भ करते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, काम ग्रादि पापों में फँसे हुए व्यक्ति रसमार्ग का निर्वाह नहीं कर सकते ग्रतः उन्हें इस पथ का ग्रनुगमन नहीं करना चाहिए :—

देखादेखी रसिक न होई है रस मारग बंका।
ग्रसहन निन्दा करत पराई कबहूँ न मानै संका॥
कहा सिंह की सरवर करिहै गीदर फिरै जु रंका।
वृन्दावन हित रूप छक्यौ जिन दियौ ग्रनन्य पथ डंका॥

संक्षेप में, माँझ शैली की यह पद-रचना चाचाजी की भक्तिभावना को प्रकट करने वाली सुन्दर रचना है। प्रेम का स्वरूप, रसमार्ग की गम्भीरता, राधा का सौंदर्य ग्रौर कृष्ण का ग्रनुराग उसमें गेय पदरचना (मुक्तक शैली) द्वारा व्यक्त किया गया है। ग्रनन्य रस ग्रौर

१—जुगल-सनेह-पत्रिका—ग्रप्रकाशित, पृ० १७–१८, पद सं० ६१–६४।
२—वही वही पृ० २० पद सं० १०४–१०५।

> दुहू हितन की संधि सहेली सो रचि छन्दहि गावें ।
> वृन्दावन हित रूप कृपा करि रसिकनि सुविधि सिखावें ॥[१]

प्रेम के रणक्षेत्र का बाँकुरा सिपाही अपने कलेजे पर लगे घावों से व्याकुल नहीं होता वरन् बार-बार उन्हीं घावों की इच्छा से इस क्षेत्र में आता है। शरीर के घाव के समान इसके मन के घाव प्रत्यक्ष दीखते तो नहीं, भीतर ही भीतर उनकी पीड़ा उसे सताती है। रूप की चोट से प्रेमी का हृदय घायल हुआ है किन्तु वह उस चोट को पाने के लिए फिर-फिर इच्छुक बना रहता है।

> रूप चोट प्रीतम उर लागी, पुनि-पुनि सूर सराहे।
> प्रेम खेत कौं अलन बाँकुरो, वही लग्यो पुनि चाहे ॥
> मन को घाव दिखावे काको मन ही मन अवगाहे।
> वृन्दावन हित रूप बान विध्यौ तदपि नाँहि कराहे ॥
> बेपरवाहि खिलारी पुनि-पुनि चोट तहाँ ही डारे।
> साँचौ सूर भावतो अपनो पगन पिछाड़ौं डारे ॥
> ऐसो प्रेम खेल अति बाँको इत उत कोऊ न हारे।
> वृन्दावन हित रूप रीझ घायल पुनि ताहि सम्हारे ॥[२]

प्रेम-वर्णन के बाद मधुर रस का वर्णन किया है। यद्यपि प्रेम और रस में तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किन्तु वह रस आस्वाद्य स्थिति का सूचक होने से उसका वर्णन प्रायः सभी रसिक-वृन्द पृथक् रूप से करते आये हैं। यह रस (वृन्दावन रस) ब्रह्मलोक, पाताल, मर्त्यलोक कहीं दिखाई नहीं देता। कमलापुर के देवता भी इसके लिए तरसते रहते हैं। केवल रासेश्वरी श्री राधा की कृपा से यह रस रसिकों को ही प्राप्त होता है।

> यह रस ब्रह्मलोक पाताल अवनिहू दरसत नाहें।
> या रस कौं कमलापुर हू के तरसत है मनमाहें ॥
> यह रस रासेश्वरी कृपा तें प्रेमी जन अवगाहें।
> वृन्दावन हित रूप जुगल रहें या रस भरें उमाहें ॥[३]

राधा के रूप-सौंदर्य का वर्णन करके कृष्ण का उनके प्रति अनुराग प्रदर्शित किया गया है। 'वृन्दावन रस' में रूप का आकर्षण बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप की डोर से ही लालजी खिंचे चले आते हैं। यदि रूप की डोर न होती तो प्रेम की पतंग आकाश में न उड़ने पाती अतः इस डोर को थामे रहना अनिवार्य माना गया है :—

---

१. जुगल-सनेह-पत्रिका—प्रकाशक—भीमसेन रामानन्द वकील, भिंड (ग्वालियर), पृ० ४
२. वही—प्रकाशित, पृष्ठ ४, पद २४-२५।
३. वही— „ पृष्ठ ११, पद ५५।

नमामि श्री हरिवंश चरन दृढ़ रति नरवाहन ।।
जुगल केलि धनु दयौ व्यास नन्दन उत्साहन ।।
नमामि श्री हरिवंश प्रबोधानन्द सहायक ।।
नमामि श्री हरिवंश विपिन सम्पति वर सायक ।।
नमामि श्री हरिवंश भक्ति दत्त हरिदास श्रप ।।
नमामि श्री हरिवंश पंज रासी जु विदित जस ।।२१८।।

इसी प्रसंग में आगे परमानन्द, पूरनदास, नाहर लय लोचन, विठ्ठलदास, मोहनदास, गंगाबाई, जमुनाबाई, कर्मठीबाई, नवलदास, मनोहरदास, गंग्, गोविन्ददास, छबीलीदास, हरिप्रियादास, सोमनाथ, मोहन, रंगानन्द, जयमल, चतुर्भुजदास, नागरीदास, लाल स्वामी, ध्रुवदास, कल्याण पुजारी, दामोदर, अनन्त भट्ट, सोठा स्वामी, जसवंत, भागमती, मधुकर, द्वारकादास, रामदास, कन्हर स्वामी, आदि अनेक सन्त महानुभावों का वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नामोल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय की विशेषताओं का भी हरिवंश सहस्रनाम में यत्र-तत्र संकेत है। कुछ पद इतने गूढ सांकेतिक अर्थों से पूर्ण हैं कि उन्हें पढ़कर चाचाजी की गहन विवेचन शैली पर आश्चर्य होता है। वृन्दावन धाम की महिमा, युगल उपासना का उत्कर्ष, अपने धर्म में अनन्य बुद्धि, बाह्यधर्मोपचार सम्बन्धी नियम-व्रत का तिरस्कार आदि भावों को एक-एक पंक्ति में इतनी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है कि स्तवन-शैली के साथ धर्म की रहस्यात्मकता का भी बोध होता जाता है—

नमामि श्री हरिवंश धाम सर्वोपरि भाख्यो।
नमामि श्री हरिवंश मिथुन रस गुरुवौ राख्यौ ।।२६६।।
नमामि श्री हरिवंश नेम व्रत त्रिन सम तोड़े।
नमामि श्री हरिवंश कोश सुख निधि धन खोले ।।२६६।।
नमामि श्री हरिवंश धर्म पंथ बांको अति है।
नमामि श्री हरिवंश निविड़ कोऊ चल्यौ सुमति है ।।४४८।।

भागवत धर्म का प्रतिपादन करते हुए हरिवंशजी का स्मरण भी चाचाजी ने किया है। भागवत के पथ की रहस्यात्मकता ही हरिवंश जी का पथ है ऐसा निम्नलिखित पदों से ज्ञात होता है। यद्यपि भागवत पुराण ही सभी वैष्णव सम्प्रदायों का मूलाधार है किन्तु हरिवंशजी ने कतिपय आचार-मर्यादाओं में परिवर्तन किया था। चाचाजी ने यहां केवल भागवत का माहात्म्य ही कहा है और उसे हरिवंशजी के नाम-स्मरण के साथ गाया है—

नमामि श्री हरिवंश कह्यौ सब कर्म मर्म है।
नमामि श्री हरिवंश रहसि भागौत धर्म है ।।४८२।।

१—श्री हितहरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित) वृन्दावन—पृष्ठ २१ से २८ तक।

एकनि सें रसभक्ति ज्ञान की सम्पुट दीनी ॥
एक सकामिनु भक्ति कर्म के अनुगत कीनी ॥
सुद्ध भक्ति की रीति रही सो उनते न्यारी ॥
अद उज्वल रस मांहि कछू गति भेद बिचारी ॥३६॥

हितहरिवंशजी के जीवन की अनेक घटनाओं का 'सहस्रनाम' में ब्यौरेवार वर्णन भी मिलता है।

सुकल पक्ष हरि बासर माघव मास रली है ॥
लगन नक्षत्र पुनीत ब्यास द्विज आस फली है ॥
मंगल समै सुजोग सोमवासर विचार चिता ॥
सिद्ध कलेवर जदपि तदपि सायिक कियौ पर हित ॥५०॥

+ + +

ब्रज अवनी षट मास रहे थल दिव्य निहारे ॥
सुख पूरित द्विजराज बहुरि देवन पगु धारे ॥
बन्दौ हिय कर मिश्र भये नौ नन्दन तिन घर ॥
ब्यास मिश्र के बन्धु सकल गुन लक्षन आगर ॥७२॥

+ + +

पांच वर्ष के भये जबहि श्री ब्यास दुलारे ॥
तब उपवन चलि जाय खेल नाना विस्तारे ॥
पिता बागमधि कूप तहां श्री विग्रह जान्यो ॥
धाइ परे जल कूप आपुसो भुजभरि आन्यो ॥
प्रभु रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी ॥
रीझि लडैती कुंवरि अपनी पद्धति सोंपी ॥
मंत्रराज रसनिकर माहिली सम्पति दीनी ॥
करवर भाल विशाल कृपा अति विनमित कीनी ॥११४॥

प्रारम्भ के २०० पदों में श्री हितजी के जन्म की प्रारम्भिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। उसके बाद हरिराम व्यास जी के शिष्य होने का संकेत भी इसी वाणी में है—

नमामि श्री हरिवंश नाम अघ तरु को धारा ॥
नमामि श्री हरिवंश नाम रसिकन उर धारा ॥
नमामि श्री हरिवंश ब्यास उर संसै छेदन ॥
नमामि श्री हरिवंश हरन हृद रोग जु वेदन ॥२०८॥

इसी प्रकरण में उन साधु-सन्तों का भी नामोल्लेख है जो श्री हितहरिवंशजी के सम्पर्क में आये या उनसे प्रभावित हुए थे।

रचना-काल :

इस ग्रन्थ के अन्त में समाप्ति काल सम्वत् १८२५, माधव मास, शुक्ल पक्ष एकादशी लिखा है, प्रारम्भ करने का उल्लेख नहीं है।

ठारह से पच्चीस यौ, वर्ष जु माधव मास।
सुकल पक्षि एकादशी, पूरन ग्रन्थ प्रकास ॥
—दोहा ५, पृष्ठ ३८।

वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त परिचय :

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय वृन्दावन की महिमा है। उस भूमि की महिमा का पार कौन पा सकता है जो भक्त के आराध्य की रसमयी क्रीड़ाओं का एकमात्र स्थल है। यह सुरम्य वृन्दावन इसी भूतल पर अवस्थित है।

महिमा वृन्दारन्य की पार न पायौ सेष।
विधि ऐस्वर्य विचार तें, लह्यौ न ताकौ लेस ॥ १ ॥
बरनत हारी सारदा, नारद मुनि व्यासादि।
क्रीड़त वल्लभ राधिका, सुखमय धाम ग्रनादि ॥ २ ॥ —पृष्ठ ३७।

इसकी रजकण की प्राप्ति के लिए शिव, ब्रह्मा, योगी आदि सब तरसते हैं। इस धाम का अवतार भगवान के अवतार के साथ ही हुआ था :—

ज्यौं सलिल अंड को ईश ब्रज अवतर्यौ।
त्यौं जु यह धरा को रूप बनपति करै ॥
पद सं० ६, पृष्ठ ६।

वृन्दावन स्वयं सच्चिदानन्द का रूप है—

सच्चिदानन्द यह रूप ब्रजचन्द को,
कियौ नर नारि रस मधुर जग विस्तर्यौ।
—पद सं० ६, पृष्ठ ८।

सत चित आनन्द रूप है, श्री वृन्दावन धाम।
वृन्दावन हित रूप जहाँ, खेलत स्यामा स्याम ॥
—पद सं० ६, पृष्ठ ३८।

वृन्दावन चैतन्य रूप है। इसकी माया रूपी नटनी का कोई वश नहीं चलता।[1] वृन्दावन एक रस है[2], नित्य है[3], प्रेम का आगार और सुख का सार है[4], त्रिगुणात्मक माया से

१. पद सं० ३, पृ० ३ अवनी ब्रह्म रूप चैतन्य है। इदम परसतु नहीं जहां माया नहीं
२. „ ६ „ ८ एक रस रहत हं सदा फूल्यौ फल्यौ।
३. „ ६ „ ८ धरा चलि जाएगी धाम यह एकरस।
४. „ ११ „ १० प्रेम आगार सुख सार ही थवित नित।

नमामि श्री हरिवंश सार भागौत संग्रह्यो ।
नमामि श्री हरिवंश धानधर्म शुद्ध फल कह्यो ॥४८३॥
नमामि श्री हरिवंश बुद्धि भागौत संचरी ।
नमामि श्री हरिवंश लोक विधिहु सब निदरी ॥४८६॥

वैष्णव-भक्ति के विधायक नाम जप, सेवा, आराधना, पूजा आदि का वर्णन भी हरिवंश नाम स्तवन के साथ-साथ चाचाजी करते गये हैं। यदि हरिवंश सहस्रनाम का आद्योपान्त पारायण किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय की इष्टाराधना तथा सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का बहुत कुछ आभास मिल जाता है। स्तवन के व्याज से चाचा वृन्दावनदास ने इस छोटे से ग्रंथ में उन सभी सिद्धान्तों का समावेश कर दिया है जो इस सम्प्रदाय के आधारभूत हैं। स्तोत्र ग्रंथों में इतनी व्यापक भावना और विषय-प्रतिपादन की क्षमता इसी ग्रंथ में मिलती है। निम्नलिखित पदों में प्रेम सिद्धान्त का कितनी सरलता से प्रतिपादन हुआ है—

नमामि श्री दम्पति प्रेम प्रतन से सतन भयो है ।
नमामि श्री करुना हेत व्यास कुल ओप दयो है ॥६२२॥
नमामि नवल निकुंज रसहित अलि पियो ।
नमामि पर हित दुरत प्रकट ह्वै सब जग दीयो ॥६२३॥
नमामि प्रेम चरित्र एक मैं द्वै जु लखावै ।
नमामि प्रेम चरित्र द्वैनु एकै दरसावै ॥६३२॥

राधा के प्राधान्य का संकेत—

नमामि श्री हरिवंश प्रधान चरन श्री राधा ।
नमामि श्री हरिवंश ललित पद्धति सु अगाधा ॥६८८॥
नमामि श्री हरिवंश प्रसाद प्रताप सुजान्यौ ।
नमामि श्री हरिवंश सोई सर्वसु करि मान्यौ ॥६६०॥

संक्षेप में, हरिवंश सहस्रनाम चाचाजी की रचनाओं में विशिष्ट स्थान रखने वाला स्तोत्र ग्रन्थ है जिसमें राधावल्लभीय भक्ति सिद्धान्तों का सूत्ररूपेण वर्णन मिलता है। प्रायः सभी सिद्धान्तों का सांकेतिक रूप से इसमें समावेश हो गया है अतः भक्तजन इसका पाठ करते हुए नाम-महिमा का आनन्द प्राप्त करने के साथ सैद्धान्तिक तत्त्वों को समझने का भी लाभ उठा सकते हैं।

६—वृन्दावन जस प्रकास बेली

'श्री वृन्दावन जस प्रकास बेली' में राधा और कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि वृन्दावन के माहात्म्य का वर्णन है। वृन्दावन कृष्ण-भक्तों के लिए इस पृथ्वी पर अपने दिव्य रूप में वर्तमान है अतः उसके प्रति अनुराग तथा उसमें निवास पाने की कामना भक्त के मन में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है, चाचा वृन्दावनदासजी ने वृन्दावन महिमा वर्णन में भक्त-हृदय की सरसता और उत्कट प्रेम के अनुरूप काव्य रचना की है।

वृन्दावन दुर्लभ अति निगम कहत रे।
करत रहत हाइ-हाइ बीती सब जाति आयु अति अमोल रतन मूढ़
कर न गहत रे।

+ + +

साधि धर्म रति अनन्य, गुरु प्रसाद हो हु धन्य, कुंज की उपास
सुविधि क्यों न लहत रे।
—पद सं० ७५, पृष्ठ ३७।

वृन्दावन में रहकर मन को पूर्णरूप से वश में रखना चाहिए :—

वृन्दावन इहि विधि सो बसौं।
जथा लाभ सन्तोष प्रदूषित राधा जस रसना रसौं॥१॥
लीला ललित निकुंज केलिसर हिय की हिलगनि सों धसौं।
गौर स्याम अंबुज मकरन्दहि कलहंसी ह्वै कं गसौं॥२॥
श्री हरिवंश कृपा प्रसाद लहि भजन मानसिक उर लसौं।
—पद सं० ३२, पृष्ठ १८-१६।

श्री राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से वृन्दावन ही भक्तों का सर्वस्व है। वही उसके माता, पिता, भाई सब कुछ है :—

वृन्दावन जु मात-पिता भैया।
सब नाते याही सो बनि है और न कोऊ धोर धरैया॥
—पद सं० ६६, पृष्ठ ३२।

कानन मो गति कानन मो पति, कानन जननी जनक सु भैया॥
कानन बस करौ नित निर्भय, यह मन होहि न अनत चलैया॥
—पद सं० ७४, पृष्ठ ३६।

काव्य-सौष्ठव

'श्री वृन्दावन जस प्रकास' में वृन्दावन की महिमा वर्णन में ७५ पद लिखे गए हैं। इनमें भक्त की प्रेमी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति पाई जाती है। अनन्यता, दीनता और हृदय की निर्मलता का स्वच्छ प्रतिबिम्ब इसमें मिलता है। इसके पठन और मनन से भक्ति-भाव की परिपुष्टि होती है। निश्छल भक्त हृदय के भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य में स्वाभाविकता पाई जाती है। कला को कृत्रिम अलंकारों के आवरण से सजाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। भावों की उत्कृष्टता में स्वतः ही कुछ अलंकारों का सुन्दर समावेश हो गया है।

वृन्दावन के माहात्म्य के वर्णन में रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। कुछ सांग रूपक अच्छे बन पड़े हैं। वृन्दावन की अलौकिकता का वर्णन एक सांग रूपक में देखिए :—

परे है[1]। इस धाम की पवित्रता और दिव्यता ने राधा और कृष्ण को भी मोहित कर लिया है :—

जयति वृन्दाटवी उदित भुव चन्द्रमा,
राधिका स्याम कीनें चकोरी ॥
पद सं० १४, पृष्ठ ११।

राधा और कृष्ण वृन्दावन के कुञ्जों में नित्य-विहार कर माधुर्य रस की सृष्टि करते रहते हैं। इनकी माधुर्य-पूर्ण क्रीड़ाओं से स्वयं वृन्दावन ही रस रूप बन गया है और वह सब रसों से श्रेष्ठ है :—

सर्वोपरि वृन्दावन रस है।
रसिक अनन्य पाइ बल गाजत या रसहीन अन्य मनु मसु हैं।
सिव विरंचि नारद सुक बरन्यौं श्री मुख हू गायौ बन रस है।
—पद सं० ५१, पृष्ठ २६।

इस रस में मग्न हो जाना ही भक्त का परम ध्येय है। किन्तु इसकी प्राप्ति श्री राधा की कृपा से ही हो सकती है :—

बनवास लड़ैती दीजिये।
तुम प्रसाद दुर्लभ नहिं स्वामिनि यहै अनुग्रह कीजिए।
—पद सं० ३६, पृष्ठ २२।

ऐसे दुर्लभ रस को छोड़कर मानव मन इन्द्रिय-विषय के रस में लिप्त हो जाता है। इसलिए भक्त अपने मन को समझाता है कि देवताओं को भी दुर्लभ इस मनुष्य तन को पाकर तू इसे व्यर्थ न खो :—

खोइ न वृथा मनुष तन दुर्लभ परि रहि मन कुंजनि तरु तर रे।
—पद सं० ७३, पृष्ठ ३६।

गो० तुलसीदास की 'अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु' की भांति चाचा वृन्दावनदास अपने मन को वृन्दावन चलने के लिए कहते हैं :—

अब मन वृन्दावन बेगि चलि।
राधाकृष्ण नाम नित कहि सुनि सकल धर्म सिर मौर कलि॥
जहाँ विपुल परताप स्वामिनी बदन कमल भये स्याम अलि।
ताकी सरनि गहौ मन क्रम बच वृन्दावन हित रूप अलि॥
—पद सं० ४८, पृष्ठ २५।

यह आयु दिन-प्रतिदिन घटती चली जा रही है फिर भी यह मूढ़ मन वृन्दावन की शरण नहीं लेता। उसी को समझाते हुए कवि कहता है :—

---

१. पद सं० ६ ,, ८ त्रिगुण माया पवन जहाँ परसतु नहीं।

वृन्दावन दुर्लभ अति निगम कहत रे।
करत रहत हाइ-हाइ बीती सब जाति आयु अति अमोल रतन मूढ़
कर न गहत रे।

\+ \+ \+

साधि धर्म रति अनन्य, गुरु प्रसाद हो हु धन्य, कुंज को उपास
सुविधि क्यों न सहत रे।

—पद सं० ७५, पृष्ठ ३७।

वृन्दावन में रहकर मन को पूर्णरूप से वश में रखना चाहिए :—

वृन्दावन इहि विधि सो बसौं।
जथा लाभ सन्तोष प्रवृषित राधा जस रसना रसौं ॥१॥
लीला ललित निकुंज केलिसर हिय की हिलगनि सों धसौं।
गौर स्याम अंबुज मकरन्दहि कलहंसी ह्वै कें गसौं ॥२॥
श्री हरिवंश कृपा प्रसाद लहि भजन मानसिक उर लसौं।

—पद सं० ३२, पृष्ठ १८-१९।

श्री राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से वृन्दावन ही भक्तों का सर्वस्व है। वही उसके माता, पिता, भाई सब कुछ है :—

वृन्दावन जु मात-पिता भैया।
सब नाते याही सो बनि है और न कोऊ और धरैया॥

—पद सं० ६६, पृष्ठ ३२।

कानन मो गति कानन मो पति, कानन जननी जनक सु भैया॥
कानन बस करो नित निर्भय, यह मन होहि न अनत चलैया॥

—पद सं० ७४, पृष्ठ ३६।

काव्य-सौष्ठव

'श्री वृन्दावन जस प्रकास' में वृन्दावन की महिमा वर्णन में ७५ पद लिखे गए हैं। इनमें भक्त की प्रेमी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति पाई जाती है। अनन्यता, दीनता और हृदय की निर्मलता का स्वच्छ प्रतिबिम्ब इसमें मिलता है। इसके पाठन और मनन से भक्ति-भाव की परिपुष्टि होती है। निश्छल भक्त हृदय के भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य में स्वाभाविकता पाई जाती है। कला को कृत्रिम अलंकारों के आवरण से सजाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। भावों की उत्कृष्टता में स्वतः ही कुछ अलंकारों का सुन्दर समावेश हो गया है।

वृन्दावन के माहात्म्य के वर्णन में रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। कुछ सांग रूपक अच्छे बन पड़े हैं। वृन्दावन की अलौकिकता का वर्णन एक सांग रूपक में देखिए :—

चंदन तो सीतल करै, अग्नि देहि सन्ताप।
ऐसे साधु असाधु को, देखो प्रगट प्रताप ॥ दोहा ११, पृ० २।

दुष्ट व्यक्ति को विषय-भोग ही अच्छे लगते हैं, सत्संगति और सद्गुरु अच्छे नहीं लगते :

बैठ्यो नहिं सतसंग में, सुने न आरज ग्रन्थ।
गुरु जन सब अरि से लगैं, चल्यो जु उलटे पन्थ ॥ १६ पृ० २।
इनकी संगति जिनि करो, भजन विवेकी सन्त।
ये हैं कारे नाग सम, डसं प्रान लेहिं अन्त ॥

साधु और असाधु के स्वभाव में अन्तर होता है। चाहे देखने में वे समान लगें किन्तु इनकी वाणी इनमें पृथकता ला देती है :—

कांउ कांउ करै कागुला, कोकिल मधुरं बैन।
रंग मिल्यो तो कहा भयो, है अन्तर दिन रैन ॥ १२५ पृ० १२।
ऐसे साधु असाधु की बोलनि लिहु पहिचानि।
करकसता अरु मधुरता, परति विवेकनि जानि ॥ १२६ पृ० १३।

दुष्ट व्यक्ति छलनी की भाँति होता है और साधु सूप की तरह :

दुष्ट हियो ज्यों चालनो, तुस औगुन चुनि लेहि।
सज्जन सूप कु सार को, राखि तुसनि तजि देहि ॥ ८० पृ० ८।

संगति का प्रभाव :

दुष्ट मनुष्यों की संगति सदैव सुखदायक होती है। अतः विवेकी पुरुष उनका साथ नहीं करते, संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, उसका फल अवश्य मिलता है।

उत्तम मध्यम अधम जन, संगति कौ फल देत।
कहाँ ईख, चावर कहाँ, कहाँ लौन कौं खेत ॥ १४८, पृ० १५।

विवेकी पुरुष की संगति से ज्ञान का उदय होता है और अविवेकी से धर्म का नाश होता है :

संग विवेकी संत कौ, सुमति उवै उर होइ।
अविवेको कौ संग देइ, धीरज धर्म जु खोइ ॥ १० पृ० २।

मनुष्य में स्वयं कोई दोष नहीं होता। वह जैसी संगति करता है उसी के अनुसार अच्छा और बुरा नाम पड़ जाता है :

मोरी जल गंगा मिल्यौ, कीयौ आपु समान।
गाँव निकट पोखरि मिल्यौ, लोटत सूकर स्वान ॥ १४९।
जग जन विमुख जु मलिन सर, हरि जन गंगा तोइ।
संग दोस गुन मानिये, जल में दोस न कोइ ॥ १५० पृ० १५।

दुष्ट की संगत होने से प्रभावशाली तेजस्वी व्यक्ति का भी तेज कम हो जाता है जैसे राहु के संसर्ग से सूर्य का प्रताप क्षीण हो जाता है :—

को है रवि तें अति बली, जाकी प्रज्वलित जोति।
दोष नीच छाया परें, सोऊ मानति छोति ॥ १५२ पृ० १५।

वर्ण्य-विषय :

जैसा कि प्रारम्भ में हमने लिखा है कि विवेक पत्रिका के दोहों का विषय विवेक ज्ञान है। इसमें १८५ दोहे हैं। विषय-प्रतिपादन के विचार से यदि इन दोहों का विभाजन किया जाए, तो निम्नलिखित शीर्षकों में वर्गीकरण होगा—

१—गुरु-महिमा
२—साधु-असाधु विचार
३—संसार की नश्वरता और मनुष्य की मूढ़ता
४—कलियुग का प्रभाव
५—संगति का प्रभाव
६—नाम माहात्म्य
७—विवेक की महत्ता

गुरु-महिमा :

भक्ति के क्षेत्र में गुरु को विशेष महत्त्व दिया गया है। सभी भक्तों ने गुरु-महिमा गाई है। वृन्दावनदास जी ने भी अन्य सब भक्तों की भांति गुरु की महिमा का उल्लेख कुछ दोहों में किया है।

गुरु कल्पतरु है जो अपने शिष्य को अजेय होने का वरदान रूपी फल देता है, जो उसे कभी भी पराजित नहीं होने देता :

चतुर कलपतरु संत गुरु, प्रभु फल देत बिचारि।
जामें अपने भृत्य को कबहूँ न आवै हारि॥ दोहा ६, पृ० १।

गुरु के द्वारा ही विवेक और धर्म का ज्ञान होता है। गुरु से विमुख होने पर धर्म-बुद्धि विनष्ट हो जाती है :—

सूझै धर्म जु कौन विधि, गुरु सौं कियौ न प्रसंग।
कृतघ्न निगुरौं दिढ मरा, पुनि झूठी सब संग॥ ६१, पृ० १०।

गुरु की शिक्षा पर ध्यान न देने से हरिभक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती :—

गुरु शिक्षा करि हीन को, क्यों पागै हरि रंग।
—दोहा ११, पृ० २।

साधु-असाधु विचार :

संसार में भले और बुरे, दुष्ट और सज्जन दोनों पाए जाते हैं। किन्तु सच्चे साधु संसार में बहुत कम हैं :—

हो हरि ऐसी सृष्टि तुम, बहुत रची कलिकाल।
पर दुख हरना संत जे, तिनकौ परयौ प्रकाश॥ २७ पृ० ३।

साधु और असाधु का प्रभाव भी अलग-अलग होता है। साधु जहाँ दुखों के बहों का हरण कर शीतलता प्रदान करते हैं वहाँ असाधु अनेक कष्ट देकर संताप करते हैं :—

भूलि न कौतिक हाट जग, स्वामी सनमुख होइ ।
देखत देखत नाहिं ये, जिनसौं कीयो मोह ॥ ४५ पृ० ५ ।

संसार और आवागमन के बंधन से छूटने का उपाय :

जब लग हरि नहिं आदरै, गुर नहिं लागै कान ।
तब लग या जग बन भ्रमैं, छुटै न आवन जान ॥ १६४ पृ० १६ ।

नाम माहात्म्य

प्रायः सभी भक्तों ने नाम की महत्ता में कुछ न कुछ अवश्य कहा है । तुलसी, कबीर आदि सभी भक्त नाम की महत्ता में एक मत हैं । सबकी दृष्टि में कलियुग से बचने का सबसे सरल और सुगम साधन नाम-जाप है । तुलसी कहते हैं :—

नाम काम तरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ॥

—रामचरित मानस—बालकाण्ड

इसी भाँति चाचा वृन्दावनदासजी कहते हैं कि कलियुग में नाम-जाप का विशेष महत्त्व है । इसके द्वारा पापी भवसागर से पार होते रहे हैं और होते रहेंगे :

नाम प्रताप जु चारि जुग, कलि पायौ अधिकार ।
तरें, तरत अरु तरिहिंगे, कृष्ण नाम के तार ॥११० पृ० ११ ।

नाम-जप के महत्त्व को बताते हुए तुलसी के स्वर में स्वर मिलाते हुए वृन्दावन-दास जी कहते हैं :—

कृष्ण कृष्ण के उच्चरैं, मन क्रम बच निहपाप ।
नाम संग नामी फिरै, ऐसौ प्रबल प्रताप ॥१११ पृ० ११ ।
हृदय ध्यान मुख नाम हरि, गावत सन्त लड़ाइ ।
जदपि सूर तदपि जु कलि, प्रभु प्यारे न डराइ ॥११२ पृ० ११ ।
नाम भक्त जन पाहरू, रसना रहै अरूढ़ ।
नामी तुरत मिलावही, जे न भजें ते मूढ़ ॥ ११७ पृ० १२ ।

तुलसी ने राम नाम को सबसे अधिक महत्त्व दिया, वृन्दावनदास जी के लिए कृष्ण नाम के समान विश्व का कोई वैभव नहीं :—

विश्व विभौ पासंग नहीं, कृष्ण नाम समतूल ॥११६ पृ० १२ ।

विवेक-विचार :

वृन्दावनदास जी ने जितने भी दोहे लिखे हैं वह सब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विवेक से सम्बन्ध रखते हैं । क्या करना विवेक है और क्या करना अविवेक, यही बतलाना इनके दोहों का उद्देश्य है । आपकी दृष्टि में सबसे बड़ा विवेक है हरि-भजन में अनन्य भाव से लीन रहना :—

हरि लीला रस मन रमैं, बड़ौ विवेक जु एह ।
अफल जनम नर जो करैं, विषइनु संग सनेह ॥ पृ० १ ।

कलियुग का प्रभाव

कलियुग में दुष्टों की वृद्धि होती है। साधु पुरुषों का अभाव हो जाता है। दुष्टों की शक्ति बढ़ जाती है :

सर्ग विवेकी निबल ये, सठ भये कलि में सूर।
परपंची द्रोही जु गुरु, पातक रति अति क्रूर॥ ८८ पृ० ६।

कवि ने अपने युग में व्याप्त कलिकाल के प्रभाव से सन्तप्त हो भगवान को पुकारा है :

नीति तजि विपरीत रति, कलि कलेस महि घोर।
प्रान विदा से होत लिलि, एहो नंद किशोर॥ १०३ पृ १०।
कोऊ न काहू बरजहीं, नर पसु भये प्रचंड।
भुव पालक भये कौतिकी, कौन धरैं सिर डंड॥ १०१ पृ १०।

कलियुग में धर्म निर्बल पड़ता जा रहा है, धर्म की मर्यादा नष्ट हो रही है, हरि कृपा बिना इनका उद्धार नहीं हो सकता।

जो कोऊ दिन राखिवे, तो कीजिये सहाय।
धर्म निबल पाप जु सबल, धर्यो चहतु सिर पाइ॥१०४।
असुर धरें बहु भेप कों, मेंड बहावत धर्म।
तुम विनु रक्षक कौंजु ये, उलटे करत जु कर्म॥१०७ पृ० ११।

संसार की नश्वरता और मनुष्य की मूढ़ता :

यह संसार और शरीर नश्वर हैं किन्तु मूढ़ प्राणी इसे नहीं समझता। वह इनको सत्य समझता है और अपने को ही कर्त्ता मान लेता है :—

प्रभु प्रभुता मानें नहीं अपनी मानी जै जु।
काम अन्ध ज्यों बोक ये, कहत फिर्यो मैं मेंजु॥ ६३ पृ० ७।

मूर्ख संसार को रिझाता है किन्तु अपने सृष्टिकर्ता को रिझाने का प्रयत्न नहीं करता :—

मन दे रिझयो जगत कों, धन दें सब परिवार।
एक न रिझायो मूढ़ सं, तन को सिर्जनहार॥५६ पृ० ६।

सारी आयु मूढ़ विषय-भोगों में लगा देता है, जब वृद्धावस्था आती है तब वह पछताता है :—

कियो अहेरो विषै बन, इंद्री मन संग लागि।
कुपुरुष तब पछितातु जब, जरा लगाई आगि॥ ४३ पृ० ५।

यह संसार असार है। इसकी कामना करने से कुछ हाथ नहीं लगता। हरि की शरण जाए बिना शान्ति नहीं :—

सेयो जगत कुरूख तें, जहाँ न फूल फल पात।
छाया कहाँ हरि सरनि बिनु, पाप ताप जरें गात॥ ६२ पृ० ७।

यह चहल-पहल असत्य है, इससे मोह नहीं करना चाहिए :—

बणिक कपट नहिं ग्रोर, सब विधि छल ग्राश्रित भये।
सूद्र मत्त धन घोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥३६-६।
ग्रन्त्यज भये कुलीन, काहू दृष्टि न लावहीं।
ग्राश्रम क्रिया सु हीन, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥३६-६।

परिवारों में स्नेह नहीं रहा है, स्वयं पिता भी अपनी पुत्री का वध कर देता है। आचार-विचार नहीं रहा और व्यभिचार की वृद्धि हो रही है :—

ब्याही छाँड़ें नारि, परत्रिया रावें सदन में।
फिरें दईहत ख्वारि, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥१० पृ० ४।

वेश्यावृत्ति बढ़ रही है—विधवा स्त्री शृंगार कर पर-द्वार फिरती है। ब्राह्मण द्यूत, धन और कामिनी में लीन हो रहे हैं।

इधर समाज की अवस्था खराब है, धर्म भी पाखंड का रूप धारण कर रहा है। किसी को हरिचरणों में रति नहीं। तपस्वी और संन्यासी ज्ञान-वैराग्य से हीन होकर, माया और लोभ में फंस गए हैं :—

हीन ग्यान वैराग, भस्म धारि तपसी बनें।
रहित भक्ति अनुराग, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥१५ पृ० ४।

मनुष्य सच्चे देवी-देवताओं को छोड़कर मलिन भूत-प्रेतों की पूजा करने में लीन हैं :—

विप्र हुतासन गाइ, अरु देवनि पूजा घटी।
भूतनि जजत बनाइ, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥६० पृ० ८।
पूजें प्रेत अरु भूत, पुनि काली को चौहटौ।
तिन पै मांगत पूत, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥६१ पृ० ८।

तीर्थस्थल पाप के अड्डे हो रहे हैं। छल, कपट, दंभ की मात्रा बढ़ती जा रही है:—

तीरथ बड़ौ मवास, बहुत जोर छल बल करै।
बचे निवटि हरिदास, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥१०० पृ०१२।

राजा भी अपने धर्म-कर्म को भूल कर अन्यायी और चोर हो गए हैं। प्रजा के दुख-निवारण के स्थान पर दुखदायक बन गए हैं। प्रजा कंगाल होगई है। नित-प्रति अकाल पड़ते हैं :—

नृप अन्याई चोर, परजा को पालन तज्यो।
लैहिं अनीति अकोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥ ६१
प्रजा कृपन कंगाल, अन्य बिनां दिस दिस फिरें।
पुनि पुनि परत अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥६२ पृ० ११।

मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी कपट, दंभ, स्वार्थ, घृणा, वैर, मद, मात्सर्य से भर गया है। धन के लिए कुछ भी कर्म अकरणीय नहीं रहा। हृदय से भक्ति-भावना सर्वथा तिरोहित हो गई है। ऊपर से देखने में साधु प्रतीत होते हैं किन्तु लक्षण सब असाधुओं के हैं:—

जिसको इस विवेक की उपलब्धि हो गई वही अनन्य रसिक है। जिस प्रकार पतिव्र नारी पति की आज्ञा के अधीन रहती है उसी प्रकार से अनन्य रसिक युगल सेवा में लं रहते हैं :—

पतिव्रता जैसे रहै, पति आज्ञा आधीन।
ऐसे रसिक अनन्य रहैं, दम्पति सेवा लीन ॥५ पृ० १।

विवेक की अवधि है वृन्दावन में वास :—

सुनिलै अवधि विवेक की याते परे न और।
बलि बस वृन्दारण्य जहं, खेलत सांवल गौर ॥१७१ पृ० १७।

जिसको विवेक हो जाता है उसे राधाकृष्ण की रूप-माधुरी, केलि-क्रीड़ा ही अच्छी लगती है : —

यह विवेक को फल गनै, इन उरझै बिबि रूप।
श्री राधा मुरली धरन के, भावैं चरित अनूप ॥१७४ पृ० १७।

अन्त में विवेक पत्रिका का सारासार तत्व निकालकर कवि ने स्वयं ही कहा है :—

लिखी विवेक जु पत्रिका, मथि काढ्यो यह सार।
अफल जनम नर जौन रुचि, कानन नित्यविहार ॥१७६ पृ० १८।

इन दोहों का विषय विवेक परिचय है। इसी के अनुकूल इनकी भाषा भी परिमार्जित और सुगठित है। इनमें सरल और व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। दोहे मार्मिक और प्रभावात्मक हैं। यत्र-तत्र अलंकारों का प्रयोग भी है। कुछ उदाहरण देखिए :—

रूपक :

जनम मृत्यु की बहति है, सलिला अति बिकरार।
सुमिति विवेकी हरिहि भजि, उतरै याके पार ॥४६॥

उत्प्रेक्षा :

बचि चलो जातक जार ते, प्रजुलित मानों लोह।
लोहो जारै अंग ही, यह जारै उर होइ ॥ ८६ पृ० ६।

८—कलि-चरित्र-बेली

कलि चरित्र बेली में कलियुग की स्थिति का चित्रण किया गया है। यद्यपि इनके कलियुग के चित्रण का आधार पूर्ववर्ती ग्रंथ भी हो सकते हैं तथापि तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति का प्रतिबिम्ब इसमें मिल जाता है। अपने युग से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इन्होंने समाज का, देशकाल का जैसा चित्र प्रस्तुत किया है वैसा ही उनके पूर्ववर्ती और समसामयिक कवि भी कर चुके थे और कर रहे थे। इनके कलियुग चित्रण में तत्कालीन परिस्थिति संबंधी कुछ दोहे पाए जाते हैं।

कलियुग में समाज की अवस्था बिगड़ रही थी। वर्ण धर्म और आश्रम धर्म विशृंखलित हो चुके थे। अपने कर्त्तव्य-कर्मों का पालन कोई नहीं कर रहा था :—

विप्रनि अति अकुलाइ, त्रस्त-विस्त कृत मन दयौ।
छत्रिनु धर्म छिड़ाइ, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥३७-६।

हे रसग्य मृदु हीय, हे नवलर छवि आगरी।
हे जीवनि पिय जीय, श्री राधा करि कृपा मम ॥६५।
हे विहार वर सूर, प्रतिकमली नवकुंज थल।
हे रसदायक मूर, श्रीराधा करि कृपा मम ॥६६ पृ० ११।

भक्त कवि का विश्वास है कि इस बेली के पठन-पाठन से राधा की कृपा प्राप्ति होगी :—

कहत सुनत यह बेलि, अपनावें रानी विपिन।
निरखि भाव अलि केलि, श्रीराधा करि कृपा मम ॥११२ पृ० १२।

बेली की भाषा संस्कृतमयी तथा सरस है। अलंकारों का समावेश भी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सुन्दर वर्णन मिलते हैं :—

रूपक :

हे नागर को नेह, सिंधु बढ़ावन वदन विधु।
पूरन कला अछेह, श्रीराधा करि कृपा मम ॥६३।
हे छबि जलद अनन्त, दिय चातक पोषन सुविधि।
पलत जीव वन जन्त, श्री राधा करि कृपा मम ॥ ६४ पृ० ११।

रूपक और उत्प्रेक्षा :—

(१) नाभि मनों सर-प्रेम, प्रीतम मन मंजन करत।
त्रिबली सिढ़ी सु हेम, श्रीराधा करि कृपा मम ॥ ३१ पृ० ५।

उत्प्रेक्षा :

(२) नूपुर रव जु प्रसंस, रसिक कुंवर को मन हरत।
मनु बोलत सुत हंस, श्रीराधा करि कृपा मम ॥३३ पृ० ५।
(३) वर कलि बेनी पाँति, मनु सिंगार रस की लता।

—दोहा १२, पृ० ३।

इसकी रचना संवत् १८१२ पूस सुदी एकादशी को हुई :—

बरनी करि अति आस, अभिलाषा बेली ललित।
पूस सुदी सुभ ग्यास, श्रीराधा करि कृपा मम ॥ १०६।
ठारह से गत जानि ऊपर बरष सु बारहौ।
वाँछत कृपा बखान, श्रीराधा करि कृपा मम ॥११० पृ० १२।

१०—रसिक-पथ-चन्द्रिका

रसिक-पथ-चन्द्रिका चाचाजी के फुटकर पदों का संकलन है जिसे बाबा तुलसीदास ने संकलित करके प्रकाशित किया है। इन पदों में चाचाजी की रस-विषयक विचारधारा का अच्छा परिपाक देखने को मिलता है। इसका मुख्य विषय रस-सिद्धान्त और रसिक-पद्धति का वर्णन करना है। विविध विषयों का संग्रह होने से इसका उल्लेख आवश्यक है।

वचननि दीसत साधु सब प्रतीति बढ़ावहीं।
लक्षण निपट असाधु, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥ ६ पृ० ४॥

इस प्रकार सर्वत्र कलियुग का राज्य छाया हुआ है। इससे मुक्ति का एकमात्र आधार कृष्ण-नाम है :—

सकलधर्म सिरताज, कृष्ण नाम कलि जगमगै।
ताहि भजौ तजि लाज, यह कलि गुन संतनि लियौ ॥१०६ पृ० १३॥

भागवन की कृपा प्राप्ति से ही शान्ति मिल सकती है। उसकी कृपा होने पर कलियुग का कोई प्रभाव नहीं रहता :—

कृपा कल्पतरु छाँहि, बैठे हरि के चरन तकि।
कलि प्रताप तहां नहिं, यह कलि-गुन संतनि लियौ ॥१०३ पृ० १२।

इस भांति कलियुग का चित्रण तथा उससे मुक्ति के साधन का उल्लेख इस छोटी-सी पुस्तक में हुआ है। १३० सोरठों में यह कलियुग की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत कर देती है। इसकी रचना संवत् १८१२ को हुई थी :—

बदी नौंमी तिथि माह, ठारह सै बारह बरष।
कलि के चरित अथाह, तिन मैं कृष्ण भजन सफल ॥१२५ पृ० १५।

कलि-चरित्र-बेली में कला की छटा तो नहीं है किन्तु भाषा में प्रवाह और ओज पूर्णतया विद्यमान है। अलंकारों का समावेश भी सुन्दर हुआ है।

सांगरूपक का एक उदाहरण देखिए :—

(१) कलि नृप मन मे कोपि, सकल बिसनि औतन चढ्यौ।
धुज पाखंड सु रोपि, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥ ८६।
चंचल कोप तुरंग, दल रथ सहित सिंगारि कै।
आयुध नाना संग, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥८७॥
मद मत्सर से बान, दम्भ धनुष कर धर गह्यौ।
सेना कपट विधान, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥८८।
सब जग आयो जीति, साँचे साधुनि सौं डरें।
ह्यारो को सो रीति, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥८९ पृ० ११।

९—कृपा अभिलाष बेली

वल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति के लिए भगवान का अनुग्रह अथवा कृपा को बहुत महत्व दिया गया है। बिना भगवदनुग्रह मनुष्य जीवन में सफल नहीं हो सकता। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस कृपा की उपलब्धि श्रीराधा के अनुग्रह द्वारा होती है। अतः भक्त राधा की कृपा का अभिलाषी रहता है। भक्त श्रीराधा से नाना प्रकार से अनुनय-विनय करके इस कृपा-दान की याचना करता है। 'कृपा अभिलाष बेली' में राधा के रूप का वर्णन करने के उपरान्त, कृपा को विपुल करने वाली बना कर कृपा-याचना की गई है। तदनन्तर उन्हें सर्वगुण-सम्पन्न बनाते हुए कवि कहता है :—

यह भक्ति प्रेम लक्षणा है। इसके इष्टदेव भी प्रेम को पहचानते हैं इसलिए इनसे प्रीति करना ही इनकी उपासना पद्धति है :—

प्रीति पारखू जुगल हैं, तिन पद राखौं प्रीति।
वृन्दावन हित रूप की, यही उपासना रीति ॥ ५० पृ० ५।

मन, कर्म और वचन से आत्म-समर्पण करके ही भक्त सच्चा सेवक बन सकता है।

मन क्रम वच करि अर्पि दे, स्वामी कौं सब कृत्य।
वृन्दावन हित रूप बलि, होहु भाव सौं भृत्य ॥ ६१ पृ० ६।

इष्ट की कुंज-क्रीड़ा में और रसकथा में ही अपनी चित्तवृत्तियों का लगा देना भक्त का लक्षण है :—

कुंज केलि की भावना, उरझाई चित्त वृत्य।
मिष्ट लगै अति रस कथा, मन क्रम वच प्रभु-भृत्य ॥ ७० पृ० ७।

महत गुन लक्षण :—इसमें २८ दोहों में महान व्यक्ति के लक्षणों का वर्णन किया गया है। महान व्यक्ति वही है जो अनुराग से द्रवित हो, जिसके नेत्रों से प्रेम के आँसू बहते हों, दम्पति के नित्यविहार को देख क्षण-क्षण में सुख की अनुभूति करता हो :—

महत भजन भीजे हिये, दृग बरसी जलधार।
छिन-छिन सुख बरसत रहै, दम्पति नित्यविहार ॥ ७३ पृ० ८।

पतंग की भाँति प्रियतम से मिलने की अभिलाषा सतत बनी रहती हो :—

दीपक बरस पतंग ज्यौं, आतुर जारै देह।
यौं प्रभु भेटन चाह जिहि, सो जु महत गुन गेह ॥ ७८, पृ० ८।

इनके अनुसरण से ही भक्त के हृदय में भगवान के चरणों में प्रीति दृढ़ होती है :—

महत गुनन मग जे चले, समुझि मना उन रीति।
निश्चै तबही होइगी, प्रभु पद गाढ़ी प्रीति ॥ ८३, पृ० ६।

यही रसिकों की पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा ही रस की प्राप्ति संभव है, बुद्धि और तर्क इसमें बाधक हैं। रसिक-पद्धति तर्क-बुद्धि से प्राप्त नहीं होती :—

रसिक पद्धति मिलै न बुद्धि बल उक्ति जुक्ति बहु जोरें।
—दोहा ४, पृ० १८।

रसिक जननि को मारग बांकौ गिरै जहां अभिमानी।
सुहृद शीतला प्रेम ह्वं उर रस की यही निसानी ॥
—मांझ स० ५, पृ० १६।

भगवान के प्रति अनन्य भक्ति-भाव ही सच्चे भक्त का लक्षण है :—

एक धर्म रस रीति-प्रीति एकै रंग रहियें।
ताकौं कहत अनन्य आन दिसि सुपन न चहियें ॥
एक नाम इक धाम एक सांचौ व्रत धरियें।
अगम सुगम कर लियौ एक सेवक हित करियें।

वर्ण्य-विषय विवेचन

रसिक-नप-चन्द्रिका में प्रथम तीन दोहों में मंगलाचरण है। इसके बाद ७२ दोहों में रस-सिद्धांत का विवेचन है। इन दोहों में प्रेम-लक्षणा भक्ति का मर्म तथा भक्ति-जन्य आनन्द-का शब्द-चित्र अंकित किया गया है।

निकुंज में निरन्तर रास-क्रीड़ा में लीन राधाकृष्ण की उपासना ही से रस की उपलब्धि होती है। भक्त स्वयं वहां सखी-भाव से ही पहुँच सकता है। निकुंज-लीला दर्शन से जो अनुभव उसे होगा वही रस-प्राप्ति का मार्ग है।

यह रस अनुभव-जनित है, मन ह्वं गाढ़ी प्रीति।
श्री हरिवंश प्रसाद तें, पावें दुर्लभ रीति ॥ ५ ॥ पृ० १।
विषय कोट व्यौहार पुनि, नाना मत उरझेर।
मन पहुंचन पावें न ह्यां, जब परें इत के घरें ॥ ७ ॥ पृ० १।

ऐहिक विषय-भोगों की कामना तथा द्वेष-मात्सर्य से मुक्त हो, निर्मल मन से तर्क भावना से रहित होकर जब भक्ति की जाएगी तब ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जिस रस की प्राप्ति होती है वह रस शृंगाररस से भी श्रेष्ठतर है :—

अति गरवौ सिंगार रस, तातें गरवौ ऐह।
कानन महलिनु अलिनु कौ, सबतें परे सनेह ॥ १६ ॥ पृ० २।

राधा और कृष्ण की क्रीड़ा में तत्सुखी भाव का अनुभव करना ही अलिभाव है :—

गौर श्याम कानन रमें, नित रस लीला कृत्य।
तत्सुख वरनें भाव अलि, हित पद भजना भृत्य ॥ २१ पृ० ३।

जहाँ नियम-मर्यादा के बंधन ढीले पड़ जाते हैं। इष्ट की रुचि के अनुसार सात समय की सेवा अलि भाव से की जाती है वहीं प्रेम की तीव्र व्यंजना होती है :—

सात समय सेवत जु अलि, दम्पति रुचि पहिचानि।
नेम वापुरौ निवस जहं, प्रेम सबल तहं जान ॥ २३ पृ० ३।

हित-पद्धति में रस-रीति के लिए सात समय की भावना अनिवार्य है। इससे प्रीति और तुलना में प्रतीति बढ़ती है :—

सात समें की भावना हित पद्धति रस रीति।
समें समें सब साधिकें, दृढ़ प्रतीति युग प्रीति ॥ २८ पृ० ३।

प्रेम, सुख और रूप के सिन्धु की प्राप्ति के लिए कृपा और अलि भाव की साधना ही एकमात्र उपाय है :—

सुख आलय पुनि प्रेम कौ, रूप सिन्धु आगाधि।
प्रापति और जतन नहीं, कृपा हिता अलि साधि ॥ ३४ पृ० ४।

यह मार्ग ज्ञान और कर्म मार्ग से भी श्रेष्ठ है। ज्ञान और कर्म दोनों ही इस मार्ग की तुलना में अपूर्ण हैं :—

ज्ञान कर्म मारग उभै, फल कौ लोभ दिखाइ।
एक मुक्ति पर लै गयौ, इक अधविच चिल्लाइ ॥ ३८ पृ० ४।

इसी प्रकार 'जैसी तेरी कौमरी तैसे मेरे गीत', 'होनी ही सो ह्वै चुकी सोचें बहुरि बलाइ', 'मुख कर कोस असी चलै पायन कोस न एक', 'दुविधा में दोनों गये माया नहि प्रभु नाम', 'पढ़यौ न बीछू मन्त्र हू बांबी मेलत हाथ' आदि मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है।

कवि ने जिन दोहों और पदों में भक्ति तथा नीति रस का विवेचन किया है, उनमें भावों की प्रेषणीयता है। भावों को स्पष्ट तथा प्रखर बनाने के लिए रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है :—

मारुत प्रेम हियौ जलद, जुगल चरित रस रास।
अक्षर बरष स्वांति मनु, चातक केलिदास ॥३६ पृ० ४।

+ + +

मन गज क्रीड़तु जगत बन हथिनी इन्द्रिनु साथ।
अंकुश हरि की भक्ति बिनु कबहुँ न आवै हाथ ॥ ५८ पृ० ६।

एक पद में रस का विवेचन रासायनिक प्रक्रिया के रूपक में किया गया है :—

प्यारी जू यह रस है रसाइनि जानै सुमति कोऊ बूटी प्रेम प्रधान।
सिद्धि होहि मन की जु संचाई चाह आंच लगै और न विधि जु विधान।
हस्त क्रिया चित वृत्ति जु निर्मल सो रस धनिक महा गुनवान।
वृन्दावन हित रूप सीलता विधि सों विलसत (सोई) रसिक सुजान ॥
पद सं० ५ प० १२।

११—रास छद्म विनोद

रास छद्म विनोद में श्री वृन्दावनदासजी रचित ३७ लीलाओं का संग्रह है। २७ लीलाएँ कृष्ण तथा राधा से सम्बन्धित हैं। इनमें कृष्ण छद्म रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं किन्तु प्रत्येक बार भेद खुल जाता है। कभी कृष्ण चितेरिन का रूप धारण करते हैं तो *कभी मालिन, तमोलिन, नाइन, बीनावारी, मैनावारी, गधिनवारी आदि का रूप* धारण करते हैं। सात लीलाओं में कृष्ण जोगी बनकर जाते हैं। कुछ लीलाओं में वह बाला का रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं। इस प्रकार इन लीलाओं में उनके छद्म रूप धारण करने तथा भेद खुलने का ही वर्णन हुआ है। नारद लीला, ब्रह्मा लीला, महादेव लीला, शिवजोगी लीला, जोगीश्वरी लीला में तथा नामधारी देवता कृष्ण तथा राधा के दर्शन के हेतु आते हैं। श्रीप्रियाजी की मुराई लीला में राधा को अपनी परिछाई पर अन्य किसी का भ्रम हो जाता है। कृष्ण उनके इस भ्रम को दूर करते हैं। 'श्रीप्रिया रूप गर्व लीला' में राधा को अपने अद्वितीय रूप पर गर्व होता है।

यह सब लीलाएँ इतिवृत्तात्मक हैं। इनमें वाक्छल तथा छद्म का आनन्द तो है किन्तु काव्य की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं। यत्र-तत्र इनमें कुछ अलंकारों का समावेश हो गया है। यथा :—

विधि छांडे पुनि इक म्यान विच राखत न मनत कोविद कही।
वृन्दावन हित रूप बलि यह समुझि एक सेवक लही।

ग्रंथ के अन्त में १५ कुण्डलियां हैं। इनमें नीति का ही विवेचन है।

गृहस्थाश्रम का परित्याग करना भक्ति के लिए आवश्यक है किन्तु इसे शनैः-शनैः ही छोड़ना उत्तम नीति है। इस प्रकार शनैः-शनैः राग से वैराग्य की ओर जाने में कष्ट की अनुभूति नहीं होती और भगवान के चरणों में भी दृढ़ अनुराग हो जाता है।

हौलें-हौलें काढ़िये पाथर तर को हाथ
पाथर तर को हाथ गहे सुख छांडे क्रम-क्रम॥
ऐसें ही अभ्यास सदाई करैं परम धर्म।
यौं दुहु विधि ह्वं धीर बहुरि वैराग विचारैं।'
हरि गुरु संतनि सेइ भक्ति सुख कौं विस्तारैं।
वृन्दावन हित प्रीति सौं सो भेटैं ब्रजनाथ॥
हौलें-हौलें काढ़िये पाथर तर को हाथ॥ १ पृ० २२।

अपनी इन्द्रियों को वश में करके राधा और कृष्ण के चरणों में प्रीति करे :—

गमखेवौ किहिं भांति सकल इन्द्रीन बटोरैं।
राधा रूप अधीन कृष्ण पद दृढ़ रति, जोरैं॥ ३ पृ० २२।

हरि का आधार मिल जाने पर भवभीति मिट जाती है :—

होनी ही सो ह्वं चुकी सोचैं बहुरि बलाइ।
सोचैं बहुरि बलाइ आयु जो पाछैं बीती॥
अब हरि भजन सुचेत होहु बुधि रहै न रीती।
वेद कहत हरि अजित भक्ति करि भक्तनि जीते॥
बहुरि न यह जग ब्याल सुपन हूं मैं भय भीते॥
—कुण्डलियां ४, पृ० २१।

काव्य-सौष्ठव

रसिक-पथ-चन्द्रिका का भाव तथा भाषा की दृष्टि से पृथक् विवेचन नहीं हो सकता क्योंकि यह अनेक ग्रन्थों की सुन्दर सूक्तियों का संग्रह है, स्वतन्त्र रचना नहीं। फिर भी संग्रह की भाषा भाव-व्यंजक एवं प्रांजल है। इसमें स्पष्टता, सरलता, सुचारुता आदि गुण पाए जाते हैं। कुण्डलियों की भाषा मुहावरे और लोकोक्ति से युक्त हो कर प्रभावोत्पादक हो गई है। सुन्दर मुहावरे और लोकोक्ति के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति की गई है। जैसे :—

भेड़ पूंछ भारौं नदी को नहिं उतर्यौ पार।
को नहिं उतर्यौ पार आन देवन लगि सारैं॥
भव वारिध गंभीर अन्त बूड़त तिहिं धारैं।
जो तारन समरत्थ ताहि सुमिरैं न कुकर्मी॥
निकसत हिय ते छूटि बासना कोड़ सुधर्मी।
वृन्दावन हित हरि भजन कह्यौ वेद मत सार॥
भेड़ पूंछ भारौं नदी को नहिं उतर्यौ पार॥ ९ पृ० २१।

पद शृंगार संबन्धी हैं। तीन पद होरी के, ७ पद विभिन्न क्रीड़ाओं के जैसे गेंद खेल, चौपड़ खेल, चकरी क्रीड़ा के संबन्ध में हैं। ३ पद रास क्रीड़ा सम्बन्धी हैं। २ पद मुरली के विषय में हैं। राधा के रूप-वर्णन में भी कुछ पद लिखे गए हैं।

वृन्दावनदास जी के शृंगारिक पदों में रतिक्रीड़ा का प्राधान्य है। राधा के रूप-वर्णन में कवि ने अलंकारों अधिक आश्रय लिया है।

इन पदों में चाचा जी की कला का सुन्दर रूप दृष्टिगत होता है। प्रायः सभी पद काव्य-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। भाषा लालित्य पूर्ण, प्रवाहपूर्ण, और माधुर्य से भरपूर है। शृंगारिक पदों की भाषा में संगीत का प्रवाह पाया जाता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी :—

तलप उदधि जुग मीन विचक्षन वर विहार मिलि मुदित कलोलें।
सुरत लहरि बाढ़त छिन ही छिन बोहित भाव मनोरथ डोलें॥
संगम सुख रस रतननि काढ़त उर भंडार भरति सखो सोलें।
वृन्दावन हित रूप गहर में गौर श्याम वियकित बल तोलें॥

राधा के रूप-वर्णन में अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। राधा के रूप-सौन्दर्य का चित्र देखिए :—

नीलाम्बर वदन दीपि पौढ़ी नव बाला।
पिय समीप छबि अपार बाढ़ी तिहिं काला॥
किधौं रूप जाल बिध्यौ राका शशि सजनी।
किधौं प्रात उदौ होत रोक्यौ रवि रजनी॥
झीने पट स्वास हलत ऐसी छबि पाई।
उडगन पनि ऊपर मनु रविजा वहि आई॥
जगमगाइ रह्यौ अधिक बेसर को मोती।
मानौं जल जाप करत बैठ्यौ भृगु गोती॥

—पद सं० ६२, पृ० २८८।

राधा की पीठ पर वेणी लटक रही है। कवि उत्प्रेक्षा और संदेह द्वारा उसका वर्णन करता है :—

कबरी पीठ हरति लखि प्रीतम शोभा रहत सुभाइ।
झूलत मानौं कनक चौंहरे अहि शशि सभ बनाइ॥
किधौं कंचन के दण्ड सचिक्कन पन्नग तिय लपटाइ।
चाहत सुधा वदन विधु पीवन चढ़िबे को अकुलाइ॥

—श्री रास छद्म विनोद स्फुट संग्रह—
पद ६६, पृ० २८६।

रूपक के द्वारा रति-क्रीड़ा का चित्र देखिए :—

सेज सुभग थलरी हेली रति रन को अहा।
रूपे हैं सुभट अतिरी हेली लखि कौतुक महा॥

सं एड़ी भीजत भमा हो जग मगात नख कांति।
मनहु कमल दल बसन पर भई उदित नक्षत्रन भाँति ॥

—नादनि लीला—२२ पृ० ५४।

हँसति ससति दोऊ चलो हो प्रलभसाथ सौ पाय।
नव सिंगार हाटक लता ससि चढ़िगवनें सड़काय ॥३५ पृ० ६८।
निरखत प्यारी बदन दिस हिय में धक धक होति।
जैसे परसत पवन के भकुराति जु दीपक जोति ॥२३ पठ ओनी

लीला, पृ० १२०।

नीलाम्बर सारी तिय तन युग हेत पुहुप प्रसु सेत।
सुन्दर सरस स्याम घन में मनौ नग उडगन छवि देत ॥५।
अँगिया ग्ररुए वनौ कटाव की कसी कुचनि पर खेंचि।
मनु अनुराग जाल में लीने चक्रवाक से ऐंचि ॥ ६।
शीश फूल सों लगि मुक्तालर लगी तरौननि जोर।
मनौ सुरछवि चकरितु खेलत किये रूप की डोर ॥ ८।

भाषा में साधारण बातचीत का प्रवाह परिलक्षित होता है।

हिन्दी साहित्य में रासलीला के अभिनेयार्थ छद्मलीला लिखने वालों में चाचा वृन्दावनदास का स्थान मूर्धन्य पर है। उनकी लिखी अनेक लीलाएँ विगत डेढ़ शताब्दी से ब्रजमंडल में रासलीला के अन्तर्गत अभिनीत होती आ रही हैं। इन लीलाओं में 'वचनिका' (गद्यवार्ता) का प्रयोग भी कहीं-कहीं उसी काल की भाषा का लिखा है और कहीं-कहीं वर्तमान काल में रासधारी लोग स्वयं अपनी सुविधानुसार मिला लेते हैं। इन लीलाओं का स्वतंत्र रूप से अध्ययन अभिप्रेत है। प्रस्तुत प्रबंध में हम विस्तारपूर्वक इस विषय को ग्रहण नहीं कर सकते।

चौवीस छद्म की लीला नाम से गौने वाली लीला तथा चितेरीलाल लीला श्री ब्रजवल्लभदास मुखिया, वृन्दावन ने प्रकाशित की है। इन लीलाओं का प्रयोग आज भी रासमण्डलियों द्वारा होता है।[२]

१२—स्फुट-पद

चाचा वृन्दावनदास जी ने गेय पदों की रचना भी बहुत बड़ी संख्या में की है। अभिनेय लीलाओं में स्फुट पदों के रूप में इनके पद मिलते हैं। श्री रास-छद्म विनोद में इनके पदों का संग्रह अन्य कवियों के पदों के साथ किया गया है। इसमें चाचाजी के ४७ पद संकलित हैं। २४

१—श्री रास छद्म विनोद (प्रकाशित)—प्रकाशक—गोस्वामी श्री हित रूपलाल अधिकारी, वृन्दावन।

२—चौबीस छद्म लीला—(प्रकाशित) प्रकाशक—श्री ब्रज वल्लभदास मुखिया वृन्दावन वि० सम्वत् १९२७।

१७—हिमरितु	३८+१
१८—खिचड़ी	—
१९—ब्याहुले के पद	—
२०—होरी डोल के पद	१०
२१—फूल गुलाबी डोल	९+१
२२—चंदन जामा	१६
२३—फूल रचना	१५
२४—उशीर	२३
२५—जल-विहार	९
२६—नौका-विहार	४+२
२७—चंद चांदनी	१
२८—रथ खेल	८
२९—मलार के पद	५+२०=१२५)
३०—झूलन (हिंडोर)	९५
	—
	७३
३१—टेर लहरी	५
३२—रक्षा बंधन के पद	१+३
३३—पवित्रा के पद	३+१
३४—मिहदी—सिंघारे के पद	४
३५—चांदनी बैठक	२
३६—हटरी	१
३७—दीपदान	१
३८—गिरिपूजा	२
३९—गिरिपूजा पश्चात्	१
४०—बधाई बलदेवजी	२
४१—श्री रामचन्द्र बधाई	—१०

बधाई के पद

	मंगल	पद	कुल
१—वनचन्द्रजी	१	८	९
२—कृष्णचन्द्रजी	१	६	७
३. गोपीनाथजी	१	४	५
४. मोहनलालजी	१	६	७

महा कौतुक निरखि सजनी तकत अपनी घात हैं।
रचन मत्त मायुरनि सार्थे परस्पर किलकात हैं॥
प्राइ पसकन हूँ बिसरि के नैन उरते परत हैं।
कस बटार्यो बाए छ्टत चोट नाना करत हैं॥

—श्री रास छद्म विनोद, स्फुट संग्रह—
पद सं० ६६, पृ० ३०४।

चाचाजी लिखित स्फुट पद विशाल संख्या में उपलब्ध होते हैं। इन पदों में विषय-वैविध्य देखकर चाचाजी की कल्पनाशक्ति और व्यापक अन्तर्दृष्टि पर आश्चर्य होता है। बसन्त, होरी, धमार, सांझ, दिवाली, दशहरा, खिचड़ी, श्याहुला, फूलडोल, फूलरचना, उशीर, पाटोत्सव, भैयादोज, पवित्रा, दीपदान, टेरलहरी, झूलन, हिंडोरा, चंदचांदनी, नौकाविहार, जलविहार आदि अनेकानेक विषयों पर आपने पद-रचना की है। जो पद हमें मिल सके हैं उनकी सूची हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सहस्रों पद इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। वर्षोत्सवों से यदि पद संकलन किया जाय तो सहस्राधिक पद प्राप्त हो सकते हैं।

चाचाजी रचित अन्य प्राप्त साहित्य

१—बसन्त पदावली	सं०	१२३+१	
२—होरी धमार रसिया	सं०	२६२	
३—हितोत्सव बधाई मंगल	सं०	१०७	१४४+४
४—हितोत्सव सांझ अष्टक	सं०	३७	
३५ २			
५—लाल जी की बधाई पद	सं०	१४६	१५३+६
६— „ सांझ पालना असीस	सं०	कवित्त ६	
५ २ २			
७—प्रिया जी की बधाई	सं०	१६०+१०+२०	
८—अष्ट सखी की बधाई	सं०	४८+२	
सांझ गारीमायना पालना पासूनी			
१० ४ ५		२०	
९—रास के पद		२६+४	
१०—सांझी के पद		२७+३	
११—दीवारी के पद		४+१०	
१२—अन्नकूट		—	
१३—गोचारण		१०	
१४—दशहरा		:+४	
१५—भैयादोज		—१	
१६—पाटोत्सव			

एकादश अध्याय

राधावल्लभ सम्प्रदाय के योगदान का मूल्यांकन

वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में राधावल्लभ सम्प्रदाय अपनी अनेक विलक्षण मान्यताओं और सैद्धान्तिक स्थापनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रेमलक्षणा-भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की उपासना को ब्रजमंडल में अभिनव रूप देने का श्रेय इसी सम्प्रदाय के आचार्य को है। राधा का प्राधान्य तो इसी सम्प्रदाय की देन कही जायगी। चतुःसम्प्रदाय की सीमाओं से बाहर रहकर भी विशुद्ध वैष्णव भावना से राधाकृष्ण की उपासना करने वाले सम्प्रदायों में राधावल्लभ सम्प्रदाय अग्रणी है। विधि-निषेध की रूढ़ियों का त्याग कर भक्ति को शृंखला-विहीन बनाने में भी इस सम्प्रदाय के आचार्य ने अमित योग दिया। दार्शनिक ऊहापोह एवं तार्किक वितंडावाद से भी यह सम्प्रदाय दूर ही रहा और साधन-पक्ष में कठोरता को बचाकर माधुर्य भाव को यहाँ प्रमुख स्थान मिला। इस प्रकार की अनेक विशेषताओं का हमने पूर्व पृष्ठों में विस्तार से वर्णन किया है। इस अध्याय में हम उन बातों का सार रूप में उल्लेख करना चाहते हैं जिनके कारण आचार्य हितहरिवंश अपने युग में ब्रजभूमि के सबसे अधिक प्रभावशाली महापुरुष स्वीकार किये गये और उनका सम्प्रदाय ब्रजभूमि का प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय समझा गया।

आचार्य की विलक्षणताएँ :

१. आचार्य हरिवंश स्वयं स्वतन्त्र-मार्ग के उन्नायक हैं—नाभाजी ने भक्तमाल में कहा है—'व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भल पहिचानिये। हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।' इस छप्पय का भावार्थ श्री हरिवंशजी की विलक्षणता को जिस रूप में उपस्थित करता है वह मनन करने की वस्तु है। नाभाजी ने बड़े निष्पक्ष भाव से आचार्य हरिवंशजी का स्वरूप अंकित किया है।

२. आचार्य हरिवंश रसमार्ग के उन्नायक तथा रसिकों के शिरोमणि हैं—व्यासजी ने इनके निधन पर जो पद कहा था उसमें यह भाव बड़े स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है—'हुतो रस रसिकन को आधार।'

५. सुन्दरवर	१	४	५
६. दामोदर वर	२	४	६
७. रामदास जी	१	६	७
८. विलासदास जी	१	४	५
९. कमल नैन	१	४	५
१०. बिहारीलाल	१	४	५
११. कुंज जी	१	४	५
१२. हरि भट्टजी	१	४	५
१३. मुकुन्द भट्ट	१	४	५
१४. रूप भट्ट जी	१–४	१२	११–२८
१५. किशोरीलाल	२	६	११
१६. हित लाल	–	१	१
१७. रसिकनंद	–	१	१
१८. दया सिंधु	–	१	१
१९. कृपा सिंधु	–	१	१
२० गोपीलाल	–	१	१
			१२०
२१. कीरति पथ	–	१	१
२१. मनोरथ पथ	–	१	१
२३. चंददास जी	–	१	१
			३
			१२३+४

उपर्युक्त पद-साहित्य के अतिरिक्त व्रजमंडल में जो रासलीलाएँ आजकल अभिनीत होती हैं उनमें अनेक लीलाओं का ढांचा चाचा वृन्दावनदास के पदों के आधार पर खड़ा किया गया है। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि को त्याग कर रासधारियों में इनकी लीलाओं तथा पद-कवित्त आदि से जो सामग्री चयन की है वह चाचा जी के काव्य की सर्वजन प्रियता का सुन्दर निदर्शन है। चाचा जी की रचनाओं का व्यापक अध्ययन आवश्यक है।

देने वाली सिद्ध हुई। अलौकिक होने पर भी इनका अपना स्थान है।

१४—आचार्य हरिवंश की प्रशंसा प्रारम्भ से होती चली आ रही है—उनके समसामयिक महापुरुषों में श्री हरिराम व्यास, प्रबोधानन्द सरस्वती, सेवकजी, कृष्णचन्द्र आदि ने बहुत विस्तार से आपका वर्णन किया। भेंट में अनेक पद भी अर्पित किये गये हैं। अन्य सम्प्रदायों के महात्माओं ने भी आचार्य हरिवंश जी की प्रशंसा लिखी है जिनमें श्री विहारिनदास, नाथ भट्ट, भगवत मुदित, नाभाजी, प्रियादासजी, वंशी अली, किशोरी अली, अलबेली अली, नागरीदास कृष्णगढ़ वाले, भगवत रसिक, रघुराजसिंह आदि उल्लेख्य हैं।

साधना-पद्धति की नवीनताएँ :

१—उपासना-पद्धति को विधि-निषेधातीत स्वीकार करना।

२—इष्ट और गुरु का अभेद स्वीकार करना।

३—गुरु उपासना, हित-उपासना, श्री राधा तत्त्वोपासना, श्री तत्त्व या रसोपासना सब में अभेद की स्वीकृति।

४—सम्प्रदाय का नाम 'श्री राधावल्लभ', उपास्य के नाम पर है। प्रवर्तक या आचार्य के नाम पर नहीं।

५—साध्य और साधन में अभेद की स्वीकृति।

६—समस्त अवतारों तथा समस्त आचार्यों का पर्यवसान अपने निज आचार्य में मानना तथा किसी की भी अवहेलना या निंदा से सर्वथा दूर रहना।

७—उपासना-पद्धति में नवीनता—गद्दी-सेवा, नाम-सेवा, खिचड़ी-प्रथा, राधा के स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित रूप की स्वीकृति।

८—राजभोग आदि पाँच आरती की सर्वप्रथम स्थापना।

९—समाज, संगीत और साँझी द्वारा कीर्तन तथा शृंगार की नवीन परिपाटी का प्रवर्त्तन।

१०—नित्यविहार का स्वरूप सर्वप्रथम स्थापित करके उसका चतुर्व्यूहात्मक शैली से प्रतिपादन।

अन्य सम्प्रदायों पर प्रभाव :

राधावल्लभ सम्प्रदाय की नूतन मान्यताओं का समसामयिक एवं परवर्त्ती वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायों पर धार्मिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। अष्टछाप के कवियों ने वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुगमन अपने काव्य में किया है किन्तु स्थान-स्थान पर हम राधावल्लभीय विचारधारा की छाप भी उनके पदों में देख सकते हैं। डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने ग्रंथ में माधुर्य भक्ति का प्रभाव दिखाते हुए लिखा है कि—'राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के प्रेम-शृंगार की संयोग-लीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार की भक्ति को उस सम्प्रदाय में 'परम माधुरी भाव' कहा गया है। अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदासजी ने राधाकृष्ण की युगल लीलाओं की उपासना सखीभाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनों सम्प्रदायों की

३. आचार्य हरिवंश के इष्टदेवता और गुरु दोनों एक (राधा) हैं। यह अभेद-बुद्धि ि अन्य महापुरुष के जीवन में नहीं मिलती। दोनों ही सर्वोपरि और आगम-निगम अगोचर रूप में वर्णित हुए हैं।

४—आचार्य हरिवंश ने दैन्य भाव को अपनी रचनाओं में कहीं स्थान नहीं दिय प्रेमलक्षणा-भक्ति का यथार्थ मर्म समझने वाले भक्त को दैन्य और कार्पण्य से विह होकर ही राधाकृष्ण का प्रेम प्राप्त करना चाहिए।

५—विरक्त भाव से गृह-त्याग करने के बाद भी मार्ग में पुनः विवाह करके गृह के रूप में जीवन-यापन आचार्य हरिवंश की विलक्षणता है। भजनसेवा और उपासना ही उन जीवन का ध्येय रहा। समस्त वैभव, धन-धान्य त्यागकर वृन्दावन आने पर भी व्रजवासि द्वारा सम्मानित होना और व्रजमंडल के प्रमुख आचार्य के रूप में ख्याति प्राप्त कर आचार्य हरिवंश के व्यक्तित्व के अतुल प्रभाव को प्रकट करता है।

६—वृन्दावन में सेवाकुञ्ज, रासमंडल, मानसरोवर और वंशीवट नामक चार प्रमु स्थानों का प्राकट्य करना भी आचार्य के महत्त्व को बताने वाली घटना है।

७—आचार्य हरिवंश स्वयं गृहस्थ थे किन्तु अपने विलक्षण प्रभाव से आपने अने साधुओं को भी दीक्षा देकर अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। साधुओं द्वारा गृहस्थ से दीक्ष लेने की घटना व्रजभूमि के लिए उस समय अवश्य ही आश्चर्यजनक रही होगी। इसे व्यक्तित्व का प्रभाव ही मानना चाहिए। पूरनदास, नवलदास आदि साधु जब आपके शिष्य हुए तब उनके सम्पर्क में आने वाले इस घटना पर चौंके थे। किन्तु आचार्य हरिवंश के तेज के आगे सबको नतशिर होना पड़ा।

८—नरवाहन जैसे डाकू की शरणागति आचार्य हरिवंश के प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है। स्वामी हरिदासजी जैसे विरक्त महात्मा का आचार्य हरिवंश के सम्पर्क में आना और प्रभावित होना भी उनके तेज का द्योतक है। शास्त्रार्थ-महारथी व्यासजी का शिष्य होना भी हरिवंशजी के विलक्षण व्यक्तित्व की पुष्टि करता है।

९—गंगा, यमुना, और कर्मठीबाई को अपने तपोबल द्वारा यवनों के पंजे से छुड़ाना उनके तेज का प्रमाण है।

१०—रासलीला अनुकरण का सर्वप्रथम संवत् १५९२ में प्रचलन करना और उसके निमित्त रासमंडल की स्थापना का श्रेय भी आचार्य हरिवंशजी को ही है।

११—'प्रेम में नेम नहीं'—इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से चरितार्थ करके दिखाना आचार्य हरिवंश के साहस को स्पष्ट करने वाली घटना है। कहते हैं अपने शिष्य बीठलदास का प्रेम भाव में उच्छिष्ट तक स्वीकार कर लिया था।

१२—बालचरित्र में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं से भी महापुरुष होने का संकेत बचपन में ही मिल गया था। राधासुधानिधि की रचना और रंगीलाल का प्राकट्य इसके प्रमाण हैं।

१३—आचार्य हरिवंश ने अपने भक्तों को स्वप्न में भी दीक्षा देकर कृतार्थ किया था ऐसा परमानन्ददास आदि शिष्यों के विषय में प्रसिद्ध है। ये बातें उनकी प्रसिद्धि में योग

मैं इनकों घटि-बढ़ि नहिं जानति, भेद करै सो को है।
सूर स्याम नागर, यह नागरि एक प्रान तन द्वै है॥
—सूरसागर काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पद १६०३। २५२१, पृष्ठ ६०६।

२—निरखि ब्रज नारि छवि स्याम लाजै।
विविध बेनी रची, माँग पाटी सुभग, भाल बेंदी बिन्दु इन्दु लाजै।
+ + +
सूर की स्वामिनी, नारि ब्रजभामिनी, निरखि प्रिय प्रेम सोभा सु लाजै॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद १०४२। १६६०, पृष्ठ ६१६।

३—मैं कैसे रस रासहि गाऊँ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी कृपा बास ब्रज पाऊँ॥
आन देव सपनेहुँ न जानों, दम्पति के सिर नाऊँ।
भजन प्रताप,चरन महिमा तें गुरु की कृपा दिखाऊँ॥
नव निकुंज वन धाम निकट इक आनद कुटी रचाऊँ।
सूर कहा विनती करि बिनवै जनम जनम यह ध्याऊँ॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० ११७४। १७९२, पृष्ठ ६६२।

४—नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि जनु घन दमकति दामिनि।
सेस महेस गनेस सुकादिक नारदादि की स्वामिनि॥
+ + +
सहज माधुरी अंग अंग प्रति सुबस किये धनी।
अखिल लोक लोकेस विलोकत, सब लोकनीके गनी॥
+ + +
जगनायक जगदीस पियारी, जगत जननि जगरानी।
नित विहार गोपाल लाल संग, वृन्दावन रजधानी॥
रसना एक नहीं सत कौटिक, सोभा अमित अपार।
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे, सूरदास बलिहार॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० १०५५।१६७३, पृष्ठ ६२३–२४।

५—संग राजति वृषभानु कुमारी।
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी॥
आलस भरे मगन रस दोऊ अंग अंग प्रति जोहत।
मनहुँ गौर स्याम कंरव शशि उत्तम बैठे सम्मुख सोहत॥
कुंज भवन राधा मन मोहन चहूँ पास ब्रज नारी।
सूर रही लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स० पद सं० २४६३।३०८१, पृष्ठ १०७६।

उपरिलिखित पदों में श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा का प्राधान्य स्पष्टरूपेण वर्णित हुआ है। राधा को स्वामिनी मानकर राधा की कृपा की आकांक्षा राधावल्लभीय भक्ति-मात्र

छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पड़ी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप काव्य में हमें सखीभाव से की गई युगल-भक्ति के पद भी एक बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठों कवियों के उपलब्ध हैं'।[१]

वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की उपासना ही प्रधान थी। माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक वात्सल्य भक्ति का ही वल्लभाचार्य ने प्रचार किया था। किन्तु बाद में उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथजी ने किशोर कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल-स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया। इस विषय में भी डा० गुप्त ने लिखा है—'हां, राधा की उपासना का समावेश इस सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ, क्योंकि हम देखते हैं कि श्री विट्ठलनाथजी ने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनीस्तोत्र' दो ग्रंथ लिखे हैं और श्री वल्लभाचार्य जी के किसी भी ग्रंथ में इस प्रकार राधा का वर्णन नहीं है।+ + + । गोस्वामी विट्ठलनाथजी के राधाभाव सम्बन्धी विचारों पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु तथा श्री हितहरिवंशजी के विचारों का प्रभाव माना जा सकता है। क्योंकि चैतन्य महाप्रभुजी तथा हितहरिवंशजी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा की भक्ति की मान्यता है।"[२] यहां हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि चैतन्य सम्प्रदाय में राधा की मान्यता होते हुए भी प्राधान्य नहीं है जबकि हितहरिवंशजी के लिए तो राधा ही सब कुछ है। अतः राधाभाव का चरमोत्कर्ष इसी सम्प्रदाय द्वारा हुआ यह मानना युक्तिसंगत है। वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने राधा को परकीया नहीं माना वरन् उन्होंने स्वकीया मानकर संयोग-लीला को ही स्थान दिया। सूरदास ने तो कहीं-कहीं निकुंज-लीला का भी गान किया है जो विशुद्ध राधावल्लभीय भाव का अनुगमन ही कहा जायगा।

श्रीकृष्ण से भी बढ़कर श्रीराधा के प्राधान्य की स्वीकृति को हम राधावल्लभीय प्रभाव ही कहेंगे। निश्चय ही यह राधा-प्राधान्य इसी सम्प्रदाय की देन है। राधा को प्रधानता देने वाले पद हम सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी और छीत स्वामी की रचनाओं में देख सकते हैं।

सूरसागर में कुछ पद तो ज्यों के त्यों हितचौरासी के हैं जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अब हम उन पदों की ओर संकेत करना चाहते हैं जिनमें माधुर्य भाव के साथ नित्यविहार का वर्णन हुआ है और कृष्ण के स्थान पर राधा को प्रधान मानकर वर्णन किया गया है। इन पदों की संख्या सूरसागर में दो दर्जन से ऊपर है।

१—सुनहु सखी राधा सरि को है।
जो हरि है रतिपति मनमोहन, याकौ मुख सो जोहै॥
जैसो स्याम नारि यह तैसी, सुन्दर जोरी सोहै।
यह द्वादस वहऊ दस द्वै को, ब्रज जुवतिनि मन कोहै॥

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६४३-४४।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५३७-३८।

मैं इनकों घटि-बढ़ि नहि जानति, भेद करै सो को है।
सूर स्याम नागर, यह नागरि एक प्रान तन दो है॥
—सूरसागर काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पद १६०३। २५२१, पृष्ठ ६०६।

२—निरखि ब्रज नारि छवि स्याम लाजै।
विविध वेनी रची, माँग पाटी सुभग, भाल बेंदी बिन्दु इन्दु लाजै।
+ + +
सूर की स्वामिनी, नारि ब्रजभामिनी, निरखि प्रिय प्रेम सोभा सु साजै॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद १०४२। १६६०, पृष्ठ ६१६।

३—मैं कैसे रस रासहिं गाऊँ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी कृपा वास ब्रज पाऊँ॥
ग्रान देव सपनेहुं न जानौ, दम्पति के सिर नाऊँ।
भजन प्रताप, चरन महिमा तें गुरु की कृपा दिखाऊँ॥
नव निकुंज वन धाम निकट इक ग्रानद कुटी रचाऊँ।
सूर कहा बिनती करि बिनवै जनम जनम यह ध्याऊँ॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० ११७४। १७९२, पृष्ठ ६६२।

४—नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि जनु घन दमकति दामिनि।
सेस महेस गनेस सुकादिक नारदादि की स्वामिनि॥
+ + +
सहज माधुरी ग्रंग ग्रंग प्रति सुबस किये घनी।
ग्रखिल लोक लोकेस विलोकत, सब लोकनीके गनी॥
+ + +
जगनायक जगदीस पियारी, जगत जननि जगरानी।
नित विहार गोपाल लाल संग, वृन्दावन रजधानी॥
रसना एक नहीं सत कौटिक, सोभा ग्रमित ग्रपार।
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे, सूरदास बलिहार॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० १०५३।१६७३, पृष्ठ ६२३-२४।

५—संग राजति वृषभानु कुमारी।
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति सोभा भारी॥
ग्रालस भरे मगन रस दोऊ ग्रंग ग्रंग प्रति जोहत।
मनहुं गौर स्याम कैरव ससि उत्तम बैठे सम्मुख सोहत॥
कुंज भवन राधा मन मोहन चहूँ पास ब्रज नारी।
सूर रही लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी॥
—सूरसागर, का० ना० प्र० स० पद सं० २४६३।३०८१, पृष्ठ १०७६।

उपरिलिखित पदों में श्रीकृष्ण की ग्रपेक्षा राधा का ... वर्णित हुग्रा है। राधा को स्वामिनी मानकर राधा की कृपा की ग्राकांक्षा

छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पड़ी, जिसके फलस्वरू *अष्टछाप काव्य में हमें सखीभाव से की गई युगल-भक्ति के पद भी एक बड़ी संख्या में मिल* हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठों कवियों के उपलब्ध है'।[१]

वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की उपासना ही प्रधान थी। माहात्म्य-ज्ञानपूर्व वात्सल्य भक्ति का ही वल्लभाचार्य ने प्रचार किया था। किन्तु बाद में उनके उत्तराधिका *गो० विट्ठलनाथजी ने किशोर कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल-स्वरूप की उपासना* विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया। इस विषय में भी डा० गुप्त लिखा है—'हां, राधा की उपासना का समावेश इस सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी के समय हुआ, क्योंकि हम देखते हैं कि श्री विट्ठलनाथजी ने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' तथ *'स्वामिनीस्तोत्र' दो ग्रंथ लिखे हैं और श्री वल्लभाचार्य जी के किसी भी ग्रंथ में इस प्रका* राधा का वर्णन नहीं है। + + + । गोस्वामी विट्ठलनाथजी के राधाभाव सम्बन्धी विचारों पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु तथा श्री *हितहरिवंशजी* के विचारों का प्रभाव मान जा सकता है। क्योंकि चैतन्य महाप्रभुजी तथा हितहरिवंशजी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ *राधा की भक्ति की मान्यता है।"[२] यहां हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि* चैतन्य सम्प्रदाय में राधा की मान्यता होते हुए भी प्राधान्य नहीं है जबकि हितहरिवंशजी के लिए तो राधा ही सब कुछ है। अतः राधाभाव का चरमोत्कर्ष इसी सम्प्रदाय द्वारा हुआ यह मानना युक्तिसंगत है। वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने राधा को परकीया नहीं माना वरन् *उन्होंने स्वकीया मानकर संयोग-लीला को ही स्थान दिया।* सूरदास ने तो कहीं-कहीं निकुंज-लीला का भी गान किया है जो विशुद्ध राधावल्लभीय भाव का अनुगमन ही कहा जायगा।

श्रीकृष्ण से भी बढ़कर श्रीराधा के प्राधान्य की स्वीकृति को हम राधावल्लभीय प्रभाव ही कहेंगे। निश्चय ही यह राधा-प्राधान्य इसी सम्प्रदाय की देन है। *राधा को प्रधानता देने वाले पद हम सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द* स्वामी और छीत स्वामी की रचनाओं में देख सकते हैं।

सूरसागर में कुछ पद तो ज्यों के त्यों हितचौरासी के हैं जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। *अब हम उन पदों की ओर संकेत करना चाहते हैं जिनमें माधुर्य भाव के साथ* नित्यविहार का वर्णन हुआ है और कृष्ण के स्थान पर राधा को प्रधान मानकर वर्णन किया गया है। इन पदों की संख्या सूरसागर में दो दर्जन से ऊपर है।

१—सुनहु सखी राधा सरि को है।
जो हरि है रतिपति मनमोहन, याको मुख सो जोहै॥
जैसो स्याम नारि यह तैसी, सुन्दर जोरी सोहै।
यह द्वादस वहऊ दस द्वै को, ब्रज जुवतिनि मन मोहै॥

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६४३-४४।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५२७-२८।

करेंगे कि उनकी भाव-वस्तु और रचना-शैली पर हितहरिवंशजी की वाणी का कितना गहरा प्रभाव पड़ा है।

नव किशोर नव नागरी, नव सब सौंज रु साज।
नव वृन्दावन नव कुसुम, नव बसन्त ऋतुराज ॥१
ठाढ़े गाढ़े कुंजतर, बाढ़े मैन चकोर।
भीजत कब इन दृगन ते, देखौं जुगल किशोर ॥२
जोई जोई करति तुम प्यारी सोई सोई सो मन माने।
अहो विहारिन सौंह तिहारी उर प्रतीति मति आने ॥३
आज अति राजत जुगल किशोर।
देखरी देखि रहे फबि अद्भुत छवि को ओर न छोर ॥
अंसन पर भुज दिये परस्पर मनहर सांवर गौर।
श्री हरिप्रिया वदन शशि सुन्दर चितवन नैन चकोर ॥४
दोउ जन लागत हैं अति नीके।
भीजे अंग-अंग लपटनि अम्बर रंग सुहीके ॥
गरबहियां दिये भरे उमंगनि आंगन कुंज कुटी के।
श्री हरिप्रिया कहाँ लौ बरनौ जो गुन प्यारी पीके ॥५

उपर्युक्त पदों का हित चौरासी से साम्य-प्रदर्शन करने के लिये हम निम्न पद उद्धृत कर रहे हैं :—

जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे ॥
—हित चौरासी, पद सं० १।

आज अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किशोर ॥
अंसनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन विवि ओर ॥
—हित चौरासी, पद सं० ११।

दोउ जन भींजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अम्बर लपटे गातन ॥
—स्फुट वाणी, पद सं० २३।

१. युगल शतक—श्री भट्ट, सम्पादक पं० ब्रजविहारीशरण, पृष्ठ ३४
२. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ३७
३. महावाणी—हरिव्यास देवाचार्य—प्रकाशक ब्र० बिहारीशरण, पृ० १६३।
४. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १६६, ८६।
५. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १६६,८६।

का ही प्रभाव है। राधा को जगनायक जगदीश की प्यारी जगरानी मानना भी हित हरिवंशजी का अनुकरण है। सूरदास ने प्रायः कृष्ण-माहात्म्य ही कहा है किन्तु माधुर्य भक्ति के प्रभाव में कुछ पद ऐसे बन पड़े हैं जो राधाभाव को प्रधानता देकर लिखे गये हैं। नित्य-विहार या निकुंज लीला का गान करना सूरदास का अभीष्ट विषय नहीं था। सूरदास ने बाल लीला को ही प्रधानता दी है, फिर भी कुछ पदों में निकुंज लीला का वर्णन मिलता है। यह *निकुंज-लीला-वर्णन हरिवंशजी के नित्यविहार की छाया ही समझना चाहिए।*

श्री परमानन्ददासजी के पदों में श्री राधा के प्राधान्य के दो-तीन पदों में दर्शन होते हैं।

'प्रगट्यो सब ब्रज को सिंगार।
कीरति कूख अवतरी कन्या सकल भुतिन को सार॥
नख सिख रूप कहाँ लौं बरनौं कोटि मदन बलिहार।
परमानन्द प्रभु के हित कारण बलि राधा अवतार॥

उक्त पद में स्पष्ट रूप से राधा को ही मुख्य माना गया है। प्रभु के हित के लिए राधा ने अवतार धारण किया यह भाव इतना प्राणवान है कि राधा की महत्ता का इससे बड़ा प्रमाण कोई नहीं हो सकता।

नन्ददास ने भी नित्यविहार-सम्बन्धी पद लिखे हैं जिसका प्रत्यक्ष आधार हितजी की भाव-कल्पना है। नन्ददास के वर्णन में वही आलंकारिक शैली और वैसी ही अप्रस्तुत योजना है *जैसी हित हरिवंशजी के पदों में है। तमाल से कनक लता के उलझने की उपमा* द्वारा जो अप्रस्तुत योजना की गई है, वह इसका प्रमाण है।

दम्पति पौढ़ें पौढ़े रसवतियाँ करन लागे दोऊ नैना लागि गये।
सेज ऊजरी चन्दा हू तें निर्मल सागर कमल छये॥
आलस बान मान संग पौढ़ी पिय हिये उर लाय लये।
नन्ददास प्रभु मिलो श्याम तमाल ढिंग कनक लता उलहे॥

निम्बार्क सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति पर भी, सिद्धान्त पक्ष एवं साधन-पक्ष दोनों दिशाओं में राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना का विधान प्रारम्भ से ही किया था किन्तु श्रीभट्ट तथा हरिव्यास देवाचार्य की रचनाओं में राधा को जो रूप मिला तथा नित्यविहार का जिस रूप में वर्णन हुआ वह राधावल्लभीय विचारधारा से प्रभावित है। यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है कि श्री भट्ट तथा हरिव्यास देवाचार्य की वाणियाँ श्री हितहरिवंश से पहले की हैं या बाद की। हमने इस विषय पर चतुर्थ अध्याय में संक्षेप में प्रकाश डाला है। हम श्री भट्ट जी के युगल शतक को संवत् १६५२ की रचना मानते हैं और हरिव्यासदेव जी की महावाणी तो उनके भी बाद की कृति है। अतः श्री हितहरिवंशजी की रचनाएँ इन दोनों महानुभावों से लगभग पचास वर्ष पूर्व की ठहरती हैं। ऐसी दशा में इन दोनों पर स्पष्टतः हितहरिवंशजी का प्रभाव देखा जा सकता है।

इस युगलशतक और महावाणी से कतिपय पद उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा

नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि।
कुंज कोमल दलनि सिज्या रची ॥

—हित चौरासी, पद सं० ५० ।

राधा के प्राधान्य के सम्बन्ध में इतना निवेदन करना ही कदाचित् पर्याप्त होगा कि राधावल्लभ सम्प्रदाय से पहले इतना अधिक महत्त्व किसी अन्य सम्प्रदाय में राधा को नहीं मिला था। निम्बार्क सम्प्रदाय में सत्रहवीं शती में जो ब्रजभाषा-साहित्य लिखा गया उसमें कृष्ण की अपेक्षा राधा को प्रधानता मिली। यदि पहले से ही राधा का प्राधान्य होता तो संस्कृत ग्रंथों में भी इस भाव का समर्थन मिलता, किन्तु वहाँ कृष्ण ही उपास्य और इष्ट है। राधा उनके साथ अवश्य है। निम्बार्क सम्प्रदाय की परवर्ती भावना पर राधा का साम्राज्य छा गया, यह अकारण नहीं हुआ। निश्चय ही हितहरिवंशजी के व्यापक प्रभाव का ही यह परिणाम है। अतः हम इसका श्रेय आचार्य हितहरिवंशजी को ही देते हैं। नागरीदास जी और अलबेली अली की रचनाओं पर भी हम यह प्रभाव देख सकते हैं।

श्री स्वामी हरिदासजी तो हितहरिवंशजी के समसामयिक थे। स्वामी जी ने सखी-भाव के साथ नित्यविहार और निकुंज-लीला का ठीक उसी रूप में गायन किया जिस रूप में श्री हितहरिवंशजी ने प्रस्तुत किया था। उनकी साधना में वैराग्य का प्राधान्य था। यही उनकी विशेषता है। उनका तथा उनकी शिष्य-परम्परा का जो भक्ति साहित्य मिलता है उसमें तथा राधावल्लभीय भक्ति-साहित्य में विचारधारा और भावना का विशेष अन्तर नहीं है। प्रायः एक ही भावभूमि पर दोनों ने साहित्य सृजन किया है। भगवत रसिक, बिहारिन देव, सहचरि सुख आदि की रचनाओं का प्रतिपाद्य वही है जो हितहरिवंशजी तथा उनके अनुयायियों का था। राधा के स्वकीया भाव की प्रत्यक्ष रूप से निम्बार्क तथा हरिदासी मत में स्थापना हुई। राधावल्लभ सम्प्रदाय में लौकिक दृष्टि से स्वकीया की स्वीकृति होने पर भी राधा को स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित माना गया। यही अन्तर कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हरिदासी और हरिवंशी मत में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। भगवत रसिक ने अपने मत की स्थापना करते हुए कहा है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मन्त्र को जाप ॥
जुगल मन्त्र को जाप वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी ॥
प्रेम देवता मिले बिना, सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुखदानि, प्रकट में रसिकाचारज ॥
नहीं द्वैत अद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत।
बंधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत ॥
ईश्वर इच्छा द्वैत करें सबही को पोषन।
आप रहैं निरलेप, भगत सों मानें तोषन ॥

राधावल्लभजी के मन्दिर से ही हुआ। वर्तमान काल के आनन्दी बाई के मन्दिर में भी यही सेवा चल रही है।

५—प्रसाद का महत्त्व ब्रजमंडल में राधावल्लभीय भक्तों के कारण ही व्यापक और विशद हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो प्रसाद-निष्ठा को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। हरिराम व्यास, सेवक, ध्रुवदास और कल्याण पुजारी की प्रसाद-निष्ठा विख्यात है।

६—अष्टयाम सेवा को रासलीला में दृश्य-काव्य के रूप में दिखाने की परिपाटी भी राधावल्लभीय अष्टयाम सेवा के अनुरूप अन्य सम्प्रदायों ने ग्रहण कर ली है। यह ऐसा प्रभाव है जो प्रत्यक्ष रूप से आज भी देखा जा सकता है।

७—राधावल्लभीय भजन-पद्धति की प्रशंसा तो अनेक सम्प्रदायों के वैष्णव भक्तों ने की है। प्रबोधानन्द सरस्वती, स्वामी हरिदास, अलि भगवान्, भगवत मुदित, वल्लभ रसिक, आदि ने मुक्तकंठ से राधावल्लभीय भक्ति-पद्धति तथा श्री हितहरिवंशजी की प्रशंसा की है और उसे माधुर्य भाव का मुकुटमणि बताया है।

साहित्य, संगीत और कला :

साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में हम राधावल्लभ सम्प्रदाय की देन का पृथक्-पृथक् आकलन कर सकते हैं। रस-भक्ति के लिए इन तीनों उपादानों की आवश्यकता सभी सम्प्रदायों से स्वीकार की गई है। इसी कारण ब्रजमंडल के भक्ति-सम्प्रदायों में इन तीनों साधनों को भक्ति-पथ का अनिवार्य अंग माना गया है। साहित्य के क्षेत्र में वाणी-रचना, संगीत के क्षेत्र में कीर्तन, समाज और भजन तथा कला के क्षेत्र में साँभी, फूल-रचना, मूर्त्ति-शृंगार आदि का व्यापक रूप से विधान है। भक्ति को सार्वजनीन और आकर्षक बनाने की यह परिपाटी अद्यावधि ब्रज में प्रचलित है और इन तीनो उपकरणों के साथ भक्ति-सम्प्रदाय अपनी परम्परा का किसी न किसी रूप में पालन कर रहे हैं। साहित्यिक शैली से वाणी-रचना की परम्परा क्रमशः शिथिल पड़ती जा रही है और संगीत की लीक मात्र शेष रह गई है। कला की पुरातन शैली किसी-किसी मन्दिर में शृंगार-प्रसाधन में अभी वर्तमान है किन्तु उस पर भी अर्वाचीन शृंगार-शैली का पुट चढ़ता जा रहा है। किन्तु इन तीनों क्षेत्रों में सांस्कृतिक ऐक्य का अद्भुत समन्वय देखकर यही मानना पड़ता है कि मध्यकालीन भक्ति साधना शुष्क या नीरस तपस्या न होकर माधुर्य-मंडित रससिक्त साधना थी।

साहित्य :

वाणी-ग्रंथों के रूप में राधावल्लभीय सम्प्रदाय का विपुल ब्रजभाषा साहित्य आज भी ब्रजप्रदेश, अहमदाबाद, सूरत, बुन्देलखण्ड, मध्य प्रदेश, पटना आदि स्थानों में हस्तलिखित रूप में पड़ा हुआ है। यदि समस्त वाणी-ग्रंथों का संकलन हो सके तो निश्चय ही परिमाण की दृष्टि से यह ब्रजमंडल के अन्य सभी भक्ति-सम्प्रदायों से अधिक होगा। जितने साहित्य का पता लगाया जा सका है और जो हमने स्वयं देखा है वह भी मात्रा में अन्य सम्प्रदायों से अधिक ही ठहरेगा। विगत चार सौ वर्षों में ब्रज में जो साहित्य-सृजन हुआ उसका आधा भाग राधावल्लभीय भक्तों का है, यह कथन कदाचित् किन्हीं को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो

'राधामामिह मादनं बद गधे को वेनि कर्त विना।' आदि श्लोक इस बात के निदर्शन हैं कि राधा की प्रमुखता ने गुरु और इष्ट को भी ढक लिया था, अतः फिर से उनके गुणगान और महत्व स्थापना की आवश्यकता प्रतीत हुई।

वर्तमानकाल में गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा का महत्वपूर्ण स्थान है और सेवा-पूजा में गद्दी-सेवा को भी श्री राधारमण जी के मन्दिर में ग्रहण कर लिया गया है। गौड़ीय भक्ति के शास्त्रीय विधान पर राधावल्लभ सम्प्रदाय की कोई छाप नहीं है क्योंकि वह तो पहले ही विस्तारपूर्वक तैयार हो चुका था। उस दिशा में तो हितहरिवंशजी ने स्वयं प्रेम-लक्षणा के वैधी रूप के निर्माण में गौड़ीय गोस्वामियों से कुछ न कुछ ग्रहण किया होगा।

अयोध्या के रामानन्दी सम्प्रदाय की एक शाखा सखी सम्प्रदाय के रूप में सामने आई। इस सखीभाव का मूलाधार प्रेम-लक्षणा में राधाभाव का प्राधान्य था जो हितहरिवंश जी की ही देन है। हमने ऐसे अनेक पद स्वयं देखे हैं जिनमें राम-सीता को ठीक उसी रूप में अंकित किया गया है जिस रूप में कृष्ण और राधा को राधावल्लभ सम्प्रदाय में किया जाता है। यह प्रभाव किस रूप से संक्रमित होकर वहां तक पहुँचा यह अनुसंधान का विषय है। वृन्दावन में भी ऐसे रामानन्दी साधुओं से हम मिले हैं जो सखीभाव की उपासना का वैसा ही अनुकरण करते हैं जैसा राधावल्लभ सम्प्रदाय में है। पूछने पर हमें यही बताया गया कि वृन्दावन और अयोध्या दोनों स्थानों पर प्रेम-लक्षणा और राधाभाव का इतना व्यापक प्रभाव किसी काल में पहुँचा था कि राम और सीता को राधाकृष्ण की छाया में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया और उसी शैली में काव्य-रचना होने लगी। हो सकता है इस भाव को स्वीकार करने में और भी प्रभाव रहे हों—किन्तु राधावल्लभीय प्रभाव की एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। वृन्दावन के रामानन्दी साधु तो इसका श्रेय ब्रज की भक्ति-परम्परा में हित-हरिवंशजी को ही देते हैं।

राधावल्लभीय सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव हम ब्रजमंडल के समसामयिक भक्ति-सम्प्रदायों में इन रूपों में भी देख सकते हैं—

१—रास की परिपाटी में राधा को प्राधान्य दिया जाता है। जो सम्प्रदाय कृष्ण को इष्टदेव तथा राधा को परकीया मानते हैं वे भी रास में राधा को प्रथम स्थान देते हैं।

२—रासमंडल बनवाने की प्रथा श्री हितहरिवंशजी के रास-मंडल निर्माण से ही प्रचलित हुई। उनसे पहले का कोई रास-मंडल ब्रज में उपलब्ध नहीं होता।

३—गद्दी-सेवा की स्थापना का श्रेय भी राधावल्लभ सम्प्रदाय को ही है। यद्यपि वृन्दावन के दो अन्य प्रमुख मन्दिरों में भी गद्दी-सेवा प्रचलित है। श्री बिहारीजी के मन्दिर में गद्दी-सेवा है किन्तु इस मन्दिर की स्थापना यदि बिहारीजी के प्राकट्य काल से ही मानी जाय तो संवत् १५६५ है। दूसरा मन्दिर गौड़ियों का श्री राधारमण का है। इसमें भी गद्दी-सेवा है। इस मन्दिर की स्थापना १५६६ संवत् की है। अतः कालक्रम में ये दोनों मन्दिर राधावल्लभ जी के मन्दिर के पश्चाद्वर्ती हैं। उसका प्रतिष्ठा-काल सं० १५६२ है अतः दोनों ने अनुकरण ही किया है।

४—वृन्दावन के अधिकांश मन्दिरों में सात क्रम की सेवा चलती है जिसका प्रवर्तन

विशेषता यह है कि यहाँ रागों के लिए प्रचलित स्वरों से भिन्न स्वर-ताल का विधान है। उदाहरणार्थ चैंती गौरी, रायसी, काफी, कल्यान, कान्हरो, केदारो आदि राग यहाँ भिन्न स्वर ताल में गाये जाते हैं। होरी और धमार तो यहाँ की विशिष्ट वस्तु है। फलतः संगीत का क्षेत्र इस नूतन स्वर तालबद्ध गान-प्रथा से विशद हुआ है। सूरसागर और हितचौरासी के जिन छह-सात पदों में रचना-साम्य पाया जाता है उनमें भी राग की दृष्टि से वैविध्य है। अर्थात् सूरसागर में उसी पद के ऊपर भिन्न राग का नाम दिया गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'समाज' की परम्परा संगीत को सार्वजनीन बनाने वाली रही है। खेद है कि शनैः-शनैः परम्परा से पूर्ण परिचित गायक समाजी अब कम होते जा रहे हैं फलतः संगीत के क्षेत्र में भी ह्रास के लक्षण नजर आने लगे हैं।

कला :

कला के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय का योगदान दो रूपों में आंका जा सकता है। साँझी रचना पहला रूप है। साँझी रचना श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बेलबूटों में नाना वर्णों से अंकन की प्रथा का नाम है। आश्विन मास में तरह-तरह के सुन्दर रंगों तथा पुष्पों द्वारा मन्दिर के प्रांगण में ऐसी चित्रपटी निर्मित की जाती है कि उसका रचना-विन्यास केवल शोभा-विधायक ही नहीं वरन् लीलाओं का बोध कराने वाला भी होता है। कला की दृष्टि से सांझी अतीव रमणीक और उत्कृष्ट शैली की रचना है।

कला का दूसरा रूप श्रीकृष्ण की मूर्ति का प्रसाधन है। विविध उत्सवों पर श्रीविग्रह का शृङ्गार बड़ी कलात्मक शैली से किया जाता है। श्रावण मास में झूले आदि के समय यह शृङ्गार देखने योग्य होता है। इन दोनों रूपों में कला के प्रति अनुराग प्रदर्शित करते हुए कला को जीवित रखने का स्तुत्य प्रयास राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रारम्भ से ही होता रहा है। सांझी को कलात्मक रूप में अंकित करने के साथ साहित्य में वर्ण्य-विषय भी बनाया गया है।

श्री विग्रह का पुष्प-विन्यास भी इस सम्प्रदाय में बड़ी कलात्मक शैली से होता है। फूल-बंगला तो कला का एक मोहक रूप है जो आज भी राधावल्लभीय मन्दिर में वन-विहार, नौका-विहार आदि उत्सवों के समय देखा जा सकता है।

किन्तु हम तथ्यात्मक आँकड़ों के आधार पर यह सिद्ध कर सकते हैं कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के लगभग २५० भक्त-कवि और एक सहस्र से अधिक वाणी-ग्रंथों का पता मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय में परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक सामग्री है।[1] यदि उत्कृष्टता एवं गुणवत्ता पर ध्यान न देकर केवल मात्रा (क्वांटिटी) पर ही विचार किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय के आधे दर्जन ऐसे भक्त-कवि हैं जिनके समस्त वाणी-ग्रंथों की संख्या तीन सौ से ऊपर है और कदाचित् सूरदास को छोड़कर अष्टछाप, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों से परिमाण में अधिक होगी। वे आधे दर्जन वाणीकार हैं, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, चाचा वृन्दावनदास, रसिकदास, अनन्य अली और गोस्वामी हित रूपलाल। यह ठीक है कि इन सबकी समस्त रचनाओं को हम शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं रख सकते। इनमें से अधिकांश तो केवल साम्प्रदायिक भावना को व्यक्त करने वाली धार्मिक कोटि की रचनाएँ हैं। उनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु मात्रा और आकार की दृष्टि से वे भी वाणी ग्रंथों में गिनी जाती रही हैं और उनमें भी यत्र-तत्र साहित्य की छटा दृष्टिगत होती है।

यदि काव्य-सौष्ठव के आधार पर राधावल्लभीय साहित्य की परख की जाय तो उसमें भी इस सम्प्रदाय का साहित्य सर्वथा हेय या उपेक्षणीय नहीं है। अष्टछाप के सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास को छोड़कर शेष कवियों से तथा निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त-कवियों से यह गुणोत्कर्ष में भी नीचा नहीं ठहरेगा। ब्रजभाषा साहित्य को काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से समृद्ध बनाने का श्रेय यदि अष्टछाप के कवियों को है तो उसे भक्तिभाव तथा लीलागान से परिपूर्ण करने का श्रेय राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों को ही प्राप्त है। चाचा वृन्दावनदास तथा ध्रुवदास ने इतनी अधिक लीलाओं का वर्णन किया है कि समस्त ब्रजभाषा साहित्य का लीला-वर्णन इन दोनों के लीला-वर्णन से न्यून ठहरता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इनका लीला-वर्णन उत्कृष्ट कोटि का नहीं है, केवल मात्राधिक्य ही उसकी विशेषता है।

संक्षेप में, साहित्य के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय का योगदान ब्रज के किसी भी सम्प्रदाय से कम नहीं है। ब्रजभाषा साहित्य को समृद्ध बनाने में इस सम्प्रदाय के भक्त-कवियों की रचनाओं को किसी प्रकार भी भुलाया नहीं जा सकता।

संगीत :

संगीत के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय की समाज-प्रणाली की भजन-पद्धति उल्लेखनीय है। समाज द्वारा संगीत का शास्त्रीय तथा कीर्तन-परक रूप इस सम्प्रदाय में आद्याचार्य के समय से अक्षुण्ण चला आ रहा है। स्वयं हितहरिवंशजी ने अपने चौरासी पदों को चौदह रागों में बाँधा था। उसके बाद व्यासजी, ध्रुवदासजी, अनन्यअली, चतुर्भुजदास, रसिकदास आदि परवर्ती भक्तों ने भी रागों के अनुसार पद-रचना की। इस सम्प्रदाय की

1—साहित्य रत्नावली—सम्पादक—किशोरीशरण अली—वृन्दावन, पृ० ८८।

के लिए अप्राप्य भी रहीं और सम्प्रदाय के अनुयायी भी उन्हें दूसरों के दिखाने में संकोच करते रहे। आज स्थिति में यत्किंचित् परिवर्तन हुआ है किन्तु अभी भी उदार दृष्टिकोण का अभाव ही है। शृंगार रस के द्वारा भक्ति की वैतरणी पार करना प्रत्येक मानव के लिए सहज नहीं। शृंगार रस लौकिक वृत्तियों के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न करने वाला होता है अतः कौन जाने कब भक्तिभाव हाथ से छूट जाय और शृंगार की लौकिक अनुभूति में निमज्जित होकर ही साधक काम-वासना को अपना अभीष्ट समझ बैठे। अतः इस दुर्गम पथ पर चलने की प्रक्रिया में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में संसार का निषेध या त्याग नहीं है। संसार को साथ रखते हुए ही भक्ति-साधना का विधान है अतः दुर्गम-पथ का भय पहले ही सामने आ जाता है। साधक को चाहिए कि वह इस रहस्य को समझ लेने के बाद ही इस सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करे और साधना-पथ पर अग्रसर हो। जो निकुंज लीला और नित्य-विहार-दर्शन की आकांक्षा रखता है उसे स्वयं अपने मन की दुर्ललित वृत्तियों को संयम द्वारा जीतना होगा, उसे काम और मोह को त्याग कर राधानिष्ठ होना पड़ेगा, भोग की लौकिक भावना को छोड़ पारलौकिक रति का अंचल पकड़ना होगा। निश्चय ही यह साधना जितनी आकर्षक है उतनी ही कठोर भी है। इस साधना का प्रत्येक सोपान देखने में सहज-सीधा किन्तु अभ्यास में दुस्साध्य और दुष्कर है। इस सम्प्रदाय के प्रायः सभी महात्माओं ने प्रेम-पंथ की सराहना की है, उसे ग्राह्य बताया है किन्तु साथ ही साथ उसे दुर्गम और दुस्तर भी कह दिया है। ध्रुवदासजी कहते हैं—

चढ़िकैं मैन तुरंग पै चलिवौ पावक माँहि।
प्रेमपन्थ ऐसो कठिन सब कोऊ निबहत नाहिं॥
सबतें कठिन उपासना प्रेम पंथ रस रीति।
राई सम जो चलै मन छूटि जाय ध्रुव प्रीति॥

प्रेम-मार्ग की इन कठिनाइयों को ध्यान में रखकर ही इस सम्प्रदाय के वाणीकार महात्माओं ने विधर्मी के समक्ष अपने सम्प्रदाय के सिद्धांत रखने का निषेध किया है। यदि इस सम्प्रदाय की रसमयी भक्ति का मर्म भली-भांति हृदयंगम किया जा सके तो निश्चय ही यह सामान्य गृहस्थ के लिए भी व्यवहार्य और उपादेय भक्ति-मार्ग हो सकता है।

उपसंहार

राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य का जीवन-वृत्त, भक्ति-सिद्धान्त, प्रमुख महात्माओं द्वारा रचित साहित्य और समसामयिक इतिहास का परिचय प्राप्त कर लेने पर, इस निष्कर्ष पर सहज ही में पहुँचा जा सकता है कि ब्रज-प्रदेश के कृष्णभक्ति-परक सम्प्रदायों में माधुर्य-भक्ति को नवीन रूप देने में इस सम्प्रदाय का बड़ा हाथ रहा है। भारतीय इतिहास का मध्य युग धार्मिक चेतना और भक्ति-भावना की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। राजनीतिक क्रान्ति एवं संघर्षमय जीवन में भी भक्त-महात्माओं ने भारतीय जनता को जिस पथ की ओर उन्मुख किया वह इस देश के इतिहास में निश्चय ही एक असाधारण घटना कही जायगी। भक्ति के क्षेत्र में निर्गुण एवं सगुण भावना के साथ माधुर्यभाव संयुत प्रेम-लक्षणा-भक्ति का उदय इसी काल में हुआ। रसराज शृङ्गार के उज्ज्वलतम स्वरूप की प्रतिष्ठा भक्ति-क्षेत्र में इसी युग में हुई। शृंगार के लौकिक रूप विरह-मिलन को स्वीकार करके उसके उन्नयन द्वारा आमुष्मिक नित्य विरह-मिलन की भावना अनेक रसिक भक्तों द्वारा सम्पुष्ट हुई और भक्ति की मन्दाकिनी में माधुर्य रस की निर्मल धारा का संगम हुआ। बंगीय वैष्णव भक्तों ने विरह-भावना का उत्कर्ष-विधान करके शृंगार के लौकिक रूप को निखारा, उसे भोग के कर्दम से बाहर निकाल कर उज्ज्वल बनाया। उत्तरीय भारत में ब्रजमंडल के भक्तों ने भक्ति में मिलन-भावना का उत्कर्ष स्थापित कर उसे माधुर्य रस से सिक्त करके सहज संवेद्य और आस्वाद्य बनाया। बंगीय भक्तों ने अपनी भक्ति-पद्धति का शास्त्रीय विवेचन संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों द्वारा किया था—वह एक पुरातन परम्परा का निर्वाह था। वृन्दावन के रसिक भक्तों ने ब्रजभाषा की सहज माधुरी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और अपनी वाणी द्वारा लक्ष्य ग्रन्थों का विशाल भंडार एकत्र कर प्रेम-तत्त्व की विविध रूपों में व्याख्या प्रस्तुत की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने इस क्षेत्र में राधा को प्रमुख स्थान देकर माधुर्य भक्ति को अपेक्षाकृत अधिक रसमय, लावण्यमय और आनन्दमय बनाने में योग दिया।

शृंगार रस के उन्नयन का प्रयत्न भी प्रच्छन्न रूप से इस सम्प्रदाय के भक्त-कवियों द्वारा हुआ किन्तु वर्णन की भावभूमि लौकिक होने से इस सम्प्रदाय का साहित्य सामान्य [1] के लिए गोप्य ही बना रहा। बहुत काल तक इस सम्प्रदाय की पुस्तकें जनसाधारण

१—साहित्य

परिशिष्ट १

श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी का समस्त परिकर विन्दु और नाद नाम से दो परिवारों में विभक्त है। बिन्दु परिवार गोस्वामी-स्वरूप कहाता है। श्री आचार्य हरिवंशजी की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने वाले गोस्वामी बालक बिन्दु परिवार के होने के कारण पूज्य होते हैं। नाद परिवार में इस सम्प्रदाय में दीक्षित गृहस्थ एवं विरक्त साधु शिष्यों का स्थान है। शिष्य-वर्ग को मंत्र दीक्षा के कारण नादवंशी कहा जाता है। गृहस्थ और विरक्त दोनों कोटि के शिष्यों के लिए सम्प्रदाय में समान स्थान है।

सम्प्रदाय के छह पुण्य स्थलों का विभाजन नाद और बिन्दु परिवार की दृष्टि से समान रूप से किया गया है। श्री राधावल्लभजी का मन्दिर (वृन्दावन), सेवा कुञ्ज (वृन्दावन) और वंशानुगत रंगीलालजी का मन्दिर (देववन्द), बिन्दु परिवार के गोस्वामियों के अधिकार में है। बाद ग्राम का जन्म-स्थल, मानसरोवर और रासमंडल (वृन्दावन) नाद परिवार के विरक्त साधुओं के संरक्षण में है।

विन्दु परिवार के गोस्वामियों में से अनेकों महानुभावों ने अपने-अपने समय में संस्कृत और व्रजभाषा में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। यद्यपि उनकी अधिकांश रचनाओं का आधार साम्प्रदायिक सिद्धान्त प्रतिपादन ही है किन्तु उनमें भी काव्य-रस और भक्ति-रस का अनेक स्थलों पर सुन्दर समावेश हुआ है।

हम दोनों परिवारों के प्रमुख एवं प्रसिद्ध महानुभावों की तालिका नीचे उनके प्रमुख ग्रन्थों के नामोल्लेखपूर्वक दे रहे हैं। इस तालिका में न तो हमने समस्त वाणीकारों को स्थान दिया है और न प्रत्येक भक्त महात्मा की सम्पूर्ण रचनाओं को गिनाया है। प्रसिद्ध और आवश्यक ग्रन्थों का ही नाम इस तालिका में है। 'साहित्य रत्नावली' नामक ग्रंथ से तालिका तैयार करने में लेखक ने सहायता ली है। जिन महानुभावों का प्रबन्ध के कलेवर में नाम आ गया है उनका यहाँ उल्लेख नहीं है।

जुगल वर्णन	—	ब्रजभाषा
वर्षोत्सव	—	"
लाड़िली वर्णन	—	"
सनेह सिद्धान्त	—	"
सिद्धान्त सुख	—	"
आनन्द सेवक चेतावनी	—	"
भक्त दुख मोचन	—	"
इतिहास वेदना को	—	"

(इनके लिखे चालीस ग्रंथ बताये जाते हैं।)

८—श्री जतनलालजी

रसिक अनन्य सार (भक्तमाल)	—	ब्रजभाषा
समय प्रबन्ध	—	"
वृन्दावन दर्पण	—	"
पदावली (स्फुट पद)	—	"

९—श्री हितरूपलालजी

सर्वस्व सिद्धान्त भाषासार	—	ब्रजभाषा
आचार्य गुरु सिद्धान्त	—	"
समय प्रबन्ध	—	"
श्री हित प्राकट्य	—	"
वर्षोत्सव	—	"
गुरुशिक्षा	—	"
रसरत्नाकर	—	"
भक्तिभाव विवेक रत्नावली	—	"
राधा स्तोत्र	—	"
बंशी अवतार कलि प्रकट विलास	—	"
गादी सेवा प्रकट	—	"
श्री नरवाहन परिचय	—	"
श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय निर्णय	—	"
वनलीला	—	"
निकुंज केलि लीला	—	"
हित प्राकट्य प्रमाण	—	"
हरिवंश नामावलि	—	"

(इनके बनाये हुए छोटे-बड़े ८३ ग्रंथ कहे जाते हैं।)

अलंकार मयूर	—	व्रजभाषा
छन्दपयोनिधि	—	"
छन्द सुधाकर	—	"

नाद परिवार के प्रमुख वाणीकार

(नाद परिवार की संख्या अपरिमेय है। विगत चार सौ वर्षों में अनेक गृहस्थ और विरक्त साधुओं ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर वाणी रचना की है। उनकी सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत करना दुष्कर है। हम नीचे उन्हीं सुप्रसिद्ध महानुभावों का उल्लेख कर रहे हैं जिनकी वाणी का सम्प्रदाय में किसी न किसी कारण विशेष महत्त्व है। जिन नौ भक्त-कवियों की समीक्षा हमने ग्रंथ के कलेवर में की है उन्हें इस सूची में नहीं दिया है। राधावल्लभीय सूची के अनुसार नाद परिवार के लगभग नौ सौ विरक्त साधुओं और गृहस्थ महानुभावों ने वाणी-रचना की है। इस विशाल संख्या में से केवल दो दर्जन का चयन करके हम नीचे विवरण दे रहे हैं।)

१—श्री नरवाहनजी

दानवेली	—	व्रजभाषा
पदावली	—	"

२—श्री दामोदर स्वामी

नेमबतीसी	—	व्रजभाषा
गुरु प्रताप	—	"
साखी	—	"
भक्तिभेद सिद्धान्त	—	"
रासपंचाध्यायी	—	"
सिद्धान्त पदावली	—	"
रहस्य लता	—	"
रासलीला	—	"
वर्षोत्सव	—	"

३—श्री रामकृष्णजी कालिंजर निवासी

प्रतीति परीक्षा	—	व्रजभाषा
विनय पच्चीसी	—	"
रासपंचाध्यायी	—	"
रुक्मिणी मंगल	—	"
वृषभान की कथा	—	"
कृष्ण विलास	—	"
ग्वाल पहेली	—	"

१०—श्री व्रजलालजी		
मनःप्रबोध	—	संस्कृत
सेवा विचार	—	"
प्रेमचन्द्रोदय नाटक	—	"
अष्टयाम	—	व्रजभाषा
वर्षोत्सव पदावली	—	"
११—श्री कमलनयनजी		
अष्टयाम	—	व्रजभाषा
वर्षोत्सव	—	"
पदावली	—	"
१२—श्री चन्द्रलालजी		
श्री हित कृपापात्र नामावलि	—	व्रजभाषा
अभिलाषा बत्तीसी	—	"
समय पच्चीसी	—	"
भावना पच्चीसी	—	"
टीका चतुरासी	—	"
वृन्दावन प्रकाश माला	—	"
टीका वृन्दावन शतक	—	"
टीका कर्णामृत	—	"
अष्टयाम	—	"
स्फुट पद	—	"
१३—श्री चतुर शिरोमणिलालजी		
हिताष्टक	—	व्रजभाषा
श्री हरिवंशाष्टक	—	संस्कृत
राधिकाष्टक	—	व्रजभाषा
सुरताष्टक	—	"
१४—श्री रंगीलालजी		
टीका सेवा विचार	—	संस्कृत
राधा भक्ति लहरी	—	"
टीका राधासुधानिधि	—	व्रजभाषा
सटीक मनःप्रबोध	—	"
सटीक उत्सवबोध	—	"
१५—श्री मनोहरवल्लभजी		
टीका चतुरासीजी	—	व्रजभाषा
टीका राधासुधानिधि	—	"

गुरु भक्ति विलास	—	ब्रजभाषा
सेवक मंगल	—	"
रेखता	—	"
१२—श्री हठीजी		
श्री राधासुधा शतक	—	ब्रजभाषा
१३—श्री लालदासजी (लाल स्वामी)		
सिद्धान्त प्रतिपादन	—	ब्रजभाषा
स्फुट पदावली	—	"
१४—श्री ब्रजगोपालजी		
टीका स्फुट वाणी	—	ब्रजभाषा
राधा सहस्रनाम	—	"
टीका सेवक वाणी	—	ब्रजभाषा
हित कुल जन्म बधाई	—	"
स्फुट पदावली	—	"
१५—श्री प्रेमदासजी		
टीका चतुरासी	—	ब्रजभाषा
स्फुट पदावली	—	"
ब्याहुलो	—	"
हित जन्म बधाई	—	"
रस सार संग्रह	—	"
१६—श्री ब्रजजीवन जी		
श्री हित बधाई	—	ब्रजभाषा
पदावली सांझी	—	"
छद्म चौवनी लीला	—	"
चतुरासी माहात्म्य	—	"
सेवकवाणी माहात्म्य	—	"
श्री हित वंशावली	—	"
श्रीहित रसिकमाल	—	"
हृदयाभरण	—	"

१७—श्री

४—श्री प्रतिवल्लभजी

वृन्दावनाष्टक	—	ब्रजभाषा
वार्ता	—	"
हितपद्धति	—	"
मंत्रध्यान पद्धति भाषा	—	"
हितवंशावली	—	"
गुरु प्रणाली	—	"

५—श्री सहचरि सुखजी

मांझ तथा कवित्त सवैया	—	ब्रजभाषा
वर्षोत्सव पदावली	—	"

६—श्री उत्तमदासजी

राधानाम प्रताप लीला	—	ब्रजभाषा
अनन्य माल (भक्तमाल)	—	"

७—श्रीचन्द्रसखी

ज्ञान चौवनी	—	ब्रजभाषा
स्फुट पदावली	—	"

८—श्री लोकनाथजी

टीका चतुरासी	—	ब्रजभाषा
टीका राधासुधानिधि	—	"
रस तरंग	—	"
वृन्दावनस्वरूप वर्णन	—	"
अनन्य लक्षण	—	"

९—श्री सेवा सखीजी

श्री सेवा सखी वाणी	—	ब्रजभाषा

(इस ग्रंथ का उल्लेख ग्राउस आदि अंग्रेज विद्वानों ने किया है। किन्तु अब यह अप्राप्य है।)

१०—श्रीकृष्णदासजी भावुक

वृन्दाव नाष्टक	—	ब्रजभाषा
हरिवंशाष्टक	—	"
गुण प्रणाली	—	"
पदावली	—	"

११—श्री परमानन्दजी

हित बधाई	—	ब्रजभाषा
जमुना मंगल	—	"
राधाष्टक	—	"

टीका स्फुट वाणी	—	संस्कृत
राधा तत्व दर्पण	—	"
वर्षोत्सव निर्णय	—	"
सम्प्रदाय निर्णय	—	"
व्रतोत्सव निर्णय	—	"
भागवत प्रकाश	—	"
राधाभक्ति मंजूषा	—	"
प्रार्थनाशतकम्	—	"
उत्सव निर्णय	—	"

२४—श्री भोलानाथ जी

टीका राधासुधानिधि	—	ब्रजभाषा
टीका सुधर्मबोधिनी	—	"
टीका स्फुट वाणी	—	"
टीका सेवा विचार	—	"
पदावली	—	"

वृत्ति विवेचन	—	व्रजभाषा
फुटकर दोहावली	—	"
हितशतनाम	—	"
१८—श्री प्रियादासजी (दनकौर)		
श्री सेवक चरित्र	—	व्रजभाषा
सेवक श्री हित नामावलि	—	"
वाणी (दोहा पद संग्रह)	—	"
प्रियाचरण चिह्न भाव	—	"
१९—श्री रतनदासजी		
टीका चतुरासी	—	व्रजभाषा
टीका सेवकवाणी	—	"
टीका हरिवंशाष्टक	—	"
सिद्धान्तसार	—	"
स्फुट पदावली	—	"
समय प्रबन्ध	—	"
२०—श्री हरिलाल व्यास		
टीका राधासुधानिधि (रसकुल्या)	—	संस्कृत
टीका राधासुधानिधि-मध्यम तथा लघु व्याख्या	—	"
टीका सांझी वल्लभ रसिक	—	"
टीका अष्टक नागरीदास	—	"
टीका सेवक वाणी	—	"
२१—श्री लाड़िलीदासजी		
सुधर्म बोधिनी	—	व्रजभाषा-सिद्धान्त
प्रश्नोत्तरी	—	"
पदावली	—	"
कामवन विलास	—	"
२२—श्री प्रियादासजी (रीवां)		
वैष्णव सिद्धान्त	—	संस्कृत
राधावल्लभ भाष्य	—	"
पद रत्नावली	—	व्रजभाषा
२३—श्री प्रियादास जी पटना		
तत्व निर्णय	—	संस्कृत
व्यासनन्दन भाष्य	—	"
टीका ऊर्ध्वविनिर्णय	—	"

श्री विहारीलाल-वृजलाल
श्री कुंजलाल—सात पुत्र श्री रूपलाल प्रख्यात हुए
श्री वृजलाल
|
(२ पुत्र) श्री सुन्दरलाल—श्री अनूप

(इसी समय गद्दी-सेवा का विवाद उठा और छह मास के लिए दो भागों में सेवा-पूजा का विभाजन हुआ।)

श्री सुन्दरलाल
|
(३ पुत्र) श्री चन्द्रलाल, श्री ललितलाल, श्री दयाललाल
|
(३ पुत्र) श्री कीर्तिलाल, श्री मनोरथलाल, श्री जुगतिलाल
|
(२ पुत्र) श्री चतुरशिरोमणि लाल, श्री गोविन्दलाल
|
(२ पुत्र) श्री आनन्दलाल, श्री लड़ैतीलाल
|
(३ पुत्र) श्री भजनलाल, श्री रंगीलाल, श्री ब्रजमोहनलाल
|
(२ पुत्र) श्री प्रेमलाल, श्री नन्दकुमार

(श्री सुन्दरलाल जी के समय से ही दूसरी बार अधिकार सेवा का प्रश्न उठा और श्री विलासदास जी की परम्परा में प्रथम अधिकारी श्री जीवनलाल हुए।)

श्री जीवन लाल
|
(१ पुत्र) श्री मोहनलाल
|
(२ पुत्र) श्री लाड़िलीलाल, श्री चन्द्रलाल
|
श्री हरि लाल
|
श्री किशोरी लाल
|
श्री रूप लाल (वर्त्तमान अधिकारी)
|
श्री सुकुमारी लाल आदि

टिप्पणी :—

मन्दिर की सेवा-पूजा अधिकार के सम्बन्ध में विवाद होने पर—सन् १९३१ में सरकार की ओर से मन्दिर का रिसीवर नियुक्त हुआ था और सेवा-पूजा अधिकार का निर्णय किया गया था । सम्प्रति सेवा-पूजा दोनों वंशों के गोस्वामि परिवारों में विभक्त है और नियत अवधि के बाद सेवा-पूजा का अधिकार बदलता रहता है ।

परिशिष्ट २

श्री हितहरिवंशजी के पूर्वजों की वंश-परम्परा तथा परिवर्ती वंशजों का वर्तमान काल तक क्रमिक वर्णन नीचे दिया जा रहा है। वह वर्णन प्रतिवल्लभ जी की वाणी तथा श्री जयकृष्ण जी की वाणी के आधार पर संकलित किया है।

आदि पुरुष नित्यविहारी श्री राधावल्लभ लाल

।

श्री नारायण

।

ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक, कश्यप (अद्वैत वेदान्ती शाखा)

।

मरीचि, कश्यप, अचलेश्वर, अच्युतेश्वर, श्रीधर, हलधर, पाणिधर, गंगाधर

।

विजयभट्ट, कुलाजित भट्ट, विद्याधर भट्ट, जालिप मिश्र, प्रभाकर मिश्र, उमाकर मिश्र, जीवद मिश्र, हिमकर मिश्र, व्यास मिश्र

।

श्री हरिवंश (सम्वत् १५५९ वि०)

।

श्री वनचंद्र, श्री कृष्णचन्द्र, श्री गोपीनाथ, श्री मोहनचन्द्र तथा पुत्री साहिबदे।

।

(चार पुत्र) श्री सुन्दरवर

श्री राधावल्लभदास

श्री व्रजभूषण

श्री नागरवरजी

पुत्री किशोरी

श्री सुन्दरवरजी

।

श्री दामोदरवर जी

।

(२ पुत्र) श्री रासदास तथा श्री विलास दास

(रास वंश) (विलास वंश)

।

(३ पुत्र) श्री कमलनयन-निस्सन्तान, श्री वृषभान को गद्दी सेवा-पूजा सौंपी।

सात
जालप मिश्र
श्री धर्मचन्द्र मिश्र
श्री पूरनचन्द मिश्र
श्री प्रभाकर मिश्र
श्रीकर मिश्र
श्री मूलचन्द्र मिश्र
श्री त्रिलोकचन्द मिश्र
श्री चन्द्र मिश्र
श्री उजागर मिश्र
श्री जीवन मिश्र
श्री हिमकर मिश्र
श्री शुभकर मिश्र
श्री पाराशर मिश्र
श्री गजाधर मिश्र
सात
श्री केशोदास मिश्र
श्री गंगादास मिश्र
श्री रघुनाथ मिश्र
श्री देवीदास मिश्र
श्री गोपाल मिश्र
श्री उदय मिश्र
श्री पद्माकर मिश्र
श्री हरिवंशजी
१—गोस्वामी वनचन्द्रजी
२—श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी
३—गो० गोपीनाथ जी
४—गो० मोहनलाल जी
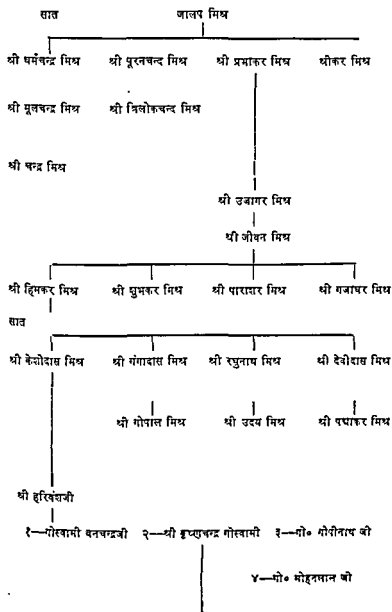
परिशिष्ट ३

श्री हित चरित्र (ले० गोपालप्रसाद शर्मा—रँसलपुर) में दी हुई वंशावली
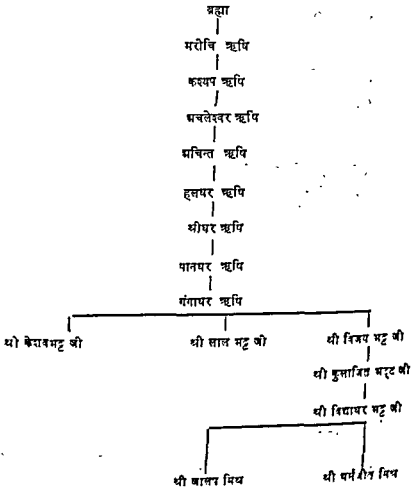
२६. ब्रह्मसूत्र—अणुभाष्य, वल्लभाचार्य
२७. गोविन्द भाष्य—श्री बलदेव विद्याभूषण कृत
२८. दशश्लोकी—निम्बार्काचार्य
२९. उज्ज्वलनीलमणि—रूपगोस्वामी
३०. हरिभक्ति रसामृतसिंधु— „
३१. षट् सन्दर्भ—जीव गोस्वामी
३२. भगवद् भक्ति रसायन—मधुसूदन सरस्वती
३३. राधातापिन्युपनिषद्
३४. गाथा सप्तशती
३५. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन
३६. वेणी संहार—नारायण भट्ट
३७. नलचम्पू—त्रिविक्रम भट्ट
३८. शिशुपाल वध—माघ
३९. सरस्वती कंठाभरण—भोजराज
४०. दशरूपक—धनंजय
४१. दशावतार चरित—क्षेमेन्द्र
४२. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र
४३. नाट्यदर्पण—रामचन्द्र
४४. *गीतगोविन्द—जयदेव*
४५. राधासुधानिधि—हितहरिवंश
४६. यमुनाष्टक—हितहरिवंश
४७. वृन्दावन महिमा मृत शतक—प्रबोधानन्द सरस्वती
४८. प्रेमपत्तनम्—रसिकोत्तंस
४९. श्री राधावल्लभीय भाष्य—(हस्तलिखित) *राजा विश्वनाथसिंह*
५०. श्री युग्मतत्त्व समीक्षा—भगीरथ झा मैथिल

परिशिष्ट ४

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१. वेदचतुष्टय—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ।
२. शतपथ ब्राह्मण
३. ऐतरेय ब्राह्मण
४. तैत्तरीय संहिता
५. छान्दोग्योपनिषद्
६. कठोपनिषद्
७. श्वेताश्वतरोपनिषद्
८. निरुक्त—यास्काचार्य
९. निरुक्त—टीका दुर्गाचार्य
१०. महाभारत—शान्ति पर्व
११. अष्टाध्यायी—पाणिनि
१२. भागवत पुराण
१३. ब्रह्म वैवर्त पुराण
१४. पद्म पुराण
१५. स्कन्द पुराण
१६. देवी भागवत
१७. नारद पंचरात्र
१८. भक्तिसूत्र—नारद
१९. भक्तिसूत्र—शाण्डिल्य
२०. पाद्मतंत्र
२१. रुद्रयामलतंत्र
२२. राधातंत्र
२३. बृहद् ब्रह्म संहिता
२४ ब्रह्मसूत्र—रामानुज भाष्य
२५. ब्रह्मसूत्र—निम्बार्क भाष्य

हिन्दी-ग्रन्थ-सूची

(प्रकाशित)

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त
२. अष्टयाम सेवाविधि—सम्पादक श्री रूपलाल गोस्वामी
३. ओझा निबंध संग्रह—म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
४. काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहिन मिश्र
५. केलिमाल और सिद्धान्त के पद—स्वामी हरिदास कृत
६. गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
७. चैतन्य चरितावली—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
८. चौरासी वैष्णवन की वार्ता—वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई)
९. जुगल सनेह पत्रिका—चाचा वृन्दावनदास
१० द्वादश यश—श्री चतुर्भुजदास कृत
११. नागरीदास अष्टक—श्री नागरीदास
१२. निम्बार्क माधुरी—सम्पादक ब्र० बिहारीशरण
१३. पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ—सम्पादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि
१४. ब्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि
१५. ब्रज का इतिहास—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, मथुरा
१६. ब्यालीस लीला और पदावली—श्री ध्रुवदास कृत, प्रकाशक बाबा तुलसीदास
१७. भगवती कथा—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
१८. भक्त कवि व्यास जी—श्री वासुदेव गोस्वामी
१९. भक्त नामावली (ध्रुवदास कृत)—सम्पादक श्री राधाकृष्णदास
२०. भक्तमाल (रूपकलाटीका)—नाभादास कृत
२१. भक्तमाल—श्री स्वामी प्रतापसिंह सन्त
२२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा
२३. भागवत सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय
२४. भ्रमोच्छेदन—श्री गोपाल प्रसाद शर्मा
२५. मध्यकालीन प्रेम साधना—श्री परशुराम चतुर्वेदी
२६. मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग)—श्री मिश्रबन्धु
२७. महावाणी—हरिव्यास देवाचार्य प्रकाशक ब्र० बिहारीशरण
२८. मुकुट की लटक—ब्र० बिहारीशरण
२९. युगल शतक (श्री भट्ट देव)—प्रकाशक ब्र० बिहारीशरण
३०. रसिक पथ चन्द्रिका—चाचा वृन्दावनदास
३१. रास छद्म विनोद—सम्पादक—गोस्वामी रूपलाल
३२. रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास

२३. समय प्रबंध—गोस्वामी कमल नयन कृत
२४. सेवक जू का चरित—प्रियादासकृत, बाबा वंशीदासजी से प्राप्त
२५. हरिकला वेली—चाचा वृन्दावनदास, बाबा वंशीदासजी से प्राप्त
२६. हितचौरासी की टीका (प्रेमदास)—श्री भट्ट जी आठखम्भा से प्राप्त
२७. श्री राधावल्लभ का भाष्य—राजा विश्वनाथसिंह जू रीवां नरेश (श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल, दरबार कॉलेज रीवां द्वारा प्राप्त)
२८. वृन्दावन महिमामृतम्—बाबा तुलसीदास से प्राप्त
२९. हितचौरासी और सेवकवाणी की हस्तलिखित प्रतियाँ
३०. श्री ध्रुवदासजी के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ

बंगला तथा गुजराती के ग्रन्थ

१. चैतन्यचरितामृत—कृष्णदास कविराज
२. चैतन्य चरितेरुपादान—विमान विहारी मजूमदार
३. भक्तमाल—लालदास बाबाजी कृत
४. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय—अक्षयकुमारदत्त
५. प्रेमविलास—बंगला
६. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)
—पं० केवलराम दुर्गाशंकर शास्त्री

पत्र-पत्रिकाएँ

१. कल्याण—गीता प्रेस गोरखपुर
२. श्री सुदर्शन—वृन्दावन
३. श्री सर्वेश्वर—वृन्दावन
४. साप्ताहिक नवयुग—दिल्ली
५. *सरस्वती—प्रयाग*
६. भारतवर्ष—कलकत्ता
७. वल्लभीय सुधा—मथुरा

६८. हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास
६९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
७०. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
७१. हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
७२. हिन्दी साहित्य एक अध्ययन—डा० रामरतन भटनागर
७३. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—श्री चतुरसेन शास्त्री
७४. हिन्दी विश्व कोश—प्रकाशक, बंगला साहित्य समिति, कलकत्ता

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१. अनन्य अली जी की वाणी (सम्पूर्ण)—बाबा वंशीदास जी तथा बाबा तुलसीदास जी से प्राप्त
२. अतिवल्लभ जी की वाणी—बाबा वंशीदास जी से प्राप्त
३. आरति पत्रिका—चाचा वृन्दावनदास कृत
४. कलि चरित्र बेली—चाचा वृन्दावनदास कृत
५. कृपा अभिलाषा बेली—चाचा वृन्दावनदास कृत
६. कल्याण पुजारी की वाणी—(सम्पूर्ण) बाबा तुलसीदासजी से प्राप्त
७. गोस्वामी रूपलालजी की वाणी—बाबा राधाकृष्ण चरणदासजी से प्राप्त
८. चतुर्भुजदासजी के पद—बाबा तुलसीदास से प्राप्त
९. चाचा वृन्दावनदास की वाणी—बाबा वंशीदास तथा ऊधमदासजी द्वारा प्राप्त
१०. जयकृष्णजी की वाणी—बाबा वंशीदास जी द्वारा प्राप्त
११. नेही नागरीदासजी की वाणी—बाबा राधाकृष्ण चरणदासजी तथा बाबा वंशीदासजी से प्राप्त
१२. ब्रज प्रेमानन्द सागर—मुखिया ब्रजवल्लभदास जी से प्राप्त
१३. भक्तगाथा—गोविन्द अलीकृत
१४. मीठा भाई कृत अष्टक—बाबा राधाकृष्ण चरणदासजी से प्राप्त
१५. रसकदम्ब चूड़ामणि ग्रंथ—रसिकदास कृत
१६. रसिकदास जी की वाणी (लता संग्रह)—बाबा वंशीदास जी से प्राप्त
१७. रसिक अनन्य माल—भगवत मुदित मयाशंकर याज्ञिक के संग्रह से
१८. रसिक अनन्य माल—भगवत मुदित—ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से
१९. रसिक माल—भगवत मुदित—बाबा वंशीदासजी से प्राप्त
२०. रसिक अनन्यसार—श्री चतनलाल जी कृत बाबा वंशीदासजी से प्राप्त
२१. रसकुल्या टीका-
२२. रसिकमाल उत्तर

अंग्रेजी के ग्रन्थ

1. An Introduction to the Post-Chaitanya Sahajia Cult —Manindra Mohan Bose.
2. An Outline of the Religious Literature of India —*J.N. Farquhar.*
3. Aspects of Early Vishnuism—J. Ganda.
4. Bhakti Cult in Ancient India—B.K. Goswami.
5. Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar—Vol. IV.
6. *Encyclopaedia of Religions and Ethics* P. II.
7. Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal—Dr. S.K. De.
8. *Hindu Religions—H.H. Wilson.*
9. History of Mediaeval Hindu India Vol III—C.V. Vaidya.
10. History of Mediaeval India—Dr. Ishwari Prasad.
11. Hindi Literature—F.E. Keay.
12. *Hymns of Alvars—J.S.M. Hooper.*
13. Materials for the Study of the Early History of the Vaishnava Sect.—Dr. H. Ray Chaudhari.
14. Mathura : *A District Memoir—Growse.*
15. Monograph on the Religious Sects in India—D.A. Pai.
16. Modern Vernacular Literature of Hindustan —*G. Grierson.*
17. Religions of India—E.W. Hopkins.
18. Religions in Vedic Literature—Dr. P. S. Deshmukh.
19. Religious Thought and *Life* in *India*, Part *I—Monier Williams.*
20. The Religions of India—A. Barth.
21. The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra —Dr. B.M. Barua.
22. Vaishnavism, Shaivism and other religious systems of India.—Dr. R. G. Bhandarkar.

Journals & Gazetteers

1. A Gazetteer of Mathura—(1911 A.D.) Dr. Darke Brockman
2. Journal of the Royal Asiatic Society.
3. Journal of the Department of Letters (Calcutta University)
4. The Indian Interpreter.
5. *The Indian Antiquary.*

' Statistical, Descriptive and Historical account of the North-Western Provinces of India (1884 A.D.), Part I.